UNIVERSAL LIBRARY
OU_182941
UNIVERSAL LIBRARY

हंस

१

हंस

साहित्य संकलन

सम्पादक
बालकृष्ण राव
अमृतराय

१

प्रकाशक
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

मुद्रक
भार्गव प्रेस, इलाहाबाद

मूल्य
रु. ६॥)

संकलन के विषय में

यह संकलन आपके हाथ में देते हुए हमको बड़ी प्रसन्नता है।

'हंस' आपके लिए नया नाम नहीं है। उसने बरसों आपकी सेवा की है और आपका स्नेह पाया है। हमारा यह विश्वास है कि अपने इस नये रूप में भी 'हंस' को आपका स्नेह मिलेगा।

साहित्य जगत् में आज अनेक मत-मतान्तर और उनसे भी अधिक पूर्वग्रह काम कर रहे हैं। हम उनके पचड़े में नहीं पड़ना चाहते—इसलिए नहीं कि हमारे पास अपनी कोई विचार धारा नहीं है बल्कि इसलिए कि सृजन-व्यापार में कोरा मतवाद नहीं, सृष्टि प्रधान होती है। सुन्दर से सुन्दर मतवाद हमारी दृष्टि में व्यर्थ है यदि वह गहरी मानवीय संवेदनाओं में डूबे हुए उत्तम साहित्य की सृष्टि को प्रेरणा नहीं देता। सृष्टि ही प्रमाण है। इसलिए उसी पर ज़ोर देना हमको अधिक संगत लगता है, और इसी अर्थ में हमने कहा कि विभिन्न मतवादों के झगड़े में पड़ना हमको रुचिकर नहीं है।

साहित्य की सहज भूमि ही हमारी भूमि है—जो संसार के श्रेष्ठतम मानवताप्रेमी साहित्य के रूप में हमको उत्तराधिकार में मिली है। ऐसा ही जो साहित्य आज रचा जा रहा है, उसका आकलन, संवर्द्धन हमारा उद्देश्य है। उसी में हमको एक ओर नये युग का प्राण और दूसरी ओर साहित्य का वह सच्चा रस मिलता है, जो कभी बासी नहीं पड़ता। यह साहित्य मर्म्म की बात कहता है और समाज के मर्म्म को छूता है, मानवीय संवेदनाओं को नित नयी गहराई और नित नया विस्तार देता है, सत्य का अनुसरण करता है, अपने विशिष्ट ढंग से जन-मंगल का आयोजन करता है, हमारी सौन्दर्यानुभूति की नयी तहें खोलता है, सत्यासत्य का निर्णय करने वाले हमारे विवेक को उद्दीप्त और पुष्ट करता है और पुष्ट करता है मानव भविष्य में हमारी आस्था को। यही साहित्य की सहज भूमि है—और इसी का उद्घोष 'साहित्यकार की आस्था'-शीर्षक लेखमाला में तीन-चार साहित्यिक पीढ़ियों के हमारे अनेक आदरणीय और स्नेहास्पद बंधुओं ने किया है जिनमें आपस में

अनेक प्रश्नों पर बहुत वैचारिक मतभेद है लेकिन एक चीज़ जो सबमें समान है, वह है उनका सजग मानवता प्रेम और वही उनके बीच का सेतु है। इस उलझे हुए प्रश्न पर यह लेखमाला असाधारण महत्व की वस्तु सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

साहित्य की भूमि बहुत विस्तीर्ण, बहुत उदार है। उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता या एकांगिता के लिए स्थान नहीं है। अपने सामग्री-संचयन में हम इस बात के लिए निरन्तर सचेष्ट रहेंगे कि हमारी दृष्टि सदा उन्मुक्त-उदार रहे।

'हंस' में प्रकाशित प्रत्येक कृति की विचार धारा से संपादक सहमत हों, यह आवश्यक नहीं है। उसका प्रकाशन केवल इस बात का संकेत मानना चाहिए कि उस कृति को सम्पादक साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण और उसकी विचार धारा को समाज के आगे विचारार्थ प्रस्तुत करने योग्य समझते हैं।

हमारा विश्वास है कि जीवन के मौलिक आदर्शों के प्रति हमारी निष्ठा यदि सच्ची हो तो उनके अन्तर्गत अन्य अनेक प्रश्नों पर मत-वैषम्य चल सकता है: न केवल उससे कोई अकल्याण न होगा प्रत्युत् संभव है प्रश्न के गांभीर्य और उसकी व्याप्ति को अधिक बारीकी से समझने में सहायता मिले—और अन्ततः अधिक सबल-सुपुष्ट-समृद्ध समाधान हाथ लगे।

बालकृष्ण राव
अमृत राय

विषय सूची

साहित्यकार की आस्था (लेखमाला)

१	शिवदान सिंह चौहान	२
२	राम विलास शर्मा	२४
३	गोपाल हाल्दार	३०
४	प्रकाश चन्द्र गुप्त	३९
५	नामवर सिंह	४४
६	अमृत राय	५२
७	बाल कृष्ण राव	६९
८	महादेवी वर्मा	७६
९	सुमित्रानन्दन पन्त	८२
१०	हजारी प्रसाद द्विवेदी	८५
११	राहुल सांकृत्यायन	९०

कविताएँ : १

गजानन मुक्तिबोध। केदारनाथ सिंह।
श्रीकान्त वर्मा। ९२-१०५

भ्रमण कहानी

उमा राव—पूर्वाभास : बर्लिन की झलकियाँ १०६

व्यंग कृतियाँ

अमृत लाल नागर : बाबू पुराण	११४
मोहन राकेश : विज्ञापन युग	१२६
कृष्ण बलदेव वैद : समाधि	१३१
हरि शंकर परसाई : एक तृप्त आदमी की कहानी	१४८
नागार्जुन : हीरक जयन्ती	१५३

कविताएँ : २

कुँवर नारायण। दुष्यन्त कुमार। कीर्ति चौधरी।
हरिव्यास। परमानंद श्रीवास्तव। १७८-१८४

अन्य कहानियाँ

निर्मल वर्मा : परिन्दे १८६

शेखर जोशी : बदबू २१९

भैरव प्रसाद गुप्त : पत्थर का शेर २२७

मार्कण्डेय : माई २३५

कविताएँ : ३

अजित कुमार । वंशीधर । रामकृष्ण श्रीवास्तव ।
केदारनाथ अग्रवाल । प्रमोद वर्मा ।
महेन्द्र भटनागर । २४६-२५९

इण्टरव्यू

लूकाच से एक भेंट : राम कुमार २६०

दो एकाङ्की

विष्णु प्रभाकर : पिकनिक २७०

मोहन राकेश : बहुत बड़ा सवाल २८१

सम्पूर्ण उपन्यास

कमलेश्वर : एक सड़क सत्तावन गलियाँ २९९

साहित्यकार की आस्था

यह कहना सच्चाई से आँख चुराना होगा कि हमारी जीवन-आस्थाओं को आज झटके नहीं लग रहे हैं। लेकिन यह कोई नयी बात नहीं है। कम या ज्यादा, हर युग में ऐसा ही होता है।

झटके किसे नहीं लगते! अन्तर बस इतना है कि कुछ लोग टूट जाते हैं और कुछ लोग नहीं टूटते।

जो आस्था अग्नि परीक्षा से डरती है वह सच्ची आस्था नहीं है।

हमारे युग में कहीं-कहीं भग्न आस्थाओं और खण्डित विश्वासोंका एक सम्पूर्ण 'नया' 'जीवन दर्शन' दिखायी पड़ने लगा है। साहित्यकार के लिए, जिसके कर्म का उत्स ही रचनात्मक स्फूर्ति में है, यह रोग क्षय से कम सांघातिक नहीं है। समाज के लिए भी वह विष-वत् है। उसका प्रतिकार जीवन-धर्मी साहित्यकारों और विचारकों की ओर से आवश्यक था।

अथच, इस लेखमाला का कारण यही नहीं है। अपने युग की नयी वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि में, अपने नये जीवन-बोध की कसौटी पर अपने पुराने विश्वासों, अपनी पुरानी आस्थाओं को बराबर परखते रहना जरूरी होता है—उनको ही प्राणवान् बनाये रखने की दृष्टि से।

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि हमारी इस लेखमाला में हिन्दी के अनेक कृती साहित्यकारों ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मुक्त होकर विचार किया है।

इनमें विभिन्न जीवन-दृष्टियों के लोग हैं लेकिन जो चीज सबको जोड़ती है वह है उनका मानवतावाद—मनुष्य के भविष्य में और उसकी क्रियाशक्ति में उनका अडिग विश्वास...

हमारे कुछ आदरणीय बन्धुओं ने पत्र के रूप में अपने विचार भेजे हैं। वे भी प्रस्तुत हैं।

★

१

अगर कोई ऐसी बात सुनता हूँ जो तर्क-संगत या सच नहीं लगती, तो अभी भी मन में तीव्र प्रतिक्रिया होती है—भीतर एकदम बिजली-सी कौंध जाती है—यद्यपि अपनी प्रतिक्रिया को दबाकर चुप रहना सीख गया हूँ। लेकिन बचपन में ऐसा नहीं कर पाता था। औरों की तरह अपनी विधवा ताई को मैं भी भगतिन अम्मा कहकर पुकारता था। नहा-धोकर सुबह के चार बजे से ठाकुरजी के सामने रात के दस बजे तक पूजा-पाठ करना ही उनका एकमात्र व्यसन था। वे घंटों चौकी पर बैठी, रुद्राक्ष की माला फेरती हुई गायत्री मंत्र का जाप करतीं, फिर ठाकुरजी को भोग लगा कर स्वयं जलपान करतीं और रामायण बाँचने बैठ जातीं। तीसरे पहर हम सब बच्चों को पास बिठाकर भागवत् या हरिश्चन्द्र नाटक सुनातीं। ग़रज़ यह कि बारहो मास उनके पूजन-अर्चन का क्रम अटूट चलता रहता। मुझे उन पर अपार श्रद्धा थी, लेकिन उन पर ही, उनके शालिग्राम या हनूमानजी पर नहीं, और न उनकी सुनायी हुई धार्मिक कथाओं पर, क्योंकि मेरे शिशु मन की शंकाओं का समाधान भगतिन अम्मा 'भगवान की लीला' का तर्क देकर करती थीं, जो मुझे गवारा नहीं होता था। ग़रीब, ईमानदार, निष्पाप और सत्यवादी ही क्यों यंत्रणाएं भोगते हैं और पापी, अत्याचारी, अन्यायी ही क्यों पृथ्वी की सारी सम्पदा का उपभोग करते हैं—ये प्रश्न मेरे मन में उठा करते थे और मैं 'ईश्वर लीला' को क्रूर व्यंग्य समझकर अक्सर भगतिन अम्मा से कह बैठता कि 'मुझे तुम्हारे भगवान अच्छे नहीं लगते।' अम्मा समझातीं, कभी नाराज़ होतीं तो मैं यह कहने से भी न चूकता कि 'भगवान होते ही नहीं, अगर होते तो दुनिया में इतना अन्याय न होता।' भगतिन अम्मा अब नहीं रहीं, लेकिन आज एक युग पुरानी उन बातों पर सोचता हूँ तो कुछ हैरानी होती है। छै-सात साल का गंवई-गाँव का बालक—जिस तक प्रथम महायुद्धोत्तर वयस्क-जगत की मानसिक उलझनों और वेदनाओं की हवा भी नहीं पहुँची थी, यहाँ तक कि जिसने आर्य-समाज, काँग्रेस, सत्याग्रह, चौरी-चौरा काण्ड, गाँधी या गाँधी टोपी तक का नाम न सुना था—पुरानी मान्यताओं और भक्ति के वातावरण में पले उसके नन्हें मन में इतनी 'अनास्था' कहाँ से आगई कि वह 'ईश्वर' के अस्तित्व तक से इन्कार करने लगा! भगतिन अम्मा यह सुनकर मुझे 'नास्तिक' पुकारतीं, रावण, कंस और हिरण्यकश्यप की मिसाल देकर मुझे डरातीं।

लेकिन वे जितना ही डरातीं, मेरा विद्रोह उतना ही तीव्र होता जाता। अंत में वे ईश्वरीय कोप की 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाली चेतावनी की कल्पना से भयभीत होकर रोने लगतीं और मेरी अबोध उद्दण्डता के लिए ईश्वर से क्षमा माँगने लगतीं। किसी का रोना मुझे कभी बर्दाश्त नहीं हुआ। मनुष्य में चुपचाप सहने-झेलने की सामर्थ्य होनी चाहिए, रोना-रिरियाना उसे शोभा नहीं देता—और वह ईश्वर कैसा है जो अपने भक्तों के दिल में इतना आतंक भर देता है? यह सब सोचते हुए भी मैं अम्मा की पवित्र आँखों में आँसू घुमड़ते देखकर स्वयं रोने लगता और उन्हें विश्वास दिलाने लगता कि आगे से ऐसी बातें नहीं कहूँगा। लेकिन मन के भीतर कुछ और ही ऊहापोह चलती रहती। पुरानी मान्यताओं के प्रति न जाने कैसे अनास्था पैदा हो गई थी, लेकिन मन अनास्थाशील नहीं था। पिता पुलिस के अफ़सर थे। अपराधी जब उनके सामने लाये जाते तो उनका सहज मृदु स्वर सहसा कठोर हो जाता और उनकी वात्सल्यपूर्ण मुद्रा निर्मम बन जाती। जो हम बालकों के उत्पात और अनाचार दिन-रात हँस हँस कर सहते, हमारी हर मूर्खतापूर्ण माँग को पूरा करते और न कभी किसी को डाँटते न फटकारते, अपराधी को देखते ही उनके मुख से गालियों का फ़व्वारा फूट निकलता और वे कड़कती हुई आवाज़ में सिपाहियों को हुक्म देते—साले को मुर्गा बनाकर धूप में खड़ा कर दो! इस दंड की व्यवस्था करते ही वे पुनः वात्सल्य की मूर्ति बन जाते, लेकिन इतने में मेरे नन्हें हृदय पर बिजली गिर चुकी होती। मैं आहत दृष्टि से उनके दोनों रूपों को देखता—समझ में न आता कि इसमें 'सत्य' कौन है और 'असत्य' कौन—जो रूप मेरे लिए है वह उस अपराधी के लिए क्यों नहीं है? क्या वह आदमी नहीं है? अपराध करने पर मुझे क्षमा और उसे दंड क्यों मिलता है? यह कैसा न्याय है? और अपने पिता को लेकर मन के भीतर आदर और निरादर, प्रेम और घृणा का संघर्ष चलने लगा। मन कहता यह अन्याय है। जैसा मेरे साथ बर्ताव होता है, वैसा ही दूसरे के साथ भी हो, नहीं तो जैसा दूसरे के साथ होता है, वैसा ही मेरे साथ भी हो—और मैं अपने आपको 'मुर्गा-बना-धूप-में-खड़ा' कल्पना करके क्रोध और अपमान से तिलमिलाकर रोने लगता। इस क्रोध और अपमान की अनुभूति ने मन में पुराने मूल्यों, मान्यताओं और आस्थाओं के महल एक-एक करके ढहा दिये। कितने दिनों तक मैं उनके अँधेरे खंडहरों में चक्कर काटता रहा, यह अब याद नहीं रहा। न आज यह ही याद है कि कब और किस अदृष्ट मार्ग से मन के अवचेतन में नयी आस्थाओं और मान्यताओं का बीजारोपण हुआ और कब उसमें अंकुर फूटे और पल्लव निकले। सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि उस समय मैं 'लेखक' या 'साहित्यकार' नामधारी जीव नहीं था—किशोर वय का मात्र

एक मनुष्य था। और मनुष्य अपनी मनुष्यता की रक्षा करता हुआ अन्याय, दुर्नीति, भय और अपमान से कैसे मुक्ति पाये, मेरी चिन्ता का उस समय यही विषय था। मैं अन्य लोगों से भिन्न हूँ, विशिष्ट हूँ, आभिजात्य का अधिकारी हूँ—अपने बारे में ऐसी ख़ुराफ़ात सोचने का अवसर ही न मिलता। हर समय मेरी किशोर कल्पनाएँ नये-नये आदर्शों के अनुरूप समाज-संगठन के विधान बनाती-मिटाती रहतीं। सत्यार्थ प्रकाश, गीता और गाँधी के 'सत्य के प्रयोग' जब काफ़ी न लगे तो मैंने तालस्ताय और प्रिंस क्रोपाट्किन के यहाँ शरण ली और मैंने एक ऐसे ग्राम-समाज की कल्पना की जिसके तोरण-द्वार पर यह घोषणा लिखी होगी :

—इस गाँव में पुलिस का प्रवेश निषिद्ध है, क्योंकि यहाँ सब स्त्री-पुरुष बराबर हैं, सब की बराबर आमदनी है, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, ग़रीब-अमीर का कोई भेद नहीं है। लोग चोरी-बरजोरी, झूठ और अन्याय से अपरिचित हैं।

—इस गाँव में पंडित, मौलवी और पादरी भी नहीं आ सकते, क्योंकि यहाँ के मनुष्य मनुष्यता में विश्वास करते हैं जिससे उनका आचरण हमेशा नैतिक होता है। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, स्वार्थ-परमार्थ, शैतान और ख़ुदा में भेद करने की उन्हें ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

—इस गाँव में राज्य की सत्ता का भी दखल नहीं है, क्योंकि यहाँ के लोग स्वेच्छा से आपस में सहयोग करते हैं, कभी लड़ते नहीं हैं और न कभी किसी को दबाना या गुलाम बनाना ही उन्हें अभीष्ट है। इसलिए उन्हें अपने जीवन में भी किसी बाह्य सत्ता का हस्तक्षेप गवारा नहीं है।

—पुलिस, धर्म और राज्य मनुष्य को अपमानित करने वाली संस्थाएँ हैं, वे उसे अपने उस गौरव से वंचित रखती हैं, जिसका वह मनुष्य होने के नाते अधिकारी है। मनुष्य और मनुष्यता के मुक्त विकास के लिए इन तीनों से मुक्ति ज़रूरी है।

कल्पना में जब ऐसे शिला-लेख भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के सारे गाँवों और नगरों के सामने गढ़े जा रहे थे, तब मन की किसी अन्य गली में ज़ोर-शोर की बहसें चल रही थीं, जिनमें प्रतिवादियों का स्वर ही ऊँचा था। प्रतिवादियों का कहना था कि 'यह सब कोरी बकवास है, कल्पना है, दिवा-स्वप्न है, वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तविकता इतनी सरल नहीं है कि सरल समाधानों की पकड़ में आजाय।'........तो यह आसानी से पकड़ में न आनेवाली वास्तविकता क्या है?—शिला-लेख को बीच में ही छोड़ सुखद दिवा-स्वप्न से जागा मन किंकर्तव्यविमूढ़-सा पूछता—वास्तविकता क्या है? इतिहास, दर्शन या विज्ञान के पास इसका उत्तर है? वास्तविकता के रहस्य की गाँठ खोलनेवाला कोई सूत्र उनके पास है, जो मैं उसके

सामने जाकर खड़ा हो सकूँ ?....प्रतिवादियों का जवाब मिलता, 'हम यह सब नहीं जानते। सत्य की तलाश करो, क्योंकि वास्तविकता जैसे सत्य है वैसे सत्य ही वास्तविकता है।' यह उत्तर पाकर मन और अधिक उद्भ्रान्त हो जाता। लेकिन सत्य की खोज तब से जारी है। इस लम्बी यात्रा में गाँधीवाद के दायरे से निकलते ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मेरा साक्षात् हुआ। मुझे लगा कि शायद सत्य की कुंजी यही है और मैं मार्क्सवादी बन गया। मार्क्सवादी मैं आज भी हूँ, क्योंकि द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त प्रकृति और जीवन की विकास-प्रक्रिया का, भौतिक-ज्ञान की सीमा तक, सच्चा आईनादार है। लेकिन किसी 'वाद' का 'वादी' होने से दृष्टि के आगे जो सीमा-रेखा अनिवार्यतः खिंच जाती है, उससे अपरिचित नहीं हूँ, इसलिए सोचने में द्वन्द्वात्मक प्रणाली को अपनाते हुए भी मैं मार्क्सवादी सीमाओं में ही चक्कर काटकर पुनः आद्य-बिन्दु पर लौट आने का आदी नहीं रहा हूँ। सत्य, वास्तविकता या जीवन किसी भी 'वाद' से बड़े हैं, असंख्य-रूप हैं और उनके रहस-द्वार तक पहुँचने के अनेक मार्ग हो सकते हैं—इस यात्रा में कम-से-कम इतनी उपलब्धि तो हो ही चुकी है।

लेख का शीर्षक पढ़कर आपको यह सब विषयान्तर लग सकता है, लेकिन मैं बाह्य जगत के प्रति अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की मिसाल देकर कहना यह चाहता था कि पहले महायुद्ध के बाद ही सारा वातावरण क्षुब्ध हो उठा था और कुछ ऐसी हवा बहने लगी थी जिसमें साँस लेकर नयी पीढ़ी के बालक भी पुराने मूल्यों, मान्यताओं और आस्थाओं को सप्रश्न दृष्टि से देखने लगे थे। इक्कीस और तीस के असहयोग आन्दोलनों की विफलता ने वातावरण को और भी विक्षुब्ध कर दिया था। प्रबुद्ध भारतीय मानस पुरानी मान्यताओं को पूर्वजों की पुनीत विरासत मानकर चुपचाप स्वीकार कर लेने को तैयार नहीं था। युग की चिन्ताधारा इस बीच एक नई, अपरिचित दिशा में मुड़कर प्रवाहित होने लगी थी।

रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और छायावाद के कवियों—प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी—का बचपन ऐसे क्षुब्ध और विच्छिन्न वातावरण में नहीं बीता था, जिससे समय के साथ यद्यपि उनका विश्व-बोध बदलकर अधिक आधुनिक होता गया, लेकिन धर्म और नैतिकता के प्रति उनकी परम्परागत भावना अविच्छिन्न बनी रही। कुछ विचारकों का कहना है कि मनुष्य में एक सहज धार्मिक प्रवृत्ति या भावना भी होती है। यह प्रवृत्ति सहज हो या न हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि इस विराट् ब्रह्माण्ड में मनुष्य की स्थिति एक कण के बराबर है। प्रकृति के मुक़ाबले में वह अकिंचन और निरीह है। इसलिए जब वह प्रकृति-चक्र को चलते देखता है तो उसके

मन में असंख्य प्रकार के संवेदन पैदा होते हैं जो चेतना के मार्ग से जिज्ञासा, भय, विस्मय, आनन्द, आशा, निराशा, सुख, दुख की अनुभूतियों के विविध रूप धारण कर लेते हैं। इन्हीं अनुभूतियों में से एक अनुभूति वह भी है जिसे धार्मिक भावना या प्रवृत्ति कहते हैं। मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अनुमान करता है कि इस लौकिक जीवन और जगत से परे भी कुछ है, कोई अलौकिक सत्ता है, जो इस ब्रह्माण्ड का संचालन करती है, जो आदि-कारण है, नियामक है, नियति है; सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। अर्थात् चेतन होकर भी मनुष्य जो कुछ नहीं हो सका है या हो सकेगा, वह सब कुछ 'वह' है। उस 'अलौकिक' में मनुष्य अपनी समस्त मानवीय भावनाओं और उदात्त कल्पनाओं को सहस्रों वर्षों से प्रक्षेपित करता आया है, क्योंकि सहज मुक्तिकामी मनुष्य अपनी लघुता और क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर विश्व-मानव बनने का आकांक्षी रहा है और उसने विश्व-मानवत्व प्राप्त करने के लिए कल्पना के उस अज्ञात 'ब्रह्म' से एकात्म होने की चेष्टा की है जो पूर्ण चेतन, परमात्मा है। मनुष्य के ज्ञान और चेतना के स्तर 'उस अलौकिक शक्ति' की विभिन्न धारणाओं (कन्सेप्ट्स) में प्रतिबिम्बित हुए हैं। 'वह' साकार और सगुण है या निराकार और निर्गुण है, शक्ति-रूप है या सत्-चित्-आनन्द रूप है—कहने का तात्पर्य यह कि हर जीवन-परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार 'उसकी' धारणा भी बदलती रही, क्योंकि इस निर्मम विश्व में 'वह' निर्बल और असहाय मानव का सहारा और आस्था-केन्द्र था। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि धर्म, प्रकृति और अपने ही सजातियों के निरंकुश अत्याचारों से पीड़ित मानव-हृदय की चीत्कार है। ईश्वर-निर्माण की युग-युग पुरानी परम्पराओं का भार हर बालक को चेतना प्राप्त करने से पहले ही महसूस होने लगता है और वह बिना किसी प्रतिवाद या छिद्रान्वेषण के मनुष्य के इस सनातन अंधविश्वास को सहज भाव से स्वीकार करता आया है, जिससे कुछ विचारक इस बात की कल्पना करने लगे हैं कि मनुष्य में धार्मिक भावना या प्रवृत्ति सहज होती है, जैसे आत्म-रक्षा या काम की प्रवृत्तियाँ सहज होती हैं। मेरा विचार है कि ऐसा नहीं है, लेकिन भय, विस्मय, जिज्ञासा और विश्व-मानवत्व प्राप्त करने की प्रवृत्तियाँ और आकांक्षाएँ सहज अवश्य होती हैं जो धार्मिक भावना के मूल में रहती हैं। जो भी हो, यहाँ पर यह प्रश्न विस्तार से विचारणीय नहीं है। इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि पहले महायुद्ध से पूर्व के भारतीय साहित्यकार इस सुदीर्घ विचार-परम्परा से विच्छिन्न किसी एकदम नई और विरोधी परम्परा के लोग नहीं थे, यद्यपि उन्होंने साहित्य में नई प्रवृत्तियों और विचारधाराओं को अभिव्यक्ति देकर उसे आधुनिक रूप दे दिया था। भारतेन्दु और बंकिम से लेकर रवीन्द्र, इक़बाल और प्रेमचन्द तक की

पीढ़ी के साहित्यकारों ने कभी धार्मिक-भावना का परित्याग नहीं किया। लोक-परलोक या आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी उनकी धारणाओं का नये ज्ञान के प्रकाश में अधिक सूक्ष्म और आधुनिक रूप-संस्कार अवश्य हुआ, लेकिन उनकी मूल-आस्थाएँ पूर्ववत् धार्मिक कोटि की ही बनी रहीं। समाज के साम्प्रदायिक अंध-विश्वासों, भेद-भावों, वैषम्यों और [illegible] के विरुद्ध, जिहोंने परतन्त्र भारतीय जीवन को जर्जर और गतिहीन बना रखा था और मानव-सम्बन्धों में असमानता का विष घोल रखा था, उन्होंने प्रतिवाद का स्वर ऊँचा किया जिससे उनकी कृतियों में युग की वाणी मुखरित हुई और भारतीय जनता को जाग्रति का सन्देश मिला। लेकिन मनुष्य, जीवन, जगत और इसके परे की अज्ञात् रहस-शक्ति में उसकी आस्था की लौ कभी मन्द नहीं पड़ी। डार्विन, फ्रेजर, मार्क्स, लुई पाश्चर, फ्रायड और आइन्स्टीन—वे इन सबको ज्ञान के विकास-चरण के रूप में सहज-भाव से स्वीकार करने में समर्थ थे। वे इन सबके विचार-द्रव्यों को अपनी आस्था के रस में घोल कर एक मधुर पाक तैयार कर लेते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि समन्वयवादी थी। इसीलिए उनके सामने 'साहित्यकार की आस्था' का प्रश्न कभी उठा ही नहीं।

आज वह स्थिति नहीं रही। मैंने अपनी मिसाल देकर यही बताना चाहा है कि पहले महायुद्ध के बाद ही हवा बदल गयी थी। किन्तु मेरी पीढ़ी के युवकों में आस्था का नया आधार खोजने की प्रबल आकांक्षा भी थी, और हम में से अनेक मनुष्य के जनवादी भविष्य, वैज्ञानिक प्रगति और समाजवाद में नयी आस्था का विकास भी कर सके, जिससे विश्लेषण-प्रधान (वैज्ञानिक) दृष्टिकोण के बावजूद हमें मानव-जीवन के भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास के अधिक सुरम्य क्षितिज दिखायी देने लगे। मन में नये स्वप्न जगे, जिनको कार्य-रूप देने के लिए अपना सब कुछ होम करके संघर्ष करने में ही हमें जीवन की सार्थकता दिखायी दी। धर्म का सम्बल त्यागने का परिणाम यह नहीं हुआ कि हमारा सारा दृष्टिकोण निषेधात्मक—अनैतिक और असामाजिक—हो गया हो और मानव-सम्बन्धों और मानव-आचरण का नियमन करने के लिए हम नये नैतिक मूल्यों की ज़रूरत से ही इन्कार करने लगे हों। हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक के साथ-साथ ऐतिहासिक भी था, यानी हम मानव-समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य को एक व्यापक विकास-क्रम के रूप में देखने लगे थे, जिससे यदि पुरानी आस्थाओं का टूटना अनिवार्य था, तो नये विकास-चरण में नयी आस्थाओं का पैदा होना भी उतना ही अनिवार्य था। प्राचीन आख्यानों में जिन त्रिकाल-द्रष्टा ऋषि-मुनियों का ज़िक्र हम पढ़ते हैं, वे अवश्य ही ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति होते होंगे, जिससे तीनों काल में प्रवाहित जीवन-धारा के उत्थान-पतन, अस्ति-नास्तिमय गति-चक्र को वे देख-

समझ सकने में समर्थ होंगे। हर व्यक्ति ऐतिहासिक-दृष्टि से सम्पन्न नहीं होता। अक्सर लोग वर्तमान को ही देखते हैं, भूत-भविष्य के सूत्र उन्हें नहीं दिखायी देते, जिससे 'वर्तमान' उन्हें 'स्थिर' और 'चिरन्तन' दीखता है और अन्ततः ऐसी संकुचित दृष्टि वर्तमान के भी 'क्षण-खंड' को ही देख पाने तक सीमित हो जाती है। 'नाक से आगे न देखने' का मुहावरा शायद ऐसे ही लोगों के लिए बना है; उन्हें नाक पर बैठी मक्खी भी पहाड़ दिखायी देती है। त्रिकाल-द्रष्टा हम लोगों में से चाहे कोई न हो, लेकिन बदले हुए वातावरण में ऐतिहासिक दृष्टि की एक किरण शायद हमारी चेतना को भी आलोकित कर गयी थी, क्योंकि हमने अपनी चेतना के रन्ध्र-रन्ध्र में महसूस किया कि कोई विराट् परिवर्त्तन हो रहा है। देखा कि हम इतिहास की मोड़ पर खड़े हैं, जहाँ से कुछ दूर पीछे का तो कुछ दूर आगे का दृश्य नज़र आ रहा है। हमें यह भी लगा कि पुरानी मान्यताएँ और धार्मिक आस्थाएँ सहज मुक्तिकामी मनुष्य के कारवां को इस मोड़ तक एक साथ जोड़-जाड़ कर ले तो आयी हैं, लेकिन अब उन आस्थाओं के बिना भी आगे जाया जा सकता है, क्योंकि इस मोड़ के आगे का पथ-देश ही नहीं, लक्ष्य भी नज़र आ रहा है। हम आगे चल पड़े और मनुष्य की मुक्ति, प्रगति और सांस्कृतिक विकास का प्रतीक वह लक्ष्य ही हमारी आस्था का नया केन्द्र बन गया। इसलिए प्रेमचन्दोत्तर पीढ़ी के तरुण लेखकों (मैं उस समय तक लिखने लग गया था) के सामने भी 'आस्था' का प्रश्न उस रूप में नहीं उठा, जिस रूप में दूसरे महायुद्ध के बाद की पीढ़ी के नये लेखकों के सामने पैदा हो गया है। मार्क्स और फ्रायड जैसे मौलिक चिन्तकों की कृतियों ने मेरी पीढ़ी के लेखकों को समान रूप से प्रभावित किया था, यह दूसरी बात है कि किसी लेखक के मन पर मार्क्स का अधिक प्रभाव था तो किसी पर फ्रायड का। कुछ लेखकों को मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त परस्पर-विरोधी लगते थे, कुछ को एक-दूसरे के पूरक भी। इनका और इनके साथ ही डार्विन और आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का प्रभाव केवल लेखकों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि कह सकते हैं कि आधुनिक युग की चेतना का इन्होंने ही निर्माण किया था। हम सब इनके ही मानस-पुत्र थे। इन्होंने मान्यताओं और आस्थाओं के रूढ़ि-जर्जर विश्व का नाश करके एक नये ही विश्व-बोध को जन्म दिया था जिसने मनुष्य में नयी आस्थाओं का विकास किया। हमारी पीढ़ी में एकाध ही ऐसे लेखक थे, जो इन सबसे प्रभावित होकर भी आस्था का कोई नया सामाजिक आधार नहीं खोज पाये, लेकिन इसका कारण उनकी तीव्र आत्म-रति और राजनीतिक अवसरवाद की प्रवृत्ति है, न कि 'लेखक की ईमानदारी', जिसको अपनी मानव-द्रोही भावनाओं की पर्दापोशी के लिए वे अक्सर तर्क-रूप में पेश करते हैं।

यहाँ पर यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि मार्क्सीय सिद्धान्तों और विज्ञान-युग की चेतना से प्रभावित मेरी पीढ़ी या बाद के तरुण लेखकों में मानव-मुक्ति और प्रगति की संभावना में जो नई आस्था पैदा हुई, उसकी ज्योति को हृदय में अखण्ड जलाये रखना हमेशा आसान नहीं रहा है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में इतिहास के मोड़ पर खड़े होकर वर्गहीन और शोषणमुक्त समाजवादी समाज के जिस लक्ष्य को हमने निरभ्र आकाश में उषःकाल की लालिमा से अनुरञ्जित देखा था, पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के समर्थकों के प्रचार की आँधियों ने उसे बार-बार धूल से अँट लिया है, जिससे उसकी ओर बढ़ने वाले पथिकों और पथ-प्रदर्शकों की धूल भरी दृष्टि भी अनेक बार उस लक्ष्य को स्पष्ट देख सकने में असमर्थ हो गई है, और वे बार-बार पथ-भ्रष्ट हुए हैं, आपस में झगड़े हैं, एक-दूसरे पर उन्होंने दोषारोपण किया है और इस हड़बड़ी और खलबली में उन्होंने पथिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण तक किया है, जो उनसे सहमत नहीं थे या अपने देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जो अपनी अलग राह बनाते हुए उस सामान्य लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे, उन सबको अपना विरोधी घोषित करके उन्होंने आपस में ही काफ़ी कज़िया-तकरार की है। लेकिन जब पीछे से फ़ासिस्ट और साम्राज्यवादी दस्युओं के आक्रमण हो रहे हों—चाहे दूसरे महायुद्ध के रूप में या शीत-युद्ध के रूप में—और आगे का मार्ग अपरिचित हो, वहाँ पथ-भ्रष्ट पथिकों में ऐसे अवांछित और अशोभन मतभेद और झगड़े हो ही जाते हैं—मनुष्य ग़लतियाँ करके ही सीखते हैं—और एक बार पथ-भ्रष्ट होने पर सही रास्ते पर आने के लिए दायें-बायें, आगे-पीछे मुड़-मुड़कर काफ़ी देर तक भटकना भी पड़ता है। लेकिन यदि सही राह पर आने की इच्छा और प्रयत्न न छूटे तो मनुष्य का पथ-भ्रष्ट हो जाना ही सत्य नहीं है। ख़ैर, ऐसे में 'अंधकार के प्रचारकों' की बन आयी। उन्होंने खूब ढोल बजा-बजाकर प्रचार किया कि यह मानव-मुक्ति का रास्ता ही नहीं है, गुलामी की अंधेरी गुफ़ा में धकेलने का प्रपंच है और जो लोग इस दिशा में कुछ आगे बढ़ गये हैं, वे अब मनुष्य से यंत्र बन गये हैं या बनाये जा रहे हैं। और इस प्रचार से कुछ आत्म-भीरु लोगसंघर्षों से बचने की खातिर बीच राह में से ही लौट आये और कुछ नये आत्म-केन्द्रित राही जीवन के सभी पुनीत और उदात्त आदर्शों में आस्था खोकर इस पथ पर आने के बजाय मोड़ के शिला खंड पर उछलकर चढ़ गये, जहाँ से प्रचार का विषैला धुआँ आकाश में छोड़कर राहगीरों को चेतावनी दी जाती थी कि 'अरे कहाँ जारहे हो? आगे तो भरी दोपहर अँधेरा छाया रहता है!' ये आत्म-भीरु और आत्म-केन्द्रित व्यक्ति इस प्रचार के स्वर में स्वर मिलाकर आगे जानेवाले पथिकों का मज़ाक उड़ाते हुए छाती पीट-पीटकर मानवता का स्यापा करने लगे,

क्योंकि धमकियों, प्रचार और कठिनाइयों के बावजूद सारी मानवता उस दिशा में आगे बढ़ती ही जा रही है। तो 'साहित्यकार की आस्था' का प्रश्न वस्तुतः इस वर्ग के साहित्यकारों के प्रसंग में ही सार्थकता रखता है।

मोड़ के शिलाखंड पर 'चिर वर्तमान के निमिष' को—जो इस मानवद्रोही प्रवृत्ति के अस्तित्व क अवधि का भी प्रतीक है—अपने लिए रोचक और उत्तेजक बनाने की खातिर आगे जाने वालों का मज़ाक उड़ाने वाला यह तरुण वर्ग दरअसल नगर के कुंठाग्रस्त बुद्धिजीवियों का वह छोटा-सा हिस्सा है, जो प्रलोभन वश हर देश में 'अंधकार के साम्राज्यवादी प्रचारकों' का पिछलग्गू बन गया है। इनमें से 'कुछ' साहित्यकार यदि अपने वर्ग के साधारण नागरिकों की तरह अपनी कुंठा, अतृप्ति और अनास्था से मुक्ति पाने के लिए नयी-नयी 'उत्तेजनाओं' के आयोजन तक ही सीमित रहते—यानी जिस तरह कुंठाग्रस्त और रिक्त-हृदय नागरिक कामोत्तेजक और सनसनी-खेज़ उपन्यास और सचित्र पत्रिकाएँ पढ़कर या मार-काट और नग्न-प्रसंगों से भरे फ़िल्म देखकर या वर्ग-पहेलियाँ हल करके क्षण प्रतिक्षण की तृप्ति खोजते फिरते हैं और बड़ी ईमानदारी से इस क्षण-तृप्ति के भुलावे से ही जीवन की सार्थकता की पैमाइश करते हैं, उसी तरह ये 'कुछ' साहित्कार यदि अपनी कुंठा और अतृप्ति को ही ईमानदारी से गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति देने के लिए शैली-शिल्पगत नये-नये प्रयोग करते चलते तो उनकी वेदना और कुंठा में भी एक सीमा तक आधुनिक मानव की वेदना और कुंठा भी प्रतिबिम्बित होती, और इसमें उसकी किंचित् सार्थकता होती। यह समझ लिया जाता कि इस संक्रान्ति युग में विपरीत विचारधाराओं और सामाजिक आदर्शों के अनवरत संघर्ष से ऊबे-थके, किंकर्त्तव्यविमूढ़ और अपने तात्कालिक स्वार्थों से आगे सोच सकने में असमर्थ व्यक्तियों की तरह ये 'कुछ' साहित्यकार भी पलायनवादी हैं, या केवल रूपवादी हैं, युग की अनास्था और कुंठा से पीड़ित हैं और अपनी अदूरदर्शिता में मोड़ के शिलाखंड को ही सुरक्षित स्थान समझकर उस पर खड़े हो गये हैं, और युग के संघर्ष के प्रति उदासीन और तटस्थ रहकर केवल काव्य कल्पना की दुनिया में ही जीते हैं, काव्य की टेकनीक में नये-नये प्रयोग करते हैं और अपने दुख-दर्द को यथा-सामर्थ्य मार्मिक अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते हैं। इतिहास के विराट् सन्दर्भ में यह स्थिति चाहे जितनी दयनीय और क्षोभकारी क्यों न होती, कम-से-कम मुझे तो ऐसे साहित्यकारों के प्रति सहानुभूति होती, क्योंकि संघर्ष के बीच पलायन की प्रवृत्ति एक मानवीय कमज़ोरी है। हार्दिक सहानुभूति देकर ही ऐसे व्यक्तित्वहीन, हताश व्यक्तियों में मनोबल पैदा किया जा सकता है। ये जो नगरों के बुद्धिजीवी आज सस्ते और सनसनीखेज़ मनोरंजन के पीछे पागल हो रहे हैं, उन्हें दयनीय समझने से

काम नहीं चलेगा, क्योंकि इससे उनमें जीवन के उच्चादर्शों के प्रति पुनः आस्था नहीं पैदा की जा सकती। इस अनास्था के लिए 'व्यक्ति' ज़िम्मेदार नहीं हैं, विश्व-परिस्थिति ही इसके लिए ज़िम्मेदार है। अणु और उद्जन बमों की ताक़त दिखाकर जहाँ 'असत्य' को 'सत्य' के रूप में मनवाने की कोशिशें हों, वहाँ किसी भी व्यक्ति का मनोबल टूट सकता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति हमारी दया के नहीं, सहानुभूति के पात्र हैं। इस बात को फिर से दुहराने की ज़रूरत है कि यदि केवल ऐसी स्थिति होती तो ये 'कुछ' अनास्थावादी साहित्यकार सहानुभूति के पात्र होते और उनके प्रति हमारी दृष्टि कुछ और होती। उनकी कृतियों में व्यक्तिगत पीड़ा, कुंठा, वेदना, अनास्था आदि के माध्यम से वर्तमान युग की वास्तविकता जिस आंशिक-रूप में भी प्रतिबिम्बित होती, एक आलोचक के नाते, सहानुभूतिपूर्वक उसका विवेचन करना मेरा कर्तव्य होता और समाजवाद के लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई मानवता इन साहित्यकारों की वाणी में अपने मन के भय, संशय, अवसाद और वेदना की प्रतिध्वनि सुनकर अपने कर्तव्यों के प्रति और अधिक सचेत होती, व्यक्ति और समष्टि के संबन्धों का मानवीय स्तर पर नियमन करने की समस्या के प्रति अधिक जागरूक हो जाती और महान् लक्ष्य की ओर बढ़ने के जोश में अतिवादों के लिए जो मोह पैदा हो जाता है, उनसे बचने की ज़रूरत के प्रति सतर्क हो जाती। लेकिन दुर्भाग्य से इन 'कुछ' अनास्थाशील साहित्यकारों की कृतियों से इस तरह की कोई रोशनी आधुनिक मनुष्य को नहीं मिली।

लेकिन स्पष्ट या संकेत रूप में अपनी कृतियों द्वारा मनुष्य को रोशनी दिखाना और उसके मन या बाह्य सामाजिक जीवन में उत्पन्न होनेवाली जटिल समस्याओं का समाधान खोजना यदि इन 'कुछ' साहित्यकारों को अभीष्ट होता तो उनके बारे में आस्था का प्रश्न ही क्यों उठता? प्रश्न तो इसलिए उठा है कि इतिहास के मोड़ के शिलाखंड पर बैठे इन 'कुछ' साहित्यकारों ने जान-बूझकर आगे बढ़ती हुई मानवता को लक्ष्य-भ्रष्ट करने की गरज़ से, विगत के अंधकार से आती हुई साम्राज्यवादियों की आवाज़ के साथ आवाज़ मिलाकर एक भयंकर कोहराम मचा रखा है, जिसका सीधा-सादा मतलब यह है कि 'समाजवाद के लक्ष्य की ओर मत बढ़ो, नहीं तो तुम सारे के सारे 'व्यक्ति' समष्टि की खाई में गिरकर खो जाओगे। समष्टि तुम्हें लील लेगी। अगर अपने व्यक्तित्व की रक्षा चाहते हो तो लौट आओ। अगर तुम्हारे साथी तुम्हें रोकें तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए लड़ो। अमेरिका के साम्राज्यवादियों की सारी ताक़त तुम्हारी मदद के लिए है। देखो, इस शिलाखंड पर बैठे हम सब कितने स्वतंत्र हैं! समाज के दायित्वों से मुक्त रह कर भी हम सारी सुविधाओं का उपभोग करते हैं। तुम्हारी 'सांस्कृतिक स्वतंत्रता' (कल्चरल फ्रीडम) के लिए

हमने एक अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनायी है और 'डेमोक्रैटिक रिसर्च सेन्टर' खोल दिये हैं, जिनका काम तुम्हारे रहनुमाओं की हर गति-विधि की निगरानी करना है।'

तो ये मोड़ के शिलाखंड पर बैठे 'कुछ' साहित्यकार दरअसल ऐसे कुंठित, पीड़ित, हताश व्यक्ति नहीं हैं, जिन्होंने मनुष्य की आज़ादी या प्रगति के लिए संघर्ष किया हो, कष्ट झेले हों, त्याग किया हो और आहत हुए हों। न ये लोग नगरों के उन साधारण बुद्धिजीवियों की तरह ही हैं जो वर्तमान युग की दुर्निवार कशमकश से ऊबकर और भविष्य में आस्था खोकर अपने इने-गिने जीवन क्षणों को सुखद बनाने के लिए सस्ते मनोरंजन की तलाश में भटक रहे हैं। इन 'कुछ' साहित्यकारों की अनास्था 'सोद्देश्य' है, मूलतः राजनीतिक है, मनोवैज्ञानिक नहीं। मनोवैज्ञानिक केवल इस सीमा तक है, जिस सीमा तक स्वभाव, प्रवृत्ति और सहज प्रतिक्रियाओं के आधार पर दो या चार 'टाइप्स' के रूप में आजकल मनुष्यों का वर्गीकरण किया जाता है और उसके अनुसार ये सब लोग स्वभावतः घोर आत्म-केन्द्रित, हीन-भावना-ग्रस्त, व्यक्तित्वहीन, उद्धत, दूसरों द्वारा पीड़ित होने की कल्पना करके ही आशंकित रहने वाले वर्ग के लोग हैं, यानी जिनका **Perception** किशोरावस्था के **perception** से आगे नहीं बढ़ा है, तथा 'स्व' के संकीर्ण दायरे से निकलकर जिनका जीवन-बोध 'पर' के सीमाहीन क्षितिज की ओर विकास नहीं कर सका है। इस मनोवृत्ति के लोग अक्सर क्रान्तिकारी नहीं बनते और यदि ग़लती से जोश में आकर कभी क्रान्तिकारी बन जाते हैं, तो संघर्ष की पहली ही थपेड़ से तिलमिला कर भाग निकलने का मौक़ा ढूँढने लगते हैं, और अपनी ग़द्दारी को छिपाने के लिए जीवन पर्यन्त मकड़ी के जाले की तरह तर्कों का जाल बुनते जाते हैं, जिसमें स्वयं फँसकर ये भगोड़े क्रान्तिकारी अपनी जैसी मनोवृत्ति के [illegible] युवकों को भी [illegible]

कार भी हैं जो अपने देश में आज समाजवाद-विरोधी प्रतिक्रियावाद के नेता और दादा बने हुए हैं और उनके इर्द-गिर्द हर देश में 'कुछ' तरुण साहित्यकार भी जमा हो गये हैं, क्योंकि मनोवृत्ति से वे भी इन दादाओं के 'समानधर्मा' हैं। जी हाँ, वे अपनी अबोधता में ग़द्दारी का सेहरा बाँधकर फिरने में ही अपनी शान समझते हैं, क्योंकि ऐसा करने में उनके उद्धत, किशोर स्वभाव को कुछ उखाड़-पछाड़ करने का एहसास होता है, जिससे उन्हें तृप्ति मिलती है। दूसरी ओर उन्हें यह जानकर अपार शक्ति का एहसास भी होता

है कि वे एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र के अंग हैं और एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ़ लड़ रहे हैं—ऐसी लड़ाई जिसमें उन्हें नेकनामी चाहे न मिले, लेकिन अभी तो अपने पल्ले से कुछ खोना नहीं है, पाना ही पाना है। जब तक पूँजीवाद समाजवाद की शक्तियों से लड़ने में थोड़ा भी समर्थ है, तब तक दादा लोगों को भी 'खुल जा सिम सिम' का मंत्र सिद्ध रहेगा और उन्हें जीवन-यापन के लिए साधन जुटाने की वैसी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी, जैसी साम्यवादी क्रान्तिकारियों को करनी पड़ती है। मोड़ के शिलाखंड पर बैठकर शोरगुल मचाने वालों का यही मनोविज्ञान है और उनकी राजनीति की प्रेरणा का स्रोत उस अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र में है, जो लगभग आधी शताब्दी से समाजवाद की ओर बढ़ती हुई कोटि-कोटि मानवता के विरुद्ध जीवन के हर क्षेत्र में रचा जा रहा है।

सत्य और असत्य में एक ही वास्तविकता के विपरीत पहलुओं का रिश्ता नहीं है, बल्कि दाने और छिलके का रिश्ता है। अक्लमन्द और दूरन्देश वह है जो ऊपर का छिलका उतार कर दाने की परख करे। इन 'कुछ' साहित्यकारों के वक्तव्यों, दावों और नारों के आवरण को हटा कर भीतर छिपी मूल-भावना को देखें तो आपको यह दुखदायी हक़ीक़त दिखायी दे जायगी। लेकिन अगर आप आवरण को ही देखेंगे तो उलझन में पड़ जायेंगे। आप इस आवरण की एक-एक पर्त हटाते जाइए, आपको एक-से-एक आकर्षक और रंगीन तहें नज़र आती जायेंगी।....'परम्परा से विद्रोह'....'साहित्य और कला में नयी राहों की खोज'....'पुराने, जूठे उपमानों को त्यागकर नये सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा में नये प्रयोग'....'आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा'.... 'व्यक्ति स्वातंत्र्य'....'व्यक्तित्व की खोज' आदि नारे आपको इस आवरण की तहों पर मोटे-मोटे अक्षरों में अंकित मिलेंगे। इन नारों से किसी को विरोध हो सकता है ? संभव है कि इनमें एक-दो नारे आपको बचकाने लगें, लेकिन आपत्तिजनक नहीं लगेंगे।

—'परम्परा से विद्रोह ?' निस्सन्देह मैं इसका समर्थक हूँ। परम्परा से पूर्ण विच्छेद न संभव है और न वांछित ही, लेकिन उससे विद्रोह किये बिना भी कोई साहित्यकार नये सत्य को मूर्त्त और मार्मिक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। महान् लेखक और कलाकार सदा से ही परम्परा से सार्थक विद्रोह करते आये हैं। अनुकृति नहीं, मौलिकता ही कला की कसौटी है।

—'साहित्य और कला में नयी राहों की खोज ?' क्यों नहीं ! परम्परा से विद्रोह करने से ही तो नयी राहों की खोज का दायित्व हर सत्यान्वेषी लेखक और कलाकार पर आ पड़ता है, नहीं तो वह चर्वित-चर्वण ही करता जायगा। लकीर के फ़क़ीरों ने कभी महान् और मौलिक साहित्य नहीं रचा है।

—'पुराने उपमानों को त्यागकर नये सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा में नये प्रयोग ?' अनिवार्यतः ज़रूरी हैं ! जो उपमान इतने घिसपिट गये हैं कि वे अब नये भाव-सत्य को मूर्त् नहीं कर सकते, उनका प्रयोग असमर्थ कलाकार ही करते हैं। नये कलाकार नये सत्य का मर्म-बोध कराने के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र से नये उपमान गढ़ते हैं और उन्हें नयी अनुभूति का वाहक बनाकर संप्रेष्य बना देते हैं। आदि काल से प्रतिभाशाली साहित्यकार 'परम्परा से विद्रोह' करते हुए इन सभी संबद्ध प्रश्नों से उलझते आये हैं, और अपने सामर्थ्य के अनुसार उनका समाधान खोजते आये हैं—घोषणाओं और वक्तव्यों के रूप में नहीं, बल्कि अपनी कृतियों में जीवन-'सत्य' को प्रतिबिम्बित करके। मोड़ के शिलाखंड पर बैठे इन चन्द साहित्यकारों ने ही पहली बार कला-निर्माण की प्रक्रिया को नहीं पहचाना है—आजकल इस शब्दावली से कालेज और विश्व-विद्यालयों का हर विद्यार्थी पुस्तकें पढ़कर परिचित हो गया है। कवि और साहित्यकार चाहे जिस प्रवृत्ति और विचार धारा के हों, इससे कला-निर्माण की प्रक्रिया में तो अन्तर नहीं आ जाता। केवल इन तथ्यों का मंत्र-जाप करने से ही किसी लेखक के अन्दर मुर्खाब के पर नहीं लग जाते और वह विशिष्ट, मौलिक या महान् नहीं बन जाता।

—'आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ?' 'आत्माभिव्यक्ति' वस्तुतः 'स्वान्तः सुखाय' का ही आधुनिक संस्करण है। लेखक यदि अपने लिखे में 'सुख' या 'आत्माभिव्यक्ति' के लिए किसी आन्तरिक आवश्यकता या प्रेरणा का अनुभव नहीं करता और फिर भी लिखे जाता है, किसी के आदेश पर या किसी तात्कालिक स्वार्थ-साधन के लिए, तो वह लेखक ही कैसा ? लेकिन जीवन के किसी भी क्षेत्र की अनुभूति को लेखक 'स्वान्तः सुखाय' रचना या आत्माभिव्यक्ति का विषय बना सकता है—धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक या नितान्त व्यक्तिगत प्रेम, विरह, आशा-निराशा से संबंधित। अनुभव और अनुभूति के वैविध्य पर कोई कैद नहीं लगायी जा सकती। और यदि लेखक ईमानदारी से अपनी अनुभूति को मार्मिक अभिव्यक्ति देगा तो उसके द्वारा उसके 'व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा' तो प्रकारान्तर से होती ही चलेगी—अर्थात् आलोचक और पाठक उसकी कृति में व्यक्त उसके भावों की गहराई-सचाई, दृष्टिकोण की व्यापकता और बौद्धिक स्तर की ऊँचाई से उसके असली व्यक्तित्व का अनुमान करते ही चलेंगे। किसी भी शिल्पगत चमत्कार और शाब्दिक इन्द्रजाल में लेखक अपने असली व्यक्तित्व की क्षुद्रता को छिपा नहीं सकता, रचना में व्यक्त मानव-संबंधों के प्रति उसकी भावना-प्रतिक्रियाएँ उसकी अभि-व्यक्ति के हर लहजे में से झाँकती चलती हैं, और इन सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से ही लेखक की ईमानदारी, बेईमानी, उदात्तता, क्षुद्रता—उसके असली व्यक्तित्व

का अन्दाज़ लगता है। आत्माभिव्यक्ति के नाम पर कोरा चमत्कार-साधन 'व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा' का उपाय नहीं है। 'आत्माभिव्यक्ति' 'व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा' का साधन बन सकती है, यदि 'आत्म' विशाल और उदात्त हो, नहीं तो कितनी भी 'आत्माभिव्यक्ति' करते जाइये, अपनी रचना में रोइये, गाइये, शब्दों की कलाबाज़ियाँ दिखाइये, छन्द लिखिए या मुक्त-छन्द, उपमान पुराने इस्तेमाल कीजिए या एकदम नये, अपरिचित—क्षुद्र आत्मा क्षुद्र व्यक्तित्व को ही प्रकाशित करेगी।

—'व्यक्ति-स्वातंत्र्य ?' उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की आवश्यकता के प्रति सचेत हुआ है। तब से हर व्यक्ति के लिए धर्म, कर्म, संगठन, विचार और प्रचार की स्वतंत्रता- मनुष्य के इन मूल नागरिक अधिकारों की मांग करना हर प्रगतिशील आन्दोलन का उद्देश्य रहा है। वर्तमान पूँजीवादी समाज में ये नागरिक अधिकार एक सीमा तक 'व्यक्ति' को प्राप्त हुए हैं—इस कारण नहीं कि पूँजीवादी व्यवस्था का मूलाधार 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' है, बल्कि इस कारण कि सचेत नागरिकों ने लगातार संघर्ष करके शासक-वर्ग से इन अधिकारों को मनवाया है। कुछ देशों के संविधान में धर्म, कर्म, संगठन, विचार और प्रचार की स्वतंत्रता को नागरिकों के मौलिक अधिकारों की श्रेणी में स्वीकार भी किया गया है। लेकिन पूँजीवादी- साम्राज्यवादी दुनिया में आज भी अधिकतर देश ऐसे हैं, जहाँ 'व्यक्ति' को ये स्वतंत्रताएँ प्राप्त नहीं हैं, और जिन थोड़े से देशों में संविधान द्वारा इन अधिकारों की गारण्टी की भी गई है, वहाँ भी व्यवहारतः इन अधिकारों का क्या मूल्य है ? उन देशों में शोषक और शासक-वर्ग के लोग ही अधिकतर इन अधिकारों का उपभोग करते हैं। हर पूँजीवादी देश में शासक-वर्ग की अपनी ओर से तो यही कोशिश होती है कि किसी-न-किसी बहाने जन-साधारण से ये अधिकार छीन लिये जायें या यथा संभव सीमित कर दिये जायें। जन-साधारण चूँकि जाग्रत हो चुके हैं, इसलिए वे इन कोशिशों का विरोध करते हैं। इस कशमकश में कभी कुछ अधिकार छिन जाते हैं तो कुछ मिल जाते हैं, और यह संघर्ष अविराम जारी है। मैं 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' का हामी हूँ। और मैं ही नहीं, इतिहास के मोड़ को पीछे छोड़कर समाजवाद के लक्ष्य की ओर जो मानवता अपने देश-काल और इतिहास की परिस्थितियों से निर्दिष्ट विभिन्न खुले-सँकरे मार्गों और पगडंडियों से आगे बढ़ रही है, वह सारी की सारी मानवता भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की हामी है, क्योंकि हमारा संघर्ष हर प्रकार के शोषण और वर्ग-भेद के विरुद्ध मानव-एकता और मानव-मुक्ति का संघर्ष है। समाजवादी जगत में इस बीच व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य की उपेक्षा हुई है, उसका दमन भी हुआ है, और कभी-कभी लगा है कि जैसे सब को एक बँधे-बँधाये दायरे के अन्दर ही सोचने

का अवसर दिया जाता है, जिससे मौलिक चिन्तन के स्थान पर पिष्ट-पेषण की प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहन मिलता है। इतना ही नहीं, 'जो हमसे सहमत नहीं हैं, वे हमारे दुश्मन हैं,' कुछ ऐसी ग़लत और स्वतंत्रता-विरोधी मनोवृत्ति ने भी ज़ोर पकड़ लिया था। तीव्र संघर्ष और क्रान्ति के युगों में ऐसी ग़लतियाँ हो ही जाती हैं—मैं इन ग़लतियों की वकालत नहीं करता, बल्कि जब कभी जानता के शिविर में ऐसी घटनाएँ होती हैं, तब मुझे अपार क्लेश होता है, लेकिन यह क्लेश मुझे इतना अंधा नहीं बना देता कि मैं मनुष्य के भविष्य में आस्था खोकर यह मान बैठूँ कि समाजवाद मूलतः व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विरोधी है। हम यदि इतिहास के perspective को नज़र अन्दाज़ न कर दें तो इतना मुझे निश्चित दीखता है कि मनुष्य ने अतुल रक्त बहाकर दीर्घ संघर्ष के बाद जिन अधिकारों और स्वतंत्रताओं को वर्ग-समाज में प्राप्त कर लिया है, उन्हें वर्गहीन समाज की स्थापना के बाद वह किसी भी क़ीमत पर छोड़ेगा नहीं। अपने ऐतिहासिक विकास की लम्बी यात्रा में मनुष्य ने जितनी भी बौद्धिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ की हैं, उनमें से एक को भी छोड़कर वह आगे नहीं बढ़ेगा। यह मानव-स्वभाव ही नहीं, विकासमान जीवन का साधारण नियम भी है। ये उपलब्धियाँ ही उसके भावी विकास और मुक्ति की गारण्टी हैं। विचार-स्वातंत्र्य मनुष्य के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त है। समाजवाद सामाजिक मनुष्य की केवल अगली मंज़िल है। उस मंज़िल पर पहुँच कर न तो मुक्तिकामी मनुष्य की यात्रा समाप्त हो जायगी, और न सत्य की खोज के लिए प्रयत्न, और यदि आवश्यक हो तो संघर्ष, करने की ज़रूरत ही मिट जायगी। केवल पीछे लौटना संभव नहीं होगा। अणु-अस्त्रों से मानव-जाति को एकदम नष्ट न कर दिया जाय, तो आधुनिक मनुष्य को पुनः बर्बरता के युग में झोंक देने की ताक़त किसी साम्राज्यवादी या फ़ासिस्ट में नहीं है। और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की, किसी विशिष्ट वर्ग के लिए नहीं बल्कि मानव-जाति के सभी सदस्यों के लिए, गारण्टी किये बिना पूर्ण साम्यवादी समाज की स्थापना संभव ही नहीं है।

अंत में रहा, 'व्यक्तित्व की खोज' का नारा, सो इसका अर्थ बहुत कोशिश करके भी मैं समझने में असमर्थ रहा हूँ। इसका अर्थ अगर यह है कि मोड़ के शिलाखंड पर बैठकर शोरगुल मचाने वाले ये 'कुछ' साहित्यकार अपने को व्यक्तित्वहीन पाते हैं, और इसलिए व्यक्तित्व की खोज में लगना चाहते हैं, तो इसमें मुझको या किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? व्यक्तित्व हीनता निस्सन्देह एक दयनीय स्थिति होती है और व्यक्तित्वहीन व्यक्ति नाम को ही व्यक्ति होता है, न अपने और न समाज के काम का। व्यक्तित्वहीनता की इस

'घर—का—न—घाट—का' वाली स्थिति से ये मित्र निकलना चाहते हैं, मुबारक! लेकिन 'व्यक्तित्व' खोजकर पाया जा सकता है, यह बात समझ में नहीं आती। ये लोग जिस तरह हर क़िस्म के हथकण्डे इस्तेमाल करके नौकरियाँ खोज लेते हैं, उसी तरह शायद 'व्यक्तित्व' भी खोज ही लेंगे—बहरहाल मुझे इन बातों का तजुर्बा नहीं है। संभव है कि ये लोग पुस्तकों-पत्रिकाओं में अपनी थीसिस के लिए सामग्री की खोज करने वाले विद्यार्थियों की तरह विश्व के उन सब मानवद्रोही, समाज और सभ्यता के विनाश के दुःस्वप्न देखनेवाले अनास्थावादी कवियों, उपन्यासकारों और दार्शनिकों की कृतियों में खोज करके 'व्यक्तित्व' प्राप्त करना चाहते हों—किन्तु यदि ऐसा है तो यह खोज अब तक कभी की समाप्त हो चुकी होती, क्योंकि ईलियट-एज़रा पाउण्ड से लेकर आर्थर क्वेस्लर और दूसरे नत्थू-बुद्धू मानव-द्रोही लेखकों की कृतियाँ इन्हें कंठस्थ हैं जिस तरह किसी ज़माने में लोगों को रामायण और बाइबिल कंठस्थ होती थी, और बात-बात पर ये लोग, बिना किसी प्रयास के उनमें से उद्धरण देते रहते हैं। अपने थोड़े से अनुभव से मैं तो सिर्फ इतना ही जान सका हूँ कि मनुष्य में 'व्यक्तित्व' का 'विकास' अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के दायरे से निकलकर दूसरों के दुख-दर्द में शामिल होने और सत्य के लिए लड़ने के दौरान में स्वतः होता चलता है। व्यक्तित्व अपने 'स्व' की संकीर्ण कारा से व्यक्ति की मुक्ति का प्रमाण है। जो जितना ही अपने से मुक्त होकर दूसरों के हित-साधन के लिए जीता है, वह उतना ही अधिक व्यक्तित्वशाली होता है। व्यक्तित्वशाली व्यक्ति ही 'विश्व-मानव' बन पाता है, जो 'व्यक्ति-मानव' के विकास का चिर आकांक्षित लक्ष्य है। इस शताब्दी में लेनिन, गांधी, रवीन्द्र, रोम्यां रोलाँ और गोर्की ऐसे ही व्यक्तित्वशाली 'विश्व-मानव' हुए हैं। लेकिन सामाजिकता के माध्यम से व्यक्तित्व के 'विकास' का सहज मार्ग इन मित्रों को स्वीकार नहीं दीखता, इसीलिए वे शायद अपने अन्दर व्यक्तित्व का 'विकास' करने के इच्छुक नहीं हैं। संभवतः वे कहीं से व्यक्तित्व 'खोज' कर अपने व्यक्तित्वहीन चेहरों पर नक़ाब की तरह पहन लेना चाहते हैं।

वे क्या चाहते हैं, इसका विवरण प्रस्तुत करना मेरा काम नहीं है। उनके 'साहित्यिक नारों' का विवेचन मैंने सिर्फ यह बताने के लिए किया है कि उनसे ख़ास तात्विक विरोध किसी को नहीं हो सकता। ऊपर से देखने में उनमें कोई बुराई नज़र नहीं आती, क्योंकि वे कला-निर्माण की प्रक्रिया के कतिपय सामान्य तथ्यों को ही रेखांकित करते हैं। साहित्यिक 'वादों', 'विचारधाराओं' और 'प्रवृत्तियों' से कला के सत्य या कला-निर्माण की प्रक्रिया में कोई मौलिक भेद नहीं आ जाता, और न कलाकृति के मूल्यांकन की कसौटी ही बदल जाती है। किसी 'वाद' या 'प्रवृत्ति' के लेखक की रचना क्यों न हो, श्रेष्ठ रचना ही श्रेष्ठ

कहलायेगी। कोई भी 'वाद' कला-सृष्टि का फार्मूला नहीं होता। साहित्य के 'वाद' कला के किसी उपेक्षित तत्व पर विशेष ज़ोर देने के कारण ही एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। लेकिन इस बात की आशंका हमेशा बनी रहती है कि किसी एकांगी परम्परा की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा होने वाला नया 'वाद' कुछ दिनों में ही संकीर्ण 'मतवाद' और अन्त में 'अतिवाद' में परिणत होकर स्वयं घोर नकारात्मक और एकांगी न बन जाय। आरंभ में नया 'वाद' यदि 'प्रगति' का सूचक होता है तो 'अतिवाद' प्रगति-तत्व का विरोधी, क्योंकि उसके आगे केवल शून्य होता है। उसकी प्रतिक्रिया भी अनिवार्य हो जाती है। लेकिन कुछ 'वाद' या 'प्रवृत्तियाँ' युग की ऐतिहासिक करवट को प्रतिबिम्बित करती हैं, जिससे वे शताब्दियों तक जन-मानस में जीवन-सत्य को मूर्त्त करती जाती हैं। इसके विपरीत कुछ 'वाद' और 'प्रवृत्तियाँ' समय-ज्वार की सतह पर खेलनेवाली लहरियों की तरह उभरती-मिटती रहती हैं। उनकी अवधि बीस-पच्चीस वर्षों से अधिक नहीं होती। छायावाद की वेदनापूर्ण रूमानी कल्पनाओं और रूप-सज्जा से विद्रोह करनेवाले प्रगतिवादियों ने समाजवाद के लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई मानवता के संघर्ष और आधुनिक युग के सत्य को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने के जोश में, वस्तु और रूप की अन्योन्याश्रिता के आधार-भूत सिद्धान्त को भूलकर यह समझ लिया कि कला-निर्माण में 'विचार-वस्तु' (कन्टेन्ट) और लेखक का 'दृष्टिकोण' (प्वायन्ट आव व्यू) ही सब कुछ है, और रूप (फार्म) और शिल्प (टेकनीक) गौण तत्व हैं। निस्सन्देह इस साहसपूर्ण विद्रोह ने हमारे साहित्यकारों को एक झटके में स्वप्न की दुनिया से खींचकर जीवन-यथार्थ की दुनिया में ला खड़ा किया था। लेकिन यह एकांगी जोश, संभव है, 'अतिवादी' बन जाता यदि प्रयोगवादियों ने कला-निर्माण की प्रक्रिया के उपेक्षित, किन्तु अनिवार्य तत्वों पर ज़ोर देकर रूप और शिल्पगत प्रयोगों की आवश्यकता के प्रति लेखकों का ध्यान आकर्षित न किया होता। शुरू में युग के नये सत्यों को नयी अभिव्यक्ति देने का दावा करके साहित्य में 'प्रयोग' का झंडा खड़ा किया गया था। अनेक प्रगतिवादी भी, जो साहित्य में वस्तु और रूप की एकता को पुनः स्थापित करना चाहते थे, इस झंडे के नीचे जा खड़े हुए—अन्य साहित्यकार 'वादों' के दायरों में न बँधकर स्वतंत्र रूप से 'नये प्रयोग' करने लगे। लेकिन कुछ ही दिनों में नये प्रयोगों के 'वादी' इतने 'अतिवादी' बन गये कि युग का 'नया सत्य' (?) उनकी रचनाओं में न जाने कहाँ ग़ायब हो गया और उसको अभिव्यक्ति देने से पहले 'नये सत्य को मूर्त्त करने योग्य नयी भाषा गढ़ने' के नाम पर 'प्रयोग की खातिर प्रयोग' का चलन आरंभ हुआ। यहाँ तक भी ग़नीमत थी। सहसा, शीत युद्ध छिड़ने के बाद, न जाने किस करिश्मे से 'वादी-अतिवादी दल' के प्रयोगवादियों के लिए

'प्रयोग' तो सिर्फ बाह्य आडम्बर रह गया, और उनकी रचनाओं में, नये युग-सत्य को प्रकाशित करने वाली 'विचार-वस्तु' (कन्टेन्ट) के रिक्त स्थान पर अमरीकी छाप-लगे, 'साम्यवाद-विरोध' का सड़ा कंकाल 'नये युग-सत्य' का प्रतीक बनकर आ विराजा ! इसलिए अगर आप इन 'कुछ' साहित्यकारों के वक्तव्यों, दावों और नारों के आकर्षक आवरण की तहों को हटाकर देखें तो मूल में आपको यह 'सड़ा कंकाल' छिपा बैठा मिलेगा, और तब आपको सारी हक़ीक़त का पता चल जायगा। मैं यह सब दोषारोपण के भाव से नहीं कह रहा। समाजवाद या साम्यवाद मे यदि किसी को कोई बुराई नज़र आती है, तो उसकी आलोचना करने का अधिकार सबको है। लेकिन सोवियत रूस, चीन, तिब्बत या पूर्वीय योरप के समाजवादी देशों में अगर पत्ता भी खड़के, तो मानव-स्वतंत्रता के अपहरण के कल्पितभय से संत्रस्त होकर साम्यवाद का स्यापा करना; एशियाई-अफ्रीकी देशों की जनता यदि आज़ादी के लिए संघर्ष करे, या विश्व की जनता पंचशील के आधार पर सह-अस्तित्व, विश्व शान्ति या अणु-अस्त्रों पर प्रतिबंध लगाने की माँग करे, तो इन सब संघर्षों और आन्दोलनों को 'साम्यवादी-प्रेरित' घोषित करके अपनी रचनाओं में इनको कोसना और मनुष्य की चिर-आदृत पुनीत भावनाओं और आकांक्षाओं का मज़ाक उड़ाना और इसके विपरीत यदि साम्राज्यवादी, दुनिया के हर कमज़ोर देश की राजनीति में हस्तक्षेप करें, स्वतंत्र देशों पर आक्रमण करें, सैनिक अड्डे बनायें, आर्थिक सहायता के नाम पर उनकी प्रभुसत्ता का अपहरण करें, अणु-अस्त्रों की ताक़त से धमकाएँ, बेतहाशा डालर बहाकर हर देश के नेताओं, लेखकों और सम्पादकों को ख़रीदें, जो देश उनके सैनिक-समझौतों में शामिल होने से इन्कार करें उनकी सरकारों का तख्ता उलटने के लिए खुले आम षड्यन्त्र रचें और 'अमरीकी जीवन-प्रणाली' का प्रचार करके दुनिया भर में भ्रष्टाचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन दें तो उसे अपनी मायोपिक दृष्टि से एकदम अनदेखा करके मौन साध लेना— इस स्यापे और मौन में क्या यह कंकाल ही नहीं बजता ?

इसीलिए मैंने कहा कि इन 'कुछ' लेखकों की कुंठा और अनास्था सोद्देश्य है, मनोवैज्ञानिक के साथ-साथ राजनीतिक भी है। 'साहित्यकार की आस्था' का प्रश्न मुख्यतः इन लोगों के सम्बन्ध में ही उठता है। आज के दिन यह कहना कि प्रकारान्तर से इनकी 'आस्था' साम्राज्यवाद, प्रतिक्रियावाद और मानवद्रोह में है, जिसका प्रतिनिधित्व ये लोग साहित्य में करते हैं, मेरे विचार में, 'आस्था' शब्द के साथ बलात्कार करना है। अवसरवाद और असत्य की हिमायत को 'आस्था' का नाम नहीं दिया जा सकता, चाहे ऊपर से ये लोग 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' और 'लेखक की ईमानदारी' की वेदी पर रोज़ कितनी ही क़समें क्यों न खाते रहें। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की साम्राज्यवाद-विरोधी परम्परा

में पले हिन्दी के प्रबुद्ध और जागरूक पाठक इन क़समों पर विश्वास नहीं करते। इसका बोध शायद इन लोगों को भी होता जा रहा है, क्योंकि इधर की अपनी रचनाओं में इन 'कुछ' लेखकों ने 'शहादत' का जामा ओढ़ कर सामने आने की कोशिश की है। 'हम रौंदे हुए इन्द्रधनु हैं' या 'मैं अपने ही नहीं, तुम्हारे भी सलीब का वाहक हूँ'—ये कल्पना-चित्र इस शहीदाना 'मूड' की सूचना देते हैं, लेकिन वे इस बात के प्रमाण भी हैं कि एक भयंकर क़िस्म के दूसरों द्वारा पीड़ित होने के त्रास (Persecution mania) और अपराध-भावना (guilt complex) से ये 'कुछ' साहित्यकार ग्रस्त होते जा रहे हैं। लगता है कि उनका आत्मविश्वास अनेक बार उनका साथ नहीं देता, और वे अपनी असफलता पर बौखलाकर कभी गाँधीवादी लेखकों पर 'धुरीहीनता' का आरोप लगाते हैं (कि वे उनकी तरह हर समय साम्यवाद-विरोध के कंकाल-देवता को प्रेमालिंगन में क्यों नहीं बाँधे रहते और उसकी ठठरियाँ बजाकर उनके स्वर में स्वर क्यों नहीं मिलाते) तो कभी अपने मन के 'प्रेतों' को जगाकर उलाहना देते हैं या अन्य किसी जीवित श्रोता के अभाव में उनके ही साथ बैठकर अपने खोखले जीवन की कहानी सुनाने लगते हैं। इस विक्षिप्तता का कोई अन्त नहीं है। इस दयनीय अवस्था से निकलने के लिए ये 'चन्द' लेखक अपने राजनीतिक अवसरवाद और असत्य की हिमायत को छोड़कर क्या कभी मनुष्य और उसके उज्ज्वल भविष्य में, और प्रकारान्तर से स्वयं अपने अन्दर 'आस्था' का विकास कर सकेंगे, इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। अपने आपको बयान करने के लिए इन्होंने 'नदी के द्वीप' से लेकर 'इन्द्रधनु', 'सीपी' और 'सेतु' तक अनेक प्रतीकों का इन्तेमाल किया है, लेकिन इनके कवि-गुरु टी० एल० ईलियट ने इनके जैसे लोगों के लिए तीस वर्ष पहले जिस प्रतीक का इस्तेमाल किया था वह मैं समझता हूँ, आज भी, इन पर फिट बैठता है—Hollow men—'खोखले या थोथे इन्सान'! (माफ़ कीजिएगा, 'थोथे' शब्द ने एक पुरानी उक्ति याद दिला दी—'थोथा चना बाजे घना') खोखले इन्सानों में आस्था का बीज फिर से पैदा होना यदि असंभव नहीं तो कठिन ज़रूर है। इस कठिनाई को ये लोग पार करना भी चाहेंगे या नहीं यह कौन बता सकता है? अभी तो ऐसा लगता है कि साहित्य के माध्यम से ये लोग साम्राज्यवादियों के जिस राजनीतिक उद्देश्य (साम्यवाद-विरोध) की पूर्ति में लगे हैं, उससे विमुख नहीं होना चाहते। इस लिए इन लोगों को अपने भाग्य पर छोड़कर मैं आगे बढ़ता हूँ। इतने विस्तार से इन 'कुछ' लेखकों की समस्या का विवेचन करने का उद्देश्य केवल इतना था कि थोथे चने की तरह ये लोग आजकल अपने को खूब 'बजा' रहे हैं। मगर 'साम्यवाद-विरोध' के कंकाल में से जीवन की रागिनी न कभी फूटी है,और न कभी फूट ही सकेगी।

प्रयोगशील साहित्यकारों की संख्या 'अमरीकी दल' के इन चन्द अनास्थावादी लेखकों तक ही सीमित नहीं है। एक प्रकार से सभी विचारधाराओं के साहित्यकार आज प्रयोगशील हैं—प्रगतिवादी भी और गाँधीवादी भी और वे भी जो किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण को न अपना कर केवल मानववादी हैं। यानी प्रयोगशील साहित्यकारों की कोई अलग जाति नहीं है। न 'प्रयोगों' की क़िस्मों को 'पेटेन्ट' करवा के कोई उन पर एकाधिकार ही जता सकता है (यद्यपि ये 'कुछ' साहित्यकार अपने ढंग के प्रयोगों को ही सच्चे प्रयोग समझने की प्रवंचना से अभी तक मुक्त नहीं हुए हैं)। सभी युग-वास्तव को नयी अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा और शिल्प में नये प्रयोग कर रहे हैं। हर लेखक के प्रयोग एक-दूसरे से भिन्न होने ही चाहिए, क्योंकि हरेक का जीवनानुभव दूसरे से भिन्न होता है। ये प्रयोग जहाँ सफल हुए हैं वहाँ 'मनुष्य के रूप' 'बलचनमा' 'मैला आँचल' 'मुखदा' और 'सागर लहरें और मनुष्य' जैसे उपन्यास और पंत, निराला, गिरजा कुमार माथुर, नागार्जुन तथा दर्जनों दूसरे तरुण कवियों की अनेक स्फुट कविताएँ, रांगेय राघव तथा दूसरे तरुण कहानीकारों की अनेक कहानियाँ आदि श्रेष्ठ रचनाएँ सामने आयी हैं, जिनमें जीवन-वास्तव को खंड रूप में नहीं बल्कि समग्र रूप में युगानुकूल नयी कलात्मक अभिव्यक्ति देने का सार्थक प्रयास किया गया है। ये सब ऐसे साहित्यकार हैं, जिनकी जीवन के किसी-न-किसी मानववादी आदर्श में आस्था है। किन्तु दूसरे महायुद्ध के समय से हमारे बुद्धिजीवियों को जिस प्रकार की कुंठा और अनास्था ने ग्रस रखा है—और जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ—उसके प्रभाव से हमारे सभी आस्थावान साहित्यकार अछूते रह सके हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शमशेर, भारत भूषण अग्रवाल, नेमिचन्द जैन तथा अनेक तरुण कवि चिन्तन-स्तर पर आस्थाशील होने के बावजूद अनुभूति के स्तर पर निराशावादी—इस तरह दो हिस्सों में बँटे हुए व्यक्तित्व (Split personality) के उदाहरण हैं। वे अपने बौद्धिक विश्वासों और अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों में कोई सामंजस्य और अन्विति नहीं पैदा कर सके हैं। वे इस आन्तरिक विच्छिन्नता से परिचित हैं, इसके विरुद्ध अपने अन्दर संघर्ष भी करते हैं, लेकिन साहित्य रचते समय उनकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति उन पर हावी हो जाती है और उनकी अनुभूतियों को 'स्व' के सीमित क्षेत्र से बाहर समग्र जीवन तक प्रसरण करने से रोक देती है। मनुष्य और जीवन में उनकी आस्था उन्हें अपनी कृतियों में मानवद्रोही और सनकमिज़ाज नहीं बनने देती—'आस्था' से उन्हें केवल इतनी ही उपलब्धि हुई है।

अन्त में साहित्यकार की आस्था के प्रश्न का एक पहलू और भी है। हमारे देश के साहित्यकार अब पाश्चात्य जगत की साहित्यिक गतिविधियों से

सामान्यतः परिचित हैं । इस परिचय के कारण हमारे साहित्यों को आधुनिक बनने की प्रेरणा मिली है, किन्तु साथ ही कभी-कभी हमारे साहित्यों पर पाश्चात्य जगत की प्रवृत्तियों का अस्वस्थ प्रभाव भी पड़ा है। अस्वस्थ इसलिए कि वे प्रवृत्तियाँ हमारे देश की परिस्थितियों से संगति नहीं रखती थीं, वे अपने यहाँ की विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज थीं। कुंठा, अनास्था और मानव द्रोह की प्रवृत्ति भी इस कोटि की ही है। पिछले तीस-चालीस वर्षों से पाश्चात्य देशों का वातावरण अत्यधिक विच्छिन्न रहा है। इस बीच उनके एशियाई-अफ्रीकी उपनिवेशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने संगठित होकर उनकी प्रभुता को चुनौती दी है। विज्ञान ने पुरानी मान्यताओं और धार्मिक आस्थाओं को ललकारा है। रूस में विजयी होकर साम्यवाद ने विश्व-पूँजीवाद की आसन्न मृत्यु का शंखनाद किया है। साम्राज्यवादी देशों की प्रतिस्पर्धाओं ने दो बार विश्व व्यापी नर मेधों का आयोजन किया है। ये घटनाएँ निश्चय ही उसी संसार में हुई हैं, जिसमें हम सब रहते हैं। लेकिन इन घटनाओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न रहे हैं, क्योंकि आधुनिक इतिहास के रंग-मंच पर हमारी भूमिकाएँ भिन्न थीं। वहाँ के साहित्यकारों को लगा कि जीवन का विकास जीवन के विरोध में हो रहा है, समय का अन्त आगया, संयुक्त दुनिया नष्ट हो गई, जीवन में आशा की कोई किरण नहीं रही। इस घुटन के वातावरण में 'आत्म संहार' की बलवती इच्छा से प्रेरित होकर लेखकों ने मनुष्य के अवचेतन के दानवों को कैद से रिहा करने की ग़रज़ से मनुष्य की शव-परीक्षा शुरू कर दी। इन साहित्यकारों का नारा था—सच्चे कलाकार केवल वे हैं जो अमानवीय बनने की आकांक्षा से प्रेरित हैं। मनुष्यता से स्खलित होकर अमानवीय बनने की यह प्रवृत्ति कई नाम-रूपों में अब तक वहाँ प्रचलित है। साहित्य से नैतिक भावना, आदर्शवाद, मानव-प्रेम के रसों से सींची गई प्राणवान् विचार-वस्तु का बहिष्कार करके उसके स्थान पर रुग्ण-विक्षिप्त मानस, अवचेतन, मरण-भावना, मानवद्रोह और अनास्था को साहित्य की 'वस्तु' के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इस ह्रासोन्मुखी बुर्ज्वा प्रवृत्ति को ही है। वीनिन्गर, काफ़्का, हीडेगर, हेस, वर्लेन, वैंग, रिल्के और सार्त्र — इस प्रवृत्ति के साहित्यकारों की सूची काफ़ी लम्बी है। उन्होंने अपने जीवन के व्यक्तिगत अभावों को ही प्रतिबिम्बित करने पर ज़ोर देकर दृष्टि को इतना संकीर्ण बना लिया कि वे संसार में सर्वत्र अराजकता ही देखने लगे—इस अराजकता के बीच व्यवस्था और मानव-एकता का जो सत्य उभर रहा है, उसे देखने में वे असमर्थ रहे। गेटे का मत था कि ह्रासोन्मुखी युगों में ही कलाकार आत्मापेक्षी बनकर आत्म-रति से पीड़ित हो जाते हैं, नहीं तो प्रगतिशील और रचनात्मक युगों में वे सदा बाह्य-जगत की समस्याओं में ही उलझे रहते हैं।

प्रगतिशील युगों में वे अपने घोंघे से बाहर निकल कर जो 'है' उसकी खोज-पड़ताल करते हैं, न कि सिर्फ उसको ही स्वीकारते हैं जो उन्हें अपने लिए अनुकूल लगता है। पाश्चात्य देशों का पूँजीवादी समाज इस शताब्दी के आरंभ से ही ह्रासोन्मुखी है, यह सभी जानते हैं। वहाँ पर मूल्यों का विघटन इस ह्रास-प्रक्रिया का ही परिणाम है। लेकिन इस नकारात्मक और अतिवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध इधर कुछ वर्षों से वहाँ भी प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। प्रबुद्ध पाठक और आलोचक यह माँग करने लगे हैं कि उन्हें अब काफ्का, हिडेगर और रिल्के के घोर निराशावाद की ज़रूरत नहीं है। उन्हें अब ऐसे विश्व-मानव साहित्यकार की ज़रूरत है जो मनुष्य में मनुष्य की आस्था को पुनः स्थापित कर सके, जो टी० एस० ईलियट की तरह 'कैथोलिक धर्म और सम्राट भक्ति में आस्था' जैसा खोखला आदर्श न पेश करे, बल्कि जो यूनानी मनीषियों के उस महान् मानववादी सूत्र की पुनः कलात्मक प्रतिष्ठा करे जिसमें उन्होंने कहा है कि 'मनुष्य ही सब चीज़ों का प्रमाण है।' अर्थात जो वस्तु, विधान या विचार मनुष्य के लिए हितकर नहीं है या हानिकर है, वह त्याज्य है, निकृष्ट है। इस सूत्र में 'मनुष्य' व्यष्टि भी है और समष्टि भी, क्यों कि किसी एक ही रूप में मनुष्य की कल्पना एकांगी है, और उसके व्यक्तित्व को खंडित करती है। व्यष्टि-समष्टि समन्वित पूर्ण मानव ही नयी आस्था का आधार और उसका हित ही हर विचार और वस्तु की श्रेष्ठता और ग्राह्यता की कसौटी होन चाहिए।

हमारे देश में परिस्थितियाँ भिन्न रही हैं—विस्तार से यह बताने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन पाश्चात्य से सम्पर्क गहरा होने के कारण हमारे यहाँ भी कुछ बुद्धिजीवी इस ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति से प्रभावित हुए और उन्होंने अपने सर्द पड़े पज़मुर्दा दिलों में पश्चिम का यह पौधा रोप कर उसे अपनी विक्षिप्त, असामाजिक और जन द्रोही भावनाओं से खूब सींचा भी। लेकिन हमारे देश के खुले आसमान में इस पौधे को आज भी अनुकूल वातावरण नहीं मिल रहा, आगे तो संभवतः और भी नहीं मिलेगा, क्योंकि सारी ख़ामियों, आन्तरिक कलहों और प्रतिगामियों के लगाये अड़ंगों के बावजूद भारतीय समाज जनवादी मार्ग से समाजवाद के लक्ष्य की ओर अग्रसर रहेगा और हमारी जनता नये जीवन की नयी उमंगें लेकर नये भारत के निर्माण में लगी रहेगी। आस्थावान कलाकार और लेखक ही इस बदलते हुए जीवन-सत्य को सशक्त कलात्मक अभिव्यक्ति दे सकते हैं। साहित्यकार में आस्था ज़रूरी है, लेकिन उस आस्था का क्या रूप हो, यह हर लेखक की, अपने जीवनानुभव से प्राप्त, उपलब्धि होनी चाहिए, ताकि वह कला-सृष्टि में प्रेरणा बने बाधा नहीं।

दो, तब तो दुनिया चल चुकी। अगर ऐसा होता तो दुनिया में चोर-डाकू ही भरे होते।

बुद्धि से बैर रखनेवाले से अधिक बातें करना झख मारना है! लखनलाल यह जानते थे। स्त्रियों की समानता और स्वाधीनता की सतत दुहाई देनेवाले लखनलाल यह भी जानते थे कि जिस स्त्री में उस समानता और स्वाधीनता का उपयोग करने की बुद्धि नहीं है, उससे कैसे व्यवहार किया जाना चाहिए। अपनी रचनाओं में और वाणी में नारी शोषण के विरुद्ध सदैव आग उगलनेवाले लखनलाल घर में सदा अपने मन की ही करते, कभी पत्नी के मत से न चलते। देखकर और सुनकर आस-पास के लोग, मुहल्लेवाले चर्चा करते, हाथी के दाँत खाने के और और दिखाने के और होते हैं। लखनलाल सुनते, उड़ती खबर उनके कानों तक पहुँचती पर एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते। अशिक्षित और असंस्कृत स्त्रियों की बातों पर कान देकर चलनेवाले, आपसी व्यवहारों को उन्हीं के मतामत पर निर्भर करनेवाले पुरुषों द्वारा घरों की सुख-शान्ति और व्यवस्था का सर्वनाश होते लखनलाल ने कितनी ही बार देखा था। वास्तविक स्वतंत्रता के अनुभव के अभाव में थोड़ी-सी सुविधाओं को ही एकमात्र स्वतन्त्रता समझकर चलनेवाली मध्यवर्ग की स्त्रियाँ जिस तरह अर्थ का अनर्थ कर सकती हैं, अपने हर भले-बुरे काम में पतियों की सहमति पाकर स्त्रियाँ जिस तरह ईर्ष्या द्वेष और मत्सर का ताना बाना बुनती रहती हैं उससे लखनलाल अनवगत नहीं थे। अर्थ की दिशा इनके लिए कभी उन्मुक्त नहीं रही। अपने खाने पीने के, पहिनने-ओढ़ने के, शृंगार के लिए यह सदैव अपने पति नामधारी जन्तुओं पर निर्भर रहीं। इनकी घूमने फिरने की और किंचित् मनोरंजन की साध भी पति की कमाई के बल पर ही पूरी होती रही। स्वउपार्जित धन मनुष्य में किन बलवती भावनाओं को भरता है उसका इन्हें कभी अनुभव नहीं रहा। और, यह हाँ में हाँ मिलानेवाले

*

२

'हंस' के सम्पादकों ने पत्र का पुनः प्रकाशन आरम्भ करते हुए अपनी विज्ञप्ति में कहा है : 'प्रायः सभी सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक मान-मूल्य आज टूटने और बनने की क्रिया में हैं।' और श्री बालकृष्ण राव ने ११ जून १९५९ के अपने पत्र में एक प्रश्न मेरे सामने रखा है : 'कुंठाओं और कटुताओं की घुटन में, पुरानी मान्यताओं के ध्वसांवशेष के बीच खड़ा हुआ आज का साहित्यकार किसके सहारे, किसके लिए लिख रहा है?'

'आज का साहित्यकार' एक व्यापक संज्ञा है। अपनी बात ही कह सकता हूँ यदि साहित्यकार शब्द से साधारण लेखक का बोध भी उचित माना जाये। अपने से प्रश्न करता हूँ—क्या तुम कुंठाओं और कटुताओं की घुटन का अनुभव करते हो? कटुताओं का सामना जरूर करना पड़ा है लेकिन उनसे घुटन तो तब भी पैदा न हुई थी जब उनका अस्तित्व था। आज तो वे कहीं दिखाई भी नहीं देतीं, किसी के अन्तस्तल के अन्तराल में छिपी हों तो मैं नहीं जानता। दूसरों को मुझसे शिकायत हो सकती है—तुमने कटुताएँ उत्पन्न कीं। मुझे शिकायत नहीं है, विशेषरूप से इसलिए कि कटुताओं के सिलसिले में मुझे जिसको जो कहना-सुनना था उसे कटुता-अकटुता का विचार किये बिना मैं कह चुका हूँ, अपने श्रद्धेय मित्रों को सुना चुका हूँ। इसलिये अपनी लेखन-प्रक्रिया के लिये मुझे वातावरण अत्यन्त निर्मल लगता है और हृदय मानों कहता है—अभी-अभी ही तो आया है मेरे वन में नवल बसन्त।

कुंठाओं की घुटन?

कालो ह्य निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। घुटन की गुंजाइश कहाँ? फिर हिन्दी पाठक अत्यन्त उदार हैं। साहित्यकारों की अपेक्षा वे साहित्य का अधिक सम्मान करते हैं।

किसके लिए लिख रहे हो?

आज के उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के लिए।

किसके सहारे लिख रहे हो?

क़र्ज़ की मै पीने वालों के सहारे, हृदय में लांछना-इन्धन से आग जलाने वालों के सहारे, 'भरोसे एक राम कै' सुख से पाँव पसार कर सोने वालों के

सहारे, शोक को श्लोक का रूप देने वालों के सहारे........

सहारे बहुत हैं। समस्या यह है कि इन सब का उपयोग कैसे किया जाय।

इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न मान-मूल्य आज टूटने और बनने की क्रिया में नहीं हैं। टूटने और बनने की क्रिया थोड़ी-बहुत तो सदा चला करती है लेकिन आज वह क्रम बहुत तीव्र हो गया है और इसका कारण है। भारत में वह समाज व्यवस्था जो लगभग दो हज़ार साल से प्रायः अचल बनी हुई थी, समय के थपेड़ों से जर्जर अब ध्वस्तप्राय हो गयी है। इस व्यवस्था का आधार छोटे पैमाने का उत्पादन और सीमित वितरण था। गाँवों में किसान अन्न पैदा करते हैं, राज्य को कर देते हैं, जुलाहे कपड़े बुनते हैं, साधारणतः उत्पादन का उद्देश्य विनिमय के लिये वस्तुओं का निर्माण करना नहीं वरन् अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। नगरों मे प्रजा के श्रम से उत्पन्न धन राजकोशों और मन्दिरों में एकत्र होता है, विलास वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। अधिकांश जनता स्वधर्म पालन में लगी हुई 'शान्ति' से जीवन बिताती है। राजा ईश्वर का अंश है, विप्रवृन्द साक्षात् भूसुर हैं। नारी मन-वचन-कर्म से पति सेवा करती है। शूद्र जन्मना अथवा कर्मणा दूसरों की सेवा करने के लिये हैं। अन्त में स्वधर्म पालक के लिये मोक्ष अथवा निर्वाण है।

यह व्यवस्था लगभग चार सौ साल पहले से खोखली होना शुरू हो गई थी। विनिमय के नये केन्द्रों के रूप में नये शहर आबाद हुए। इनमें केवल विलास-वस्तुओं का क्रय-विक्रय न होता था, काम-काज की साधारण वस्तुओं का विनिमय भी होता था। पुरानी व्यवस्था की एक विशेषता—संकुचित विनिमय—को धक्का लगा। विनिमय की बढ़ती से—आगरा, दिल्ली, लखनऊ, बनारस आदि की मंडियों में क्रय वस्तुओं की मांग से—उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता पैदा हुई। निजी आवश्यकताओं—या गांव के लोगों की आवश्यकताओं—को ही पूरा करने के बदले जुलाहे विनिमय के लिये कपड़ा बनाने लगे और वह भारत ही नहीं बाहर भी काफ़ी बड़े परिमाण में बिकने लगा। इस तरह पुरानी व्यवस्था की दूसरी विशेषता—मुख्यतः अपनी या गाँव की आवश्यकताओं के उत्पादन—को धक्का लगा। उत्पादन, वितरण और विनिमय—तीनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी समाज विशेष में यदि वितरण और विनिमय में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं तो आगे चल कर उत्पादन-पद्धति का बदलना भी स्वाभाविक हो जाता है। भारत में अंग्रेज़ों के आने से पहले यही हो रहा था। सौदागर जुलाहों को पेशगी रुपया देकर उनके बनाये हुए कपड़े के स्वयं मालिक बन जाते थे। पुरानी व्यवस्था की तीसरी विशेषता उत्पादित वस्तु पर उत्पादक का अधिकार—को भी धक्का लगा। इस तरह पुरानी व्यवस्था जर्जर होना आरम्भ हो गई थी। घोर कलियुग आ गया था,

सभी वर्णों ने अपनी-अपनी मर्यादा छोड़ दी थी।

बीसवीं सदी में छोटे पैमाने के उत्पादन को और धक्का लगा। मिलें और कारखाने बने। गाँवों में बाहर की बनी चीज़ें काफ़ी मात्रा में बिकने लगीं। अपनी आवश्यकता के लिये पहले गाँव जो सब कुछ पैदा कर लेता था—वह 'स्वावलंबन' समाप्त हुआ। आज देश के सामने उद्योगीकरण का प्रश्न है। यह प्रश्न चाहे समाजवादी ढंग से हल हो, चाहे पूँजीवादी ढंग से, चाहे दोनों के मिश्रण से, यह उद्योगीकरण छोटे पैमाने के उत्पादन को और भी संकुचित करेगा। फलतः कलिकाल अपने विकराल रूप में उपस्थित होगा, वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा और धार्मिक आस्था को भारी धक्का लगेगा और 'भारतीय संस्कृति' के लिये भारी संकट उत्पन्न होगा!

इस प्रकार पुराने सामाजिक मान-मूल्य टूट रहे हैं। इनको टूटने से बचाना इतिहास की गति को रोकने का प्रयास होगा जिसमें अधिक-से-अधिक अस्थायी सफलता ही मिल सकती है। जैसे ही पुरानी व्यवस्था से जुड़े हुए मान-मूल्य टूटेंगे, वैसे ही कुछ लोगों में कुंठा और घुटन बढ़ेगी। अब या तो वे घुटन का सुख अनुभव करते रहें या उसके कारण पहचान कर उसका उपचार करें। दूसरा मार्ग ही अधिक श्रेयस्कर लगता है।

लेकिन पुरानी व्यवस्था के जीवन काल में जिन सांस्कृतिक मान-मूल्यों का निर्माण हुआ, वे सभी अनावश्यक और ध्वस्त-प्राय नहीं हैं। उदाहरण के लिए अत्युक्तिपूर्ण, चमत्कारवादी रचना शैली अनावश्यक है किन्तु कालिदास का सौन्दर्य-बोध, भवभूति की करुणा, वाल्मीकि का ओज, तुलसी की उदार सहानुभूति, सूर की आत्मविभोर गेयता—ये सब संग्रहणीय हैं, ये सब जनसंपत्ति का अंग हैं। यही नहीं, ताज महल जैसी कलाकृतियों ने शाहजहाँ का भी मनोरंजन किया तो क्या, वे जन साधारण का भी मनोरंजन करती हैं, इसलिये वे रक्षणीय हैं। धर्म और दर्शन से भिन्न साहित्य के क्षेत्र में—जहाँ विचारधारा से अधिक भावधारा का प्राधान्य है—विनाश की तुलना में संजोने की सामग्री ही अधिक है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के इन्द्रिय-बोध और भावों का संसार उसके आर्थिक जीवन से बहुत कुछ स्वतंत्र है, सापेक्ष रूप से स्वतंत्र है, आर्थिक जीवन से नियमित होता है लेकिन उसकी सीधी प्रतिच्छवि नहीं है। विचारधारा के क्षेत्र में भी सभी विचार आर्थिक जीवन के प्रतिबिम्ब नहीं हैं और जो हैं, वे भी सदा आर्थिक जीवन के साथ मूल्यहीन हो जाने वाले हों, यह आवश्यक नहीं। कालिदास ने एक महत्वपूर्ण विचार प्रकट किया—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

यह विचार समाज-निरपेक्ष नहीं है, सामाजिक विकास क्रम में ही उन्हें प्राप्त हुआ था। किन्तु इसे कालिदास की आर्थिक स्थिति का परिणाम मानना या उस काल की उत्पादन व्यवस्था का प्रतिबिंब मानना विज्ञान नहीं अज्ञान है। यह समझना कि मनुष्य की चिन्तन क्रिया बिंबग्रहण-क्रिया मात्र है, मनुष्य को प्रकृति से भिन्न समझना है। मनुष्य प्रकृति का अंग है और अन्य अंगों के समान स्वयं भी सक्रिय है। उसका मन बाह्य जगत् को प्रतिबिंबित भी करता है और स्वयं भी एक अन्तर्जगत् रचता है। उसी अन्तर्जगत् की एक मूल्यवान निधि कालिदास की वह उक्ति है। इस दृष्टि से विचार करने पर मैं अपने को पुरानी मान्यताओं के ध्वंसावशेष के बीच खड़ा हुआ नहीं पाता, मुझे अपने चारों ओर पुरानी मान्यताओं की विशाल संग्रहणीय निधि दिखाई देती है जिसे देखकर यह कहने की इच्छा होती है—हे कुंठाओं से पीड़ित साहित्यकार ! इस निधि की ओर ही देखो तो तुम्हें जीवित रखने के लिये यह सहारा काफ़ी होगा ! जहाँ तक ध्वस्त मान्यताओं का प्रश्न है, उनमें पुरानी के साथ अनेक नवीन किन्तु निर्जीव मान्यताएँ भी हैं।

पुरानी समाज व्यवस्था के बदले नयी व्यवस्था किस तरह की है ? नयी व्यवस्था पूँजीवादी ढंग की हो, यह स्पष्ट कहनेवाले बहुत कम हैं, विशेषकर लेखकों में। पुराने ढंग के संकुचित वितरण और छोटे पैमाने के उत्पादन से पूँजीवादी उत्पादन और वितरण फिर भी अच्छा है क्योंकि इससे पुरानी व्यवस्था के अवशेष निर्मूल होते हैं और पूँजीवाद से श्रेष्ठ व्यवस्था—समाजवाद—के लिये ज़मीन तैयार होती है। किन्तु यह प्रश्न उठ रहा है दूसरे महायुद्ध के बाद, चीन की जनवादी क्रान्ति के बाद, पूँजीवाद के ह्रासकाल और समाजवाद के विशद प्रसार काल में। इस कारण यह संभावना उत्पन्न होती है कि भारतीय समाज पूँजीवादी विकास के शोषण-हिंसामय मार्ग के बदले समाजवाद का लोक कल्याणकारी मार्ग अपनाये। आगे-पीछे उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार के बदले जनता का अधिकार होगा, यह निश्चित है। इसमें घुटन और कुंठा की बात क्या है ?

घुटन और कुंठा उन्हें हो सकती है जिन्हें पूँजीवाद की मुनाफाखोर पद्धति में ही मानवता का चरम विकास दिखाई देता है, जो इस पद्धति का ह्रास और समाजवादी पद्धति का प्रसार देखकर त्रस्त हो उठे हैं। जो लोग शोषण को उचित समझते हैं, हिंसा को—जिसका सब से भयानक रूप दुनिया के बटवारे के लिये पूँजीपतियों के युद्ध हैं—वांछनीय समझते हैं, उनके लिये कुंठा और घुटन हो सकती है। शोषण और हिंसा का विरोध करनेवालों के लिये कुंठा क्यों हो ?

लेकिन अनेक मित्रों को आपत्ति यह है कि समाजवाद में व्यक्ति की

स्वाधीनता नहीं रहती, कम से कम रूस के समाजवाद में नहीं है और इस कारण पूँजीवाद की तरह समाजवाद—कम-से-कम कम्युनिस्टों का समाजवाद—खतरनाक है या और भी ज्यादा खतरनाक है। न पूँजीवाद में कल है न समाजवाद में, तीसरा रास्ता कौन सा है !

कुछ मित्र कहेंगे—जनवादी समाजवाद के रास्ते चलिये, उसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता भी रहेगी और समाजवाद के गुण भी रहेंगे।

अन्य मित्र कह सकते हैं—समाजवादी निर्माण के सिलसिले में अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, रूस में गलतियाँ हुई हैं और अब वे दूर कर दी गई हैं। इसलिये अब 'डेमोक्रैटिक सोशलिज़्म' और 'कम्युनिज़्म' में विशेष अन्तर नहीं है।

संभव है कुछ दूसरे मित्र यह भी कहें—जनता सदा मूर्ख रही है और सदा मूर्ख रहेगी। नाम बदल-बदल कर कुछ चालाक आदमी बाकी लोगों को ठगते रहे हैं। राजनीति ठगविद्या का ही दूसरा नाम है, इसलिये इन पचड़ों से दूर रहना ही अच्छा है।

कुछ भी उत्तर हो, कुंठा का कारण तो यहाँ भी दिखाई नहीं देता। आप समझते हैं कि समाजवाद में व्यक्तिगत स्वाधीनता आवश्यक है और रूस में नहीं रही तो अपने देश में ऐसा समाजवाद रचिये जो रूस और चीन के लिये आदर्श हो। आपको कौन रोकता है और रोकता हो तो उसे मार भगाइये। इस देश में वही होगा जो इस देश की जनता को मान्य होगा।

स्तालिन के सम्बन्ध में जितनी बातें, गुप्त और प्रकट रूपों में, कही गई हैं, वे सब सत्य भी हों तो भी पूँजीवादी देशों की तुलना में सोवियत समाज की श्रेष्ठता असंदिग्ध है। संसार के छठे भाग से निर्धनता और निरक्षरता का दूर होना मानवसभ्यता के विकास में एक बहुत बड़ा कदम है। गृहयुद्ध और दूसरे महायुद्ध की क्षतियों को पूरा करके भारत और चीन को आर्थिक सहायता करना भगीरथ प्रयत्न की सफलता है। और साहित्य के क्षेत्र में शोलोखोव, फादयेव, अलेक्सी तोल्स्तोय, एरेनबुर्ग, पावलेंको आदि की साहित्यिक उपलब्धि भी कम-से-कम उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। इसलिये सोवियत समाज की प्रगति से, चीन और पूर्वी यूरोप में समाजवाद के प्रसार से मेरे निकट कुंठा या घुटन पैदा होने का सवाल नहीं उठता।

फिर भारतीय जनता की क्षमता का भी भरोसा करना चाहिये। आज से सौ साल पहले जब आज के राजनीतिक दल नहीं थे, उत्तरभारत की जनता ने एक बार अंग्रेजी राज की जड़ें हिला दीं। सन् ४६ में जब कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने काँग्रेस-लीग एकता स्थापित करने का काफ़ी प्रयत्न कर लिया था और जब कांग्रेस और लीग दोनों ही के नेतृत्व क्रान्तिकारी संघर्षों के खिलाफ़

थे, उस समय सारे देश में हड़तालों और संघर्षों का तांता बंध गया जिसकी परिणति बम्बई के नाविक-विद्रोह में हुई। अंग्रेज़ को अपना झंडा उतारना पड़ा। इसका श्रेय यदि कोई पार्टी ले तो उसे ४६ के संघर्षों के इतिहास और अपनी नीति और कार्यों पर फिर दृष्टिपात करना चाहिये। यह जनता आज की ही व्यवस्था में जीवन बिताती रहेगी, इसकी क्या गारंटी है? लक्षण तो कुछ दूसरे दिखाई दे रहे हैं। यह जनता कुंठा और घुटन का प्रश्न भी संतोष-जनक ढंग से हल कर देगी, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

जहाँ तक साहित्यकारों का सम्बन्ध है, इनकी रचनात्मक क्षमता कब कहाँ फट पड़ेगी, कुछ ठिकाना नहीं। भारतेन्दु से पहले हिन्दी गद्य शून्यवत् था, उन्होंने एक नया युग ही निर्मित कर दिया। प्रेमचन्द के पहले उपन्यास-साहित्य नगण्य था, उन्होंने हिन्दी उपन्यास को विश्वसाहित्य में प्रतिष्ठा दिलाई। निराला के विरोधियों ने ज़मीन-आसमान एक कर दिया, आज वह सभी साहित्यकारों में सर्वाधिक समादृत हैं।

इसलिये आणविक महायुद्ध की तैयारियां और जनशक्तियों के अप्रतिम अभ्युदय की वेला में, हे प्रिय हिन्दी के साहित्यकार, न दैन्यं न पलायनम्!

३

'हंस' की ओर से मैं एक इन्टरव्यू लेने गया था—महर्षि बाल्मीकि के पास। शायद आप मेरी बात का विश्वास नहीं कर रहे हैं मगर बात यह सच है। हमारे बँगला साहित्य में दो-तीन वर्ष पहले रामायण के वक्तव्य को लेकर काफी वादविवाद हुआ था। वही विवाद फिर मेरे द्वारा सम्पादित 'परिचय' नामक पत्र में तूफान का कारण हुआ। इस समय वह तूफान कुछ थम गया है क्योंकि तूफान के बाद वे सभी तार्किक थम गये हैं और उनमें अब पहले की सी उत्तेजना नहीं रही। इसी कारण बाल्मीकि के संग मेरा परिचय कुछ और निकट का हो गया और आवश्यकता पड़ने पर मैं उनके संग यह इन्टरव्यू पा सका।

विस्मित न हों, मैंने भी जब उनको पहली बार देखा तो यही समझा कि वह रवीन्द्रनाथ हैं। हमने रवीन्द्रनाथ को उनके मशहूर चोगे के बिना भी देखा है। एक समय ऐसा था कि उनका वह लम्बा चोगा तो एक तरफ, रवीन्द्रनाथ गले में केवल चादर डाल कर कलकत्ते के रास्तों पर घूमते थे। बाल्मीकि अब भी वही पुराना परिधान, उत्तरीय इत्यादि बनाये हुए हैं। लेकिन हाँ, उनकी वह सफेद चादर खूब ही सफेद थी।

बाल्मीकि की आँखों में सब कुछ है लेकिन रवीन्द्रनाथ के समान वह स्निग्ध कौतुकपूर्ण दृष्टि नहीं है। यह शायद इस काल के कवि की विशेषता है। बाल्मीकि की आँखें प्रसन्न हैं, करुणापूर्ण हैं।

प्रणाम करके खड़े होते ही महर्षि ने स्नेहपूर्वक पूछा—इस बार किस चीज को लेकर तुम लोगों का विवाद है?

मैंने संक्षेप में उत्तर दिया—आप ने क्यों रामायण लिखी, हम यही सुनना चाहते हैं।

महर्षि तो जैसे हतबुद्धि हो गये, बोले—क्यों रामायण लिखी? कैसी अजीब बात है, क्या मैंने कहीं यह बतलाया नहीं है?—वह कुछ परेशान से दिखाई दिये और फिर बोले—वाह बतलाया क्यों नहीं है। क्या मैंने यह नहीं कहा कि मनुष्य जाति में ऐसा श्रेष्ठ पुरुष कौन है जिसकी कथा मैं छन्द में बाँध सकूँ—वही श्रेष्ठ पुरुष तो रघुकुल-चूड़ामणि रामचन्द्र हैं।

वृद्ध कवि को परेशान होते देख कर मैंने कहा—वह तो आपने ज़रूर बतलाया है लेकिन एक बात तब भी साफ़ नहीं हुई। आपके कंठ में

उस क्रौंच-मिथुन के आकस्मिक वियोग से ही तो वाणी सब से पहले आविर्भूत हुई थी।

महर्षि की आँखें वेदना से कातर हो गई हैं। उन्होंने कहा—आ हा। मनुष्य ऐसा क्यों करता है यह तो बतलाओ! निश्शंक निरपराध वह क्रौंच मिथुन—कहते-कहते महर्षि की दृष्टि एक वेदनामय रहस्य की चिन्ता-धारा में बहते-बहते बहुत दूर चली गई।

लेकिन अगर बातचीत इस तरह चली तो इन्टरव्यू मिट्टी हो जायगी। बुड्ढे को फिर से मूल बातचीत पर घेरकर लाना जरूरी है। उनको थोड़ी देर बोलने देकर मैंने फिर कहा तब भी आप ने उस क्रौंच-मिथुन की कहानी तो कही नहीं—

वाल्मीकि चौंक पड़े और फिर झट से बोले—कौन कहता है कि मैंने नहीं कही? कही है, वही कहानी तो कही है। क्यों, तुमने रामविलाप नहीं पढ़ा? सीता का क्रन्दन नहीं सुना?

मैं समझ गया कि कवि सब गडमड किये दे रहे हैं। मैंने कहा—वह तो राम-सीता की विरह वेदना की कहानी है।

महर्षि स्नेहपूर्वक हँस कर बोले—और क्रौंच दम्पति की शोकार्त वेदना की कहानी नहीं है? सिर्फ राम-सीता के विरह की कहानी है, पृथ्वी के दूसरे मनुष्यों के मिलन-विरह की कहानी नहीं है? उसमें समस्त चराचर-व्यापी जीव जगत् की क्रन्दन ध्वनि सुनाई नहीं देती?

अब समझा वृद्ध कवि सेन्टिमेन्टल हुए जा रहे हैं। इसीलिए मैंने कहा—आप ने तो सिर्फ इतना कहा कि रघुकुलपति रामचन्द्र की कथा लिखना ही आपका उद्देश्य था।

—तो क्या मैंने वह लिखी नहीं? नरकुल में श्रेष्ठ उसी मनुष्य की कथा तो मैंने कही है, साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपिणी उन्हीं जानकी की कथा तो मैंने लिखी है। और उस निष्ठुर निषाद की कथा भी तो मैंने लिखी—दुर्धर्ष राक्षस-पति रावण की कथा के निमित्त से? वह भी क्या मनुष्य की कथा नहीं है?

मैं समझ गया बात खामखा तूल पकड़ती जा रही है, ज़रा सफाई से अपनी बात कहना ही ठीक होगा। मैंने कहा—हम आपके इन सब गोपन उद्देश्यों की बात क्या जानें। हम तो यही सोचते हैं कि आप ने राम की कहानी लिखी है, रावण के पाप का फल दिखाया है और आपका उद्देश्य था मनुष्य को शिक्षा देना।

हर्षोत्फुल्ल दृष्टि से महर्षि ने कहा—तब फिर? तब फिर यह क्यों पूछते हो कि मैंने रामायण क्यों लिखी, तुम स्वयं नहीं समझ पाते?

—नहीं । मैं सोचता था कि आदर्श स्वरूप राम, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि के चरित्र अंकित करके, रावण के पाप की स्वर्ण लंका का ध्वंस दिखा कर आपने मनुष्य को शिक्षा देनी चाही है । शिक्षा दान ही आपका उद्देश्य था ।

महर्षि ने उत्साहपूर्वक कहा—ज़रूर ज़रूर । अगर ऐसा न होता तो सिर्फ़ ख़याली पुलाव पकाने के लिये मैं इतने हजारों श्लोकों की रचना करता ? मनुष्य धार्मिक बने, सच बोले, कर्तव्य-पालन करे, पुत्र का कर्तव्य, भाई का कर्तव्य, पत्नी का व्रत, राजा का धर्म, प्रजा का धर्म अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में अपने धर्म का पालन करे, यही तो मेरा अभीष्ट है ।

—तब फिर आप बार-बार यह क्यों कह रहे थे कि आपने वेदना की कथा कहनी चाही है, कि निषाद और राक्षस के आचरण की व्यथा से आपका मन विद्ध था ? यह सब तो कहना आपका उद्देश्य नहीं था ।

वृद्ध वाल्मीकि ने इस बार प्रतिवाद किया—अगर यह बात न होती, अगर मेरे मन में यह वेदना न होती तो शिक्षा की ही बात मैं क्यों उठाता ? सारी पृथ्वी की वेदना का क्रन्दन यदि मेरे कानों में न पड़ रहा होता तो मैं क्यों कहता—रे निषाद तेरे लिये यह प्रतिष्ठा का मार्ग नहीं है । निषाद की प्रतिष्ठा नहीं, रावण की भी प्रतिष्ठा नहीं । मगर तब भी उसी के कारण पुरुषश्रेष्ट राम का जीवन भी वेदनामय है, चिरपुण्यवती सीता का जीवन भी अश्रु जल से भरा हुआ है । तभी तो मैं कहता हूँ, मनुष्य क्यों ऐसा करता है, क्यों ऐसी बात होती है ? और मन-ही-मन सोचता हूँ, इसी के बीच क्या मनुष्य पृथ्वी को तनिक और श्रीमयी, शोभामयी नहीं बना सकता ? थोड़ा और सुन्दर रूप नहीं दे सकता ? मैं चाहता हूँ कि मनुष्य उससे यही शिक्षा पाये । अपने को प्रतिष्ठित करने के लिये ही यह शिक्षा ग्रहण करे—वृद्ध कवि बोलते चले जा रहे थे—जीवन में तुमको प्रतिष्ठा मिले, तुम प्रतिष्ठा के मार्ग पर चल सको ।

वृद्ध कवि स्वतः बोलते चले जा रहे थे और बीच-बीच में कहते थे—मैं समझ नहीं पाता मनुष्य क्यों ऐसा करता है ? आ हा । उस निश्शंक निरपराध क्रौंच वधू को क्यों इतनी यातना दी ? क्यों पुण्यवती जानकी को ऐसा अकारण दंड दिया । क्यों मनुष्य ऐसा करता है—ऐसा क्यों होता है ?

मैं समझ गया इनका दिमाग़ बहुत कन्फ्यूज़्ड है । काव्य और साहित्य के बारे में वाल्मीकि ने कभी ढंग से कुछ नहीं सोचा, ऐसा, लगता है । इसके साथ ही यह भी है कि अब वे बुड्ढे भी बहुत हो गये हैं, धारावाहिक रूप से कुछ भी सोच सकने की शक्ति अब उनके भीतर नहीं है !

थोड़ी देर बैठ कर, वाल्मीकि के शान्त होने पर मैंने धीरे-धीरे उनसे विदा ली ।

२

आदि कवि के संग इस इन्टरव्यू से बात कुछ बनी नहीं। इसीलिए बहुत चेष्टा करके मैंने कृष्ण द्वैपायन के संग इन्टरव्यू की व्यवस्था की। यह बिल्कुल दूसरी ही तरह के ऋषी थे। जैसा रूप था वैसी ही उनकी बातचीत। मैं समझ गया क्यों उनके अभिसार क्षण में भी पांडु जननी विवर्ण हो गई थी और धृतराष्ट्र की माँ ने आँखें बन्द कर ली थीं। महर्षि व्यास बहुत कुछ अंग्रेज सम्पादकों की तरह एफीशियेंट थे। बोले—महाभारत की रचना का उद्देश्य क्या था, यह जानने आये हो? महाभारत पढ़ी है? उसका फलश्रुति पाठ किया है? उसके बाद क्या जानना चाहते हो? तुम्हारे क्या-क्या प्रश्न हैं फौरन बतलाओ।

मैंने गंभीर भाव से कहा—आपकी महाभारत रचना का उद्देश्य यही बतलाना था, यतो धर्मस्ततो जयः?

—हूँ, जैसे पर्वत कंदरा में से शब्द बाहर आया। इसके बाद गंभीर कंठ से उन्होंने उल्टे मुझसे प्रश्न किया—धर्म से तुम क्या अर्थ लगाते हो, महाविज्ञ युवक?

बातचीत के ढंग से मुझको भय मालूम हुआ। मगर हम लोग तो पत्रकार हैं। मैंने स्मार्टली उत्तर दिया—यह तो आपने स्वयं ही बतला दिया है, धर्मस्य तत्वो निहितो गुहायाम्।

मेरी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि महर्षि व्यास ने डांटने के स्वर में मुझसे कहा—मैंने क्या कहा है उसका उद्धरण देकर मुझको सुनाने की जरूरत नहीं है। तुम क्या समझते हो यह बतलाओ।

बड़ा अभद्र व्यक्ति है! ऋषी होते हुए भी मातृ कुल का दोष गया नहीं। मुझको बड़ी चतुराई से काम निकालना होगा, यह सोच कर मैंने रिपोर्टर-सुलभ विनीत भाव का सहारा लेना ही उचित समझा। मैंने कहा—धर्म का तत्व मैं ठीक समझ सका हूँ कि नहीं, मैं नहीं जानता, लेकिन हाँ ब्रह्म सूत्र मैंने पढ़ा है, शांकर भाष्य भी देखा है और उससे मेरी समझ में यही आता है कि अध्यात्म ज्ञान ही परम धर्म है और महाभारत में आपने उसी का प्रतिपादन किया है।

कृष्ण द्वैपायन अट्टहास कर उठे और बोले—वाह रे वाह, तुम तो बिल्कुल ब्रह्मविद् हो! तुमने महाभारत पढ़ा ही क्यों? इस युग में तुम लोग तो माँ के पेट से ही शांकरभाष्य पढ़ कर पैदा होते हो! और फिर उन्होंने किंचित् रोष के स्वर में कहा—मैंने महाभारत की रचना की है अध्यात्म ज्ञान की शिक्षा देने के लिये? और फिर एक बार घूर्णित लोचनों से चारों ओर देखा। धीरे-धीरे उनमें स्थिरता आई और उन्होंने गंभीर कंठ से कहना शुरू किया—

सच तो कहते हो, मैंने किसके लिये लिखा यह लाख श्लोकों का पुराण, ये शत-शत आख्यायिकाएँ और कहानियाँ ? क्षत्रिय कुल का नाश हो गया। वर्ण-संकर से समाज विपर्यस्त हो गया। कुरुवंश, यदुवंश का ध्वंस हो गया। कुल-कामिनियाँ घर छोड़ कर दस्युओं के संग चली गयीं। वीरहीन, स्वजनहीन, बांधवहीन अवसन्न समाज के अवसन्नमना विजयी पांडु पुत्र राज्य भोग में भी स्वाधीनता का आनन्द न पा सके। यह सब देख कर भी इस देश के लोग नहीं समझ सके कि महाभारत की रचना का उद्देश्य क्या था ? जनार्दन ने किसका आवाहन इन शब्दों में किया था —तस्माद् उत्तिष्ठ कौण्डेय युद्धाय कृतनिश्चयः ? उन्होंने किससे कहा —स्वधर्मे निधनं श्रेयः ? किससे कहा था, लोक श्रेयस् में ही धर्म है। भारत रूपी श्मशान में मैंने किसके लिये इस महा-भारत की रचना की थी ? लोक संग्रह के लिये नहीं, समाज प्रतिष्ठा के लिये नहीं, इनकी बृहन्नला वृत्ति के लिये महाभारत की रचना हुई थी ? कुरुक्षेत्र के अंत में भी क्या इन लोगों को समाज-संस्थापन की कोई शिक्षा नहीं मिली ? तब भी मैंने आश्वासन देने की चेष्टा की थी—संभवामि युगे युगे। नया समाज बनेगा।

—नया समाज ? सोशलिस्ट पैटर्न ? मुझको संदेह हुआ कि यह आदमी निश्चय ही क्रिपटो-कम्युनिस्ट है, प्रच्छन्न कम्युनिस्ट ? बात को और ज्यादा न खींच कर मैंने कहा—इस बार समझ में आया। आप सोशलिस्ट पैटर्न चाहते हैं और फाइव इयर प्लान के लिये साहित्य रचना के पक्षपाती हैं।

एक बार फिर वेदव्यास अट्टहास कर उठे और वह तो हँसी नहीं वज्र की ध्वनि थी। उनकी कृष्ण देह जैसे वज्र से भरा हुआ मेघ हो और उनके रक्त चक्षु जैसे विद्युत् से भरी हुई अग्नि।

मैं फौरन वहाँ से भागा।

३

इन्टरव्यू सफल नहीं हुआ। इसको कैसे बना कर लिखूँगा यह सोचते-सोचते मैं जिनके पास जाकर बैठा उन्होंने मेरे पहुँचते ही कहा—बैठिये ! अस्ति कश्चिद् वाग् विशेषः।

राजपथ के पार्श्व में स्थित अलिन्द। वहीं श्वेत प्रस्तर की वेदी पर वे बैठे थे। उनके सम्मुख भूर्ज पत्रों की राशि थी। चारों ओर अगुरु धूप और चन्दन की सुगन्ध थी। मैंने मन में कहा, काफी रसिक पंडित है। उनकी आँखों में, मुख पर मुस्कान की छटा थी। उन्होंने चुटकी में थोड़ी सी सुँघनी लेते हुए कहा—लोगे ? मैंने एक उपमा देकर यही बात कही है, पुष्प का पराग जिस प्रकार भ्रमर को अपने पास अपने देह पार्श्व में बुला लेता है—

मैंने उनको और बोलने नहीं दिया। उस समय मन काफी स्वच्छन्द हो गया था। मैंने कहा—समझ गया आप कालिदास हैं। लेकिन वह लोग कैसे आदमी हैं बतलाइए तो ?....हाथ बढ़ाकर सुंघनी लेते-लेते मैंने उनसे कहा और सिगरेट केस खोल कर सामने रख दिया।

—कौन ? वररुचि या दिङ्नागाचार्य ? किसके यहाँ जा फँसे थे ? कैसे अरसिक हो गये हो जो तुमने मुझको उपमा तक समाप्त न करने दी।

पंडित ने सिगरेट नहीं ली। मैं समझ गया, नहीं पीते। रसिक होते हुए भी मैंने कहा—नहीं वह लोग नहीं, व्यासदेव और वाल्मीकि—मैं इनके बारे में पूछ रहा था।

—ओ! कालिदास थोड़ा चौंक पड़े और फिर गला साफ करते हुए मुस्कराती हुई आँखों से देख कर बोले—वह लोग रस की बात क्या जानें ? उनकी समझ में रस-वस कुछ नहीं आता था। उन लोगों ने तो इतिहास लिखा है। अपनी बात को मैं उपमा देकर कहूँ, मंदाकिनी में नहाने का सुख और इतिहास के लवण-समुद्र में नहाना विभिन्न वस्तुएँ हैं।

मैंने कहा—किन्तु वह तो आदिकवि हैं महर्षि वेद व्यास।

कालिदास ने हँस कर कहा—वही तो वही तो। उनके समय में वही काव्य था। काव्य रस क्या होता है मनुष्य तब तक समझ भी नहीं पाया था।

मैंने कहा—आपने भी तो रामायण से ही अपने रघुवंश की कहानी ली है और महाभारत से ही शकुन्तला की आख्यायिका ली है और कुमार संभव की कहानी....

—लवण-समुद्र का मंथन करके ही काव्य लक्ष्मी को और कांतकला-उर्वशी को प्राप्त करना होता है। यह कह कर कालिदास फिर हँस पड़े और बोले—रघुवंश में जो रस है उसकी सृष्टि मैंने की है। उन वेद व्यास ने शकुन्तला को हाथ लगाकर क्या कर डाला था वह तो आपने देखा ही है! काव्य रस दूसरी ही चीज़ है, वह इतिहास पुराण की आख्यायिका नहीं है।

बात मेरी समझ में आई। मैंने कहा—इसका तो मतलब हुआ कि रस-सृष्टि ही आपका उद्देश्य है ?

कालिदास ने कहा—और नहीं तो क्या ? नहीं तो क्या मैं व्याकरण लिखूँगा, ज्योतिष शास्त्र लिखूँगा !

मुझको एक प्वाइंट मिला। मैंने कहा—मैं आपको बधाई देता हूँ। हम लोग भी आज कल कहते हैं आर्ट फॉर आर्ट्स सेक, कला कला के लिये। काव्य का कोई उद्देश्य नहीं होता।

लेकिन कालिदास की समझ में बात न आई। उन्होंने पूछा—क्या कहा तुमने ? कोई उद्देश्य नहीं इसका मतलब है कि आप काव्य-रस नहीं चाहते ?

मैंने उनको बतलाया कि इन दिनों कोई रस की बात नहीं करता। आज कल आर्ट ही मुख्य चीज है। आर्ट फॉर आर्ट्स सेक, माने कला स्वयं ही अपना उद्देश्य है।

कालिदास शायद बहुत प्रसन्न नहीं हुए तथापि उन्होंने शान्त भद्र भाव से कहा—क्या जानें, आप लोगों की बात मेरी समझ में नहीं आती। लेकिन हाँ इतना मैं जानता हूँ कि मैंने रघुवंश, कुमारसम्भव आदि की रचना आपके इस आर्ट की बात सोचकर नहीं की थी।

मैंने समझा कि इस आदमी के दिमाग का कन्फ्यूज़न अभी समाप्त नहीं हुआ। मैंने हँस कर कहा—तब फिर बतलाइए न कि आपने क्यों लिखा, किसलिए लिखा ?

कालिदास ने कहा—राजपुत्र का जन्म हुआ। राजा ने कहा, मेरे मन में भी इच्छा हुई और मैंने कुमारसंभव लिखा। विक्रमादित्य का इतना बड़ा राज्य वंश, उनकी इच्छा, मेरी भी साध, कि इस वंश की कहानी लिखो और मैंने रघुवंश लिखा।

मैंने बात को और स्पष्ट रूप से, और अच्छी तरह उभार कर रखने के लिये कहा—अर्थात् आपने राजा के आदेश से लिखा है ?

कालिदास ने इस बात से अपनी सम्मति प्रकट करते हुए हँस कर कहा—आपने ठीक पकड़ा। मैं अगर न लिखता तो राजा का परितोष कैसे होता ? और राजा तो केवल प्रभु नहीं है, वह नरपति भी तो है ? देश के सब लोग चाहते हैं कि मैं उनके राजवंश की, उनके राज पुत्र की कहानी लिखूँ....और फिर हठात् उन्होंने कुछ मद्धिम स्वर में कहा—और मेरे मन में भी क्या कुछ कम इच्छा थी ? गृहिणी को भी तो आप जानते हैं....कुमारसम्भव उसी की कहानी है, वह मेरे अपने पुत्र लाभ की भी कहानी है। और जब उन सब राज सभाओं में 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश' पढ़ा जाता है तो धन्य-धन्य के स्वर से आकाश गूँजने लगता है। राजा आकर मेरे गले में जयमाल डाल देता है और महादेवी गृहिणी को अपना रत्नहार भेज देती हैं।

गृहिणी की बात उठ गई है, कालिदास अब रुक नहीं सकते। मैंने कहा—इसका तो मतलब यह हुआ कि आपका उद्देश्य था राज-पुरस्कार पाना, राजा को सन्तोष देना ?

कालिदास ने कहा—ठीक बिल्कुल ठीक। पुरस्कार पाना, आनन्द पाना, रसिक जनों को संतोष देना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पद्म की सुगन्ध में ही भ्रमर के लिये निमन्त्रण होता है। लेकिन उसके बाद भ्रमर पद्म की रक्तिम आभा में लोटने लगता है, वैसे ही जैसे नायक का भ्रमर चक्षु सुन्दरी के वक्ष की चन्दन-लेखा में लिप्त हो जाता है....

मैंने कहा—उपमा रहने दीजिये। बात क्या है सो कहिये। आपका उद्देश्य क्या रहता है ? पुरस्कार वृत्ति या आनन्द, इनमें से कौन सी चीज़ ?

कालिदास ने विस्मित होकर कहा—कौन सी क्यों ? एक होने से क्या दूसरी नहीं हो सकती ? कह तो चुका हूँ कि रस ही काव्य का प्राण है। लेकिन रस-सृष्टि करके मैं प्रसन्न न होऊँ, उसके लिये मुझे पुरस्कार न मिले, राजा उसके लिये पुरस्कार देने की इच्छा न करें, यह क्या ज़रूरी है ?

व्यक्ति निश्चय ही वाक्पटु है। इसी से मैंने कहा—एक बात आप स्पष्ट बतलाइये। आपकी काव्य रचना के पीछे कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं है। अर्थात् जन कल्याण आपका काव्य नहीं है, आपने राज्य-स्तुति की है।

कालिदास शंकिते हुए —क्या कहते हैं आप ? प्रजा का कल्याण न होने से फिर राज्य का कल्याण कहाँ ? और अगर राज्य कल्याण न हो तो फिर राजा, राज सभा, राज्य की प्रजा यह सब कैसे परितृप्त होंगे, कैसे आनन्द लाभ करेंगे ? कल्याण से हटकर आनन्द फिर कहाँ ? यह तो वैसी ही बात है, अर्थ के बिना वाक्य, पार्वती के बिना परमेश्वर, कल्याण के बिना आनन्द, रस के बिना सृष्टि, नारायण के बिना लक्ष्मी....

उपमा की दुर्वायु दूर करने के लिये मैंने उनको बीच में टोकते हुए कहा—लेकिन यह तो बतलाइये कि किसके कल्याण के लिये आपने 'मेघदूत' लिखा था ?

कालिदास की आँखों में बिजली सी चमक गई। बोले—मेघदूत ! आ हा ! वह रेवा नदी का किनारा, वह वेत्रवती के स्रोत की धारा, आषाढ़ का वह नया मेघ ? और फिर थोड़ा रुक कर बोले—राजा ने कहा, कवि, हमारे राज्य का कुछ वर्णन करो। उसके बाद फिर न जाने कहाँ से उसमें और सब चीजें आ गईं। पता नहीं, मैं खुद भी नहीं समझ पाता कि किस प्रकार विन्ध्याटवी की वह निषाद राज कन्या ही अलकापुरी की यक्ष वधू हो गई। सब सुन्दर, सभी कुछ सुन्दर। तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी, मेघ-मेदुर उसी नर्मदा तीर के उस क्षणिक मिलन की स्मृति जो अनन्त वेदना से सुन्दर है। सुन्दर ! सुन्दर !! सुन्दर !!!

यह आदमी पागल तो नहीं हो गया है ? मैं चकित-सा उसकी ओर देखता रहा।

तब भी अपनी धुन में वह बोले चले जा रहे थे—सब कुछ सुन्दर, कितना सुन्दर ! वह मेघ, वह नदी, वह गाँव, वह मेरी चकित हिरणी के से नेत्रों वाली उज्जयिनी की नागरिका....कितनी सुन्दर, कितनी सुन्दर !

बात बहुत बहकी जा रही थी। उसको फिर से रास्ते पर लाने के लिए मैंने कहा—इसका मतलब है कि आप कहना चाहते हैं, सभी कुछ सुन्दर है।

—ज़रूर ! ज़रूर !! हज़ार बार कहना चाहता हूँ।

—लेकिन उससे हमारे हाथ क्या लगा ? हम कहाँ पहुँचे ? प्रश्न था कि काव्य का उद्देश्य क्या है ? आप क्यों लिखते हैं ?

—अस्ति कश्चित् वाग् विशेष: । एक विशेष 'बात कहनी है इसीलिये लिखता हूँ, एक ऐसी बात जो कहने योग्य है, समझे न, कहने योग्य बात है इसलिये लिखता हूँ....

४

तीन इन्टरव्यू लिये मगर उनमें काम का एक भी न निकला। सोच रहा हूँ कि कैसे उन सब बातों को फेंट-फाँट कर, उनमें सौंदर्य तत्व की दो-एक बातें डालकर अपनी एक थ्योरी खड़ी कर दूँ जिसे देख कर सब चकित रह जायँ। 'हंस' के दफ्तर में घुसते ही मेरी भेंट एक प्रौढ़ सज्जन से हुई जो देखने में बहुत भले मालूम होते थे। उनके सिर पर गांधी टोपी थी।

प्रेमचन्द जी।

हठात् मेरे दिमाग़ में एक विचार आया। मैंने कहा—मैं आपका इन्टरव्यू लेना चाहता हूँ।

प्रेमचन्द जी ने मुस्कुराते हुए कहा—यानी कि मेरे नाम से तुम अपनी बात चालू करना चाहते हो। ऐसी बात न होती तो इस इन्टरव्यू की क्या ज़रूरत थी। साहित्य का उद्देश्य क्या है, इसके सम्बध में मैं बहुत पहले ही प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के पहले अधिवेशन में बोल चुका हूँ।

मैंने कहा—देखिये वह चीज़ पुरानी हो गई। बात को नये सिरे से नये रूप में समझना ज़रूरी है।

उन्होंने हँस कर कहा—आदमी पुराना नहीं होता, यह दुनिया पुरानी नहीं होती, जीवन पुराना नहीं होता और सृष्टि भी सदा नई रहती है। लेकिन तब भी अगर बात पुरानी पड़ जाये तो अपनी सृष्टि से उस पुरानी बात को नया कर दो। बात-से-बात को बचाना बहुत कठिन है। नयी बात को बचाना है तो नयी सृष्टि करनी होगी। नये काव्य, गल्प, उपन्यास, नाटक की सृष्टि करो और उसकी सृष्टि कर सकोगे तो देखोगे कि तुम्हारा उद्देश्य उसी के भीतर स्पष्ट हो जायगा या अगर इसी बात को दूसरी तरह कहें तो तुम्हारा उद्देश्य तुम्हारी सृष्टि में इस तरह घुल मिल जायगा कि दोनों को अलग करना सम्भव न होगा। उसी तरह से जैसे वह उद्देश्य रामायण में, महाभारत में, कालिदास में स्पष्ट परूसे है तब भी लगता नहीं कि जैसे वहाँ उसका अस्तित्व हो।

(गोपाल हालदर)

४

इधर 'नई' कविता के कुछ समर्थक साहित्य में आस्था के प्रश्न को बड़ी सरगर्मी से उठाते रहे हैं। वे जीवन के यथार्थ अंकन को अनास्था का लक्षण मानते हैं। यथार्थवादी लेखक जीवन की कुरूपताओं पर दृष्टि इस लिए डालता है कि जीवन इन असमर्थताओं के ऊपर उठ सके। हार्डी के शब्दों में बेहतर जीवन तभी संभव है, जब हम बदतर को समझ लें। इसके विपरीत प्रकृतवादी लेखक जीवन की विकृतियों में रस लेता है और उन्हीं में डूब जाता है।

इस आस्थाहीन साहित्य के लिए कभी-कभी सिद्धान्तों का भी बड़ा तूमार बाँधा जाता है। संक्षेप में इसे हम अनुभूतिवाद कह सकते हैं। नई पीढ़ी के कुछ लेखकों ने बड़े शोर-गुल के साथ इस विषय पर लिखा है। अपनी कविताओं में वे अपने बाल नोचते हैं, नाखून कुतरते हैं,कमीज़ के बटन तोड़ देते हैं। अनास्थावाद के एक महाकाव्य की रचना भी हो गई है जिसे 'कामायनी' के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य घोषित कर दिया गया है!

इस प्रकार की रचनाओं के समर्थक कहते हैं कि अपनी अनुभूति के प्रति सच्चा होना चाहिए। एक सीमा तक यह बात सच भी है। किन्तु अनुभूति, भावनाओं और विचारों की सदा एक शृङ्खला रहती है और अनुभूति कोई जड़ वस्तु नहीं होती। अनुभूति का स्तर और स्वभाव निरन्तर बदला करता है। नग्नता और पाशविकता के मोह में फँसकर कलाकार अपनी अनुभूतियों को निम्नतर बना सकता है। इस प्रकार उसका साहित्य भी हीनतर कोटि का होता जायगा। वह अपनी अनुभूतियों को उच्चतम स्तर तक ले जाने का संघर्ष भी कर सकता है; तब उसका साहित्य अधिक ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

हम अनुभूति की सच्चाई का महत्व कम नहीं करना चाहते। श्रेष्ठ साहित्य में भावनाओं की गहराई होती ही है। तरल संवेदना, सूक्ष्मग्राहिता आदि गुणों की अनुपस्थिति में रचना पाठक का मर्म नहीं छूती और मात्र नारेबाजी रह जाती है। जीवन-दर्शन कलाकार को नई अन्तर्दृष्टि देता है, उसी के आलोक में जाग्रत कलाकार अपने जीवन-अनुभव को निरन्तर जाँचता है। इस प्रकार प्रश्न यह नहीं है कि अनुभूतिहीन साहित्य रचा जा सकता है या नहीं, प्रश्न यह है कि अनुभूतियाँ कैसी, किस स्तर की?

एक बड़े आश्चर्य की बात यह है कि कुछ रोमन कैथलिक पादरियों के

संसर्ग में आकर जीवन के प्रति अनास्थावान कुछ लेखक 'प्रभु' के प्रति आस्था की बात भी करते हैं। जिस व्यक्ति की आस्था मनुष्य में नहीं, वह 'प्रभु' के प्रति क्या आस्था रख सकता है? जिसकी 'प्रभु' में सच्ची आस्था है, वह निरन्तर मानव की व्यथा के प्रति करुणा से विगलित होगा। इसके उदाहरण भारत के महान् सन्त कवि हैं, जिनकी काव्य-धारा का स्रोत मनुष्य का दिगन्त-व्यापी दुःख था और जिन्होंने कहा था :

जो देखा, सो दुखिया देखा, तनधर सुखी न देखा

इन लेखकों की अनास्था भारतीय परिस्थितियों की सहज और स्वाभाविक उपज नहीं है। आज हमारे देश में अनेक दिशाओं में क्रूरता और कुरूपता का साम्राज्य है, किन्तु इनके प्रति सचेत संघर्ष और इनसे ऊपर उठने की क्षमता के लक्षण भी हम सर्वत्र ही देख सकते हैं। भारतीय जनता में और उसके साहित्य में हम नए प्राणों का स्पन्दन प्रत्येक दिशा में देखते हैं। जीवन के प्रति प्रबल अविश्वास, पाशविक वृत्तियों का नग्न वर्णन, दुर्बल और दयनीय प्राणी के रूप में मनुष्य का अंकन—यह सब वस्तुस्थिति का सच्चा चित्र नहीं, वरन् पाश्चात्य पतनोन्मुख साहित्य का अन्ध-अनुकरण मात्र है।

अनास्था और अविश्वास के लिए पाश्चात्य देशों मे आज प्रचुर सामग्री है। दो पीढ़ियाँ वहाँ विश्व-युद्ध की भीषण ज्वाला मे होम हो चुकी हैं। मनुष्य का जीवन मानो ताश के पत्तों का महल बन गया है। हवा के झोंके से बुझ जाने वाली मोमबत्ती की अनिश्चित लौ के समान। कीट-पतंगों के समान इस क्षण-भंगुर जीवन से जो भी पल-भर का सुख मनुष्य पा सके, वही अच्छा। पश्चिमी यूरोप की आर्थिक व्यवस्था टूट रही है, क्योंकि उसका साम्राज्यवादी आधार खिसक रहा है। लाखों की संख्या में नागरिक बेकार हैं, जीवन-स्तर निरन्तर गिर रहा है और आशा के चिन्ह कम दिखाई पड़ते हैं।

इसी परिस्थिति में हम ह्रासोन्मुख साहित्य की एक धारा यूरोप में देखते हैं। इसका प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में हो चुका था, जब 'हरे नेत्रों वाली' तेज़ मदिरा में कवि और कलाकार अपने दुःखों को डुबाने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहे थे। इस दशक की कला का नामकरण ही इतिहासकारों ने 'ह्रासोन्मुखी' कला किया है। यह कलाकार वेश-भूषा को बड़ा महत्व देते थे, नीले, हरे, पीले, लाल वस्त्र पहनते थे, निरन्तर 'हरे नेत्रों वाली' हूर की शरण में पड़े रहते थे, कुछ कविताएँ लिखते थे, अथवा चित्र बनाते थे और अन्त में आत्म-हत्या कर लेते थे। इस स्कूल के आदि-पुरुष आस्कर वाइल्ड थे, और आज के प्रमुख लेखक सार्त्र हैं। भारतवर्ष में इनके कुछ अनुयायी प्रगट हुए हैं, किन्तु यहाँ की भूमि इस प्रकार की उपज के अनुकूल नहीं है।

सार्त्र के उपन्यासों में मानव-जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है,

वह नितान्त अरुचिकर और घृणोत्पादक है। 'मानवी' को इस साहित्य में 'योनि मात्र' के रूप में प्रदर्शित किया गया है और मनुष्य का पशु-रूप ही उसका प्रमुख रूप समझा गया है। जीवन की बहुत कोमल भावनाएँ भी इन चित्रों से दूषित और संतप्त होती हैं। संतोष का विषय है कि हमारे साहित्य में यह प्रवृत्ति अभी तक उथली ही है और घर नहीं बना सकी है।

सार्त्र के उपन्यासों को हम श्रेष्ट साहित्य नहीं कह सकते। युरोप की महान क्लासिकल परम्परा से वे सर्वथा अलग हैं। पतन के मार्ग पर अग्रसर धारा के वह अंग हैं। श्रेष्ठ साहित्य जीवन को उसके व्यापक, सर्वांगीण रूप में देखता है, उसकी दुर्बलताओं को समझता है और उसके संघर्परत, प्रगतिशील तत्वों का भी उद्घाटन करता है। गहरी संवेदना, अन्तर्दृष्टि और व्यापक अनुभूति से वह जीवन को अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य जीवन की अनुकृति मात्र ही नहीं होता, उसे गति और दिशा भी देता है। साहित्य जीवन का दर्पण है, और जीवन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। पर वह जीवन को प्रभावित भी करता है, चाहे जिस कोटि का वह साहित्य हो।

श्रेष्ठ साहित्य ने अपनी लम्बी, दीर्घकालीन यात्रा में जीवन की उदात्त परम्पराओं का पोषण किया है। विश्व का श्रेष्ठ साहित्य मानवतावादी साहित्य रहा है। इस परम्परा से टूटकर साहित्य हीन कोटि का बनता है। श्रेष्ठ साहित्य सदा से मनुष्य में और जीवन में आस्था का साहित्य रहा है। आस्थाहीन साहित्य मानव समाज के ह्रासोन्मुख युगों में दिखायी देता है।

हार्डी के दुःखान्त उपन्यासों के संबंध में एक आलोचक का कहना है कि इन उपन्यासों का मानव क्षुद्र और दयनीय प्राणी नहीं है। इन उपन्यासों से मनुष्य के चरित्र के प्रति हमारा आदर बढ़ता है। हार्डी के पात्र दृढ़ फ़ौलाद हैं, जिनके चरित्र का विनाश कोई परिस्थितियाँ नहीं कर सकतीं। युरोप के दुःखान्त नाटकों की यही परम्परा है। शेक्सपियर के नायक हमारी सहानुभूति अर्जित करते हैं। वे परिस्थितियों के क्रूर उपहास के शिकार बनते हैं, किन्तु उनका मस्तक नहीं झुकता। मानव के प्रति शेक्सपियर के मन में कितना अटूट विश्वास और अगाध श्रद्धा थी, इसका उदाहरण हैमलेट का यह कथन है, जो आधुनिक युरोप के जाग्रत मानव के प्रति कवि की असीम आस्था प्रगट करता है :

'मनुष्य कितना अद्भुत प्राणी है। उसका विवेक कितना ऊँचा है। उसकी योग्यता असीम है। अपने रूप-रंग और गति विधि में वह कितना अपूर्व और अद्वितीय है। अपने कार्यों में वह देव-पुरुषों के समान है, अपनी बुद्धि में वह देवताओं के तुल्य है। वह संसार का सौन्दर्य है, जीवों में वह सर्वश्रेष्ठ है।'

शेक्सपियर ने जीवन को उसकी संपूर्णता में देखा था। जीवन के सभी

व्यापारों पर उनकी व्यापक और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि पड़ी। उनके काव्य का संदेश मनुष्य मात्र में आस्था और विश्वास का संदेश है। उन्होंने जीवन के सभी अगम व्यापार देखे थे, हर्ष और विषाद, हास और विलाप की सभी मंज़िलों से वह गुज़रे थे। टाइमन और इयागो के साथ वे जीवन के नरक में उतरे थे, ब्रूटस और ओथेलो के साथ वे आकाश तक ऊँचे उठे थे, मिरैन्डा और पर्डिटा के साथ उन्होंने जीवन के कोमल और सुकुमार रूपों का दर्शन किया था। कवि के शब्दों में 'जीवन को उन्होंने अपलक देखा था, और उसकी संपूर्णता में देखा था।'

मिल्टन आस्तिक कवि थे। उन्होंने 'ईश्वर के कार्य-कलापों को मनुष्य के सामने न्यायोचित सिद्ध करने के लिए' काव्य-रचना की थी। किन्तु मिल्टन का शैतान आततायी के प्रति विद्रोही के रूप में उठता है। वह कहता है: स्वर्ग में दासता करने से भला है नरक में राज्य करना।

स्विफ्ट को अंग्रेज़ी साहित्य के बहुत कटु लेखक के रूप में देखा जाता है। वे अपने समकालीन अंग्रेज़ी समाज के उग्र आलोचक थे, किन्तु मनुष्य में उनकी आस्था विपुल थी। ब्रॉबडिंगनैग का राजा गलीवर को भयानक किन्तु क्षुद्र समझता है। उसके अनुसार युद्ध, विनाश और संहार में ही गलीवर के देशवासियों ने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाई थी। वह गलीवर को समझाता है — 'जो कोई भी अन्न के दो दाने, या घास के दो तिनके ऐसी भूमि पर उपजा सकता है, जहाँ पहले केवल एक ही उपजता था, वह राजनीतिज्ञों के संपूर्ण समूह से अधिक अपने देश और मानवता का उपकार करता है।' विचारों की यह प्रखर, दुर्दमनीय शक्ति ही स्विफ्ट की रचनाओं को श्रेष्ठ साहित्य की श्रेणी में लाती है।

युरोप के तीन महान् कवियों में सेन्ट्सबरी ने होमर, दान्ते और शेक्सपियर की गणना की है। महाकाव्यकार जीवन पर व्यापक, सर्वग्राहिणी दृष्टि डालता है। जीवन के विविध व्यापारों पर उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि पड़ती है, उसके साथ पाठक स्वर्ग का सुख और नरक की यन्त्रणा अनुभव करता है। ऐसे काल में ही महाकाव्यों की रचना संभव होती है, जब समग्र जाति का जीवन उद्दाम गति से भरा हो, जब काव्य की शक्ति के पीछे संपूर्ण देश की आशाओं और आकांक्षाओं की प्रेरणा हो।

जीवन का यही अनेकरूपी चित्र हम होमर के 'इलियड' अथवा वेदव्यास के महाभारत में पाते हैं। बाल्मीकि और तुलसी की रामायण में भी मानव-जीवन की यह व्यापक झाँकी हमें मिलती है। अनास्था की स्थिति महाकाव्य के निर्माण में बाधक सिद्ध होती है, क्योंकि जो सर्वग्राहिणी अन्तर्दृष्टि महाकाव्य की सृष्टि के लिए अपेक्षित है, उसका आस्थाहीन लेखक के पास नितान्त

अभाव होता है। अपने में ही सीमित कवि युग को अन्धा समझता है, किन्तु अहम् के अन्धकूप का वासी सर्वत्र अन्धकार के अतिरिक्त और क्या देख ही सकता है ?

भारतीय साहित्य की परम्परा आस्था और आशा की परम्परा रही है। जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य का अपूर्व अंकन इस देश के काव्य में हुआ था। दुःखान्त नाटक तक यहाँ शास्त्र द्वारा वर्जित थे। मध्य युग के सन्त कवियों ने इसी महान् परम्परा को आगे बढ़ाया। आधुनिक भारतीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ, शरत् चन्द्र और प्रेमचन्द इस परम्परा के [illegible] हैं। भारतीय वाङ्मय की आस्थावान् परम्परा को नई पौध भी समृद्ध कर रही है।

भारतीय इतिहास में विश्व के सभी इतिहास के समान ऐसे क्षण आए हैं, जब जीवन बँधे जल के समान हो गया है। ऐसे काल में साहित्य भी बहुधा आस्थाहीन होता है। ऐसे साहित्य का एक उदाहरण हिन्दी का रीतिकालीन काव्य है, जिसमें शिल्प, अलंकार और वाक्-चातुरी तो प्रचुर मात्रा में है, किन्तु जीवन को बल और गति देने की शक्ति का सर्वथा अभाव है। एक विशेष परिस्थिति में सभी कवियों और कलाकारों की एक सी प्रतिक्रिया नहीं होती। ह्रासकालीन समाज और साहित्य में हम प्रगति और प्रवाह के तत्व भी पाते हैं और उसी प्रकार जागरण और प्रगति के युग में अगति और ठहराव के लक्षण भी दिखायी देते ही हैं। आज के आस्था-रहित लेखक संख्या में कम हैं, क्योंकि वे भारतीय जीवन की वास्तविकता का अंकन नहीं कर रहे हैं। भारतीय साहित्य की परम्परा से भी टूटकर वे अलग हो गए हैं। ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य प्रवृत्तियों के वे पोषक हैं और उसी से प्रेरित हुए हैं। भारतीय साहित्य की किसी प्रकार भी वे याद दिलाते हैं, तो वह संस्कृत के 'शृङ्गार-शतक' अथवा रीतिकालीन हिन्दी काव्य की अनैतिक किन्तु शिल्प-संपन्न परम्परा ही हो सकती है। और यह भी दो-एक लेखकों के लिए ही कहा जा सकता है, अन्यथा अधिकांशतः तो वे लोग प्रयोगवाद के नाम पर कला और शिल्प को भी त्याग चुके हैं।

★

५

लोक कथाओं में एक ऐसे दानव की कहानी आती है जिसके प्राण दूर जंगल में एक पेड़ पर रहने वाले तोते में बसते थे और जब उस तोते की टाँग तोड़ी गई तो इधर दानव की भी टांग टूट गई। इसी तरह उस तोते के साथ उसका भी एक-एक अंग टूटता गया और अंत में तोते के मरते ही दानव ने भी दम तोड़ दिया, क्योंकि उसके प्राण उस तोते में बसते थे।

आज ऐसी बात कही जाय तो कोई विश्वास न करेगा क्योंकि लोग अपने प्राणों को अब अपने ही अंदर समझते हैं। फिर भी 'आस्था' नाम की एक चीज़ आज भी है जिसे बहुत से लोग अपने से कहीं बाहर रखते हैं क्योंकि उन्हीं की ज़बानी मालूम होता है कि उस बाहरी आधार के टूट जाने से खुद वे भी टूट गए।

अभी कुछ दिन पहले सोवियत यूनियन से खबर आई थी कि सुप्रसिद्ध कम्यूनिस्ट कथाकार फादएव ने आत्म-हत्या कर ली। यह घटना खुश्चोव की स्तालिन-सम्बन्धी प्रसिद्ध रिपोर्ट के कुछ ही दिन बाद घटित हुई, इसीलिए बाहर के अनेक लोगों ने दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध जोड़ लिया। अर्थात् फ़ादएव की आस्था टूट गई थी। यहाँ कारण जो हो लेकिन सचमुच कुछ लोगों के प्राण आस्था में बसते हैं और आस्था टूट जाने से यदि शारीरिक रूप से नहीं तो साहित्यिक रूप से अनेक लेखकों को मरते हुए देखा गया है। और जो महाप्राण होते हैं, वे जी तो लेते हैं लेकिन बहुत बड़ी कीमत चुका कर।

मार्च के 'मेनस्ट्रीम' में प्रसिद्ध उपन्यासकार हावर्ड फ़ास्ट ने इसी आशय का एक वक्तव्य दिया है। अमेरिका की कम्यूनिस्ट पार्टी से इस्तीफ़ा देते हुए उन्होंने कहा है कि सोवियत यूनियन की नवीनतम गतिविधि से उनके दिल को बहुत बड़ा सदमा पहुँचा है। खुश्चोव की रिपोर्ट पर भी उन्होंने अपने मन की पीड़ा व्यक्त की थी, किन्तु इस बीच हंगरी में सोवियत सेना ने जो भीषण नर संहार किया, उससे उनकी रही-सही आस्था भी टूट गई, क्योंकि सोवियत देश उनका भविष्य था, आदर्श था और इसलिए आशा तथा आस्था का आधार था।

फिर भी उनका विश्वास है कि मनुष्य जाति समाजवादी लोक तंत्र के रास्ते से नहीं हटेगी और इसके लिए वे उन कम्यूनिस्ट-ग़ैर कम्यूनिस्ट तमाम

लोगों से दृढ़ सम्बन्ध बनाए रखेंगे, जो अन्याय के विरुद्ध लड़ने की कोशिश करेंगे। परन्तु न्याय-अन्याय का निर्णय अब वे अपने विवेक से करेंगे।

कम्यूनिस्ट पार्टी से आस्था हट जाने पर उससे अलग हो जाने वाले हावर्ड फ़ास्ट अकेले नहीं हैं और न यह घटना आज के लिए एकदम नई ही है। 'द गाड दैट फ़ेल्ड' के अनुसार आज से पन्द्रह-सोलह साल पहले ही आर्थर केस्टलर, स्टीफेन स्पेंडर जैसे अनेक लेखकों का इसी तरह मोह-भंग हुआ था। तब से ये लेखक तथा इनके स्वर में स्वर मिला कर बहुत से लेखक कहने लग गए हैं कि किसी पार्टी में आस्था रखना हानिकर है और कोई यह न समझ ले कि वे केवल कम्यूनिस्ट पार्टी का विरोध करने के लिए ऐसा कह रहे हैं, इसलिए कम्यूनिस्ट पार्टी के साथ दो चार और दलों का नाम लेते हैं और इस तरह लेखक को 'स्वतन्त्रता' का मंत्र देते हैं।

हर आदमी स्वतंत्र ढंग से सोचे और अपने विवेक के अनुसार कार्य करे, इससे बढ़कर अच्छी बात और क्या हो सकती है। आदि काल से देश-विदेश के ऋषि-महर्षि, पंडित-ज्ञानी अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की राय देते चले आ रहे हैं। कालिदास ने साफ़ शब्दों में कहा है कि जिसकी बुद्धि दूसरों द्वारा परिचालित होती है, वह मूढ़ है। बुद्ध का उपदेश ही है : अपने दीपक बनो, अपनी शरण लो। गीता की भी शिक्षा है : अपने से अपना उद्धार करो। फिर भी एक विचित्र बात है कि जिसने भी यह उपदेश दिया, वह स्वयं बहुतों का विवेक बन बैठा, यहाँ तक कि उपदेश देने वाले स्वयं भी किसी अन्य पारलौकिक सत्ता में अपनी आस्था रखते थे। इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि साधारण आदमी भी जिसकी आस्था या तो भगवान में है या किसी महापुरुष में अथवा किसी सम्प्रदाय या पार्टी में, वह भी बहुत से कार्य अपने सहज ज्ञान या विवेक से करता है।

कुल मिलाकर यह बात हम सबके सहज ज्ञान को तुरन्त अपील करती है कि आदमी को अपने विवेक पर ही सबसे अधिक भरोसा करना चाहिए क्योंकि अपने प्रत्येक कार्य के लिए अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। यों भी इस दुनिया में किसी का भरोसा करना कठिन है। पता नहीं कौन कब क्या हो जाय ? परन्तु इतनी सामान्य बात को 'स्वतन्त्रता' 'दायित्व' 'विवेक' आदि न जाने कितने बड़े-बड़े शब्दों में जब कुछ लोग बहुत ज़ोर से कहते हैं तो इसका आकर्षण बढ़ जाता है और यह सामान्य भावना विशिष्ट प्रतीत होने लगती है। तब उनको ध्यान से सुनना बहुत ज़रूरी हो जाता है।

विवेकवादियों का कहना है कि जो स्थिति सामने आए, उस पर अपने विवेक से विचार करना चाहिए। यदि इस समय कोई चीज़ बुरी मालूम होती है, तो उसे बुरी कहिए, आगे उससे कोई अच्छी चीज़ निकल आएगी तो उस

समय देखा जायगा। केवल इस आशा से कि कल वह अच्छी हो जायगी, आज बुरी चीज़ को भली कहना धोखा है। मसलन् सोवियत की समाजवादी व्यवस्था को आज केवल इसलिए स्वीकार करना कि कल वह निर्दोष साम्यवाद में बदल जायगी, नासमझी है। इस प्रकार किसी घटना का निर्णय भविष्य के अनुसार करना ग़लत है। जिस तरह भविष्य अविचारणीय है, उसी तरह अतीत भी। कोई खराब चीज़ केवल इसलिए आज अच्छी नहीं कही जा सकती कि वह कल अच्छी थी।

फलस्वरूप 'विवेकवादी' हर घटना को उसके 'सामयिक' रूप में ग्रहण करने का सुझाव देते हैं। इस सिद्धान्त का नाम है 'नितान्त सामयिकता का नैतिक दायित्व'। इस सिद्धान्त के अनुसार हर घटना और स्थिति के अनुसार विचार बदलते रहने की पूरी स्वतन्त्रता है। कल के विचार के लिए आज का विचार उत्तरदायी नहीं है और न वह उत्तरदायी है आगामी कल के विचार के लिए। इस विवेक की कसौटी पर हर घटना अपने आप में स्वतंत्र है और हर विचार अपनी जगह पर सही है। राजनीति के क्षेत्र में यदि यह बात कही जाय तो उसे 'अवसरवाद' कहा जायगा लेकिन साहित्य में इसका अत्याधुनिक नाम है स्वातंत्र्य चिन्तन!

जो हो, यदि 'विवेकवादी' को इतने से भी संतोष हो जाय तो हम मान लें कि चलो कहीं तो आस्था मिली। लेकिन नहीं। इस घटना प्रवाह और विचार प्रवाह में उनकी स्थिति बड़ी दयनीय दिखाई पड़ती है। पता नहीं क्यों, उन्हें 'यह स्थिति अधूरी, दुखभरी और अनिश्चयात्मक' प्रतीत होती है और इसके साथ ही वह आस्था भी केवल 'साम्प्रतिक' रहती है। इससे मालूम होता है कि उन्हें अपनी सीमा का बोध सता रहा है। उनका कहना है कि 'हमें जितना दिखता है वह अंधकार से घिरा है. लेकिन अपनी दृश्य-परिधि को ही हम दिशा मान कर चलते हैं।' कोई बात नहीं, यदि 'दृश्य परिधि' में आलोक है तो उसके बाहर के अंधकार से क्या डरना? यदि इस तरह चलते रहेंगे तो साथ-साथ 'दृश्य-परिधि' भी चलती रहेगी। परन्तु यही तो कठिनाई है कि वे उस अंधकार को भूल नहीं सकते। वह अंधकार बाहर नहीं है, उस 'दृश्य परिधि' के अंदर है। ज़ाहिर है कि भूत और भविष्य को नकार देने के बाद भी वे उसके अभाव के प्रेत से ग्रस्त हैं। और ऐसा अक्सर होता है। भविष्य से डरने वाले के लिए वर्तमान भी भूत हो जाता है।

और इस स्थिति से उबरने का कोई उपाय भी नहीं है क्योंकि किसी अन्य की सहायता लेना पराधीनता है। चाहे इसी तरह मर जायँ लेकिन इस परिधि में रहेंगे अकेले। स्वाभाविक भी है। भोगना जब व्यक्ति को है तो दायित्व भी व्यक्ति को ही लेना पड़ेगा। इससे निष्कर्ष यह निकला, कि समाज में सोचने-

समझने, करने-धरने का सारा दायित्व हर व्यक्ति का अलग-अलग है। इस स्वतंत्रता, विवेक और दायित्व की तर्क संगत परिणति क्या होगी इसकी ओर केवल इतना ही संकेत करना काफ़ी है कि उस स्थिति में राज्य से लेकर परिवार तक और विश्वविद्यालयों से लेकर प्रारंभिक पाठशालाओं तक के संस्थागत संपूर्ण सामूहिक प्रयत्नों से अलग हो जाना होगा। जब हर आदमी अपने लिए उत्तर-दायी है तो एक दूसरे का उत्तरदायित्व कोई क्यों ले ? समाज में कोई इस प्रकार का मत प्रचारित करे तो लोग उसे घोर स्वार्थ कहेंगे लेकिन विचार-जगत में उसे 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' जैसा गौरवशाली नाम दिया जाता है !

आखिरकार यह व्यक्तिगत आस्था भी घबरा कर आत्मघात की ओर प्रेरित करती है। अभी कुछ दिन पहले 'अंधा युग' नामक एक गीत नाटक निकला है, जिसमें स्वतंत्रता, दायित्व, मर्यादा आदि 'मूल्यों' के साथ आस्था की भी स्थापना की गई है। परन्तु इसके लेखक की आस्था का यह हाल है कि अंत में सबके दायित्व की गठरी अपने सिर पर बाँधकर उसके 'प्रभु' स्वर्ग की ओर चल देते हैं; किन्तु धरती के पामर प्राणियों को परितोष देने के लिए कहते जाते हैं कि मैं जल्द ही उतरूँगा। और लेखक भी अपनी ओर से तमाम पाठकों को दिलासा देता है कि यह मरण नहीं बल्कि 'रूपान्तरण' है क्योंकि वह तत्व तो 'निरपेक्ष' है। किसी को भ्रम न हो कि मैं पुराने 'पुर्नजन्मवाद' या गीता-रामायण के अवतारवाद की आवृत्ति कर रहा हूँ, इसलिए विचारार्थ नितान्त सामयिक पुस्तक 'अंधा युग' की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

पर एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में।

प्रभु का अवतरण हो या नहीं लेकिन इतना निश्चित है कि 'निरपेक्ष' तत्व का रूपान्तरण जरूर हो रहा है। यह है 'मुक्त-आचरण' वाले विवेक की आस्था का रूप। कोई आश्चर्य मत करे, 'अंधा युग' का लेखक भी अपने को तमाम पार्टियों से स्वतंत्र, विवेकवान् अथच आस्थावान् कहता है।

हिन्दी के एक और आस्थावान् लेखक हैं जिनकी एक कहानी के नायक 'खितिन बाबू' एक-एक अंग के काटे जाने पर भी आस्था जमाए रहते हैं और अपनी आस्था को मृत शरीर के साथ छोड़ कर एक दिन चल बसते हैं। अन्त तक पता नहीं चलता कि उनकी आस्था किस में है क्योंकि उन्हें अपने एक-एक अंग को अस्पताल में जाकर कटवा आने में ही सबसे बड़ा सुख मिलता है। ये 'खितिन बाबू' आगे चलकर नाना योनियों में पैदा होते हैं। कभी 'सीप' बनकर सागर की लहर के प्रति समर्पित हो जाते हैं, कभी 'द्वीप' बनकर नदी के प्रति तो कभी 'दीप' बनकर पंक्ति के प्रति (प्रतीकों का तुक ध्यान देने

योग्य है) ! यह भी एक प्रकार की आस्था ही है क्योंकि लेखक के अनुसार यह 'स्थिर समर्पण' है ।

कहने का मतलब यह है कि एकदम अपने 'विवेक' पर निर्भर रहने वालों की भी आस्था के टूटने का उतना ही ख़तरा है, जितना किसी पार्टी में आस्था रखने वालों के लिए । यदि कम्यूनिस्ट लेखकों ने आत्महत्याएँ की हैं तो येसेनिन और स्टीफ़ान ज़्वाइग जैसे व्यक्तिवादी और रोमैंटिक साहित्यकारों ने भी आत्मघात किया है । दर असल 'आस्था' के सिलसिले में जिस 'विवेक' शब्द का बहुत नाम लिया जाता है, वह स्वयं बहुत गोल है । जिसको हम 'विवेक' कहते हैं, वह क्या कोई सर्वथा अन्तर्दृष्टि है ? या उसका भी निर्माण अनुभवज्ञान से होता है ? और जिस 'विवेक' को हम अपना कहते हैं, वह भी कितना अपना है और कितना पराया इसका निर्णय कैसे हो ? देख-सुन, पढ़-गुन कर हम जो विचार बनाते हैं, उसके बारे में क्या हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि वह नितान्त अपना है ? 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' का जो लोग इतना ढोल पीटते हैं क्या वे सब विचार की दृष्टि से स्वतंत्र हैं ? क्या इन व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादियों की अपनी कोई पार्टी नहीं है, जिसके वे लिखित या अलिखित सदस्य हैं ? क्या इस पार्टी के प्रति उनकी आस्था नहीं है ? क्या वे ईमानदारी से कह सकते हैं कि 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' मंत्र उन्हें एक खास संस्था द्वारा प्रकाशित होने वाली सूचनाओं और विचारों की पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से नहीं मिला है ? और जो लोग यह दावा करते हैं कि हम हर घटना पर अपने विवेक से निर्णय करेंगे या करते हैं, उन्हें क्या इस बात का निश्चय है कि हर घटना की सूचना उन्हें मूल रूप में मिलती है ? बड़ी-बड़ी सरकारी अर्ध-सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा प्रसारित रेडियो और अखबारों की सूचना पर पलनेवाले युग में यदि कोई अपने निजी विवेक का दम भरता है तो वह कोरा दम्भ है । समाचारों पर जीनेवालों की आस्था के लिए हर क्षण खतरा है ।

आस्था का शायद ही कोई आधार हो जिसमें अन्तर्विरोध न हो । जो अपने आस्था-केन्द्र के अन्तर्विरोध की प्रकृति को नहीं पहचानता, उसी की आस्था टूटती है, उसी में अनास्था उत्पन्न होती है अथवा इन सबके विपरीत उसमें आस्था के स्थान पर अंधविश्वास घर करता है । किसी पार्टी या व्यक्ति या विचार में आस्था रखना ग़लत नहीं है, ग़लत है उस पार्टी, व्यक्ति या विचार को पूर्ण अथवा आदर्श मान लेना । यह अन्तर्विरोध हर स्तर पर और हर क्षेत्र में है, कहीं उग्र और कहीं मद्धिम । उदाहरण के लिए यह जानते हुए भी हम जीते हैं कि हर क्षण हम मर रहे हैं । किन्तु जो यह सोचता है कि हम हर क्षण मर रहे हैं वह समय से पहले ही मर जाता है और जो अपने को

अमर समझ कर विचरण करता है, उसे सहसा मोह-भंग होता है। जो लोग अपने विवेक में आस्था दृढ़ करने की बात कहते हैं क्या उनके विवेक में कभी अन्तर्विरोध नहीं होता ? जो लोग जनता की शक्ति में आस्था की बात करते हैं, क्या उस जनता में अन्तर्विरोध नहीं है ? इस अन्तर्विरोध के बावजूद इन तमाम चीजों में या इनमें से किसी एक में हमारी आस्था इसलिए होती है कि उसमें हमें जीवनी शक्ति दिखाई पड़ती है अथवा दूसरे शब्दों में उसमें भविष्य के बीज दिखाई पड़ते हैं। आस्था सदैव भविष्योन्मुखी होती है, इसीलिए आस्था के साथ सदैव आशा का भी नाम लिया जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि प्रायः निराशावादी ही अनास्थापूर्ण दिखाई पड़ते हैं।

परन्तु यह प्रश्न व्यर्थ नहीं है कि आस्था किसमें ? चाहे जिस सत्ता में आस्था रखें, सब धान बाईस पसेरी वाली बात ग़लत है। आस्था की शक्ति उसके आधार से निर्धारित होती है ? एक व्यक्ति—चाहे वह स्वयं हो या कोई और—में ग़लतियों की संभावना, समूह की अपेक्षा अधिक है। बड़े-से-बड़े महापुरुष, नेता, तानाशाह या विचारक को भी आत्मबल के लिए अपने से बाहर निकलना पड़ता है और प्रायः वह जनशक्ति की ओर देखता है। यही वजह है कि जनता के प्रति आस्था को इतना महत्व दिया जाता है और साहित्य में उसे मानवतावाद कहते हैं।

सुना है, जैनेन्द्र जी के सामने एक बार किसी ने कहा—अक़ल बड़ी कि भैंस ? उन्होंने छूटते ही कहा—सवाल यह है कि किसकी अक्ल और किसकी भैंस ? इसी तरह सवाल यह नहीं है कि आस्था बड़ी या अनास्था ? सवाल यह है कि किसकी आस्था और किसकी अनास्था ? साथ ही, किसमें आस्था और किसमें अनास्था ? साहित्य में ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिनकी अनास्था में भी सैकड़ों बौनों की आस्था से अधिक शक्ति है। आशावाद के नाम पर आशा से अंत होने वाली सैकड़ों तुकबंदियों की अपेक्षा निराशा की कविताएँ अधिक शक्तिशाली हैं। यही वजह है कि तुलसी और सूर के विनय के पद बावजूद निराशा के आज भी लोगों को शक्ति प्रदान करते हैं।

यहाँ आकर आस्था-अनास्था का प्रश्न कोरी सैद्धान्तिक चर्चा के स्तर से उतर कर समाज के ठोस धरातल पर आधार ढूँढ़ता है। सवाल यह है कि अनास्था से जो परेशान हैं वे कौन लोग हैं ? समाज में बहुत से लोग हैं जो आस्था-अनास्था के चक्कर में पड़े बिना भी दुःख-सुख से लड़ते-भिड़ते अपनी जिन्दगी जी लेते हैं। लेकिन इन तमाम लोगों से अलग एक प्राणी है बुद्धि-जीवी और वह बुद्धिजीवी क्या जो केवल रोटी पर जी ले ! फिर बुद्धि किस लिए है ? बुद्धिजीवी का पहला कर्तव्य है एक विश्वास की प्राप्ति और यदि कोई विश्वास न भी मिले तो कम-से-कम यही विश्वास हो कि कोई विश्वास

नहीं होना चाहिए।

थोड़ा-सा और आगे बढ़ने पर पता चलेगा कि बुद्धि के स्तर पर जिस प्राणी में 'आस्था' की इतनी भूख है, वह रहन-सहन के स्तर पर हमेशा जीवन में कहीं जम जाने के लिए परेशान है। जीवन में कहीं 'सेटिल' हो जाना बुद्धि-जीवियों की बातचीत का सामान्य विषय है। इस प्रकार जीवन में अस्थिरता और विचारों में अनास्था दोनों समानान्तर स्थितियाँ हैं और इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है। बुद्धिजीवी की अनास्था उसकी ढुलमुल सामाजिक स्थिति का परिणाम है। इस 'खाना-बदोश दिमाग़ी मज़दूर' की हालत उस पंछी की तरह है जो—

अंतरिक्ष में आकुल आतुर
कभी इधर उड़ कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है........

ऐसी स्थिति में क्या यह संभव है कि उसे सोचने मात्र से आस्था की प्राप्ति हो जायगी? राम-भक्त तुलसीदास की आस्था को भी अंतिम दिनों में सांसारिक स्थितियों ने हिला दिया था और उनके राम के रहते हुए। अपने मनोविकारों को दोष देते हुए वे अंत तक यही कहते रहे 'कबहुँक मन विश्राम न मान्यो।' इससे मालूम होता है कि अनास्था केवल मनोवैज्ञानिक व्याधि नहीं है और न तो केवल मनोवैज्ञानिक उपचारों से दूर हो सकती है। जब तक बुद्धिजीवी की सामाजिक स्थिति नहीं बदलती अथवा कम-से-कम सामाजिक स्थिति बदलने की भावना उसमें नहीं पैदा होती तब तक कोरे अलस-चिन्तन से अनास्था का मिटना असंभव है। जिन सामाजिक स्थितियों ने उसमें अनास्था पैदा की है, उन्हीं में उसे आस्था भी खोजनी है। कोई वजह नहीं है कि वर्तमान स्थिति में आस्था के बीज न हों। वैज्ञानिकों ने बहुत सी खोज केवल अस्पष्ट संभावना को लेकर की है—कभी असफलता मिली है तो अक्सर सफलता भी मिली है किन्तु सारा का सारा श्रम तो कभी व्यर्थ नहीं हुआ है।

इसलिए आज के युग में एकदम अनास्था-ही-अनास्था देखना कम-से-कम तर्क संगत तो नहीं प्रतीत होता। 'आस्था की खोज' मात्र से सिद्ध है कि समाज में इस भावना का वास्तविक आधार पहले से मौजूद है। और इतिहास के व्यापक परिवेश में देखने पर पता चलता है कि हमारा युग अतीत के अनेक अंधकार युगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकाशपूर्ण है। आज अपनी परिस्थितियों पर मनुष्य का अधिकार पहले से कहीं अधिक है। संसार की जनता आज पहले से कहीं अधिक संगठित और सूचना-सम्पन्न है। पहले आकांक्षाएँ थीं, अब योजनाएँ भी हैं। जो इस इतिहास के निर्माण में सचमुच भाग ले रहे हैं, उन्हें इस शक्ति का पूरा एहसास है, एहसास नहीं है तो उन्हें जो इससे

अलग हैं। अपनी शक्ति का एहसास काम करने से होता है, इसे कहने की ज़रूरत नहीं है।

आस्था-अनास्था के सिलसिले में अक्सर गीता का नाम लिया जाता है और आधुनिक लेखक अर्जुन का मखौल उड़ाते हुए कहते हैं कि उन्होंने इतने लंबे प्रश्नोत्तर के बाद अंत में भगवान के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन धार्मिक प्रतीकों के आवरण को हटाकर देखें तो पता चलेगा कि अर्जुन ने आत्म-विद्या और योगचर्चा सुनने के बाद कृष्ण के सम्मुख समर्पण नहीं किया। आध्यात्मिक ज्ञान से उनका सन्देह दूर नहीं हुआ। सन्देह दूर हुआ विराट् विश्व रूप देख कर जो वस्तुतः 'काल' था और आज की भाषा में 'इतिहास'। इतिहास के उस विराट् परिप्रेक्ष्य में अर्जुन को भविष्य का वह रूप भी दिखाई पड़ा जिसमें भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, दुर्योधन आदि समस्त अरि-समूह विनाश के मुख में जा रहा था। इतिहास के इस परिप्रेक्ष्य का अर्जुन को ज्ञान हुआ और इसी इतिहास के प्रति उन्होंने अपनी आस्था प्रकट की। जब तक वे अपने दृश्य की सीमित परिधि में कौरव-दल को देख रहे थे, तब तक वे मोहग्रस्त भी थे और त्रस्त भी। फलस्वरूप वे एक प्रज्ञावादी की तरह अपने मोह और भय को तर्कसम्मत रूप देते रहे। अर्जुन के संदेह का खंडन कृष्ण ने तर्क और प्रदर्शन दोनों के द्वारा किया, परन्तु इस शर्त के साथ कि युद्धस्व। इससे साबित होता है कि सच्चे अर्थों में एक कर्मवीर धनुर्धर ही अपनी अनास्था पर विजय प्राप्त कर सकता है।

लेखक की कलम ही उसका अस्त्र है और उसकी रचना परिवर्तन। जिस तरह इसका निश्चय न होते हुए भी कि उपन्यास का अंत क्या अथवा कैसा होगा, वह एक योजना का खाका बनाकर काम शुरू कर देता है, उसी तरह वह मानव स्वाधीनता के इतिहास में भी भाग ले सकता है। इतिहास के निर्माण का नियम स्वयं लेखक नहीं समझेगा तो कौन समझेगा? इतिहास का नियम साहित्य-रचना के नियम से बहुत भिन्न नहीं है। यदि हम रचना के भविष्य की परवा किये बिना भी आत्म-विश्वास के साथ उसे लिख डालते हैं तो इस समय संसार के भविष्य सम्बन्धी अनिश्चयों में उलझने का भी कोई कारण समझ में नहीं आता। जिस तरह उपन्यास लिखने वाला ही लिखते समय की पीड़ा, संदेह, योजना, भटकाव, बाधा, आत्म-विश्वास और अंत में आनन्द की मनःस्थितियों को जानता है, दूसरा नहीं, उसी तरह संसार के इतिहास निर्माण में भाग लेने वाला ही इन समानान्तर मनःस्थितियों को जानता है, दूसरा नहीं।

निःसंदेह आस्था एक प्रश्न है, लेकिन उसका उत्तर इतिहास है और इस उत्तर का दायित्व हम सब पर है।

★

नामवर सिंह

६

लगता है साहित्यकार की आस्था पर आज कल कोई भारी संकट आ पड़ा है। बेतरह शोर मच रहा है। साहित्यकार तो इसके पहले भी दो-चार हुए ही हैं मगर किसी ने कभी अपनी आस्था का इतना शोर नहीं मचाया। जिसकी जैसी जो आस्था थी, थी—और रूपायित होती थी साहित्यकार के जीवन में, उसकी सृष्टि में। समाज को उसी से प्रयोजन है।

मगर कुछ लोगों के यहाँ तो आजकल आस्था की महामारी-सी आयी हुई है। और दिल्लगी यह है कि जो भीतर से जितना ही आस्थाहीन है वह बाहर से अपनी आस्था का उतना ही विराट् रूप दिखलाता है। वह बात-बात में अपनी 'आस्था' की शपथ लेता है। 'आस्था' की इस लकुटिया के बिना वह शायद एक डग भी नहीं चल सकता। यों इसमें कोई बुराई नहीं है, क्योंकि आस्था बड़ी चीज़ है, वह आदमी को जीने की, काम करने की ताक़त देती है, स्फूर्ति देती है। लेकिन अगर बात कुछ ऐसी हो कि वह आस्था कर्म से अधिक वाणी में ही दिखायी देती हो तो इसे निश्चय ही मन की दुर्बलता का संकेत समझना चाहिए—कुछ ऐसी ही चीज़ कि जैसे अँधेरे घर में अपने मन के भूत को भगाने के लिए कोई शंकर का जाप या हनुमान चालीसा का पाठ करने लगे या कि जैसे कोई कमजोर आदमी बार-बार अपनी सींक-जैसी बाहों को फुलाकर देखे और अपने मन को ढाढ़स दे कि देखो मैं कितना बलवान् हूँ, मेरी बाँहें कैसी मोटी हैं!

हमारे इन बंधुओं की आस्था का बिलकुल यही हाल है। जो जितना ही छोटा, जितना ही विकार-ग्रस्त साहित्यकार है उसकी 'आस्था' उतनी ही भूधराकार है। लेकिन बस देखने में ही, काग़ज़ और घास-फूस के बने रामलीला के रावण और कुंभकर्ण की तरह। दम उसमें नहीं होता। कहीं किसी ने छींक दिया और उनकी आस्था का दम निकलने लगा, कहीं बिल्ली रास्ता काट गयी और उनकी आस्था के लिए भीषण अपशकुन उपस्थित हो गया। ऐसी दुर्बल, अल्पायु आस्था कब तक किसी का साथ दे सकती है?

इसीलिए हमारे इन बंधुओं की आस्था सदा मरण शय्या पर लेटी दिखायी देती है—और फिर ऐसी स्थिति में कोई 'प्रभु' का नाम जपने लगता है और कोई छिटक कर अनास्था के दूसरे ध्रुव पर जा पहुँचता है जहाँ फिर उसे सब कुछ अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता है, अँधेरा और बेहद सर्द और बेहद अकेला,

जहाँ उसका न तो कोई संगी रह जाता है न साथी, न मनुष्य के प्रति मनुष्य के प्रेम की वह सुखद गरमाहट जिसके बल पर ही यह दुनिया टिकी है और न मानव जाति के सम्मिलित विवेक का वह आलोक-मार्ग जिस पर चलकर मनुष्यता ने आदिम पशु की स्थिति से आज के सभ्य मानव तक की अपनी कठिन यात्रा की है; और आज से मेरा तात्पर्य १९५७ से नहीं है बल्कि मानव जाति के पिछले पाँच-सात हज़ार साल के पूरे काल-खण्ड से है जब से सभ्य मानव का इतिहास किसी-न-किसी रूप में मिलने लगता है। नृतत्वशास्त्रियों के मतानुसार मनुष्य नामधारी प्राणी को इस पृथ्वी पर आये (अर्थात् सृष्टि के निम्नतर स्तर से ऊपर उठ कर मनुष्य के रूप में विकसित हुए) पाँच लाख से लेकर दस लाख वर्ष हो चुके हैं। हमारे उस आदि पुरुष की खोपड़ियाँ भी कुछ मिली हैं और उनको देखने से पता चलता है कि वह आदि मानव गोरीला या बनमानुस के कितने पास था। मनुष्य की दस लाख साल की इस यात्रा का कोई इतिहास नहीं मिलता, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह यात्रा सरल न रही होगी।

यहीं पर एक बात और स्पष्ट कर दूँ। मैं यह भी नहीं मानता कि आज से पाँच-छः हज़ार साल पहले मिस्र या सुमेर या चीन या यूनान या भारत की प्राचीन सभ्यताओं में मानव जाति अपने विकास के शिखर पर पहुँच गयी थी और उसके बाद उसका पीछे लौटना शुरू हो गया और यह कि मानवता अब फिर एक नयी बर्बरता की ओर बढ़ रही है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्यता हर दृष्टि से बराबर आगे ही बढ़ती जा रही है। आज का एक सामान्य व्यक्ति उस पुराकाल के सामान्य व्यक्ति से अधिक विकसित है, अपनी शक्ति में, अपने ज्ञान के विस्तार में, अपनी मानव संवेदनाओं में। अपनी भौतिक उन्नति के अनुरूप उसका नैतिक विकास न हुआ हो, यह संभव है, पर ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि उसके मानवीय गुणों का ह्रास हुआ है। समाज-संगठन की दृष्टि से भी आज का मानव समाज पहले से कहीं अधिक सामाजिक न्याय पर आधारित है। हम मिस्र के पिरामिडों को देख कर उसके महान् स्थापत्य से अभिभूत भले हो जायें लेकिन न तो यही भूलना ठीक होगा कि उनका निर्माण दासों के श्रम से हुआ है (मजूरी के दास नहीं, ऐसे दास जिनके सर मालिक के एक इशारे पर आनन-फानन क़लम कर दिये जाते थे) और न यही कि उन पिरामिडों के नीचे जिन शक्तिशाली फ़रऊनों की लाशें दफ़न हैं उनके साथ उनके सबसे चहेते गुलाम और सबसे चहेती रानियाँ और रखेलें भी मार कर दफ़न की हुई हैं ताकि बादशाह को अपने उस आख़िरी सफ़र में भी कोई तकलीफ न हो! जिस प्राचीन रोमन साम्राज्य के वैभव की कहानी कहते इतिहासकार नहीं अघाते उस वैभव की नींव में गुलाम बच्चों और औरतों

और बुड्ढों और जवानों की हड्डियाँ हैं, यह बात भूलनी न चाहिए। स्वयं हमारे प्राचीन भारतीय समाज में सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न कम नहीं रहा है, भले हमारे यहाँ दास प्रथा का रूप देखने में वैसा हिंस्र न रहा हो— अन्याय और उत्पीड़न विजयी आर्यों का विजित अनार्यों के प्रति, सवर्णों का शूद्रों के प्रति, जो आज भी बहुत कुछ वैसा ही चला जा रहा है और मैं कहना चाहता हूँ कि सामाजिक उत्पीड़न के इस विशिष्ट भारतीय रूप (शूद्रों-अन्त्यजों पर सवर्णों के अत्याचार) का दूसरा उदाहरण सारे संसार में ढूँढ़े नहीं मिलेगा।

समय की दूरी सभी चीजों पर एक विलक्षण, सपने-जैसा लेप चढ़ा देती है, जिससे दाग़ सब छिप जाते हैं और बुरी चीज़ भी भली मालूम होने लगती है। लेकिन हमारा काम उससे नहीं चलेगा। हमको पूरी सच्चाई देखनी होगी।

और सच्चाई यह है कि उस प्राचीन में सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा न था और न मानव सभ्यता या समाज-संगठन का वह सुन्दरतम, उच्चतम, रूप ही था। चाहे दास प्रथा के काल में, चाहे सामन्ती युग में, चाहे आज की इस महाजनी सभ्यता के युग में, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण-उत्पीड़न सब में वर्तमान है, भले उसका रूप परिवर्तित होता रहा हो। यह ठीक है कि इनमें से प्रत्येक समाज-व्यवस्था अपने पूर्वतर रूप से विकसित थी, यहाँ तक कि दास प्रथा भी नितान्त वन्य, अनुन्नत, आखेट युग के आदिम साम्यवाद से उन्नततर समाज-व्यवस्था थी। यह भी ठीक है कि उन परिस्थितियों में दूसरा कुछ संभव नहीं था। यह भी ठीक है कि मानव जाति के सास्कृतिक कोष को उन सभी की बड़ी-बड़ी देनें हैं और कुछ ऐसी महान् प्रतिभाओं की इतनी बड़ी देनें हैं जो आज तक अजेय खड़ी हैं। यह भी ठीक है कि इन सभी समाज व्यवस्थाओं में मानव अधिकारों को, मानव स्वाधीनता को उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तार मिलता गया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे समाज-व्यवस्थाएँ मूलतः अधिक समुन्नत थीं और न यही कि उनकी सांस्कृतिक विभूतियों के कारण हम उन समाज व्यवस्थाओं की शोषण-मूलक प्रकृति को न देखें या उनके बुरे पहलुओं की ओर से आँख मूँद लें। अजन्ता की भव्य चित्रकला को देखकर हमारा स्तब्ध रह जाना भी ठीक है और उस युग के सामाजिक और धार्मिक अनाचारों-अत्याचारों पर अपनी संतुलित दृष्टि डालना भी ठीक है। दोनों में कोई असंगति नहीं है क्योंकि वे सांस्कृतिक विभूतियाँ उन महान् मानवतावादी कलाकारों की सृष्टि हैं जिन्होंने अपने युग की नैतिकता का प्रभाव अंशतः लेते हुए भी अनेक अंशों में अपनी दृष्टि को, अपने विवेक को मुक्त रखा और तत्कालीन नैतिकता की सीमा में बँधे नहीं और आगे की बात कही, आने-वाले युगों की नैतिकता की और उस परिष्कृत सौन्दर्य बोध और संवेदनाओं

की जिनकी रक्षा करने के लिए उनको मन-ही-मन उन दूषित समसामयिक प्रभावों से संघर्ष करना पड़ा जो उनकी उन संवेदनाओं और उस सौन्दर्य बोध को किन्हीं संकीर्ण श्रेणीगत स्वार्थों की सीमा में बाँधना या विकृत कर देना चाहते थे। जब धरती पर यहाँ से वहाँ तक दीवारें-ही-दीवारें और तमाम छोटी-बड़ी मेड़ें उठी हों, तब दिगन्त तक फैली हुई एक मुक्त विस्तीर्ण धरा की बात कोई साहसी मेधा ही सोच सकती है। उसी तरह जब समाज अनेकानेक वर्गों में, जातियों में, सम्प्रदायों में, वर्णों में (और इन सब के अलग-अलग अनेक खण्डों और उपखण्डों में) बँटा हो और एक के सामाजिक स्वार्थ दूसरे के सामाजिक स्वार्थों से टकरा रहे हों और सबके अलग अलग आचार-विचार हों, नैतिकता के अलग-अलग मानदण्ड हों, ऐसी स्थिति में एक समग्र-सम्पूर्ण मानव जाति और उसके एक नैतिक मानदण्ड का स्वप्न कोई चरित्रवान् साहसी व्यक्ति ही देख सकता है। यह उसकी मानवीय आस्था ही है जो उसको यह शक्ति देती है। जहाँ अपना कबीला ही या अपना दस-बीस घर का गाँव ही सारी दुनिया हो (और बाक़ी दुनिया के संस्पर्श में आने के माध्यम लगभग न हों या अत्यन्त अविकसित दशा में हों) वहाँ जिस आदमी ने अपनी छोटी-सी दुनिया में बैठ कर वसुधैव कुटुम्बकम् की बात कही. वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। उसका यह आविष्कार बहुत बड़ा था। उसने मनुष्य जाति के सामने एक महान लक्ष्य रखा, कुछ उसी प्रकार जैसे अग्नि का आविष्कार करने वाले प्रागैतिहासिक वैज्ञानिक ने आगे आनेवाले वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसन्धानों के लिए दरवाज़ा खोला। अपनी आज की स्थिति में हम उनके उचित महत्व को न समझ पायें, यह और बात है पर वह महत्व कितना बड़ा है, यह थोड़ी-सी कल्पना के सहारे सरलता से समझा जा सकता है।

इस चीज़ से दो निष्कर्ष निकलते हैं और दोनों एक-से महत्वपूर्ण हैं। पहला तो यह कि उनकी जड़ में मनुष्य की गहरी जीवन-आस्था है और दूसरा यह कि मनुष्य जाति के प्रगति-अभियान के वह पहले चरण हैं और तब से मनुष्य बराबर आगे ही बढ़ता जा रहा है। यह आगे बढ़ने की क्रिया सदा एक-सी नहीं होती और न लकीर की तरह सीधी होती है। आगे बढ़ने में जब-तब पीछे हटना भी शामिल रहता है। और फिर जहाँ बात एक व्यक्ति और एक क्षण की न होकर सम्पूर्ण मनुष्य जाति की हो (जो विभिन्न भूखण्डों में, विभिन्न परिस्थितियों में, विकास के विभिन्न स्तरों से होकर अपनी यात्रा कर रही हो) और सहस्राब्दों की हो वहाँ यह कभी किसी समय का पीछे हटना आगे बढ़ने की एक जरूरी शर्त बन जाता है, प्रगति-क्रम की आवश्यक कड़ी। इसीलिए हमको मनुष्य की प्रगति-यात्रा में कभी-कभी पीछे लौटने के अर्थात्

ह्रास के और अनेक बार ठहराव के युग मिलते हैं। लेकिन उससे घबराने की जरूरत नहीं है और न उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सारी प्रगति झूठी है, मानवता कहीं आगे-वागे नहीं बढ़ी है और बस एक जगह पर खड़ी पैर पटक रही है। चित्र को उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर उसको संपूर्ण रूप में एक साथ देखना उसे ठीक से देखने और समझने के लिए ज़रूरी होता है।

हाँ, एक बात ज़रूर दिखायी देती है कि मनुष्य ने इतनी शताब्दियों में जो भौतिक प्रगति की है उसके अनुरूप उसका नैतिक उत्थान नहीं हुआ।

मेरी समझ में इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि नैतिक उत्थान में प्रकृत्या अधिक समय लगता है, दूसरे यह कि जिस समाज-व्यवस्था के भीतर, जिस अर्थ-व्यवस्था के चौखटे में यह वैज्ञानिक-भौतिक प्रगति हुई है वह मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित व्यवस्था रही है जिसने उन वैज्ञानिक उपलब्धियों को सम्पूर्ण मानव समाज के हित में न लगा कर अपने संकीर्ण वर्ग-स्वार्थों के हित में लगाया जिसके फलस्वरूप मनुष्य जाति को उसका पूरा सुफल न मिल सका, हाँ, आनुषंगिक रूप से अंशतः उसका उपकार अवश्य हुआ।

मेरी समझ में इन्हीं दो बड़े कारणों से हमको मनुष्य की भौतिक प्रगति और उसके नैतिक उत्थान के बीच एक खाई-सी दिखायी देती है। उदाहरण के लिए यही कि मनुष्य ने अणु का रहस्य जान लिया, उसकी शक्ति पर विजय पा ली लेकिन उसका उपयोग वह मनुष्य जाति के कल्याण के लिए न करके, प्रकृति की हिंस्र शक्तियों पर विजय पाने के लिए न करके मनुष्य के विनाश के लिए करना चाहता है। क्यों? इसीलिए कि आज सूत्र-संचालन खरबपति महाजन करते हैं और उनको इसी में अपनी मरती हुई समाज-व्यवस्था की सुरक्षा दिखायी देती है।

लेकिन यह पूरी बात नहीं है। पूरी बात यह है कि महाविध्वंसक अस्त्रों के निर्माण के लिए अणु शक्ति का उपयोग करने के साथ-साथ सभी देशों में, कम या ज़्यादा, अणु शक्ति का उपयोग लोक कल्याणकारी योजनाओं के लिए करने की भी प्रवृत्ति अधिकाधिक दिखायी देने लगी है। और यह एक शुभसूचना है।

उन देशों में भी जहाँ सूत्र-संचालन खरबपति महाजन करते हैं वे शक्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं और दिनों-दिन बलवती होती जा रही हैं जो विज्ञान के दुरुपयोग का विरोध करती हैं और इन्हीं में वे वैज्ञानिक भी हैं जिन्होंने यह शक्ति मनुष्य जाति के हाथों में दी है। यह कोई छोटी बात नहीं है और मेरी यह दृढ़ आस्था है कि अंत में इन्हीं शक्तियों की विजय होगी। शताब्दियों तक साधारण जनों की स्थिति मूक बलिपशुओं की-सी थी जिन्हें कोई राजा या

सामंत या महाजन अपने स्वार्थ के लिए मरने-कटने को मैदान में भेज देता था। उनके कण्ठ में बल न था कि विरोध कर सकें। आज किसी भी देश में उस साधारण जनता के स्वर की अवहेलना, चाह कर भी, नहीं की जा सकती और हर प्रश्न पर जनता के हस्तक्षेप का महत्व होता है, जो बहुत बार निर्णायक भी सिद्ध होता है। यही धरती की करवट है। आज का जो साहित्यकार मनुष्य की इस जिजीविषा को नहीं देखता, जो आज चेतना के एक नये धरातल पर संगठित होकर शांति और सुख समृद्धि के एक नये संसार की रचना के लिए संघर्ष कर रही है, वह इस युग की सबसे बड़ी वास्तविकता को नहीं देखता।

बात केवल अणु शक्ति की नहीं है। आज तक के सर्व्वांगीण—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक—विकास के फलस्वरूप मनुष्यता अब एक नये धरातल पर पहुँच चुकी है, एक ऐसे धरातल पर जहाँ उसको अब इस पुरानी, सड़ी-गली, महाजनी अर्थ व्यवस्था में और विकास करने की गुंजाइश नहीं है, जहाँ यह पुरानी व्यवस्था उसके फैलते, विकसित होते हुए शरीर को जकड़ने-वाली जंजीर बन गयी है और जहाँ उसे अब अपने मुक्त, निर्बाध विकास के लिए एक नया वायुमण्डल चाहिए, साम्य और सहयोगिता के आधार पर बनी हुई एक नयी समाज व्यवस्था चाहिए। अब तक के सभी युग-परिवर्तनों के मूल में इतिहास का यही नियम काम करता रहा है। सामाजिक विकास की दृष्टि से जब सामंती व्यवस्था का युग बीत गया अर्थात् जब उस व्यवस्था के भीतर सामाजिक विकास की शक्तियाँ श्वासरुद्ध होने लगीं तब अपने नये और अधिक प्राणवान् [illegible] की पताका फहराता हुआ पूँजीवाद आगे बढ़ा और समाज की, इतिहास की, बागडोर जर्जर सामंतशाही के हाथों से उसने छीन ली। कल का वही जवान, जोशीला पूँजीवाद आज मरण-शय्या पर लेटा हुआ अपनी विष-फुंकारें छोड़ रहा है। वह इस बात को किसी तरह नहीं स्वीकार करना चाहता कि जिस प्रकार एक समय उसने अपने बलवीर्य और अपनी जीवनधर्म्मिता से सामंती व्यवस्था को हटाया था उसी प्रकार अब स्वयं उसके हटने का समय आ गया क्योंकि उसकी शक्ति भी अब छीज गयी, अब वह स्वयं मरणधर्म्मी है, समाज को अब वह नया कुछ नहीं दे सकता, उल्टे, पतन और विनाश की ओर ही ले जा सकता है।

कोई नहीं मानता तो न माने पर इतिहास-विधाता का संकेत स्पष्ट है। स्पष्ट है कि अब ऐसी कोई व्यवस्था नहीं चल सकेगी'जिसमें मनुष्य मनुष्य का शोषण करे, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाकर रक्खे, एक वर्ण दूसरे वर्ण को पददलित रक्खे। काफी दिन राज करने के बाद अब वह युग बीत गया। उसका अब कोई भविष्य नहीं है। अब मनुष्य जाति के लिए साम्य

और स्वाधीनता का युग उपस्थित है। उपस्थित है कहने से आशय यह नहीं है कि कल के रोज़ सारी दुनिया समाजवादी या साम्यवादी हो जायगी। अभी तो शायद कई दशाब्दियों तक समाजवादी देशों और पूँजीवादी देशों का सह-अस्तित्व चलेगा। इस बीच पूँजीवादी शक्तियाँ अपनी व्यवस्था के संकट को टालने के लिए बहुत बार विश्व की शान्ति को संकट में डालेंगी। देश-देश की जनता, अपने अन्य मतभेदों के होते हुए, मिलकर शान्ति की रक्षा करेगी। सह-अस्तित्व के इस लम्बे काल में दोनों समाज-व्यवस्थाओं की परीक्षा होगी कि उनमें से कौन अधिक जनमंगलकारी है और तब अन्तिम निर्णय देगी संसार की जनता। बात सुनने में कुछ विचित्र-सी लगती है, लेकिन है नहीं। जिस दिन से यह दूसरी समाज व्यवस्था आयी और विश्व पूँजीवाद के महीधरों ने अपने आरंभिक अविश्वास और अपने प्रथम क्रोध और इस नयी व्यवस्था की शिशु-हत्या के अपने घनघोर प्रयत्नों के बाद इस बात को समझ लिया कि अब वह आ ही गयी और जल्दी जाने के लिए नहीं आयी है, उस दिन से सतह के नीचे-नीचे यह क्रिया चल रही है, आज भी चल रही है और कल तो और भी ज़ोरों से चलेगी, शर्त एक ही है. कि युद्ध न हो।

इस द्वंद्व के फलस्वरूप जो समाज-व्यवस्था विजयी होकर संसार के सामने आयेगी उसकी विस्तृत रूपरेखा क्या होगी और अलग-अलग देशों में वह किस नाम से जानी जायेगी (समाजवादी भी अब इस बात को स्वीकार करने ही लगे हैं कि समाजवाद पर पहुँचने के अलग-अलग देशों के अलग-अलग रास्ते हो सकते हैं और अलग-अलग देशों में, वहाँ की विशिष्टि परिस्थितियों के अनुसार, समाजवाद के अलग-अलग रूप भी हो सकते हैं)—यह बतलाना कठिन है, लेकिन उसका जो भी विशिष्ट रूप हो, जिस भी नाम से वह जानी जाय, उसके भीतर काम करने वाले सिद्धान्त साम्य और सहयोगिता के होंगे, विश्वमैत्री और विश्व-बंधुत्व के होंगे। वसुधैव कुटुम्बकम् का स्वप्न चरितार्थ होगा। विज्ञान की प्रगति ने इसके लिए ज़मीन पहले ही से तैयार कर रखी है। आज आप घर में बैठकर दस हज़ार मील दूर का संगीत उसी क्षण सुनते हैं, और नृत्य देखते हैं, और उतनी ही दूर (या उसमे भी दस-बीस हज़ार मील अधिक दूर) बैठे हुए किसी मित्र से बात कर सकते हैं और उसको देख सकते हैं, जितनी देर में पहले प्रयाग से काशी जाते थे उतनी देर में दस बार सारी दुनिया का चक्कर लगा कर आ सकते हैं। इतना ही नहीं सौर-मण्डल के दूसरे ग्रह-नक्षत्रों पर जाने की भी तैयारी हो रही है। विज्ञान ने दूरियाँ सब मिटा दीं, दीवारें तोड़ दीं। अब वह व्यवस्था कैसे चलेगी जो मनुष्य जाति को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर, उनके बीच दीवारें खड़ी करके, उनको एक दूसरे से दूर रखती है? इसी अर्थ में, साम्राज्यवाद का, संकीर्ण राष्ट्रवाद का युग बीत गया

है। और आये दिन हमको इसके प्रमाण मिलते हैं। अभी उस रोज़ हमने नन्हें-से कोरिया को प्रचण्ड बलशाली अमरीकी साम्राज्य और उसके अनेक सहायकों की सम्मिलित शक्ति से लोहा लेते और उसको चूर-चूर करते देखा था। फिर हमने वैसे ही या उससे भी छोटे वियेतनाम को फ्रांसीसी साम्राज्य की धज्जियाँ उड़ाते देखा। फिर हमने देखा प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के देश, विशाल पिरामिडों और रहस्यमय स्फिंक्स के देश, पुरातन मिस्र को, जिसका खून कभी बुड्ढा नहीं हुआ, जो आज भी जवान है और नासिर की ज़बान में दुनिया से बात कर रहा है। बहुत घमण्ड में चूर थे वह अंग्रेज और फ्रांसीसी जो स्वेज़ पर चढ़ दौड़े थे। आज वह कहाँ हैं?

मगर क्या यह अकेले नासिर और मिस्र की वीर जनता की जीत है? या कोरिया और वियेतनाम की जीतें केवल वहाँ की जनता की जीतें थीं? या कल के रोज़ फ्रांस को मजबूरन् जब अल्जीरिया छोड़ना पड़ेगा, तब क्या यह केवल अल्जीरियावालों की जीत होगी?

नहीं, सबसे पहले वह आज के इस नये युग की नयी हवा की जीत है। आखिरकार जनता तो वही है जो सदियों गुलाम रही, तो आज बात क्या है है कि कोई टहर नहीं पाता उन्हीं लोगों के सामने जो कल तक विदेशी बूट के नीचे रौंदे पड़े थे? बात कुछ नहीं है, बात बस यह है कि हवा बदल गयी है, आज़ादी की एक नयी लहर आ गयी है, साम्राज्यों का युग बीत गया है। अब अगर कहीं किसी छोटे-से देश में भी आज़ादी की लड़ाई होती है तो उस देश के अलावा और भी दस-बीस देशों के लोग उसकी हर तरह की मदद के लिए खड़े हो जाते हैं, जिनमें गुलाम बनाने वाले उस राष्ट्र के भी समझदार लोग काफ़ी संख्या में दिखायी देते हैं--और फिर शक्तिशाली समाजवादी देश हैं जो राष्ट्रीय आज़ादी की हर लड़ाई में उसका साथ देते हैं।

यही इस ज़माने की नयी हवा है। इस तक पहुँचने में मनुष्यता को कई सौ साल लगे हैं मगर इस मंज़िल पर तो अब हम आ गये और अब कोई हमको यहाँ से पीछे नहीं ले जा सकता। इसी नींव पर विश्व-शान्ति और विश्व-बंधुत्व की इमारत खड़ी होगी।

ऋषियों का एक सपना सच हो रहा है।

ऋषियों का दूसरा सपना—मनुष्य में सुन्दर मानवीय गुणों का विकास हो, मनुष्य सत्वगुणी बने, झूठ न बोले, चोरी न करे, डाका न डाले, हत्या न करे व्यभिचार न करे—भी इसी तरह एक-न-एक दिन पूरा होकर रहेगा और वह दिन बहुत दूर नहीं है, उस दिशा में भी पहले चरण रखे जा चुके हैं। समाज-वादी देशों में जाकर देखिए, चोरी-डाका, हत्या-बलात्कार, व्यभिचार-वेश्यावृत्ति प्रायः समाप्त हो चुकी है। जो लोग इस बात के लिए शोक मनाते हैं कि वहाँ

पर व्यक्ति-स्वाधीनता का लोप हो गया है, वह भी इस तथ्य से इनकार नहीं करते।

समाज के विकास की दृष्टि से, मनुष्य के नैतिक विकास की दृष्टि से क्या यह छोटी बात है कि चोरी-डाका, हत्या-बलात्कार, व्यभिचार-वेश्यावृत्ति मिट जाय, या प्रायः मिट जाय? हज़ारों साल से समाज में इनका बोलबाला है, संसार के प्राचीन-से-प्राचीन ऋषि अपने धर्मशास्त्रों में इसका आदेश करते हैं कि चोरी न करो, अपने पड़ोसी की स्त्री पर वासना की दृष्टि न डालो, जीव-हिंसा न करो, जो प्रमाण है इस बात का कि समाज के भीतर ये दूषित प्रवृत्तियाँ थीं और काफ़ी बलवती थीं अन्यथा उनके संबंध में ये आदेश न किये गये होते। लेकिन उन सब धर्मादेशों के बावजूद और उन सारे नैतिक प्रवचनों के बावजूद जो हर समय, हर युग में, बराबर दिये जाते रहे, ये दुष्ट प्रवृत्तियाँ इतने हज़ारों वर्षों में भी गयीं नहीं। क्योंकि उनके मूल में थी (और है) भूख और ग़रीबी, समाज की विषमताएँ, समाज के अन्याय, नारी का निर्यातन। जब तक समाज से इनका लोप नहीं होता तब तक उन प्रवृत्तियों का भी लोप नहीं हो सकता, चाहे कितना ही कोई प्रवचन करे, सब खोखला सिद्ध होगा, कोरी प्रवंचना। समाज का भौतिक आधार पहले ठीक कीजिए, नैतिक उत्थान अपनी चिन्ता आप कर लेगा—या कम-से-कम उसकी ओर बढ़ना सुगम अवश्य हो जायेगा।

जो देश आज इस नयी दृष्टि को लेकर आगे बढ़ रहे हैं, उनका अनुभव इस बात का प्रमाण है। इसलिए मुझे तो कहीं निराशा का कारण नहीं दिखलायी देता और मेरी यह आस्था दिनोंदिन बलवती होती जाती है कि हम एक नये युग और एक नये मनुष्य की ओर बढ़ रहे हैं।

२

लेकिन इसी जगह पर मुझे एक विलाप का स्वर सुन पड़ता है।

यह सब थोथा आदर्शवाद है—निरा झाग। तुम क्या आशा करते हो मनुष्य से, वास्तविकता को तो देखो।

वास्तविकता यह है कि मनुष्यों के आपसी संबंध आद्यन्त दूषित हैं। भाई-भाई का संबंध, स्त्री-पुरुष का संबंध, पिता-पुत्र का संबंध—सब झूठे हैं। सब चाँदी के कुछ सिक्कों के सम्बन्ध हैं, किसी-न-किसी वासना के सम्बन्ध हैं। प्यार कहीं नहीं है। प्यार की तलाश रेगिस्तान में पानी की तलाश है।

मानवी संवेदनाएँ सब भोंथी हो चुकी हैं, मर चुकी हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच कहीं सेतु नहीं है। मनुष्य की भाषा खो गयी है जो दो दिलों को एक करती है। और दिल ही कहाँ है? दिल तो बस गोश्त का एक लोथड़ा है, जो धड़कता है तो सिर्फ़ इसलिए कि हम जी सकें, वैसे ही जैसे अन्य कोई पशु।

वर्ना दिल, कैसा दिल ! भाई-भाई के हाथ में हथकड़ी डलवा देता है, पड़ोसी के घर में आग लगती है तो दूसरे पड़ोसी उसमें हाथ सेंकते हैं, बाप की लाश पर बेटा दुनिया को दिखाने के लिए एक आँख से रोता है और दूसरी आँख से पैतृक सम्पत्ति के अपने हिस्से पर नज़र रखता है, छैलचिकनियाँ कवि की प्रेयसी किसी काले-कलूटे खानसामे के साथ भाग जाती है—जी हाँ, यह जीवन का यथार्थ है और हम कहते हैं यही जीवन का यथार्थ है, सम्पूर्ण यथार्थ, बाकी सब झूठ है, प्रवंचना है। मनुष्यधर्म की बात झूठी है, जिधर देखोगे उधर तुमको पशुधर्म मिलेगा, केवल पशुधर्म। बिलकुल झूठा है, आत्म-वंचक है तुम्हारा मानवतावाद जो विश्वास रखता है मनुष्य की सद्वृत्तियों में, उसके विवेक में, उसके पराक्रम में, उसके सुन्दर भविष्य में। क्यों ठगते हो दूसरों को, क्यों ठगते हो अपने को, स्वीकार कर लो, मनुष्य की पशुधर्म्मिता स्वीकार कर लो। वर्ना बतलाओ कहाँ है तुम्हारा वह मनुष्य जो यह स्वर्ण-विहान लायेगा ? यही स्वार्थी, दंभी, कामनालोलुप, कीड़े की तरह बिलबिलाता हुआ, अनेकानेक अंधविश्वासों का शिकार, नितान्त विवेकशून्य, निर्वीर्य्य, नपुंसक मनुष्य तुम्हारा स्वर्ण विहान लायेगा ? यही उदरंभरि पशु ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन पशु वृत्तियों ने जिसका अंग-अंग जकड़ रक्खा है, उससे तुम क्या आशा करते हो ? (पौराणिक वीरों का युग बीत गया। वह युग बीत गया जिसमें प्रमथ्यु ने मिट्टी से मनुष्य का निर्माण किया था और जनहित के लिए देवताओं की अग्नि चुराई थी और इस 'अपराध' के लिए सहस्रों वर्षों तक द्यौसपितर की शृङ्खलाओं में जकड़ा रहा था और कभी उसके माथे पर शिकन नहीं आयी, एक क्षण के लिए भी उसके मन में यह सन्देह नहीं आया कि वे जिनके लिए मैं यह भीषण यातना सह रहा हूँ, अपात्र तो नहीं हैं, मेरी यह वेदना निष्फला तो न होगी ? उस प्रमथ्यु के मन में कभी यह सन्देह नहीं आया। मगर वह युग और था !) इतना ही नहीं जो मनुष्य व्यक्तिशः ऐसा पशुधर्म्मी है, समूह में वह और भी पशुधर्म्मी हो जाता है। देश कहने को स्वतंत्र हुआ, लेकिन उसका परिणाम ? परिणाम यही कि सबकी पाशव वृत्तियाँ और भी उन्मुक्त होकर अपना नंगा नाच दिखलाने लगीं। कहाँ है वह सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह जिसका एक समय सब लोग इतना दम भरते थे ? दम तो आज भी भरते हैं, मगर है उसमें कुछ भी सच्चाई ? लोग बात करते हैं अन्तर-राष्ट्रवाद की, विश्वमैत्री और विश्वबंधुत्व की और वास्तविकता यह है कि अभी हम भारतीय भी नहीं बन पाये। अभी तो हम बिहारी हैं, बंगाली हैं, पंजाबी हैं, महाराष्ट्री हैं। उसके बाद फिर हम हिन्दू हैं मुसलमान हैं। फिर हिन्दुओं में भी ब्राह्मण हैं, ठाकुर हैं, कायस्थ हैं, वैश्य हैं, अहीर हैं, पासी हैं। फिर ब्राह्मणों में भी सरयूपारी हैं या कनौजिया हैं, ठाकुर हैं तो सिसोदिया हैं या

राठौर, और कायस्थ हैं तो श्रीवास्तव और माथुर और सक्सेना और कौन और कौन—टुकड़े, टुकड़े, टुकड़े, बाँटते चले जाओ, कहीं अंत नहीं इन टुकड़ों का और लोग बात करते हैं विश्वबन्धुत्व की ! सब ढोंग है, पाखण्ड, कोरा शब्द-जाल और विशाल जन संख्या उन मूर्खों की है, उन अंधों की है जो बार-बार धोखा खाते हैं और बार बार उसी जाल में जा फंसते हैं। ऐसे में फिर क्या आशा की जाय ? मूर्ख कभी चेतेंगे नहीं और शब्दजाल फैलाकर लोगों को ठगनेवाले लुटेरे कभी सुधरेंगे नहीं और देश ऐसा ही लाश की तरह निर्जीव निस्पन्द पड़ा रहेगा और समाज में गिद्धों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जायेगी और फिर एक रोज़ यही गिद्धों की बारात इस लाश को नोचकर खा जायेगी।

गिद्ध तो रहेंगे। यह नहीं तो कोई और। लेबुल बदल जाने से स्वभाव थोड़े ही बदल जायेगा।

और यह कुछ इसी देश की स्थिति थोड़े ही है। सब जगह यही हाल है। कहते हैं पश्चिम ने बड़ी प्रगति की है। यही न कि उद्जन बम का आविष्कार कर लिया जिससे संसार का विनाश अब मिनटों में किया जा सकता है। मगर सोचिए, यह प्रगति किसकी है, मनुष्य की या राक्षस की ? मनुष्य के आन्तरिक सुधार की दिशा में कहाँ क्या हो रहा है ?

हमने बहुत दिनों तक यह समझा कि जो कुछ हम अपने चारों ओर देखते हैं, सब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अभिशाप है यह भुखमरी, यह कंगालियत, यह चोरी बेईमानी और समाजवाद आयेगा तो सब कुछ ठीक हो जायेगा। लेकिन अब तो वह विश्वास भी खण्डित हो गया।

समाजवाद आया, रक्ताक्त क्रान्ति में होकर आया और एक नये युग की सूचना देता हुआ आया - मगर उसने भी क्या किया ? यही न कि सबको दो जून रोटी का बंदोबस्त कर दिया, रहने के लिए कोठरी दे दी, तन ढाँकने को लुगड़ी दे दी (अच्छा भाई, लुगड़ी न सही, कमख्वाब दे दिया !) मगर उसकी क़ीमत क्या ली, कभी यह भी सोचा ? इन्सान की रही सही आज़ादी भी छिन गयी। मनुष्य की आत्मा को जंजीरों में जकड़ लिया। उसकी चेतना को सुषुप्त कर दिया। उसके विवेक को अंधा कर दिया। रोटी के दो टुकड़ों के बदले मनुष्य से उसकी वही चीज़ छीन ली जो उसको पशु से अलग करती है, अर्थात् उसकी बुद्धि, उसका विवेक। पूँजीवादी देशों में कुछ न सही, अपनी बात कहने की तो आज़ादी है, कम से कम इतना तो है कि लेखक जो मन चाहे लिखे, चित्रकार जैसी चाहे तसवीर बनाये। समाजवादी देशों में तो वह भी नहीं। उन्होंने तो सब को खाकी वर्दी पहना दी है और सब के मुँह पर ताला जड़ दिया है। बोल नहीं सकते। रोटी लिये जाओ, काम किये जाओ।

बोलना भर मत वर्ना यह देखो यह बंदूक है, इसमें गोलियाँ भरी हैं और तुम्हारे लिए बस एक गोली काफ़ी होगी। तुम बोलोगे वही, लिखोगे वही, आओगे वही, गाओगे वही जो हम तुम्हारे नेता कहेंगे क्योंकि उसी में हमारे देश का, हमारी क्रान्तिकारी विचारधारा का, हमारी पार्टी का हित है आदि-आदि इत्यादि। उसी का तो नतीजा है कि उनके यहाँ से ऐसा फैक्टरी में ढला हुआ साहित्य आता है, बिलकुल यांत्रिक, नीरस, निष्प्राण। और मज़ा यह कि बहुसंख्यक जनसमाज ने बिना किसी ननुनच के यह स्थिति भी स्वीकार कर ली है। इसका क्या उपाय है, मनुष्य की इस सहज पशुधर्मिता का? यही बात हम पहले कहते थे तो कोई नहीं मानता था, लेकिन देखिए निकली न वही बात? आपने ख्रुश्चेव की वह गुप्त रिपोर्ट नहीं पढ़ी जो उसने सोवियत यूनियन की बीसवीं पार्टी काँग्रेस के सामने दी थी? उसमें यही तो बतलाया है उसने कि कैसे वहाँ की नयी समाजवादी व्यवस्था में जनतंत्र की हत्या की गयी और कैसे स्तालिन ने वहाँ पर अपना आतंक राज कायम कर रक्खा था। और अब स्तालिन की जगह ख्रुश्चेव है पर आतंक राज वही है। विरोध न तब था, न अब है। ऐसे में फिर आशा का स्रोत कहाँ है? आस्था टिके तो किस पर? कहाँ?

३

निस्संदेह इस बात में आंशिक सचाई है। लेकिन बस उतनी ही। अन्यथा जीवन को देखने की यह दृष्टि बिलकुल नकारात्मक है, एकांगी है, जो केवल उसके अँधेरे पक्ष को देखती है। यह सत्य के पास पहुँचने की दृष्टि नहीं अर्द्ध-सत्य के पास पहुँचने की दृष्टि है क्योंकि जीवन का सत्य उसके द्वंद्व में है। यह जड़-चेतन जगत् प्रकृत्या गुण और दोष से युक्त है। यही उसका स्वभाव है। उससे घबरा उठने का कोई कारण नहीं है। जहाँ कुछ बुराइयाँ हैं वहाँ बहुत सी अच्छाइयाँ भी हैं, जिनको देखना जरूरी है और जो हर जगह दिखायी भी देती हैं, अगर देखनेवाले की निगाह साफ़ हो। ऐसा न हो तो आदमी जी न सके।

भला बुरा सब समेत यह जो पृथ्वी है, यहीं पर हम को रहना है (जीवन के समग्र स्वीकरण का यह भाव, यह जीवनोल्लास आधुनिक कवियों में सब से अधिक और अपने सघनतम रूप में हमें रवीन्द्रनाथ में मिलता है।) और इसका संस्कार करना है, अपनी नवीनतम धारणाओं और कल्पनाओं के अनुसार, अपनी शक्ति भर, वैसे ही जैसे हमारे पितर करते आये हैं। हर युग अपने विवेक, अपनी प्रज्ञा, अपने सौन्दर्य बोध, अपनी गंभीरतम संवेदनाओं से मनुष्य जाति के सांस्कृतिक कोष में (जो उसको अपने पितरों से मिला था)

नया कुछ जोड़ता है। आनेवाली पीढ़ी उसमें से बहुत कुछ रख लेती है, जो रखने योग्य है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है, और कुछ अस्वीकार कर देती है जो इस बीच बासी पड़ चुका है, झूठा पड़ चुका है और मनुष्य के नये विवेक और नये सौन्दर्य बोध को अशिव और असुन्दर जान पड़ता है। यह नयी पीढ़ी उस सांस्कृतिक कोष में फिर अपना कुछ जोड़ती है जिसकी परीक्षा, संग्रह और परित्याग की क्रिया उसके बाद आनेवाली पीढ़ी करती है। इसी प्रकार मानवता की सांस्कृतिक धारा निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। यह एक अनादि अनन्त क्रिया है और कलाकार की दृष्टि से यही उसका वास्तविक अमरत्व भी है, उसी प्रकार जैसे पिता अपने पुत्र के रूप में जीवित रहता है।

मैं समझ रहा हूँ कि ये सारी बातें बहुत मोटी हैं, और पुरानी हैं, लेकिन तो भी आज जब साहित्यकारों का एक वर्ग नारे और अनास्था— प्रभु की आस्था भी अनास्था का ही एक रूप है क्योंकि दोनों का तत्व एक है, अविश्वास किसी सामाजिक आदर्शवाद में और अविश्वास हर प्रकार की सामाजिक क्रियाशीलता में — का विष फैला रहा है, तब इस बात को कहने की ज़रूरत है कि वह कौन सी आस्था या निष्ठा है (निष्ठा मुझे अधिक अच्छा शब्द लगता है क्योंकि उसमें एक प्रकार की आत्मिक दृढ़ता का संकेत भी छिपा हुआ है जब कि 'आस्था' में [illegible] है, [illegible] समर्पण का सा भाव है।) जो अद्यावधि मानवतावादी कलाकारों को शक्ति और स्फूर्ति देती रही है और आज भी दे रही है।

जो लोग अपनी प्रकृति और संस्कारों के कारण समाज को, जीवन को, समाज के उन मरते हुए तत्वों की दृष्टि से देखते हैं उन्हें सब कुछ विनाश की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। सभी कुछ क्षीण हुआ, टूटा हुआ, कुत्सित और अंधकारपूर्ण दिखाई देता है। लेकिन जो लोग जीवन को जीवन की दृष्टि से देखते हैं, उस जीवन्त मानवता की दृष्टि से देखते हैं जो मज़बूत कदमों से अपने नये भोर की ओर बढ़ रही है, उनको इस अँधेरे में भी रोशनी नज़र आती है। यह नहीं कि अँधेरे को वह देखते नहीं, देखते हैं, मगर जानते हैं कि यह पौ फटने के पहले का अँधेरा है।

कोई अच्छा मानवतावादी कलाकार इतना सस्ता, ऐसा घटिया आशावाद लेकर नहीं चलता कि जो कुछ है सब ठीक है, बहुत अच्छा है, जैसा होना चाहिए। कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है। और, सब ठीक हो जायेगा!

जीवन की निर्मम वास्तविकताओं के आगे ऐसे निम्न स्तर का आशावाद कै दिन चल सकता है? आशावाद वह है जो उन वास्तविकताओं को स्वीकार करते हुए मनुष्य की अंतिम विजय में विश्वास नहीं खोता। क्यों नहीं खोता? इसलिए कि वह जीवन को उसकी गति में देखता है और मनुष्य की यात्रा

का पूरा मानचित्र उसकी आँखों के सामने रहता है और रहती हैं कला और विज्ञान की वे अनेकानेक वीर आत्माएँ, जिन्होंने अपनी आहुति देकर, अवसर पड़ने पर अपने हृदय की अग्नि से यात्रियों की ठिठुरन दूर की है और अपने उसी जलते हुए हृदय की मशाल से उस कठिन यात्रा का पथ आलोकित किया है।

दूसरे गुण-अवगुण चाहे जो रहे हों—हम सब को जानते भी नहीं और जानने में हमको प्रयोजन भी नहीं—साहस और दृढ़ता हर बड़े कलाकार का, वैज्ञानिक का, मनीषी का, जननायक का सहज गुण रहा है। साहस और दृढ़ता और धैर्य के बिना कोई महान सृष्टि कभी संभव नहीं हुई। देख डालिए उन महान आत्माओं का जीवन और आप पायेंगे कि उनका जीवन कभी बहुत सुविधापूर्ण नहीं रहा। उन्होंने जिन भयानक कष्टों और आपदाओं का सामना करते हुए अपना जीवन कार्य किया है उनकी कल्पना से भी रोमान्च होता है। कल्पनातीत गरीबी, राजसत्ता का भय, धर्मसत्ता का आतंक, अपने निजी जीवन की पीड़ाएँ, अपनों का वियोग, मित्रों का विश्वासघात, समाज की उदासीनता, और इन सब के बीच कभी कभी प्रलोभन भी, अपने विवेक और सत्य के प्रति अपनी निष्ठा को बेच कर सुख-सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत करने के प्रलोभन —इन सब से निरंतर संघर्ष करते हुए उन्होंने अपना काम किया है। इसके एक नहीं सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं पर मैं समझता हूँ उसकी ज़रूरत नहीं है। पर मैं इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि वह वास्तव में एक रोमान्च-कारी कहानी है जिसमें एक ही समय भय का रोमान्च भी होता है और उत्साह का भी। यह उनके चरित्र की दृढ़ता और अपने कर्म के प्रति गहरी सत्य-निष्ठा ही थी जिसने उनको शक्ति दी। यह सही है कि यह चीज़ आसान नहीं है लेकिन यह किसने कब कहा कि सत्यान्वेषक का कर्म आसान होता है? सत्य-अन्वेषण की जिज्ञासा लेकर जो व्यक्ति चल रहा है उसे अपने भीतर साहस और दृढ़ता का उत्स भी खोजना ही होगा।

ऊपर अनास्थावादियों के खिलाफ में जो तथ्य दिये गये हैं उनमें आंशिक सचाई होते हुए वास्तविकता का उनका चित्र असत्य है, दोषपूर्ण है क्योंकि सम्पूर्ण चित्र का पर्सपेक्टिव, परिप्रेक्ष्य, ग़लत है। इसीलिए तसवीर टेढ़ी नज़र आती है। मानवीय संवेदनाओं का भोंथरा हो जाना, मानवीय सम्बन्धों में से मधुरता का लुप्त हो जाना यह सभी कुछ इस बात का संकेत है कि पूँजी पर, पैसे पर आधारित समाज व्यवस्था अपने अंतिम पर्व में से गुज़र रही है। इसमें घबराने की कोई बात नहीं है। मगर साथ ही, इसका यह मतलब भी नहीं है कि समाजवादी देशों में उस दृष्टि से सब कुछ ठीक हो गया है। कुछ ठीक हो गया है, लेकिन बहुत कुछ अभी ठीक होना है। लेकिन उसमें भी घबराने

की कोई बात नहीं है। इन कामों में समय लगता है और मानवता की आयु बहुत लम्बी है।

अपने चिन्तन की उस अंधी गली से निकल कर निरवधिकाल और विपुला पृथ्वी की भूमि पर आइए, आपको प्रशस्त पथ मिलेगा। वह साम्य और सहयोग का पथ है। उस पथ पर आगे बढ़ते हुए अपने नये समाज और उसके नये जीवन मूल्यों की सृष्टि कीजिए। अन्य देशों में समाजवाद का जो रूप है, हमारे देश में भी समाजवाद का वही रूप हो, ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। अपने भाग्य-विधाता हमीं हैं। सीखने को हम सभी से सीखेंगे पर सृष्टि करेंगे अपने अनुकूल। यदि उन देशों में जहाँ कि समाजवाद का प्रयोग हो रहा है, हमें ऐसी कोई बात मिलती है जो कि हमारी परंपरा के विरुद्ध पड़ती है या हमको अपने अनुभव से ठीक नहीं जान पड़ती तो हम उसको छोड़कर कुछ और करेंगे।

इसी व्यक्ति स्वाधीनता को लीजिए। इसका बात हो हल्ला मचाया जाता है— इतना कि कभी कभी लगने लगता है कि इस होहल्ले का उद्देश्य इस नयी समाज व्यवस्था की अन्य सभी उपलब्धियों को अपने शोर में डुबो देना है। यह अन्याय की बात है।

होहल्ले से रास्ते सत्य पर पहुँचना कठिन है। इसलिए आवश्यक है कि थोड़े संयत मन से इस प्रश्न पर विचार किया जाय।

समाजवादी देशों में अपेक्षित व्यक्ति स्वाधीनता नहीं है, मैं भी यह बात मानता हूँ। वहाँ की जो कला और जो साहित्य हमारे सामने आता है उससे भी अनेक बार मन बहुत खिन्न हो जाता है क्योंकि अधिकतर वह किसी आज्ञ मापे हुए नुस्खे पर तैयार होता है और इसीलिए पढ़नेवाले के मर्म को छूने की शक्ति उसके अन्दर नहीं होती। इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि वह नुस्खा किसी ने लाकर उसके हाथ में पकड़ा दिया या उसने खुद वाता वरण से समझौता करते हुए अपने मन में वह नुस्खा गढ़ लिया। नुस्खा अगर किसी ने लाकर उस व्यक्ति को नहीं दिया तो भी बात उतनी ही बुरी है क्योंकि तब प्रश्न होगा कि ऐसा वातावरण क्योंकर बना जो कला और साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रों में निर्बन्ध स्वातन्त्र्य से मौलिक कार्य करने के लिए इतना प्रति कूल पड़ता है। यह किसी भी तरह से अच्छी स्थिति नहीं है।

लेकिन जहाँ तक मैं समझ पाता हूँ, समाजवादी देशों की दृष्टि से देखने पर यह धर्म नहीं आपद्धर्म है। जिस तरह से आज भी बराबर महायुद्ध का भय बना हुआ है और जिस प्रकार अपनी इस छोटी सी अवस्था में उनको बराबर एक बहुत ही अशान्त स्थिति में से गुज़रना पड़ा है, और साम्राज्यवादी देशों की भीषण विरोधिता का सामना करना पड़ा है, ऐसी स्थिति में यह बात

अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती अगर अपनी इस नयी व्यवस्था की सुरक्षा क
दृष्टि से उन्होंने कुछ अतिरिक्त सतर्कता बरती हो और उस हद तक व्यक्ति क
स्वाधीनता पर रोक लगी हो। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना अच्छा हो
कि 'व्यक्ति स्वाधीनता' की उनकी परिभाषा हमसे भिन्न है। स्वभावतः उन
आग्रह व्यक्ति से अधिक समाज पर है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्ब
का बिलकुल ठीक-ठीक समतोल क्या है, इसका निर्णय एक दिन में नहीं कि
जा सकता। इसका निर्णय लंबी अवधि में जीवन-अनुभव के आधार पर
किया जा सकता है और अनेक सही-गलत प्रयोगों के द्वारा ही उस राशि
पहुँचा जा सकता है। स्तालिन को लेकर पिछले दिनों जो काण्ड हुआ
वह इसी प्रकार का एक प्रयोग है। भविष्य ही बतला सकेगा कि वह प्रयो
सही है या गलत। बहरहाल प्रयोग के रूप में उसका महत्व अवश्य है।

लंबे सह अस्तित्व के काल में, अन्य देशों के संग आदान-प्रदान से
संभव है उनको अपनी ठीक दिशा पहचानने में मदद मिले, उसी प्रकार जै
उनकी सामाजिक उपलब्धियों का प्रभाव पूँजीवादी देशों पर पड़ रहा है।

हो सकता है कि उनके मन में भय की कोई ग्रन्थि भी काम कर रही हो
अगर हो तो उसको भी स्वाभाविक ही कहना होगा। (अपनी शक्ति
विस्तार देखकर जिस सीमा तक यह भय की ग्रन्थि कुछ खुली है उस सीमा त
वैचारिक स्वाधीनता का भी विस्तार हुआ है और इस संबंध में चीन का उ
हरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है।)

इतना ही नहीं, एक पिछड़े हुए राष्ट्र को जल्दी से जल्दी एक महान् औद्
गिक शक्ति के रूप में परिणत कर देने की ऐतिहासिक आवश्यकता की पृ
भूमि में—विशुद्ध आत्मरक्षा की दृष्टि से—कला और साहित्य को सम्पूर्ण र
से तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति का वाहन बनाया गया हो, यह भी संभव है
कला और साहित्य की दृष्टि से यह बात अच्छी नहीं हुई। लेकिन क्या
उसके पीछे छिपी हुई विवशता से इनकार कर सकते हैं? क्या हम उसको स
झने की भी कोशिश नहीं करेंगे?

इस प्रश्न पर यह बातें मेरे देखने में आती हैं और मेरी समझ में इस
एक ही समाधान है, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व। इस शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता
जहाँ दूसरे क्षेत्रों वहाँ इस क्षेत्र में भी इस बात का निराकरण हो जायेगा
दोनों में कौन सी व्यवस्था अधिक सुन्दर है, अधिक जनमंगलकारी और लो
प्रिय है।

बहरहाल इतना मैं जानता हूँ कि जनता सब जगह एक है और सब मु
वायु और मुक्त आकाश चाहती है। उसके रास्ते में अगर बाधाएं हों
तो लोग उनको दूर करने का उपाय ढूँढ़ लेंगे। इतना विश्वास रखना चाहि

कि जो एक गुलामी का तौक़ तोड़कर फेंक आया, वह दूसरी गुलामी का पट्टा नहीं पहनेगा।

दूसरों के बाड़े में झांकने से अच्छा है कि हम खुद अपने बागीचे को देखें—कि कैसे हम इसकी मिट्टी को ठीक करें, कौन-से झाड़-झंखाड़ खोदकर अलग करें, किन-किन फूलों के बीज डालें और क़लम लगायें।

सब काम मेहनत से होता है, और लगन से, और धीरज से; घबराने से कोई काम नहीं होता।

पहले की किसी शताब्दी से हमारी यह शताब्दी बुरी नहीं है, बल्कि कुछ अच्छी ही है। इसने बड़े-बड़े काम होते देखे हैं, अभी और देखेगी।

अंग्रेज़ी के एक आधुनिक कवि ने बड़े प्यारे ढंग से एक बात कही—

हम दो दुनियाओं के बीच में हैं जिनमें से एक मर चुकी है और दूसरी में पैदा होने की सकत नहीं है।

बात कहने का ढंग बहुत अच्छा है मगर बात थोड़ी ग़लत है। असल बात यह है कि एक दुनिया मर रही है और दूसरी पैदा हो चुकी है।

★

७

आज के साहित्यकार की आस्था किसमें है—और उसकी आस्था के आधार क्या हैं? पर नहीं, आप यह आपत्ति कर सकते हैं कि मैंने बिना यह प्रमाणित करने की चेष्टा किये ही कि आज के साहित्यकार की आस्था कुछ है भी, एकदम यह प्रश्न उठा लिया कि वह क्या है और किस पर आधारित है। आपके कानों में शायद जो आवाज़ गूंज रही है वह कुछ और ही कह रही है। वह शायद यह कह रही है—सुनो चारों ओर से जो नारा बुलंद किया जा रहा है, उसे सुनो। आज का युग आस्था का नहीं अनास्था का युग है। पुरानी मान्यताओं के टूटने का, पुराने मूल्यों के बदलने का युग है। यह न क्रान्ति का युग है न शान्ति का, यह दोनों के बीच की अव्यवस्था का—अर्थात् संक्रान्ति का युग है। ऐसे विपर्यस्त युग में आस्था की चर्चा कैसी! आधुनिक विज्ञान ने हमारी आँखें खोल दी हैं—अब हम धुंधलके के पर्दे में छिपी पुरानी आस्था की प्रतिमा को स्पष्ट देख रहे हैं। अब यह बात हमसे छिपी नहीं है कि जिसे हम एक सर्वांग सुन्दर, सजीव, सक्रिय देवात्मा मानते आये थे वह वास्तव में केवल एक टूटी-फूटी, शताब्दियों पुरानी, पत्थर की मूर्ति है। इसे अब हम सिवा अपने पुरातत्व संग्रहालय में रखने के, भला और किस काम में ला सकते हैं?

इस आवाज को न सुनना असम्भव है—वास्तव में इस आवाज़ के ज़ोर की वजह से ही तो हम आप आज इस प्रश्न पर विचार करने बैठे हैं, नहीं तो भला किसे पड़ी थी कि दुनिया के और सारे जलते प्रश्नों को भुला कर आस्था के प्रश्न पर विचार करने बैठता? उचित यह होगा कि पहले हम इस पर ही विचार करें कि क्या यह सम्भव है कि आज का साहित्यकार बिना किसी प्रकार की आस्था के सहारे ही साहित्य सर्जना में लगा हुआ है? क्या बिना किसी प्रकार की आस्था के साहित्य सर्जना सम्भव है? मान लीजिये कि इस प्रश्न का उत्तर है 'हाँ'। मान लीजिये कि बिना किसी प्रकार की आस्था के साहित्य सर्जना सम्भव है। तो फिर यह प्रश्न उठता है कि आस्था विहीन साहित्य सर्जना की प्रेरणा के स्रोत क्या हो सकते हैं? जिस साहित्यकार की कोई आस्था ही नहीं है वह क्यों, किस प्रेरणा के वश, साहित्य सर्जना करता है। वह क्यों लिखता है? किसके लिये लिखता है?

शायद अपने को सर्वथा आस्थाहीन मानने वाला साहित्यकार हमारे इन प्रश्नों के उत्तर में कहेगा कि उसे नहीं मालूम कि वह क्यों लिखता है। वह कहेगा कि न लिखना सम्भव नहीं है—न जाने क्यों!—इस कारण वह लिखता है। अपने विक्षुब्ध मन की अदम्य प्रेरणा के वशीभूत हो लिखता जाता है, निरुद्देश्य, आस्थाहीन। पूछा जाय तो वह कहेगा कि आत्माभिव्यक्ति जैसे प्राणिमात्र के लिये स्वाभाविक है वैसे ही उसके लिये भी। किसी का माध्यम हल है, किसी का हथौड़ा; उसका माध्यम क़लम है। वह कहेगा कि उसे कहीं ऐसी कोई किरण दिखाई ही नहीं देती जिसे वह आस्था की ज्योति माने। वह उसे आस्था की ज्योति मान सकता है, जो उसे राह दिखा सके और उसकी शंकाओं की आँधी में अपनी रक्षा आप कर सके। पर कहाँ है ऐसी ज्योति? वह नहीं जानता कि वह फिर भी क्यों किसके लिये लिखता जा रहा है—इसलिये, बिना जाने हुए, वह बताये भी तो क्या? यदि उससे कहा जाय कि भले ही उसे ज्ञात न हो पर उसके उपचेतन में वे प्रेरणा स्रोत छिपे होंगे जिनकी शक्ति उसे साहित्य-रचना की ओर ले जाती है, तो शायद वह कहेगा कि यदि उपचेतन में वे छिपे हों तो हों पर जब वह उन्हें चेतन स्तर पर पा ही नहीं रहा है, पहचानता ही नहीं है, तो वे उसके लिये व्यर्थ हैं क्योंकि उनकी नींव पर वह मान्यताओं की दीवारें नहीं उठा सकता।

यदि आधुनिक लेखक यह कहे तो हम उसकी बात झूठी नहीं मान सकते। एक समय था जब मनुष्य बिना किसी हिचकिचाहट के कह देता था कि उसकी आस्था का केन्द्र ईश्वर है, धर्म है। पर आज का शिक्षित व्यक्ति इनमें से किस खूँटी पर अपनी आस्था का नौलखाहार टाँगे? विज्ञान ने एक एक करके सारी प्रतिष्ठित मान्यताओं की धज्जियाँ उड़ा दी हैं—अब कैसी खूँटी और कहाँ का हार? हमारी दृष्टि आज इतनी प्रखर हो गई है कि उसके सामने जो पड़ता है उसे ही वह भेद डालती है। क्या है जो उसके सामने पड़कर भी झीना और पारदर्शक न हो जाय? क्या है जिसे हम ध्यान से देखकर भी एकदम खोखली न पायें? और यदि हम अपनी दृष्टि, अपनी बुद्धि के सहारे अपनी आस्था की तलाश न करें तो फिर कैसे करें? किसकी दृष्टि और किसकी बुद्धि के सहारे? हम जो जान पाये हैं वह तो हमारा स्वायत्त ज्ञान है। यदि हमें और जानने, और देखने की प्रेरणा दे सकता है तो यही हमारा स्वायत्त ज्ञान ही तो दे सकता है! पर जब देखते ही हमें सब कुछ खोखला लगने लगता है तो हमें और देखने की इच्छा ही भला क्यों हो?

२

आज का आस्था रहित साहित्यकार यह कहता जाता है और नयी नयी

साहित्यिक कृतियाँ हमें भेंट करता जाता है। वह सचमुच यह मानता है कि उसकी सृजनशीलता जिस प्रेरणा का सफल परिणाम है उसका स्रोत आस्था नहीं, अनास्था है। स्पष्ट है कि वह 'आस्था' शब्द का बहुत संकुचित अर्थ लगाता है। सृजन की प्रेरणा केवल आस्था में ही मिल सकती है, अनास्था में नहीं। यदि वह निराशा, अंधकार, अज्ञान को आशा, प्रकाश और ज्ञान से प्रबलतर मानता है और उन्हें अजेय बताने के लिये ही साहित्य-रचना करता है तो भी वह और कुछ नहीं तो कम से कम अपने कथन की कथनीयता में तो विश्वास रखता ही है। हिटलर के शासनकाल में जो अनेक भयानक कान्सेण्ट्रेशन कैम्प बनाये गये थे उनमें सबसे भयानक कैम्पों में से एक था 'बूखेनवाल्ड'। हाल में मुझे उसको देखने का अवसर मिला था। वह स्थान अब एक वैचित्र्यागार के रूप में सुरक्षित है। वहाँ मैंने अनेक छोटे-बड़े लकड़ी, चमड़े, पत्थर के टुकड़े देखे जो युद्धोपरान्त बंदी शिविर की सफ़ाई के समय मिले थे। उन पर बंदियों ने तरह-तरह की शकलें बनाई थीं; किसी ने खड़िया लेकर, किसी ने कोयले से, किसी ने ईंट के टुकड़े से, किसी ने किसी नुकीली छड़ से। तरह-तरह के औज़ारों से तरह-तरह की चीज़ों पर तरह-तरह की शकलें बनी थीं। यह सब कलाकृतियाँ उनकी थीं जो सर्वथा असहाय, आस्थाहीन, टूटे हुए लोग थे। इन्होंने किसी उद्देश्य से अपनी कला-कारिता के ये नमूने कान्सेण्ट्रेशन कैम्प में नहीं छोड़े थे। उन्हें न इसकी आशा थी कि उनकी ये कलाकृतियाँ कभी प्रकाश में आयेंगी, न इच्छा। उन्हें हम निरुद्देश्य सृजन के नमूने मान सकते हैं—हालाँकि शायद यह मानना भी उनके उपचेतन की अवहेलना करना होगा। पर हम जिनकी बात इस लेख में कर रहे हैं वे बूखेनवाल्ड के बंदियों की दशा में नहीं हैं। उनकी साहित्य-सर्जना यह मानकर तो हो नहीं रही है कि उन्हें कभी, कहीं, कोई देखेगा ही नहीं। वे अपनी कृतियाँ प्रकाश में लाते हैं क्योंकि उन्हें अपने मन की बात, अपने भरसक अच्छे से अच्छे ढंग से, कहनी है। किससे कहनी है? अपने समकालीन समाज को वे यदि उदासीन या अयोग्य मानते हैं, कहते हैं कि 'तान्प्रति नैषयत्नः', तो वे कहें या न कहें, मानें या मानें, जानें या न जानें, कहीं उनके मन में यह विश्वास अवश्य बैठा है कि 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा'!

यह विश्वास बड़े से बड़े आत्मोपासक, आत्मग्लान साहित्यकार के मन में भी, कहीं न कहीं, छिपा ही रहता है कि उसकी अभूतपूर्व साहित्यकृति के पारखी कहीं न कहीं हैं या हो सकते हैं। इसी प्रकार कटुता और नैराश्य, आस्था-नता और उदासीनता के साथ-साथ अपने कथन की कथनीयता पर भी ाहित्यकार का विश्वास बना ही रहता है। अपने कथन को कथनीय कोई भी

उसी दशा में मान सकता है जब वह श्रोता की पात्रता के प्रति आस्थावान हो। साहित्यकार की—चाहे वह अनास्था का प्रचारक ही क्यों न हो—अपने भावक की भावप्रवणता में आस्था आवश्यक है। आज का सबसे अधिक अनास्थापूर्ण साहित्य भी अपने अस्तित्व मात्र से यह तो प्रमाणित करता ही है कि उसके पीछे भी एक आस्था की प्रेरणा है—एक संभाव्य भावक की, जो उसका मर्म ग्रहण कर सके।

पर यह तो केवल उनकी बात हुई जो अपने को सर्वथा आस्थारहित मानते हैं और यह समझते हैं कि मानवता अँधेरे में ही भटक रही है, एक ऐसे गढ़े में गिरने वाली है जहाँ से फिर उसका परित्राण असंभव है। मैं समझता हूँ कि यह सर्वथा आस्था आशा विहीन वर्ग आज का प्रतिनिधि वर्ग नहीं है; आज की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि अपने को अकेला या अँधेरे में नहीं पाता। वह स्वीकार करता है कि पुरानी मान्यतायें टूट चुकी हैं, पर उसका

करते हैं तो विगत के प्रति अपना ऋण और आगामी के प्रति अपना दायित्व भी स्वीकार करते हैं। जो यह नहीं मानते, अपने को अलग, अकेला मानते हैं, उनके न मानने के बावजूद शृंखला और उसकी कड़ियों की स्थिति ज्यों की त्यों रहेगी। उनके मानने न मानने से न शृंखला ही बदलेगी न कड़ी ही, कुछ और हो जायगी। जहाँ न कुक्कुट शब्द, तहँ होत न कहा बिहान?

जिनमें सोचने की क्षमता ही नहीं है, अथवा जिन्हें सोचने का अभ्यास नहीं है, उन्हें छोड़ दें तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आज का जागरूक साहित्यकार विगत के प्रति अपने अधिकार और आगामी के प्रति अपने दायित्व को स्वीकार करता है; अतः दोनों से उसे साहित्य सर्जना के लिये प्रेरणा मिलती रहती है। यह सच है कि पिछले युगों में भी विगत के प्रति आभार और आगामी के प्रति दायित्व का बोध मनुष्य को था। वास्तव में

इसके बिना सभ्यता की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ना 'वनौकस यूथ' के लिये सम्भव न होता। अंतर यह है कि जहाँ पहले यह ज्ञान किन्हीं पहुँचे हुए फ़कीरों को इल्हाम की शकल में मिलता था और बाक़ी दुनिया उसे आँख मूँदकर सुन और मान लेती थी, वहाँ आज यह सत्य विज्ञान की परिधि में आगया है, आँख खोलकर भी ग्रहण किया जा सकता है। प्राचीन युग की सहज आस्थायें सभ्यता के विकास के अगले युगों में उठती हुई शंकाओं के आगे टिक न सकीं, टूट गईं। कल तक हम शंका करते थे, समाधान नहीं पाते थे; प्रश्न पूछते थे, उत्तर नहीं मिलता था। आज हमारी अनेक शंकाओं का समाधान सम्भव हो गया है, हमारे अनेक प्रश्नों का उत्तर मिल गया है। अभी और बहुत से प्रश्न हैं जिन्हें सन्तोषप्रद उत्तर की अपेक्षा है—पर अब हम आशा और उत्सुकता के साथ उत्तरों की बाट जोहते हैं, हाथ पर हाथ धरे नहीं। हम यह जान गये हैं कि प्रत्येक समाधान के साथ अनेक सर्वथा नवीन शंकायें भी हमारे मन और मस्तिष्क में प्रवेश करती रहती हैं, प्रत्येक उत्तर के पीछे पीछे नये प्रश्न भागते चले आते हैं। हम अँधेरे की दीवार को ज्यों ज्यों पीछे ढकेलते हैं, त्यों त्यों कल का अदृश्य आज प्रकाश में आता जाता है, हमें प्रकाशित क्षेत्र को और आगे बढ़ाने की आवश्यकता जान पड़ती है। पर अब हम अज्ञात को सदा सर्वदा के लिये अज्ञेय, अजित को अजेय नहीं मान सकते। निराशा की दशा तब सम्भव थी जब हम मानव को मानवेतर शक्तियों का खिलौना मानते थे, जब हम यह मानते थे कि हमारे जीवन का संचालन केन्द्र न हमारे वश में आ सकता है न हमारी समझ में। आज भी यद्यपि हम यह मानते हैं कि हमारी शक्तियाँ सीमित हैं और सीमित ही रहेंगी, फिर भी हम अब यह नहीं मानते कि हमारी शक्ति और ज्ञान की सीमायें जो आज रही हैं कल भी वही रहेंगी। हम मानव-ज्ञान और मानव सामर्थ्य की सम्भावनाओं के प्रति जितने आस्थावान आज हैं उतने कभी नहीं थे।

सभ्यता का इतिहास निरन्तर प्रगति की कहानी है, पर अबाध प्रगति की नहीं। इतिहास का विद्यार्थी यह भली भाँति जानता है कि बार बार ऐसे दौर आते रहे हैं जिनमें आगे बढ़ने के बजाय पीछे लौटने की प्रवृत्ति प्रधान हो गयी है। बार बार उन्नतिशील, विकासशील समाज अधोमुखी और पतनशील हो गया है। यह भी अनेक बार हुआ है कि किन्हीं दिशाओं में प्रगति करते हुए समाज की प्रवृत्ति कई अन्य दिशाओं में सर्वथा प्रतिक्रियात्मक हो गयी है। किसी समय साहित्यकार की दृष्टि समाज की प्रगतिशील प्रवृत्तियों की ओर अधिक आकृष्ट हुई तो कभी उसकी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों की ओर। यह सब सम्भव है, सत्य है। फिर भी मानव समाज आगे ही बढ़ता रहा है—

सब कुछ देखने और समझने के बाद अंतिम निर्णय क्या होगा इसके सम्बन्ध में शंका नहीं हो सकती। निर्णय एक ही हो सकता है, और वह यही कि सभ्यता का इतिहास प्रगतिशीलता का इतिहास है। पिछले युगों के मानव के लिये जो संभव नहीं था, कल्पनातीत था, वह आज के मनुष्य के लिये संभव हो गया है। एवरेस्ट पर पैर रख लेने के बाद, अणु की शक्ति को स्वायत्त कर लेने के बाद, अब ऐसा क्या है जिसे मानव असंभव माने? यदि ऐसा कुछ है तो वह केवल नये आविष्कारों पर दाँतों तले उँगली दबाने की सहज, स्वाभाविक क्रिया ही हो सकती है। मानव अब आश्चर्यचकित नहीं हो सकता— कभी भी नहीं, बड़ी-से-बड़ी घटना पर भी नहीं।

•हमारी आस्था को बहुत ज़ोर का धक्का यह देखकर लगा है कि हमने अभी तक ऐसी किसी राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था का आविष्कार नहीं किया जो सर्वथा निर्दोष हो। हम दो भयानक विश्व-युद्ध झेलने के बाद आज फिर एक महायुद्ध की संभावना से भयभीत हैं। साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद एक-एक करके सभी आज़मा लिये गये और सभी निकम्मे साबित हुए। समाजवाद और साम्यवाद का भी परीक्षण हुआ: उसमें भी हमें कमियाँ और बुराइयाँ मिलीं। इस समय हमारे सामने ऐसा कोई 'वाद' नहीं है जो प्रयोगशाला में अभी तक पहुँचा ही नहीं, जिसका परीक्षण ही नहीं हुआ और जो त्रुटिपूर्ण नहीं पाया गया। एक जगह यदि गरीबों को खाने पहनने को नहीं मिलता तो दूसरी जगह लेखकों-विचारकों को लिखने बोलने की आजादी नहीं है। कहीं सामाजिक दायित्व के नितान्त अभाव के कारण उच्छृंखलता का नग्न नाच हो रहा है तो कहीं सामाजिक दायित्व और सामूहिक चेतना के नाम पर व्यक्ति को मशीन का पुर्जा बना दिया गया है। निःसंदेह दोनों ही स्थितियाँ भयावह हैं, दोनों ही सभ्य मानव की आस्था पर आघात करती हैं। उन्हें दोष देना ज्यादती होगी जो इस परिस्थिति में हताश होने लगे हैं और यह समझने लगे हैं कि मानवता के भविष्य में आस्था अब हो ही नहीं सकती।

उन्हें दोष देना ज़्यादती है, पर यह कहना ज्यादती नहीं है कि वे ग़लती पर हैं। मानव सभ्यता समतल भूमि पर नहीं, ऊँची नीची जमीन पर होकर आगे बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते रुकती भी है, पीछे भी हटती है, फिर से राह खोजने के लिये। आज की परिस्थिति के कुछ रूप भयावह हैं, निःसंदेह भयावह हैं पर केवल उन्हीं भयावह रूपों को जानना आज के सम्पूर्ण वातावरण से परिचित होना नहीं है। हम जहाँ यह देखते हैं कि कोई भी आविष्कृत और प्रयुक्त सामाजिक व्यवस्था सर्वथा दोषरहित नहीं है वहाँ यह भी देखते हैं कि वे पुरानी समाज-व्यवस्था से कितनी बेहतर हैं और जब हम यह स्वीकार करते हैं कि नयी व्यवस्था पुरानी से अच्छी है तो यह आवश्यक है कि हम यह भी

स्वीकार करें कि आने वाली व्यवस्था आज की परिचित प्रयुक्त व्यवस्था से श्रेष्ठतर हो सकती है। इस विश्वास की अजरता और अमरता ही हमारी आस्था का मेरुदण्ड है; उसकी ओर बढ़ना हमारी आस्था-जनित प्रेरणा का परिणाम है। यह सत्य है कि विज्ञान ने विनाशकारी अस्त्रों का आविष्कार किया है—पर विज्ञान उन अस्त्रों से बड़ा है, संभव है वही उनका मुँहतोड़ जवाब भी खोज निकाले। हमारी यह आस्था किसी फ़कीर के इलहाम की हवाई नींव पर नहीं, विज्ञान के आलोक में स्पष्ट दीखने वाली धरती पर खड़ी है। हमारे मन में शंकायें उठती हैं, हम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं—पर उनसे आस्था की परिपुष्टि ही होती है, हानि नहीं। ब्राउनिंग के शब्दों में :

You call for faith;
I show you doubt, to prove that faith exists.
The more of doubt, the stronger faith I say,
(Bishop Blougram's Apology)

इससे इन्कार जरा भी नहीं है कि यह शंका का युग है। पर इसी के आधार पर तो यह और भी दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि यह आस्था का युग है। आस्था और शंका के सह-अस्तित्व को स्वीकार न कर पाना ही हमें उस भ्रान्ति में डाल देता है जिसके कारण हम या तो परप्रत्ययनेयबुद्धि बन जाते हैं, या चीख-चीख कर कहने लगते हैं कि अब संसार में आस्था के लिये कोई स्थान नहीं रह गया। उभौ तौ न विजानीतो।

हमें इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि अपनी अस्वस्थता और अन्य विवशताओं के होते हुए हमारे आदरणीय सुमित्रा नन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन ने भी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर लिखना स्वीकार किया।

सुविधा के विचार से हमने कुछ प्रश्न उनकी सेवा में भेजे थे जो नीचे दिये जाते हैं।

—साहित्यकार की आस्था का निर्माण किस प्रकार होता है? एक साधारण व्यक्ति की जीवन आस्था और एक साहित्यकार की आस्था में क्या साम्य और क्या विभिन्नता है?

—साहित्यकार की वैयक्तिक आस्था और उसके सामाजिक दायित्व में आप किस प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं?

—साहित्यकार की आस्था में समसामयिक तत्व क्या होते हैं और शाश्वत क्या?

—साहित्यकार की आस्था की कसौटी क्या है?

८

जीवन के गूढ़ रहस्यों को अंशतः व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा संकेतों का आविष्कार किया है वे प्रायः अपनी रूढ़ परिभाषाओं की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरों तक फैल जाते हैं। जल पृथ्वी पर तट बनाता है, ऊँचे-नीचे कगारों में बँधता है; पर धरती के नीचे जल जल से, ज्वाला से, शिलाखण्डों से और अनेक धातुओं से अनायास ही मिल जाता है, इनके बीच तट-रेखाओं का प्रश्न नहीं उठता।

आस्था शब्द भी इसी प्रकार का, संकेत में एक पर संकेतित लक्ष्य में विविधरूपात्मक कहा जायगा। आस और स्था, अस्तित्व और स्थिति दोनों का उसमें ऐसा समन्वय है कि धर्म के आस्तिक से लेकर वैज्ञानिक युग के नास्तिक तक सब उसे स्वीकृति देते हैं।

जहाँ तक आस्था की भावभूमि का प्रश्न है वह जीवन की सहजात चेतना के विकास क्रम में ही निर्मित होती चलती है।

हमारे चारों ओर जो प्रत्यक्ष जगत है उसमें सब कुछ निरन्तर परिवर्तित होता, बनता मिटता रहता है। पर अबोध बालक के लिए भी यह शंका स्वाभाविक नहीं कि सूर्य सवेरे लौटेगा या नहीं।

इस धारणा के पीछे अनन्त युगों के अनुभवजन्य संस्कार हैं। मनुष्य अपनी जीवन यात्रा के लिए जो पाथेय लेकर चलता है उसका बहुत सा अंश उसे जन्म के साथ उत्तराधिकार में प्राप्त हो जाता है। शेष की उपलब्धि उसे यात्राक्रम में अपने अनुभव, कल्पना, चिन्तन आदि से होती रहती है।

इस प्रकार आधुनिक अणुयुग का मानव भी अपने अनेक संस्कारों के लिए आदिम पूर्वज का आभारी है।

आस्था के सम्बन्ध में भी यही सत्य है- उसका मूल संस्कार जन्य है, पर प्रसार और व्याप्ति व्यक्तिगत अनुभवों की उपलब्धि है। कोई भी अस्तित्व, चाहे वह भौतिक हो चाहे भावात्मक, अकेला नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक अस्तित्वों के साथ होने के कारण ही उसे एक संज्ञा प्राप्त है और वह ज्ञेय कहा जा सकता है। इसी प्रकार कोई भी स्थिति एकाकी नहीं है, क्योंकि उसे स्थिति विशेष बनने के लिए स्थितियों की समष्टि में अपना परिचय देना पड़ता है। अतः आस्था व्यक्तिगत होने पर भी सीमित नहीं हो सकेगी वस्तुतः आस्था

मानव के युगान्तर से प्राप्त दार्शनिक लक्ष्य पर केन्द्रित रागात्मक दृष्टि है। हर मानव में किसी-न-किसी रूप और सीमा तक इसका होना अनिवार्य है। पर पात्र की सीमा और रेखा-रंग के अनुसार परिवर्त्तित जल के समान व्यक्तिगत सीमा में उसका विकास सीमित रहे, यह स्वाभाविक ही है।

आस्था, जिसका एक अर्थ स्वीकारोक्ति भी है, वस्तुतः व्यक्ति के द्वारा समष्टि की स्वीकृति है। इस स्वीकृति के लिए मनुष्य को अपने से बाहर स्थित जीवन से परिचित होना पड़ता है, अनेक परोक्ष और प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर एक जीवन दर्शन बनाना और उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

व्यक्तिगत आस्था का किसी सामाजिक रूढ़ि से विरोध हो सकता है, पर विकासगत सामाजिक या व्यापक जीवन-लक्ष्य से नहीं।

'मैं केवल अपने सुख में आस्था रखता हूँ', 'मैं केवल अपने जीने की उपयोगिता में आस्था रखता हूँ' आदि भौतिक तथ्य होने पर भी आस्था के विरोधी हैं। पर 'मैं दिव्य जीवन में आस्था रखता हूँ', 'मैं जीवन की आध्यात्मिक परिणति में आस्था रखता हूँ' आदि भावात्मक स्थिति रखने पर भी आस्था के निकट हैं। कारण स्पष्ट है। पहले तथ्य में समष्टि की अस्वीकृति और दूसरी भावना में उसकी स्वीकृति है।

जीवन की दृष्टि से आस्तिक और नास्तिक दोनों एक ही रेखा के दो छोरों पर रहते हैं। एक जीवन के उदात्तीकरण के लिए अलौकिक साधनों की शोध में लगा रहता है और दूसरा उसी की भौतिक स्थिति में सामञ्जस्य लाने के लिए लौकिक माध्यमों का उपयोग करता है।

देवता एक होने के कारण पूजा के उपकरणों की भिन्नता भी उन्हें लक्ष्यतः एक रखती है।

समष्टि की इकाई होने के कारण साहित्यकार के जीवन दर्शन और आस्था का निर्माण भी समाज विशेष और युग विशेष में होता है। पर उसका सृजन-कर्म उसकी आस्था के साथ जैसा अभिन्न और प्रगाढ़ सम्बन्ध रखता है वैसा अन्य व्यक्तियों और उनके व्यवसायों में नहीं रहता।

एक लौहकार अच्छी तलवार गढ़ कर भी मारने में आस्था नहीं रखता। एक व्यापारी को, सफलता के लिए सत्य में आस्था की आवश्यकता नहीं होती।

पर साहित्यकार का सृजन आस्था की धरती से इतना रस ग्रहण करता है कि उसे अस्वीकार करके वह स्वयं अपने निकट असत्य बन जाता है। आस्था किसी अन्य कर्म व्यापार के परिणाम को प्रभावित कर सकती है, परन्तु साहित्य को तो वह स्पन्दित दीप्त जीवन देती है। साहित्य जीवन का अलंकार नहीं है वह स्वयं जीवन है। साहित्यकार सृजन के क्षणों में उस जीवन में जीता है

और पाठक पढ़ने के क्षणों में।

इस प्रकार साहित्य में हम जीवन के अनेक गहरे अपरिचित स्तरों में, मनोवृत्तियों के अनेक अज्ञात छायालोकों में जीवित होकर अपने जीवन को विस्तार, अनुभूतियों को गहराई और चिन्तन को व्यापकता देकर उसे समष्टि से आत्मीय सम्बन्धों में जोड़ते हैं। इस प्रकार एक जीवन में अनेक जीवन जीने के उल्लास के पीछे यदि कोई गम्भीर विश्वास नहीं है तो यह बाजीगर का खेल मात्र रह जायगा।

हमारे चिन्तकों ने जीवन और जगत की गतिमय परिवर्तनशीलता को सँभालने वाले जिस महान नियम को ऋत् की संज्ञा दी है आस्था उसी की रागात्मक स्वीकृति है।

अतः जीवन की [illegible] में आस्था का कोई विरोध सम्भव नहीं — वैसे ही जैसे अनेक पथों पर चलनेवालों का क्षितिज से कोई विरोध सम्भव नहीं।

आस्था में और विशेषतः साहित्यकार की आस्था में समसामयिक तत्व कितना है और शाश्वत कितना यह प्रश्न भी कुछ कम उलझन नहीं उत्पन्न करता।

आस्था जीवन क्रम में निर्मित होती है, अतः उसे कोई जड़ीभूत तत्व मान लेना उचित न होगा।

जब मनुष्य के हृदय और बुद्धि का परिधि परिवार ही था तब उसी के सुख साधन संरक्षण तक उसकी आस्था सीमित थी। जैसे-जैसे उसके बुद्धि और हृदय ने समाज, ग्राम, नगर, देश आदि के क्रम पारकर विश्व की सत्ता को स्वीकार किया, उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़े वैसे-वैसे ही उसकी आस्था नये क्षितिजों को अपनाती गई। व्यक्ति जैसे विश्व तक फैल गया है वैसे ही उसके सुख दुःखों का विस्तार हुआ है। दुःख भोजन-वस्त्र के प्रत्यक्ष अभाव से लेकर परतन्त्रता, उपेक्षा, अप्रतिष्ठा आदि की अप्रत्यक्ष भावना तक फैल गया है। सुख शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति से लेकर स्नेह, समता, बन्धुता, आत्मीयता जैसी भावनाओं में सूक्ष्म व्यापकता पा गया है। आज किसी को भोजन वस्त्र देना मात्र पर्याप्त नहीं है, उसे स्नेह और बन्धुता की छाया में देना होगा। और यह एक की नहीं विश्व भर की आवश्यकता है।

इस प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जीवन के विकास की अन्य रहस्यमय सूक्ष्म दिशायें भी हैं।

अतः आज के व्यक्ति को अपनी आस्था में विराट् मानव का कर्तव्य सँभालना पड़ता है। विज्ञान ने भू-खण्डों को एक दूसरे के इतना निकट पहुँचा

दिया है कि यह कर्तव्य हर व्यक्ति को प्राप्त हो गया है। ध्वंस और निर्माण दोनों ही के लिए पहले अधिक संख्या की आवश्यकता थी। आज देश विशेष के ध्वंस के लिए उद्जन बम ले जाने वाला कोई भी एक व्यक्ति पर्याप्त है। पर इसी प्रकार उसे रोकने के लिए भी कोई एक पर्याप्त हो सकता है। यह एक, समष्टि का कोई भी व्यक्ति हो सकता है। परिणामतः समय के आवाहन का उत्तर देने के लिए समष्टि को एक व्यक्ति की तरह तय्यार रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का कर्तव्य कितना गुरु हो सकता है इसका अनुमान सहज है।

समसामयिक और शाश्वत परस्पर विरोधी स्थितियां नहीं हैं। उनमें 'है' और 'होना चाहिए' का अन्तर मात्र है। अनेक समसामयिक, अतीत बनकर ही शाश्वत का सृजन करते हैं। एक इतिवृत्त है और दूसरा अनेक इतिवृत्तों के अनुभव संघात से निर्मित भावनात्मक लक्ष्य है। कोई भी व्यापक लक्ष्य स्वयं तक पहुँचाने वाले साधनों का विरोध नहीं करता और साधकों का अस्तित्व समसामयिक परिस्थितियों में रहता है।

'गंगा सीधे समुद्र में गिरती है' का अर्थ यह नहीं होता कि उसका मार्ग बाण की तरह सीधा है और उसे कोई टीला, गर्त, मोड़ पार नहीं करना पड़ता। तट लक्ष्य होने पर क्या हर लहर से नाव को संघर्ष नहीं करना होगा?

मनुष्यता का सर्वांगीण विकास, मनुष्य के जीवन की दुःख दैन्य रहित गरिमा, शिवता और सौन्दर्य हमारा शाश्वत लक्ष्य है। और इस विराट् शाश्वत का सृजन उस क्षण आरम्भ हुआ होगा जब आदिम युग के दो अहेरियों ने एक दूसरे के आघातों को देखकर अस्त्र फेंक दिये होंगे और एक दूसरे को गले लगा लिया होगा।

जिन युगों में एक भू खण्ड दूसरे से परिचित नहीं था उनमें भी मनुष्य ने वसुधा को कुटुम्ब के रूप में स्वीकार कर अनदेखे सहयात्रियों के प्रति आस्था व्यक्त की है। तब आज के मंगल-ग्रह खोजी वैज्ञानिक युग को आस्था का अभाव क्यों हो? आज साहित्यकार की आस्था का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, पर यह व्यापकता उसे समसामयिक परिस्थितियों से संघर्ष कर उन्हें लक्ष्योन्मुख बना लेने की शक्ति दे सकती है।

उसे विस्तृत मानव परिवार की ममता देनी है। इतना ही नहीं यदि मंगलग्रह निवासियों को विज्ञान खोज ले तो उन्हें भी उसकी ममता की आवश्यकता पड़ सकती है। और ममता श्रद्धामय आत्मदान है।

माता जिस प्रकार आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नहीं कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋत् के बिना अंकुर को विकास नहीं दे सकती,

साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना अपने जीवन को अपने सृजन में अवतार नहीं दे पाता।

यह आस्था सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत पर प्रसार की दृष्टि से समष्टि-गत ही रहेगी।

★

१

प्रिय अमृत,

आपके प्रश्न का उत्तर मैं पत्र के रूप में देना चाहता हूँ, क्योंकि इस तरह मैं संक्षेप रूप में अपना मुख्य अभिप्राय आपके सामने रख सकूँगा और विस्तृत विवेचना करने का कष्ट उठाने से बच जाऊँगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से आस्था अपने में एक निरपेक्ष मूल्य है। वही गति और वही गंतव्य है। अर्थात् वह ऐसी शुद्ध आन्तरिक गति है जो स्वतः गंतव्य तक ले जाती है या गंतव्य बन जाती है। इसी अर्थ में कहा गया है 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ, याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।'

पर साहित्यकार की आस्था साधारणतया अपने ही में मूल्य नहीं कही जा सकती। बौद्धिक चेतना से उसका संबंध होने के कारण उसमें बाह्य जीवन के भी अनेक मानसिक, भौतिक स्तर जुड़े होते हैं। इस दृष्टि से वह निरपेक्ष मूल्य न होकर हृदय की गहराई या भावना की तीव्रता भर होती है, और यदि वह सन्मूल्ययुक्त होती है तो सदास्था अन्यथा असदास्था होती है। इस प्रकार साहित्यकार की आस्था एक सापेक्ष धारणा या प्रत्यय भर होती है। वह सौन्दर्य-प्रधान, आनन्द या रस-प्रधान, आत्मकल्याण या लोककल्याण-प्रधान आदि अनेक प्रकार की हो सकती है और अपनी व्यापकता तथा सत्यानुभूति के अनुरूप ही उसका मूल्य आंका जा सकता है। उदाहरणतः साहित्यकार की आस्था लोककल्याण-प्रधान होने पर भी उसका मूल्य कलाकार के समाज-ज्ञान, लोकहितानुभूति आदि संबंधी उसके गहन व्यापक एवं उपयोगी दृष्टिकोण पर ही निर्भर करेगा। सौन्दर्य बोध, रस बोध, आत्मज्ञान, समाजज्ञान, देशकाल युग का ज्ञान आदि साहित्यकार की आस्था के तत्व कहलायेंगे जिन्हें वह अपनी गहरी-उथली रसानुभूति, छोटी-बड़ी सृजन प्रतिभा, उच्च-मध्य स्तर की प्रेरणा के अनुरूप साहित्य सृष्टि में ढालेगा, जिसमें उसकी सूक्ष्म-स्थूल शिल्प दृष्टि का भी अवश्य प्रभाव रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आस्था अन्तः प्रेरणा तक ही सीमित नहीं है; वह अपने सृजन व्यापार में अनेक जटिल प्रणालियों से होकर मूर्त होती है। अपने आदर्श रूप में आस्था को अत्यन्त सशक्त अन्तः प्रेरणा होना चाहिये जो साहित्यिक सृष्टि के बाह्य उपादानों को कला-

कार के आन्तरिक सत्य के अनुरूपसंयोजित करने में सफल हो सके।

वर्तमान युग में, साहित्य में आस्था मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त हो रही है, जिसके विवेचन में संभवतः आप अधिक दिलचस्पी रखते हैं। एक अर्थ में वह अन्ततः वैयक्तिक आस्था के रूप में व्यवहृत हो रही है और दूसरे अर्थ में सामाजिक आस्था के रूप में। इस दृष्टि से विचार करने पर 'ज्योत्स्ना' के बाद का मेरा समस्त साहित्य ही आस्था के इन रूपों पर प्रकाश डालता आ रहा है। और मैंने वैयक्तिक तथा सामाजिक आस्थाओं को मानवीय आस्था से समन्वित एवं संयोजित करना साहित्यकार का दृष्टि से अपना कर्तव्य समझा है क्योंकि व्यक्ति और समाज मानव सत्य के केवल दो छोर हैं जिनके मध्य में वह निरन्तर प्रवाहित एवं विकसित होता है। यह आज के युग की परिस्थितियों की विवशता है कि विचारक वर्ग अपनी-अपनी स्थिति एवं सुविधा के अनुसार आज मानव सत्य के वैयक्तिक अथवा सामाजिक स्वरूप को अधिक महत्व दे रहा है।

एक ओर आज समाजवादी आस्था से अनुप्राणित साहित्य है, जिसने अपने मूल्यों को मार्क्सवाद से ग्रहण किया है, जिस पर साम्यवादी देशों में केवल मन के ही नहीं जीवन के स्तर पर प्रयोग हो रहे हैं और जो धीरे-धीरे अपनी कट्टरपंथी सीमाओं से बाहर छटपटाकर अब अधिक व्यापक तथा उदार रूप धारण कर रहा है। भविष्य में उसे और भी अधिक मानवीय तथा मंगलमय बनना है। समाजवादी प्रवृत्ति अभी भी अंध प्रवृत्ति है, उसे अपना पथ प्रकाशित करना है.—उसके साथ लोक भावना तथा मानव भविष्य की आशा है।

दूसरी ओर आज वैयक्तिक आस्था का साहित्य मिलता है। यह वैयक्तिक आस्था प्राचीन आदर्श व्यक्तिवादी आस्था नहीं, जिसे विकसित व्यक्तिवाद की आस्था कहते हैं। यह वैयक्तिक आस्था आज हमारे साहित्य में जनतांत्रिक (साम्यवादी) देशों से विभीत यूरोप के उन परम्परावादी तथाकथित बुद्धिजीवियों से ज्यों की त्यों उधार ली हुई आस्था है जो आज अपनी नाक के सिवा और कुछ नहीं देख पाते और जिस अनास्थारूपी आस्था का ये मानवतावाद के नये अधिनायक आज अस्तित्ववाद से लेकर साम्प्रदायिक धार्मिक पुनर्जागरण संबंधी अनेकानेक, भीतर से खोखले पर बाहर से आकर्षक, सिद्धान्तों, दर्शनों एवं साहित्यिक मान्यताओं के रूप में प्रचार कर रहे हैं,—वह सत्यतः प्रतिगामी प्रयोग है।

सत्य की ऐसी बहुमुखी और बहिर्मुखी मान्यताओं एवं आस्थाओं के युग में, मुझे, मानवता के निर्माण एवं कल्याण के लिये, मानव जीवन के भीतरी बाहरी (अन्तर्व्यक्ति और बहिः समाजरूपी) दोनों संचरणों को प्रेरणा शक्तियों

तथा मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित कर आगे बढ़ना ही विवेक-संमत प्रतीत होता है। सामंजस्य का सत्य अपने में प्रेरणाप्रद तथा सक्रिय न होते हुए भी मानव-विकास की एक अनिवार्य स्थिति है जिसे संक्रान्ति काल में आगे बढ़ने के लिये सेतु या सोपान बनाना आवश्यक हो जाता है।

साहित्यकार की आस्था निस्सन्देह, मनुष्यत्व के वैयक्तिक और सामाजिक आयामों से कहीं महत् एवं अमेय है जो अपनी अन्तर्दृष्टि से मानव व्यक्तित्व, मानव समाज तथा मानव जगत को अतिक्रम कर उन्हें सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मंगलतर तथा पूर्ण से पूर्णतर की ओर ले जाकर उनका पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्निर्माण कर सकती है। एवमस्तु।

१०

प्रिय भाई,

२२ जुलाई का कृपापत्र अभी मिला। कई बार आप के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, मन-ही-मन अपने को अपराधी अनुभव कर रहा हूँ। इस बार दूँगा। ठीक उत्तर बन पड़ा कि नहीं, यह आप समझें, बार बार 'अनुत्तरदायी' होने के अपराध से बचना ही मेरा उद्देश्य है!

आपके प्रश्न बड़े कठिन हैं। न हुए आप विश्वविद्यालय के परीक्षक नहीं तो इन प्रश्नों को लेकर किसी भी क्लास के परीक्षार्थी स्ट्राइक कर देते!

आप ने मुझे 'साहित्यकार' समझ कर प्रश्न पूछे हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं सचमुच साहित्यकार हूँ या नहीं। कुछ मित्र मुझे साहित्यकार समझते हैं, कुछ नहीं समझते। मैं कभी इस पक्ष में रहता हूँ, कभी उस पक्ष में। आजकल साहित्यकार नामक दयनीय जीव पर उपदेशों की जो मार पड़ रही है उससे तो अब कोई भला आदमी साहित्यकार होने की हिम्मत नहीं कर सकता होगा। लेकिन दुनिया में साहसी भी कम नहीं हैं। खैर।

साहित्यकार की आस्था? मैं समझता हूँ कि अदना-से-अदना आदमी जब दो कर्तव्यों के बीच किसी एक को चुनता है और दूसरे की उपेक्षा करता है तो कोई-न-कोई जीवन का तत्ववाद उसके मन में रहता ही है। सब समय वह स्वयं नहीं जानता कि वह किसी तत्ववाद से चालित हो रहा है पर होता अवश्य है। उसके मन में कुछ जीवन मूल्य काम करते रहते हैं। जिस मूल्य को वह अधिक स्थायी, अधिक ऊँचा और अधिक हितकर समझता है उसे स्वीकार करता है, दूसरे को छोड़ देता है। यह और बात है कि कभी कर्तव्य-द्वन्द्व बड़ा विषम होता है और कर्तव्य निर्णय करना चतुर आदमी के लिये भी कठिन हो जाता है। उस समय कर्तव्यों के मूल्य इतने समान होते हैं कि साधारण बुद्धि का आदमी ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाता। ऐसे 'अर्जुनों' को 'श्रीकृष्णों' की जरूरत पड़ती है। परन्तु विधाता ने कर्तव्य-निर्णय की अपार शक्ति मनुष्य को दे रखी है और यही कारण है कि रोज़ रोज़ 'गीता' की आवश्यकता नहीं

होती। साधारणतः उसका विवेक उसे कर्तव्य-निर्णय में मदद पहुँचाता रहता है। जीवन में कोई-कोई ऐसा अवसर अवश्य आ जाता है जब मनुष्य की अपनी विवेचिका शक्ति धोखा दे जाती है, उसे अधिक जानकार लोगों की बात सुननी पड़ती है। शास्त्रों की रचना ऐसे ही अवसरों के लिये है। वे मनुष्य की विवेचना शक्ति को निर्मल और क्रियाशील बनाते हैं। जीवन मूल्यों के ज्ञान के प्रति शास्त्र मनुष्य को सचेत बनाते हैं, वे उसमें विवेक और 'वैराग्य' का ठीक-ठीक स्वरूप समझाते हैं। दो वस्तुओं में से एक को, जो अधिक स्थायी और दामी है, चुनने का नाम विवेक है और जो कम स्थायी और अल्प मूल्य का है उसके प्रति उपेक्षा का भाव जाग्रत करना 'वैराग्य' है। जीवन मूल्यों के जानबूझकर, समझकर, विचारपूर्वक स्वीकरण का नाम 'आस्था' है। इसका उल्टा शब्द 'अनास्था' है। दिलीप ने जब सिंह से कहा था कि मेरे जैसों की भौतिक शरीर पिंड पर 'अनास्था' होती है (पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु) तो कुछ इसी प्रकार के अर्थ में इस शब्द का व्यवहार कर रहे थे।

साहित्यकार जब और दस कामों को छोड़ कर साहित्य सेवा का काम चुन लेता है तो उसके भीतर भी कुछ जीवन-मूल्य काम करते रहते हैं। उन्हीं मूल्यों का, मनन और निदिध्यासन द्वारा, स्वीकरण उसकी आस्था है। बहुत लोग साहित्य लिखने का काम आरम्भ करते हैं पर जीवन के संघर्षों में पड़ कर उसे छोड़ देते हैं और कोई दूसरा रोज़गार शुरू कर देते हैं क्योंकि जिन मूल्यों को स्वीकार करने से साहित्य-सेवा की जाती है वे उन्हें मनन-चिन्तन के बाद कष्ट-कर जान पड़ते हैं, दूसरे मूल्य अधिक हितकर जान पड़ते हैं। कभी-कभी वे मानते तो हैं कि साहित्य-सेवा वाले जीवन मूल्य अधिक उत्तम और श्रेष्ठ हैं पर वे उन पर 'आस्था' नहीं रख सकते। जीवन मूल्यों का ज्ञानपूर्वक स्वीकरण ही 'आस्था' है। इसी आस्था के होने से मनुष्य सीधे खड़े होने की शक्ति पाता है और इसी के अभाव में वह मेरुदण्ड-विहीन प्राणियों की श्रेणी में चला जाता है। जीवन मूल्यों के स्तर अनेक हैं, आस्थाएँ भी इसी लिये अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ जीवन-मूल्यों पर आधारित आस्थाएँ मनुष्य को साहसी डाकू और हत्यारा बना देती हैं, कुछ समाज-निर्माता बनाती हैं, कुछ दार्शनिक बना देती हैं और कुछ साहित्यकार।

सब से निकृष्ट जीवन-मूल्य अपनी इन्द्रिय-तृप्ति पर आधारित होते हैं। उनसे जो श्रेष्ठ हैं वे मानसिक स्तर के हैं, और भी उत्तम वे हैं जो बौद्धिक स्तर के हैं और उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जो आध्यात्मिक स्तर के हैं।

'अध्यात्म' शब्द से चौंकने की ज़रूरत नहीं है। अध्यात्म मनुष्य की वह सब से श्रेष्ठ वृत्ति है जिससे वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि पाता है। उसके वैयक्तिक दुःख या सुख 'भूमा' के दुःख और सुख के साथ एकाकार हो

जाते हैं। संसार के सर्वश्रेष्ठ मनीषी आध्यात्मिक वृत्ति के आदमी होते हैं, चाहे वे जिस क्षेत्र में मनुष्य का मार्गदर्शन कर रहे हों।

वैसे तो 'साहित्य' शब्द बड़े व्यापक अर्थों में व्यवहृत होने लगा है और हर क्षेत्र में कुछ-न-कुछ साहित्य तैयार होने लगा है। आप बाज़ार में 'वयस्क शिक्षा का साहित्य' 'पंचवर्षीय योजना का साहित्य' 'भवन-निर्माण का साहित्य' 'ब्रिज खेलने का साहित्य' 'आफ़्टर डिनर स्पीचों का साहित्य' और न जाने ऐसे कितने विषयों का साहित्य खोज सकते हैं। इन सब में लेखक मनुष्य की जानकारी विभिन्न स्तरों पर बढ़ाने का प्रयत्न करता है। सभी में लेखक अपने पाठकों को वह जो है उससे कुछ बड़ा और अधिक जानकार बनाने का प्रयत्न करता है। परन्तु इन सबके स्तर एक समान नहीं हैं। कहीं वे इन्द्रिय-तृप्ति के स्तर पर हैं, कहीं मानसिक स्तर पर, कहीं बौद्धिक स्तर पर। जो साहित्यकार सच्चे अर्थों में साहित्यकार होता है उसकी आस्था कुछ और ऊँचे स्तर की होती है। वह मनुष्य मात्र के हृदय में जो प्रेम भाव है, मिलन की छिपी हुई आकांक्षा है, मनुष्य के भीतर जो एक ही प्रेमाकुल भावना है—आप चाहें तो इसे 'अद्वैत' भावना भी कह सकते हैं—उस पर विश्वास रखता है। उन्हीं को सरस भंगी में स्थापित और व्यक्त करता है। वह अपने पाठक को छोटी-से-छोटी घटना के भीतर से इस व्यापक सत्य को हृदयंगम कराता है। इसमें भी प्रकृति के अनुसार भेद होता है। तमोगुण 'अवष्टंभक' बताया गया है। मनुष्य की विचार शक्ति को वह प्रसारित होने से रोकता है। तामसिक प्रकृति का व्यक्ति अहंकारी होता है इसलिये वह 'अहं' के आगे कुछ देख नहीं पाता। रजोगुणी इससे थोड़ा भिन्न होता है। उसकी 'पृथकत्व' बुद्धि बनी रहती है। वह जो कुछ करता है उसका हिसाब रखता है, वह किये काम का फल चाहता है, भोग चाहता है। सात्विक प्रकृति का आदमी कुछ और तरह का होता है। प्रकाश जिस प्रकार स्वभावतः चारों ओर फैल जाता है, सात्विक बुद्धि भी उसी प्रकार स्वभावतः सर्वग्राही होती है। वह भी व्यक्ति के सुख-दुःख को उतना ही महत्व देता है क्योंकि उनके द्वारा वह विश्व के सुख-दुःख को समझने की कुंजी पाता है। जो आध्यात्मिक स्तर पर सत्वगुणी साहित्यिक होता है वही महान् है। क्योंकि उसकी आस्थाएँ उन जीवन मूल्यों पर आधारित होती हैं जो बहुत ऊँचे स्तर की होती हैं और वह मनुष्य मात्र या प्राणिमात्र के चित्त में अनायास प्रवेश करती हैं और इतनी सक्रिय होती हैं कि विश्व-चित्त के प्रत्येक कंपन को वह साहित्यकार ग्रहण कर सकता है और अपने पाठक के चित्त में प्रवेश कराता है। इस अन्तिम व्यापार को आधुनिक साहित्य समालोचक 'प्रेषणधर्मिता' कहते हैं और पुराने आचार्य 'सत्वगुण का उद्रेक करने की शक्ति' कहते हैं। जो 'सहृदय' होता है वह

इस विश्व कंपन को अनुभव करता है, साहित्यकार अनुभव भी करता है और कराने की भी शक्ति रखता है।

जो व्यक्ति केवल अपने या अपने ही समान कुछ थोड़े से लोगों तक ही अपना साहित्य सीमित रखते हैं, वे अपने को व्यक्तिवादी कह कर तृप्ति पाते हैं परन्तु यदि उनकी स्थापनाएँ और आस्थाएँ मनुष्य मात्र की हितबुद्धि से चालित नहीं हैं तो आप उन्हें 'असामाजिक' कह कर सन्तोष कर ले सकते हैं, मैं उन्हें तामसिक प्रकृति का मनुष्य मानता हूँ। उनमें वह अवष्टंभक तत्व काम करता रहता है जो तमोगुण का मुख्य लक्षण है।

मैं मनुष्य के क्रम-विकास में विश्वास करता हूँ। यह विकास जीवन-मूल्यों में भी निरन्तर जारी है। जैसे मनुष्य के जीवन-मूल्यों में विकास हुआ है वैसे उसकी आस्थाओं में भी विकास हुआ है। एक ऐसा समय था जब साहित्य कुछ थोड़े से लोगों तक ही सीमित था। उसमें जो कुछ अच्छा था उससे थोड़े से लोग ही आनन्दित होते थे, जो कुछ बुरा था उससे थोड़े लोग ही बिगड़ते थे। मनुष्य ने अब विभिन्न स्तरों पर बहुत सी ज्ञानराशि और क्रियाशक्ति प्राप्त की है। अब साहित्य के अच्छे होने से बहुतों की भलाई होगी, बुरे होने से बहुतों की बुराई होगी। अपनी ही साधनाओं और प्रयत्नों से मनुष्य अब ऐसी जगह आ उपस्थित हुआ है जहाँ रहकर वह पृथक्त्व बुद्धि और एकान्त अहं बुद्धि को छोड़ने को बाध्य है। निचले स्तरों के जीवन-मूल्य उसमें प्रतिक्रिया की बुद्धि जाग्रत करते रहते हैं जिन में कुछ तो इतने पुराने मूल्यों के संस्कार हैं कि उन्हें पशुओं की सहज वृत्ति से बहुत ऊपर का नहीं कहा जा सकता। वे समूचे 'मानव' को कष्ट पहुँचाते हैं, जिधर उसे जाने के लिये इतिहास विधाता बाध्य कर रहे हैं उधर से उसका मुँह मोड़ते हैं। कभी-कभी आशंका होती है कि मानवता का अभियान रुक तो नहीं जाएगा। परन्तु सच्चा साहित्यकार इतिहास-विधाता के संकेत को पहचानता है और अविचलित भाव से अपनी साधना में लगा रहता है। यह संकेत व्यक्ति मानव की उपलब्धि की ओर नहीं है, 'समाज-मानव' की उपलब्धि की ओर है और निरंतर गतिशील है अर्थात् सात्विक है। हिन्दी में आये दिन जो एक दूसरे पर कीचड़ उछालने और कलह करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है उससे मन में क्लेश होता है। यह हमारी बड़ी भारी कमज़ोरी है। हिन्दी का लेखक जब कलह पर उतारू होता है तो वह भूल ही जाता है कि वह संसार की सब से महत्वपूर्ण भाषा का प्रतिनिधि है। काश उसे कोई समझा सकता कि संसार के विपुल साहित्य-जगत् में उसकी प्रतिद्वंद्वता किसी टुटपुँजिए साहित्यकार से नहीं बल्कि सब देशों और सब कालों के श्रेष्ठ साहित्यकारों से है। और प्रतिद्वंद्विता पगड़ी उछालने में नहीं बल्कि उन उच्चतर जीवन मूल्यों की ग्रहीत्री शक्ति में है जिसने संसार

में श्रेष्ठ मनीषियों को श्रेष्ठ बनाया है। परन्तु इस समय क्षुब्ध तो सभी हैं पर सब लोग सब समय ठीक रास्ता नहीं पकड़ पाते। उपदेशों से कुछ होने जाने का नहीं है। और फिर जिस घर में रोज़ अस्पताल से दवाइयाँ ही आवें और गल्ले की दूकान से बहुत थोड़ी चीजें आवें तो उसे बहुत अच्छा तो नहीं कहा जा सकता। उपदेश दवाई हैं। उनका कम आना ही स्वास्थ्य की सूचना देगा। इसलिये हमारा घर कुछ अस्वस्थ है, इसमें तो सन्देह नहीं। उपदेश दवाई है तो कलह या एक दूसरे को नीचा दिखाने की सनक क्या है। शायद विष है, कोई तेज़ नशा है। अवष्टंभक तत्व है। इससे भी घर के स्वास्थ्य के ठीक होने की सूचना नहीं मिलती। शायद इस समय 'दिनन का फेर' है और चुप रहना अधिक कल्याणकर है। सब ओर से अपनी बिखरी हुई शक्ति को समेटकर साहित्यकार यदि अच्छा रचनात्मक साहित्य—जो उच्चतर जीवन-मूल्यों की अडिग आस्था से ही संभव है—लिखने लगता तो कोलाहल कुछ शान्त होता। दूसरों का दोष दिखाने की अपेक्षा अपने को निर्दोष और सक्रिय बनाना सदा अच्छा होता है।

शेष कुशल है। आशा है, स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

आपका,

★

प्रिय अमृतजी,

२२ जुलाई का पत्र मिला। 'हंस' अर्धवार्षिक निकलने जा रहा है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपके प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर—

१. साहित्यकार की आस्था, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्र में हरेक की एक-दूसरे से भिन्न हो सकती है। कोई आवश्यक नहीं, कि एक क्षेत्र में भिन्न धारणा रखने वाले साहित्यकार दूसरे क्षेत्र में एकमत न हों। साहित्यकार को आदर्शवाद की आवश्यकता है, वही उसको समेट सकता है।

२. साहित्यकार की व्यक्तिगत आस्था सामाजिक दायित्व के विरुद्ध नहीं होनी चाहिये, तभी अच्छा है। पर, श्रेष्ठ कलाकार प्रतिबन्धों से मुक्त भी हुआ करते हैं।

३. शाश्वत तत्व उसकी आस्था में वह हैं, जो जीवन-व्यापी हों और जिनका मूल्य भी चिरकालस्थायी हो। समसामयिक समस्याओं के प्रति वैसी आस्था हो सकती है।

४. आस्था, धारणा या चिरस्थायी विश्वास के अच्छे बुरे होने की कसौटी बहुजन हित और बहुजन अनहित है।

कवितायें : १

गजानन माधव मुक्तिबोध | कल जो हमने चर्चा की थी

कल जो हमने चर्चा की थी,
हिय की ऊष्मा के उफान से निकल रहे थे
सही-सही बातों के उत्तर।
हम ज्वालामुखियों के मुँह में उतर रहे थे।
जीवन की सच्चाई के स्तर,
सही बात के चौड़े पत्थर,
तीव्र वेदना में कैसे गड़गड़ा रहे थे,
इन ज्वालामुखियों के भीतर।

धरती के अन्तर में कैसे चिटख-चिटख कर
चट्टानी सिलसिले
ज़िन्दगी के तथ्यों के,
ज्वलन्त रस बन पिघल रहे थे
बन कर अंगारी रस-गंगा—
हम ज्वालामुखियों के भीतर उतर रहे थे,
फिर भी काँपी न थी हमारी अक्षम जंघा।

दैनिक-जीवन की अपूर्णता के मैदानों
        की ज़मीन के नीचे, ऊँचे-ऊँचे कोने
भीतर-भीतर धँसे पहाड़ों के कंधों के
पहले कभी नहीं दिख पाये—
ज्ञात नहीं था हमें कि दृढ़ता
        की टेकड़ी उठी है भीतर
        शीश उठाये!!
ज़बर्दस्त ईमान-शिखर वे दाएँ-बाएँ
अन्तर की गरमी के अंगारों से पिघले

दुर्निवार हो उठे कि
ज्ञान-संवेदन बनकर
यों अकुलाये,
हमको हर घर में ले निकले,
हमको हर घर में दे आये।
हम उनकी ज्वलन्त धार में
अपनी विवेक-यात्रा करते !!
कहता कौन कि फास्फ़ोरस या
गंधक, कार्बन, यूरेनियम वह
द्रवीभूत हो ज़हरीला है—
जब तक जन-मानव के घर में
पावन दीप-प्रकाश
पाप-क्षालन करता हो,
तब तक उस पावन दीपक का
गहरे से भी गहरा धूआँ सुरमीला है।

तब ज्वालामुखियों की वह
उद्दण्ड गड़गड़ाहट भी मीठी,
जबकि पहाड़ों की चोटी से ज्वाला फूटी
हम ज्वालामुखियों के जीवन के उद्गम में
पहुँच चुके थे।
तब धरती की महानाड़ियाँ
इड़ा-पिंगला फड़क रही थीं,
और सुषुम्ना के अभ्यन्तर
उन अंगारी प्राण-पथों पर
हम भी घूम रहे थे मानो।
निर्णय-निश्चय—
जीवन-संचय की कुण्डलिनी,
पृथ्वी के भीतर की ज्वालामयी कमलिनी
की विवेकमय पंखुरियों पर
हम जा लेटे।

अभ्यन्तर के प्रबोधकारी अग्नि-सरोवर
हमने देखे ।
अंगारी झीलें जन-मन के अन्तस्तल की
अपनी आँखों, हमने देखीं ।
अंजुलि भर-भर
ज्ञान-सरोवर का जल पीकर
हम उठने को थे कि सामने
हमने देखा
युगान्तकारी आस्थाओं का
एक विशाल भव्य अक्षयवट,
उसके संचित-अनुभव-छाया-तले खड़ी है
स्व-नाम-धन्या
वेगवान पीड़ा की कन्या —
भव्य कर्म-निष्ठा जन-जन्या ।
उसकी युगान्तकारी भौंहें हमने देखीं —
मानों आसमान पर सहसा
किन्हीं दृगों की कोई भौंहें दिखें, ज़माना
खड़ा ठिठक, कुहनी पर मुँह रख,
रह जाये देखता अचानक प्यासा-प्यासा ।
भौंहें — मानों
अपने भीतर सजग एक भवितव्य
अचानक तुम पहचानो ।
यह पहचान कि जितनी गहरी
उतना उतना चला निखरता
आत्म-बिम्ब सा उसका तेजस्वी मुख-मण्डल ।

वेगवान पीड़ा की कन्या
भव्य कर्मनिष्ठा जन-जन्या
सीधी, सम्मुख, सहज खड़ी है,
सस्मित निर्विकार
मानों आनन्द खड़ा हो,
अपना भीतर बसा हुआ वह
सहसा बाहर आकर, सम्मुख चन्द्र खड़ा हो !!

हमने पूछा—(यद्यपि था मालूम)
कौन हो तुम, उत्तर दो।
उसने कहा सूर्य-कन्या मैं,
पृथ्वी के भीतर रहती हूँ, उसके अन्तर में विवेक का बहता है रस,
आत्मा का प्रतीक है सूरज !!
इस पृथ्वी के भीतर की रज
धातु बन गई जन-अनुभव की।
कष्ट बन गये युगान्तकारी
संकल्पों के ज्वलन्त सरसिज !!
जन-जन के आँसू के द्रव का
मूल ओषजन, मूल उद्‌जन,
यहाँ ज्वलन्त रश्मि-पुंजों में
प्रक्षोभित जाज्वल्यमान है।
इस पृथ्वी की पीड़ाओं में
घुले सूर्य का छोटा सा कण
रवि-अन्तर के साक्षात्कारी क्षोभ-केन्द्र से संबंधित है।
यहाँ हृदय-आलम्ब भाव सब
तीव्र ज्ञान-संवेदन के ही पूर्ण बिम्ब हैं।
ठीक सूर्य के मूल केन्द्र से उनका उद्‌गम।
उसको रोक सके यों कोई,
किसका दावा ?
ज्वालामुखियों से वे फूटें
तो उनको कहते हो लावा !!
लावा कह कर निन्दा करके
कोई उसको रोक न सकते,
वह भवितव्य अटल है, उसको
अँधियारे में झोंक न सकते।

ज्वालामुखियों के अतलों में
हमने अपनी आँखों देखीं
विविध सूर्य-झीलें
प्रतिभा के प्राणामृत की।
कल जो हमने चर्चा की थी

इन झीलों में मुग्ध खिली हैं
लाल पँखुरियाँ—
        जन-अनुभव की कमल-श्रेणियाँ !!
उन्हें देख, मेरे अन्तर में
जाग रहीं पावन त्रिवेणियाँ
आकांक्षा-मय भूत-भविष्यत्-वर्तमान की ।
इन कांक्षाओं की देहली पर
भीतर की भैरवी-मुग्ध-स्वर सुनते हुए
        काल का चरण रुका है !!
अपने पथ पर लाख-लाख पीड़ाएँ लेकर,
पृथ्वी घूम रही है नूतन रश्मि-जाल में !!

इन्हीं ज्वलन्त रश्मियों के सुविशाल
        शामियाने में हमने
तुमको अपने प्राण दिये औ गले लगाया,
तुमसे आलिंगन कर
        हमने जो-जो कहा
            सभी वह रहा
                अनन्तर सही,
तुमने भी तब उन तथ्यों की बाँह गही,
        की खूब प्रशंसा ।

ऐतिहासिक पीड़ाओं के उन सत्यों की
                        बातें की थीं,
कल जो हमने बात-बात में रातें की थीं ।

केदारनाथ सिंह | एक स्वप्न-खंड

मैंने आँखें खोलीं, देखा—
मैं एक अश्व पर उड़ा जा रहा हूँ अनन्त की ओर !
ऊँची-नीची चढ़ाइयों पर—
मैंने ढीली कर दी है उसकी डोर !
जाने कैसे --
अनगिन पर्वत, सूर्यास्त, मेघ, नक्षत्र पार कर
पहुँचा हूँ उस मोड़,
जिसके आगे कुछ दूरी पर पाषाण-द्वार तक जाकर
चुक जाता है पथ का छोर !
फिर देखा—
एक पिघलते ग्रह पर पाँव टिका,
अनवरत मुट्ठियों के प्रहार से बार बार
जन-निर्वासित मैं—
तोड़ रहा हूँ एक अंध अज्ञात विश्व का द्वार !

धीरे-धीरे पाषाण-द्वार ढह जाता है।
मैं अंधकार की ड्योढ़ी पर अनबँधा छोड़कर घोड़े को
सहसा घुस जाता हूँ भीतर !
मैंने देखा—
मेरे हाथों में विजयपताका नहीं,
एक माला है सोने की !
दौड़ा दौड़ा पहले पेड़ों के पास गया,
फिर बड़ी झील देखी,
बैठा, सुस्ताया,
और निकट जाकर—
नीला नीला जल अँजुरी में भर लिया,

किन्तु जब झुका,
अचानक ज्ञात हुआ—
जाने कैसा अभिशाप लग गया है मुझको—
मैं जो कुछ छूता हूँ, पत्थर हो जाता है !
आगे-पीछे, दायें-बायें—
लहरें, लपटें, छायायें, अनगिन आकृतियाँ,
मैं सिर्फ देख सकता हूँ,
पकड़ नहीं सकता !
मैं सिर्फ पूछ सकता हूँ,
समझ नहीं सकता !
मैं सिर्फ दौड़ सकता हूँ,
ठहर नहीं सकता !
आगे आगे आगे आगे....
जाने कैसे सामने एक—
छोटा-सा नीला दरवाजा खुल जाता है !
मैं दौड़ रहा हूँ गली-गली, कमरे-कमरे, खिड़की-खिड़की,
आईना।
मैं रुक जाता हूँ,
'यह कौन खड़ा है क्षत विक्षत,
घायल,
बन्दी—मरभ्रा गे !'
'ओ नहीं, मैं इसे नहीं जानता,
नहीं चीन्हता हूँ !'
फिर मैंने देखा अगल-बगल—
बिस्तरे पड़े हैं खाली सब,
चौखट पर रक्खे मुकुट, रेशमी उत्तरीय,
अधजले दिये, गुलदस्ते, गुड़ियाँ, तस्वीरें, कपड़े-जूते,
उड़ते फूलों के गुच्छ,
वेदिका खुली, रिक्त !
ओ है कोई !
मैं एक प्रश्न-सा शताब्दियों के पार कहीं—
प्रतिध्वनित हुआ,
फिर डूब गया !

मैंने देखा—
मैं स्वर्ग-पतित सम्राट् की तरह एकाकी
चल रहा कई सड़कों पर गुमसुम
एक साथ !
अनगिनत खंड—मैं दौड़ रहा हूँ छुट-छुटकर
सभी ओर !
—यह कौन चल रहा है मेरे आगे आगे
थामे मशाल !
मैं चढ़ता ही जाता हूँ अंध सीढ़ियों पर—
ऊपर ! ऊपर !
—यह कौन द्वीप ! यह कौन नगर !
सब देखे-अनदेखे,
सब जाने-अनजाने
कुछ अजब तरह से उलझ गये हैं एक-दूसरे में,
घर से खंडहर,
गलियों से चरागाह,
शब्दों से अनुगूँजें,
पेड़ों से हाथ-पाँव,
कंधों से मीनारें,
सड़कों से दिशाकाश !
मैं घूम रहा हूँ एक गहन छाया-मंडल के साथ-साथ,
ले अपने हाथों में अपने ही—
छिन्न-भिन्न अनगिनत हाथ !

ओ, अकस्मात् !
देह से अलग—
यह कौन फेंककर चला गया मुझको इस चोटी पर !
रौंदता सूर्य-अश्वों की टापों-तले—
खड़ा मैं देख रहा हूँ दूर दूर....
लम्बे छरहरे दौड़ते सूखे देवदारु,
जलते चन्दन,
भागते खेत पर्वत-पर्वत—
कंधों पर नदियों को लादे—

क्रमशः विलीन !
है घूम रही काया मेरी—
अब भी सुदूर चौराहे पर,
हाथों में पगडंडी लेकर—परित्यक्त, दीन !
मैं देख रहा हूँ अनासक्त दूसरी ओर—
मंदिर ऊँचे ऊँचे असंख्य—
प्रार्थना-शून्य !
नावें जिन पर मल्लाह नहीं !
रेती पर लेटे हुए वृद्ध जर्जर बादल !
ऋतुएँ पेड़ों की शाखों में लटकीं उदास !
घासों पर सूने बेंच प्रतीक्षा भरे मौन !
रथ खाली दौड़ रहे राहों में इधर-उधर इक्का-दुक्का,
उड़ने को उठ निस्तब्ध खड़े—
पत्थर के घोड़े पंखदार !
मीलों तक मैदानों में उल्टे पड़े शिविर !
हर तरफ उठे स्वागत के बड़े-बड़े तोरण—
खंडित, हताश !
ओ है।कोई ।
मैं चिल्लाया उस निर्जनता की सबसे ऊँची चोटी से—
निश्शब्द, फूटकर, बिनाकंठ !
ओ है कोई !—
मैं जिसे सौंप दूँ पृथ्वी का यह संदेशा !
ओ है कोई—
मैं जिसे तप्त यह सोने की जयमाल पिन्हाकर
चुक जाऊँ !
ओ है कोई ! ओ है कोई !
मैं इन सब का क्या करूँ !
आह, बिखरूँ भी तो कितना बिखरूँ !
फैलूँ भी तो कितना फैलूँ—
जो ढँक लूँ यह मानव-विहीनता का पठार !
उत्तर में आस-पास जाने किस ओर, कहाँ से—
कानों में—
बच्चों के हँसने जैसी कुछ ध्वनियाँ आईं,
फिर तेज़ हुईं,

फिर अट्टहास !
मेरे हाथों से सोने की जयमाल काँपकर छूट गई,
मैं कूद पड़ा उस निर्जनता की सबसे ऊँची चोटी से
नीचे नीचे नीचे....
दिगंत की ओर !
मैंने देखा—
मैं अश्वहीन चुपचाप भटकता एकाकी—
हूँ खोज रहा कुहरे में अपने नगर-द्वार का—
छोर !

श्रीकान्त वर्मा | अंधकार का संशय

इस घाटी से कई काफिले गुजर गये हैं;
शिखरों को जाने वाले जन
अंधकार में भटक गये हैं;
मैं सबकी हड्डी के रखवारे-सा बैठा
असफलताएँ
नाप रहा हूँ !!
मैं घाटी का गिद्ध, समय पर अपनी छाया ढाँप रहा हूँ !!

दिन की छाती चीर यात्राएँ इस घाटी से आयी थीं !!
रातों से गुँथती
छायाएँ, इस निर्जन में चिल्लायी थीं !!
मानव के पैरों की ठोकर खा
चट्टाने रिरियायी थीं।
घाटी की आत्माएँ आगन्तुक चरणों से
घबरायी थीं।

कभी-कभी मैं खुद
मानव की आकांक्षा से काँप गया था
किन्तु दूसरे ही क्षण मँड़रा कर मैं
यात्रा को
ढाँप गया था !!
मैं घाटी का गिद्ध तीन युग के कंकालों का प्रहरी हूँ !!
मैं इस रहस्यमय घाटी का बूढ़ा राजा
अपनी पीली आँखों से
पूरब को देख रहा हूँ !!
सूरज इस अंधी घाटी में

कभी नहीं
आने पाएगा !!
दिन भी आकर अंधकार में अंधकार-सा हो जाएगा !!

यह घाटी सोयी सर्पिणि है; इसे
जगाए मत कोई, यह फुफकारेगी ।

मैं घाटी का गिद्ध तीन युग के कंकालों का प्रहरी हूँ !!
तीनों युग की
हड्डी चाँपे
मैं इस घाटी में बैठा हूँ !!
लेकिन वह जो काला धब्बा
नित्य विफल होकर भी
इस अंधी घाटी में
गुँथ जाता है;
मैं उससे ही घबराता हूँ !!
क्या वह नीचे की घाटी का कोई
भटका हुआ गिद्ध है
जो मुझको हड्डी
समझे, इस घाटी में बढ़ता आता है !!
पंखहीन है वह, डैने टूटे हैं
उसके,
लम्बी-लम्बी टाँग फेंकता, चट्टानें चढ़ता आता है !!
मैं उससे ही घबराता हूँ !!
वह कलि है, वह काला युग है
उसका
सूरज भी काला है !!
वह काले सूरज का बेटा,
नये सूर्य की खोज-विकल है !!
वह
प्रकाश के लिए, अँधेरे से लड़ता
नित अपने डैने तोड़

रहा है !
वह पिछले सब मार्ग, केंचुली-जैसे, अनुक्षण छोड़ रहा है !!
अग्नि-शाप से काला होकर
वह उजियारा ढूँढ़ रहा है !!
उसने अपना काला सूरज, नीचे के गहरे गड्ढे में फेंक दिया
है।
क्या वह मुझको भी ऐसे
ही फेंकेगा
गहरी खाई में ?
मैं, जिसने अँधियारे को
भेजा था
युगव्यापी होने को !
मैंने ही सबकी छाती में, इस दुर्गम घाटी
के
भव की रचना की था !!
मैंने ही सबको पीसा था !!
जीवन को शव-सा चींथा था !!

क्या वह मुझको भी
ऐसे ही फेंकेगा
गहरी खाई में ??
आह अरे ! मैं बूढ़ा राजा !
यह निर्मम तरुणाई बढ़ती ही आती है।
वह कलि है; वह पागल है,
वह मुझ पर
अपनी दृष्टि गड़ाए
धब्बे-सा
बढ़ता आता है !!
क्या अब अंधकार पर शासन होगा
इन कलि की
किरणों का ?
मैं शापों से नहीं
मनुजता के संकल्पों से डरता हूँ !

वह
इस घाटी में आ शिखरों को आवाजें लगा रहा है!
उसकी गति के योजन केंचुल जैसे पीछे छूट रहे हैं!
उसकी मुट्ठी में
सदियाँ संकल्प बनी हैं!!
वह मुझको अंगार आँख से देख रहा है।
मुझको इससे भय लगता है!!
क्या वह मुझको भी मरोड़कर
नीचे खाई में
फेंकेगा?
क्या अब अंधकार पर शासन होगा
इन कवि की किरणों का?

मैं अँधियारे की घाटी का बूढ़ा राजा!
मैं शापों से नहीं
मनुजता के संकल्पों से डरता हूँ।

पूर्वाभास : बर्लिन की झलकियाँ

उमा राव

★

रस्किन ने रेल यात्रा के विषय में कहीं लिखा है कि इसे तो यात्रा कहा ही नहीं जा सकता. इसके अर्थ तो केवल यह हैं कि आपको एक जगह से दूसरी जगह भेज दिया गया। पार्सल बना कर भेजे जाने में और इस यात्रा में कोई अन्तर नहीं है। हवाई यात्रा करते समय मुझे बार-बार रस्किन की यह बात याद आती रही। अपने को पार्सल, या समझें कि पोटली, बना देख कर झुँझलाहट ही होती है. हँसी नहीं आती क्योंकि ऊब बहुत अधिक सताती है। पच्चीस-छब्बीस हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ने में क्षणिक उल्लास का अनुभव तो अवश्य हुआ पर वह भाव अधिक समय तक टिक न सका। जैसे-जैसे वायुयान ऊपर को चढ़ा वैसे वैसे मन भी विशालतर होता गया, पर थोड़ी ही देर बाद रह गया केवल दूर-दूर तक फैला आकाश और इंजन की घरघराहट। पहले-पहल बादलों के ऊपर उड़ने में मुझे बड़ा अच्छा लगा। प्रथम अनुभव था। हवाई-यात्रा भारतवर्ष में की थी पर देश में जहाज़ शायद इतने ऊँचे नहीं उड़ते कि बादलों को नीचे छोड़ दें --कम से कम मुझे तो इसका अनुभव अपनी अन्तर्देशीय यात्रा में ही हुआ। हमारे नीचे रुई-समान बादलों का समुद्र और उसके नीचे धरती या सागर जिसकी झलक कभी-कभी बादलों के बीच से मिल जाती थी। बादलों की उपमा रुई से देना कोई नयी या अनोखी सूझ नहीं है, मैं जानती हूँ, पर वास्तव में नयी धुनी हुई रुई से अधिक उपयुक्त उपमा शायद हो भी नहीं सकती।

हमारी मण्डली पाँच की थी। डाक्टर मुल्कराज आनन्द, श्री सज्जाद ज़हीर उर्फ़ बन्ने भाई, श्री मनोज बसु, मेरे पतिदेव और मैं। मंडली के अन्य सदस्यों से मेरी पहली मुलाकात थी किन्तु औपचारिक वातावरण देर तक नहीं रहा। सह-यात्री एक तो वैसे ही आसानी से एक दूसरे से खुल जाते हैं और फिर इस मंडली में कोई भी अतिशय गम्भीर या स्वभावतया चुप रहने वाला न था। मनोज बाबू के साथ भाषा की थोड़ी कठिनाई अवश्य पड़ी पर हिन्दी वह कुछ तो समझ लेते थे, नहीं तो अँग्रेज़ी से काम चल जाता था।

यात्रा का पहला पड़ाव मैं पूर्वी बर्लिन को ही मानूँगी, यद्यपि एक रात हम चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राहा में रुके थे।

दूसरे दिन सुबह दस बजे हम बर्लिन पहुँच गये। बर्लिन के खँडहर तो चारों ओर अब भी खड़े हैं—टूटे हुए, बिखरे हुए, अंग-भंग, असहाय। किसी समय वह जर्मनी की राजधानी के आलीशान, भव्य भवन रहे होंगे—यह तो उनकी इस हालत में भी दीख जाता है। हम जहाँ ठहरे थे उस होटल का नाम था 'एडलों'। बड़ा ऐतिहासिक होटल है; कैसर के ज़माने से उसकी प्रसिद्धि है। यही विकी बॉम के उपन्यास 'ग्रैण्ड होटल' का घटनास्थल है। कैसर के ज़माने में विदेशी राजनीतिक अतिथि यहीं ठहराये जाते थे और राजनीतिक हलचल का यह एक बड़ा केन्द्र था। आज उसका दो तिहाई भाग तो ध्वस्त हो चुका है, अब पुरानी कीर्त्ति के आधार पर ही वह चल रहा है। 'एडलों' बर्लिन की एक अत्यन्त सुन्दर और विख्यात सड़क 'उण्टर डेन लिण्डन' पर स्थित है। 'लिण्डन' एक वृक्ष का नाम है जिसे अंग्रेज़ी में 'लाइम' कहते हैं। बर्लिन निवासियों को इस वृक्ष से एक विचित्र मोह है, उसका और उस सड़क का नाम लेते ही सब भावुक हो जाते हैं। 'लिण्डन के तले'—सड़क का नाम है भी भावुकतापूर्ण, फिर मन तरल क्यों न हो जाय! सड़क के दोनों ओर लिण्डन की कतारें लगी हैं। इस मोहल्ले में इन वृक्षों के तले कभी बर्लिन के शालीन समाज के स्त्री-पुरुष सैर करने आते होंगे, उनकी छाँह में न मालूम किन-किन वैयक्तिक, सामाजिक प्रश्नों का हल न हुआ होगा! इस समय वृक्ष सब बच्चे ही हैं। पता चला कि बर्लिन पर बम वर्षा के समय सब वृक्ष झुलस गये थे, नये पौधे फिर से लगाये गये हैं और अभी किशोर ही हैं! इन्हें यदि हम ध्वंस में से जन्म लेती हुई नयी पौध, नयी व्यवस्था, नये निर्माण का प्रतीक मान लें तो बर्लिन और पूर्वी जर्मनी की स्थिति का अच्छा चित्र सामने आ जायगा।

बर्लिन के खँडहरों के विषय में एक जर्मन साथी ने बताया कि ऐतिहासिक भवनों के ध्वंसावशेषों को उसी दशा में इसलिये रहने दिया गया है कि उन्हीं के आधार पर भवनों को पुराना गौरवमय रूप दिया जा सकेगा, इसकी पूरी आशा है और योजना भी। हिटलर अथवा कैसर द्वारा सताई हुई जनता को पत्थर की इन गरिमामयी कृतियों से कोई द्वेष नहीं, वे तो उनके लिये भी बड़े गौरव के विषय हैं! हमें कई लोगों ने बड़े गर्व से बताया कि उण्टर डेन लिण्डन पर स्थित ऑपेरा हाउस को फिर से उसका पुराना रूप दे दिया गया है—बाहर से भी और भीतर से भी। चमकनेवाले झाड़-फ़ानूस, मखमली कुर्सियाँ, सोने की कारीगरी आदि के बीच आँख मूँद कर १८-१९ वीं शताब्दी की वेश-भूषा में स्त्री पुरुषों की कल्पना करें तो उनके बीच पहुँच जाना मुश्किल नहीं। जिस दिन हम गये उस दिन ऑपेरा भी उन्नीसवीं सदी के इटालियन संगीतकार वेर्डी का लिखा हुआ था —ला ट्रिवियेटा। कहानी वही 'लेडी ऑफ़ दि कैमिलियाज़' की

थी। मुझे पाश्चात्य संगीत की समझ तो नहीं है पर सुनने में प्रिय लगता है। ऑपरा देखने और सुनने का पहला अवसर था। कुछ वैचित्र्य तो अवश्य लगा—जैसे कि आखिरी साँसें भरती हुई नायिका का गाना—सो भी ऐसा कि, लगता था कभी अन्त ही न होगा! किन्तु मन पर स्थायी प्रभाव इस वैचित्र्य का नहीं, संगीत का पड़ता है। बर्लिन में एक ऑपरा मैंने और भी देखा, वह मोत्सार्ट की रचना थी। उसका उल्लेख मैं अपनी रुचि का प्रदर्शन करने अथवा उसकी समीक्षा करने की धृष्टता के अभिप्राय से नहीं कर रही हूँ बल्कि इसलिये के उस दिन बन्ने भाई ने मुझे बड़ी उलझन में डाल दिया। उस दिन पूरी मण्डली में से बस हम दो ही जन गये थे, साथ हमारे एक होस्ट श्री डीट्सेल जी थे। दूसरा ऐक्ट शुरू हुआ और ज़रा देर बाद ही मुझे लगा कि पास में बैठे बन्ने भाई की मुद्रा कुछ विशेष रूप से श्लथ हो गयी है। केवल संगीत का आनन्द उठाने में ऐसी प्रशान्त तन्मयता प्राप्त नहीं हो सकती। देखा तो वह सो गये थे! जल्दी से अपनी दूसरी ओर बैठे डीट्सेल की तरफ़ नज़र डाली के कहीं वह तो अपने मान्य अतिथि की मुद्रा नहीं देख रहे। पर भाग्यवश डीट्सेल वास्तव में संगीत-प्रेमी थे और उन्हें उस समय किसी की सुध न थी। यह भी अच्छा था कि बन्ने भाई बिल्कुल किनारे बैठे थे, उनके दूसरी ओर कोई न था। खैर, मैंने सोचा कोई न देखे तो ऐसी बुरी बात न होगी। पर ज़रा ही देर बाद बन्ने भाई खर्राटे लेने लगे! उस समय तक सम्बन्ध इतनी निकटता के नहीं हो पाये थे कि मैं कुछ करती। हाँ, कुछ दिन बाद उन्होंने वह हरकत की होती तो मैं चुप बैठी मानसिक यातना न सहती! औरों ने उनके खर्राटे सुने होंगे या नहीं, मैंने तो केवल वही संगीत सुना! दूसरे ऐक्ट में सारे वक्त यही होता रहा कि झटका खाकर बन्ने भाई उठ जाते और थोड़ी देर में उनका शरीर फिर समाधिस्थ हो जाता और वह खर्राटे लेने लगते। जैसे-तैसे किसी तरह इण्टरवल हुआ। यह तो मैंने निश्चय किया था कि उन्हें बुरा-भला अवश्य कहूँगी। सबके साथ हमलोग भी हाल के बाहर निकले। पर बाहर पहुँचते ही बन्ने भाई ने बड़े भोलेपन से कहा "कितना बढ़िया म्यूज़िक था, क्यों न?"—उसके बाद मैं क्या कहती? मन में आया कि कहूँ, हाँ क्यों नहीं! कितना मादक और सुनहरे स्वप्नों की प्रेरणा देने वाला था वह संगीत! पर चुप रह गई। घर पहुँच कर पूरी मण्डली की उपस्थिति का नैतिक समर्थन मिला तो मैंने क़िस्सा सुनाया और बन्ने भाई को केवल मेरी ही नहीं सबकी डाँट सुननी पड़ी।

बर्लिन में भारतीय वेश-भूषा का आकर्षण बहुत था—शायद अधिक हिन्दुस्तानी वहाँ न जाते होंगे। पहले दिन हम लोग घूमने निकले तो लोग मुड़-मुड़ कर घूरते रहे। कुछ बच्चे तो इतने ढीठ थे कि काफ़ी दूर तक मेरे आगे-

पीछे साथ-साथ चलते रहे। कभी मेरी बिन्दी, कभी चूड़ियाँ, कभी जूती एक दूसरे को दिखा कर उनकी टीका-टिप्पणी करते रहे। शुरू-शुरू में तो मुझे बड़ी झेंप लगती थी पर सराहे जाने का नशा धीरे-धीरे चढ़ता गया और फिर तो ऐसा चस्का लगा कि लण्डन पहुँच कर मेरे अहम् को काफ़ी ठेस पहुँची! वहाँ भला किसे परवाह होती! बर्लिन में बिन्दी के विषय में बड़ी ही ग़लत धारणायें हैं। कई लेखकों और पत्रकारों ने मुझसे पूछा कि क्या यह वर्ग-भेद का प्रतीक है? वह समझते थे कि केवल उच्च जाति कि स्त्रियाँ ही टीका लगाती हैं। उसके बारे में इतना कुतूहल देख कर मुझे काफ़ी आश्चर्य हुआ—किस चीज़ से लगाती हो? काहे से बनता है? सिर्फ़ लाल क्यों होता है? इत्यादि इत्यादि! यदि केवल स्त्रियों ने यह प्रश्न किये होते तो मैं सोचती कि अलंकार के किसी भी प्रसाधन के प्रति उनका कुतूहल स्वाभाविक है, पर मेरे प्रश्नकर्ता तो अधिकतर पुरुष ही थे। उनका कौतूहल अलंकार की वस्तु में तो क्या रहा होगा, हमारी वर्णव्यवस्था के विषय में बहुत था। बिन्दी का तो एक बहाना था ताकि हम बुरा न मानें कि ये लोग जाति-भेद के बारे में इतना पूछताछ कर रहे हैं। पूछताछ भी सहज कुतूहल से की गई थी, हमें सुनाने के लिये नहीं कि तुम्हारे यहाँ यह सब होता रहता है।

बर्लिन में एक महिला से भेंट हुई जिनके व्यक्तित्व का बड़ा गहरा प्रभाव मेरे मन पर पड़ा। उनका नाम है श्रीमती वाइसकाफ़। वह स्वयं लेखिका हैं और उनके पति भी लेखक थे। बच्चों का साहित्य उनका क्षेत्र है। शील, संस्कृति, शिष्टता और सुरुचि का ऐसा समन्वय मैंने किसी और व्यक्तित्व में नहीं पाया। उन्हें साहित्य और कला के हर पक्ष में रुचि है, ज्ञान भी है। साथ-साथ नारी के जो अपने विशेष गुण हैं—अतिथि-सत्कार, ममत्व, शृंगार और सज्जा में सुरुचि, घर के वातावरण को स्निग्ध बना देने की क्षमता—वह सभी उनमें है—साथ ही वह रूपवती भी है। यह सारा भार उनके लिये कितना सहज, कितना स्वाभाविक है, मुझे देख कर बड़ा आनन्द हुआ और कुछ अपनी जाति के लिये गर्व भी। जो लोग कहते हैं कि 'कैरियर-विमेन' नारी-सुलभ गुण खो बैठती हैं वे श्रीमती वाइसकाफ़ से मिल सकें तो बड़ा अच्छा हो।

श्रीमती वाइसकाफ़ का फ्लैट बर्लिन की नयी सड़क, फ़ैशन और चहल-पहल का केन्द्र, स्टालिनाली पर है। स्टालिनाली खूब चौड़ी और शानदार सड़क है, दोनों तरफ़ बड़ी-बड़ी दूकानें और रेस्तरां हैं। श्रीमती वाइसकाफ़ जहाँ रहती हैं उसके पास ही 'किण्डरहाउस'—बच्चों की दूकान—है। उसमें बच्चों के काम की हर चीज़ मिलती है। अलग-अलग उम्र के बच्चों के विभाग अलग-अलग हैं। दूकान में कई मंज़िलें हैं। सबसे ऊपर की मंज़िल में बच्चों का रेस्तराँ

है। छोटी-छोटी मेज़ें और उन्हीं के नाप की कुर्सियाँ पड़ी हैं, दीवालों और काउण्टर पर लकड़ी की कारीगरी है—बच्चों की कहानियों के सुपरिचित पात्रों, जानवरों आदि के चित्र बनाये गये हैं। जब यह रेस्तराँ खुला तो अखबारों में नोटिस छपा था वयस्क यदि बच्चों के साथ आयेंगे तो आने पायेंगे! हम लोग किसी बच्चे के मेहमान तो नहीं थे पर शायद विदेशी होने के नाते हमारे साथ रियायत की गई थी।

स्टालिनाली की चर्चा करते ही मुझे बर्लिन के अपने एक बहुत प्रिय अनुभव का स्मरण हो आता है। एक दिन मैंने अपने एक जर्मन होस्ट श्री क्लीबर्ग से कहा कि मैं यह देखना चाहती हूँ कि बर्लिन में रहने वाले सामान्य परिवार की गृहिणी की दिनचर्य्या क्या है, वह घर कैसे चलाती है। उन्होंने सुझाव दिया कि हम लोग स्टालिनाली के किसी फ्लैट में चलें। स्टालिनाली पर जो मकान बने हैं वे इस बात के उदाहरण हैं कि सारे शहर में जनता के रहने के लिये नये मकान किस तरह के बनाये जा रहे हैं। उस दिन इत्तफ़ाक़ से और कोई प्रोग्राम न था और हम लोग उसी वक़्त चल पड़े। रास्ते में क्लीबर्ग ने कहा कि आप यह न सोचियेगा कि बर्लिन की हर गृहिणी को वे सुविधायें उपलब्ध हैं जो स्टालिनाली में आप देखेंगी पर वहाँ मैं आपको इसलिये ले चल रहा हूँ कि ऐसे मकान सब परिवारों के लिये बना देना हमारा ध्येय है। यदि आप पुराने, टूटे फूटे, ध्वंसावशेषों में रहने वाले परिवार की अवस्था देखना चाहें तो वहाँ भी मैं आपको ले चलूँगा पर उससे आप सही अनुमान न लगा सकेंगी, वह तो दुर्दशा के काल के प्रतीक हैं। मैंने स्टालिनाली ही जाने का निश्चय किया। हम लोग पहले-पहल जिस मकान में पहुँचे उसमें एक बूढ़ा अकेला रहता था। साड़ी पहने एक स्त्री को देख कर काफ़ी घबराया, कुछ ऊँचा भी सुनता था। क्लीबर्ग को हमारे आने का अभिप्राय समझाने में कुछ देर लगी, पर जब समझ गया तो बड़े उत्साह से उसने अपना घर दिखाया। एक कमरे का फ्लैट था, साथ में ग़ुसलखाना, रसोई और छोटा सा गोदाम। आधुनिक काल की सब सुविधायें थीं—नलों में ठण्डा, गर्म पानी; गैस, और बिजली द्वारा जाड़ों में घर गर्म रखने की व्यवस्था। फ़र्नीचर उसका अपना था, मामूली, पुरानी चाल का, पर साफ़-सुथरा। टेबुल पर अखबार पड़ा था जो हमारे पहुँचने के पहले शायद वह पढ़ रहा था। एक किनारे रेडियो रखा था। खिड़की में दो चार गमले रखे थे, अपनी छोटी-मोटी पेन्शन में उसने इनके लिये भी प्रबन्ध कर लिया था। एक चीनी कहावत है जो कुछ चरितार्थ होती दीखी—अगर तुम्हारे पास दो रोटियाँ हों तो एक बेचकर लिली का फूल खरीद लो। उस बूढ़े की उम्र ८५ के लगभग थी। उसने इन फ्लैटों के बनाने में बहुत काम किया था जिसके एवज़ में नाम-

मात्र के लिये कुछ किराया लेकर सरकार ने जीवन-काल के लिये उसे यह फ्लैट दे दिया था। पेन्शन से काम चल जाता था। परिवार में और कोई नहीं था। बुड्ढे की हिम्मत की मैंने दिल खोल कर प्रशंसा की—केवल उसे खुश करने के लिये नहीं। अपने साथ मैं भारतीय धूपबत्ती ले गई थी, उन्हें पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। वही फिर हमें अपने एक पड़ोसी के यहाँ ले गया जहाँ एक गृहिणी से भेंट हुई। एक सीधी-सादी, निश्छल, बच्चों पर जान देने वाली, घर की सज्जा में अपनी कुशलता पर गर्व करने वाली स्त्री की कल्पना कर लें तो उस गृहिणी का समूचा चित्र हमारे सामने आ जायगा। घर की सजावट और व्यवस्था में सुरुचि का परिचय मिला। पता चला कि हाल ही में वह एक लाटरी जीती थी जिससे घर के लिये तमाम चीज़ें उसने खरीदी थीं। कुछ फ़र्नीचर, रेडियो और एक छोटा पियानो जो उसकी लड़की बजाती थी। उसने अपने बच्चों की तस्वीरें दिखाईं—एक लड़की १४ वर्ष की और एक लड़का ११ वर्ष का। मैंने उसकी बेटी के रूप की प्रशंसा की तो खुशी से उसका चेहरा खिल उठा। बारबार अफ़सोस करती रही कि लड़की घर में नहीं थी और मुझसे मिल नहीं पायी। उसने बताया कि सुबह उठकर उसका सबसे पहला काम है नाश्ता तैयार करना। कभी बच्चों से मदद मिल जाती है पर आजकल चूँकि उसका अपना काम छूट गया है इसलिये घर का सारा काम स्वयं ही करती है। बच्चों को सुबह जगाने में भी काफ़ी परिश्रम करना पड़ता है, लड़के को नींद बहुत आती है! बच्चों और पति के जाने के बाद वह घर की सफ़ाई करती है और दिन में रेडियो सुनती है। दिन में अपने खाने के लिये कभी कुछ बना लिया, नहीं तो पिछली रात की रखी चीज़ खा ली। शाम को परिवार के लोग लौटे तो सबने साथ बैठ कर खाना खाया। रात को बरतन धोने में मदद मिल जाती है। मैंने पूछा कि कपड़ों की धुलाई का क्या होता है तो उसने बताया कि हर ब्लाक के पीछे एक लाण्ड्री है जहाँ तौल के हिसाब से कपड़े धोये जाते हैं जो काफ़ी सस्ता पड़ता है। (बाद में लन्दन में भी मैंने देखा कि यही तरीका चल पड़ा है।) शनिवार की रात को वे लोग किसी दोस्त के घर या दोस्त उनके घर जमा होते हैं और ताश का दौर चलता है। उसके पति को ताश का बहुत शौक है, कभी कभी ज़्यादा देर करने पर झगड़ा भी हो जाता है! मेरे पूछने पर उसने बताया कि उस फ्लैट को चलाने में और हर चीज़ की ठीक देख-भाल करने में ५००-६०० रुपये प्रति माह का खर्च है। जिसके लिए उसकी और उसके पति की आमदनी पर्याप्त थी। उन दिनों उसका काम छूटा हुआ था पर शीघ्र ही दूसरी जगह मिलने वाला था। अभी तक तक वह ग़ैर-सरकारी मिल में काम करती रही पर अब सरकारी मिल में करेगी। उससे मिलकर और उसके घर की सारी व्यवस्था देख कर मुझे बड़ी खुशी हुई। चलने के

पहले मैंने उसे कुछ फूल भेंट किये और उसने फिर यही अफ़सोस करते हुए कि उसकी लड़की मुझसे नहीं मिल पाई, मुझे बिदा दी।

हम जब बर्लिन पहुँचे थे तब फूल खिलने का समय था। फूलों को जर्मन भाषा में 'ब्लूमेन' कहते हैं—उस नाम में ही फूलों के खिलने की ध्वनि है! फूलों की दूकानें थोड़ी-थोड़ी दूर पर अनेक हैं। उनमें फूलदानों में सजाने के लिये फूलों के अतिरिक्त तरह-तरह के पात्रों में लगे हुए पौधे भी मिलते हैं। उन दूकानों की हरियाली और रंगों के बीच जाकर खाली हाथ लौटना असम्भव है। मैंने एक दिन अपनी एक जर्मन मित्र के लिये गुलाब खरीदे। हल्के पीले, पंखुरियों में कुछ सिंदूरी आभा लिये हुए फूल थे, एक-एक अपने में पूर्ण रूप से सुन्दर। हाथ में लेते ही सूँघने को आप ही आप मन हुआ—गन्ध नाम मात्र को न थी। मैं बड़ी चकित हुई। पूछा कि क्या आपके देश में गुलाबों में खुशबू नहीं होती? उन्होंने बताया कि यह 'हॉट हाउस' में लगाये हुए फूल हैं जो समय के पहले खिल तो जाते हैं पर 'हॉट-हाउस' के कृत्रिम वातावरण में फूलने से उनमें महक नहीं रहती। मेरे लिये यह बात नयी थी। बात कुछ ऐसी है, कि उसमें से नैतिक सन्देश निकालने की चेष्टा अनायास होने लगती है पर ऐसा करूँगी नहीं।

बर्लिन की चर्चा का यहां अन्त करने से पहले बर्लिन के भालुओं को एक बार याद कर लेना ज़रूरी है। इन्हें बर्लिन-निवासी बर्लिन नगर का प्रतीक मानते हैं। कहा जाता है कि बर्लिन नगर के संस्थापक एल्बर्ट प्रथम थे जो 'दि बेयर' के नाम से प्रसिद्ध थे। ऐतिहासिक सत्य यह हो या न हो कि एल्बर्ट दि बेयर ने बर्लिन नगर बसाया पर प्रतीक रूप में भालू अवश्य बर्लिन निवासियों के हृदय में बस गये हैं। जो सज्जन मुझे भालू-परिवार को दिखाने ले गये थे उन्होंने बताया कि भालू-परिवार को महायुद्ध के समय बम-वर्षा के भय से हटाना पड़ा था और युद्ध समाप्त होते ही उन्हें वापस ले आया गया। उनके बिना नगर सूना लगता था! इस भालू-परिवार के रहने का स्थान विशिष्ट है—एक बाग़ के बीच। दो पीढ़ियाँ एक साथ रहती हैं ताकि ऐसा कभी न हो कि घर खाली हो जाय। उनके घेरे के बीचो बीच एक गुफा सी है, जो उनका मकान है; बाहर एक तरफ़ आराम के साधन हैं लेटने के लिये चट्टान एक तरफ़, दूसरी तरफ़ मनोरंजन की सामग्री, जैसे झूला, पेड़ पर लोहे की घिर्री जिसे पकड़ कर चलाना उनका प्रिय खेल है। जब हम पहुँचे तो 'नान्ने' और 'जेते' झूले पर सवार थे। चारों तरफ़ भीड़ खड़ी उन्हें निहार रही थी—जिस स्नेह भरी दृष्टि से लोग उनके खेल देख रहे थे उसे 'निहारना' ही कहा जा सकता है। मैं घिर्री चलाने का खेल देखना चाहती थी पर उस दिन भालुओं का मूड झूलने का था, काफ़ी देर इन्तज़ार करने के बाद भी निराश ही लौटना पड़ा, भालुओं ने घिर्री को छोड़ा ही नहीं!

★

व्यंग कृतियां

बाबू पुराण

जिसे चौक, लखनऊ निवासी पंडित बाबू राजारामात्मज बाबू नागर अमृतलाल ने बाबू अमृतराय के 'हंस' में छपाकर प्रकाशित कराया।

परम सुहावन महाफलदायक इस बाबू पुराण को पढ़ते-सुनते आज के युग में कोई सूत, शौनक, काकभुशुण्डि या लोमहर्षण यदि यह पूछ बैठें कि अद्भुत क्रांतिकारी महामहिम बाबू आखिर हैं कौन, तो मेरे जैसे साधारण साहित्यसाधक के लिए सर्वसंतोषदायक उत्तर देना ज़रा कठिन हो जायगा। अतः प्रश्न को टालने के लिए एक कथा सुनाता हूँ।

रेल के भीड़-भरे थर्डक्लास कम्पार्टमेण्टों में ऊपर की सीट यदि खाली मिल जाय तो स्वर्ग-सुखदायिनी होती है। सो इस राजगद्दी के लिए भी ब्लैक का फलता-फूलता धंधा चल पड़ा है। एक बार सुखद यात्रा के निमित्त एक बाबू साहब ने ब्लैक वाले छोकरे से राजगद्दी के लिए सौदा पटाना आरम्भ किया। सौदा कम्पार्टमेण्ट के दरवाजे पर ही खुसफुस स्वरों में चल रहा था, पास ही अपने होल्ड आल पर दबे-भिचे बैठे एक दूसरे बाबू साहब इस सौदा-वार्ता को सुन रहे थे। उनके मन में बाबुओचित चतुराई उदय हुई। ज्योंही एक रुपया पाकर ब्लैक वाले ने अपनी दरी समेटी त्योंही दूसरे बाबू साहब ने ऊपर की सीट पर अपना होल्डआल फेंक दिया। ब्लैकवाला छोकरा तो यह लीला देखते ही अपनी काली कमाई का रुपया और दरी उठाकर दरवाज़े की भीड़ चीरता हुआ ये जा वो जा, उधर रुपया देकर सीट खरीदनेवाले बाबू एकदम लालभभूका हो उठे, बोले—बिस्तरा हटाइये।

दूसरे ने बिस्तर खोलते हुए उत्तर दिया—क्यों हटाऊँ, खाली बर्थ पर जो बिस्तर जमा ले उसी का अधिकार है।

पहले बाबू का रुपया और रात भर का सुखचैन खटाई में पड़ा जा रहा

था, वे एकदम से गरज पड़े, कहा—पर मैंने इसके लिए रुपया दिया है।

दूसरे बोले—मैं यह सब कुछ नहीं जानता। कानून दिखाइये, आपने कैसे ये सीट रिज़र्व कराई है?

बाबू के मुख से और बाबू के सामने 'क़ानून' शब्द निकलते ही वाक् युद्ध में प्रलयंकरी गर्मी उत्पन्न हो जाती है और वह बाबुओं की मातृभाषाओं को झुलसा देती है। उक्त अवसर पर भी यही हुआ। बाबुओं की कानूनी शक्ति को सम्हालने के लिए उनकी जिह्वाओं पर अंगरेज़ी भाषा चट से प्रकट हो गई और साथ ही अंगरेजों का रोब भी उनकी हिन्दुस्तानी देहों में दमकने लगा। गर्मागर्मी का चढ़ाव Do you know who I am (जानते हो मैं कौन हूँ) और Alright, I will see you (अच्छा, देख लूँगा तुम्हें) तक पहुँचकर उतरने लगा।

यह Do you know who I am और I will see you का ज़ोम ही इस देश की बाबू सभ्यता में सार्वभौमिक रूप से व्याप्त है। यह ज़ोम और Your most humble servant (आपका अति विनीत सेवक) का दैन्य बाबूरूपी थर्मामीटर का अनवरत गति से चढ़ता-उतरता पारा है और इसी के बीच में उसकी समस्त क्रांतियों का इतिहास उभरकर उसे और उसके देश को नया गौरव प्रदान करता रहा है। एक तरह से यह मानने क़ाबिल बात है कि आर्यों और नागों के बाद भारतवर्ष के इतिहास को यदि सामूहिक रूप से किसी ने सबसे अधिक प्रभावित किया है, तो बाबुओं ने ही। बाबुओं ने भारतीय सभ्यता को नया अर्थ दिया है और उसका अनर्थ भी किया है। आर्यों के इन्द्र के समान ही बाबुओं ने अनेक पुरानी मान्यताओं को अपने ज़ोम के वज्र से तोड़ा है, पुरन्दर के समान ही अनेक रूढ़ियों में आग लगाई है, हिन्दुस्तान की प्राचीन मर्यादाओं के बांध तोड़ करके क्रांतियों के सैलाब पर सैलाब लाये हैं। पिछली एक शताब्दी का भारतीय इतिहास बाबुओं की अगति गति और विकास का ही इतिहास है।

यों तो बाबू सभ्यता का जन्म उन्नीसवीं सदी के पहले दूसरे दशक से ही आरम्भ हो गया था, पर उसकी जवानी ग़दर के बाद ही परवान चढ़ी। मैकाले की नीति के अनुसार बाबू बनाने के लिए अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तानी जवानों को अंग्रेज़ी पढ़ने की लालच-भरी प्रेरणा देने लगे।

ग़दर से पहले बादशाही-नवाबी ज़माने में मंहगाई सिर उठाने लगी थी। इसके और जो भी कारण रहे हों मगर एक कारण मुख्य रूप से स्पष्ट है। शाही विलासिता ने गांवों को बुरी तरह चूसना आरम्भ कर दिया था। शासन प्रबन्ध में रिश्वत और लूट के सिद्धान्त को छोड़ कर और कोई भी नियम और न्याय लागू ही न होता था। शासन तंत्र के बाहर भी जिसकी लाठी

उसकी भैंस का सिद्धान्त ही लोक-प्रचलित था। खेती, ज़मीन-जायदाद और स्त्रियों का अपहरण करना ही शौर्य का सर्वश्रेष्ठ लक्षण माना जाता था। राहज़नी और बटमारी अपनी सीमा पर पहुँच गई थी। ऐसी दशा में अनास्था और मंहगाई का बढ़ना अनिवार्य था। अंग्रेज़ धीरे-धीरे पैर जमाते आ रहे थे। भारतीय साहूकारों और सामंतों से उनके गठबंधन मज़बूत हो रहे थे। इनके सहारे अंग्रेज़ प्रचलित शासनतन्त्र की जड़ें खोद रहे थे। इस प्रकार उनका महत्व खूब बढ़ गया था। बहुत से सामंत और साहूकार, जिन्हें बादशाही-तन्त्र से किसी प्रकार का आघात लगता, अंग्रेज़ों की शरण में अपने स्वार्थवश जाते थे। अंग्रेज़ों की साख बढ़ गई थी। छोटे-मोटों की कौन कहे शासक वर्ग के लोग भी अपना रुपया कम्पनी सरकार में जमा करते, कम्पनी सरकार के बाण्ड ख़रीदते। इस व्यावसायिक-राजनैतिक रिश्तेदारी के कारण उभयपक्ष को एक दूसरे की भाषायें जानने की आवश्यकता हुई। ग़दर से पहले जिन क्षेत्रों में अंग्रेज़ी अमलदारी हुई, वहाँ अंग्रेज़ी के जानकार भारतीयों की आवश्यकता हुई।

इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अब सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति देखिये। साहूकारी मुख्यतः बनियों के हाथ में थी और ताल्लुकेदारी-ज़मीदारी ठाकुरों और मुसलमानों के अधिकार में। ब्राह्मणों एवं कायस्थों में कुछ घराने अवश्य ठकुरैती भोगते थे पर ऐसे घराने केवल कुछ ही थे। ब्राह्मणों के मुख्यतः चार धंधे थे, खेती, यजमानी, मुनीमत और सिपाहीगीरी। कायस्थ उर्दू फारसी पढ़कर शाही नौकरियों में खप जाते थे। अमीर खत्रियों के हाथ में बज़ाज़ा और साहूकारा था, गरीबों के हाथ में मुनीमत। गाँवों की महँगाई से तंग आकर अनेक ब्राह्मण युवक अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए लालायित होते थे। अंग्रेज़ों के लिए यह बात शुभ थी। यदि श्रेष्ठ वर्ण के लोगों में अंग्रेज़ी का प्रचार हो जाय तो इतर वर्णों में भी सहूलियत से अँग्रेज़ी की घुस पैठ संभव हो सकती थी।

ग़दर से प्रायः सौ वर्ष पूर्व से ही कम्पनी सरकार के डाइरेक्टर और अनेक विद्वान इस बात पर जोरदार बहस करने लगे थे कि हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाई जाय या नहीं। उन बहसों में एक अंग्रेज़ विद्वान का अनुभव से अर्जित तर्क यह भी था कि जिन हिन्दुस्तानियों को अंग्रेजी सिखा दी जाती है वे फिर अपने देश, जाति और धर्म से घृणा करने लगते हैं और पूरी तौर पर अंग्रेज़ जाति तथा पश्चिमी सभ्यता के भक्त हो जाते हैं।

इसी वज़न पर एक दूसरे विद्वान का मत भी अपने-आप में बड़ा पुष्ट दिखलाई देता है। उनका ख़याल था कि भारतीय अपनी विभिन्न भाषाओं और जातियों के दायरे में बंधकर जितना ही अलग-अलग रहें उतना ही

ब्रिटिश शासन के लिये शुभ होगा। इसी विद्वान ने यह भी कहा था कि अंग्रेजी भाषा की एकसूत्रता से बंधकर भारत की राष्ट्रीय भावना जाग उठेगी। दोनों ही बातें सच हुईं और साथ सच हुईं। बादशाही के अनियंत्रित शासन के बाद ब्रिटिशों की 'डिसिप्लिन' हर अंग्रेज़ी पढ़ने वाले युवक को पसंद आनेवाली वस्तु थी। यह बिल्कुल सच बात है कि सामन्ती हुकूमतों के बहुत बुरे शासन-प्रबन्ध के बाद अंग्रेजों का शासन प्रबन्ध हिन्दुस्तानी जनता को बहुत भाया था। रास्ते बटमार डाकुओं से साफ़ हो गये थे। बाज़ार-हाट में प्रजा की सुरक्षा थी। दासों में भी अच्छा जीवन बिताने की इच्छा तथा अच्छे बुरे मालिक की पहचान तो आखिर होती ही है, सदियों के दास भारत ने अपने पुराने मालिकों से नये मालिक को लाखगुना बेहतर समझा और सराहा। हिन्दी के भारतेन्दु-कालीन कवियों में प्रायः सभी ने मलका विक्टोरिया के राज को सराहा है। ग़दर के तुरन्त बाद ही भारत में अंग्रेज़ों और मलका विक्टोरिया के प्रति सहसा इतना आदर और भक्तिभाव उमड़ पड़ना पहली दृष्टि में आश्चर्य-जनक लगता है। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र आदि अंग्रेज जाति के चाटुकार न थे मगर अंग्रेज़ो शासन के वे सभी गहरे भक्त थे। उनकी राजभक्ति में यही भक्ति बोलती थी।

अंग्रेज़ी-पठन क्रांति

बाबुओं में सबसे पहली क्रांति यही थी। शहरों में विलायती मेमें ईसाई भिक्षुणियों के रूप में बड़े-बड़े घरों में आती थीं। साहब-शासन की पुरतानियों (पुरोहितानियों) को यद्यपि कोई अपने घर में न आने के लिये तो कहने की हिम्मत नहीं कर सकता था, परन्तु उनके घर से जाने के बाद सारा घर पानी से धोया जाता था। मिशन के स्कूल जगह-जगह खुलने लगे थे। ईसाई पादरी, अध्यापक और डाक्टर भारतीय युवकों में घूम-घूम कर लोगों को अपनी सेवा से सन्तुष्ट करते हुए अंग्रेज़ी पढ़ने का आग्रह करते थे। हमारे रहन सहन, रीति-रिवाज, देवी-देवता, इतिहास-दर्शन सभी को हमारे ही मुँह पर दो कौड़ी का सिद्ध किया जाता था और उसके साथ ही साथ प्रभु येशू के धर्म तथा अंग्रेज़ों की भाषा सीखने के लाभ बतलाये जाते थे। स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण जी मिश्र के एक लेख 'दबी हुई आग' में हमारे उस जातीय-अपमान की झांकी मिलती है, जो ईसाई मिशनरी लोगों के द्वारा निरन्तर किया जाता था। ईसाई पादरी अपना जूता दिखाकर हिन्दू बालकों से कहते थे कि यह तुम्हारे देवता हैं। अपने स्कूलों में ही नहीं वरन् महाजनी पाठशाला में भी गुरुओं

को दो-चार रुपये दक्षिणा चटाकर ये पादरी अपने धर्म-प्रचार के हेतु हमारे धर्म और देवताओं की निन्दा किया करते थे। इतना ही नहीं, तसवीरें, किताबें और मिठाइयां वगैरह बांट कर वे छोटे बच्चों को ऐसे गीत सिखलाते जिनसे बच्चों के अन्दर स्वधर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो....

माला लक्कड़ ठाकुर पत्थर गंगा निरबक पानी।
राम कृष्ण सब झूठे भैया चारों बेद कहानी॥

इस प्रकार की अपमानजनक बातों ने भारतीय जनता में बहुत क्षोभ भर दिया। ग़दर में अंगरेजों के प्रति भारतीय जनता के विरोध का एक प्रबल कारण यह भी था। इस देश की जनता अपने धर्म की निन्दा करनेवालों को कभी सहन नहीं कर पाई, भले ही उनके अत्याचारों और अपनी निर्बलता के कारण वह ऐतिहासिक परिस्थितियों में अनेक बार विवश हो गई हो। ग़दर के बाद अंगरेज़ी भाषा के प्रचार में इज़ाफ़ा करने के लिये दो बातें अलग-अलग कर दी गई थीं। अंगरेज़ सरकार की नौकरी पाने के लिये अंगरेज़ी भाषा ही सीखना आवश्यक था, न कि ईसाई धर्म कबूल करना। इस स्पष्टीकरण ने बड़ा काम किया। मिशनरी स्कूलों के अलावा अनेक सरकारी स्कूल भी खुले। वे अनेक युवक जो अपने धर्म के प्रति गूंगी अनास्था रखते हुए भी ज़ाहिरा तौर पर उसे त्याग कर ईसाई नहीं बनना चाहते थे, अंगरेज़ी पढ़कर उम्दा नौकरी पाने के लिये लालायित हो चले। कुछ दुनियादार बापों ने अपने बेटों को अंगरेज़ी पढ़ने के लिये स्वयं उकसाया, यों अधिकतर युवकों ने अपने पुरखों से आदरपूर्वक विद्रोह कर अंगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। सन् १८७५-८० के लगभग अवध क्षेत्र में अंगरेज़ी राज्य के शिक्षाविभाग के अन्तर्गत लगभग चौदह सौ छोटे-बड़े स्कूल थे, जिनमें लगभग सत्तर हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। अंगरेज़ी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या पाँच हज़ार थी।

गाँव के एक ब्राह्मण युवक ने शहर के अंग्रेजी स्कूल में नाम लिखाने के बाद लगातार छः वर्ष तक अपने पिता का आमना-सामना नहीं किया। वे लुक-छिप कर अपने गाँव जाते थे और माता से मिलते थे। बहुत से घरों में पिताओं का विद्रोह अपने पुत्रों के विद्रोहों से समझौता करने लगा। मेरे पितामह और उनके भाई स्कूल में जब तक रहते पानी नहीं पीते थे। स्कूल से लौटने के बाद घर के बैठकखाने में वे कपड़े टाँग दिये जाते थे। अंगौछा पहन कर नंगे बदन अन्दर जाना, फिर हाथ पैर और जनेऊ धोकर जल ग्रहण करना—यह नियम मेरे पितामह और भाइयों तक ही सीमित नहीं था। मैंने

अनेक प्रकार के ब्राह्मण बुजुर्गों से इस जमाने का यही चलन सुना है।

देहाती मेलों में घोड़े पर अंग्रेज़ के जाने की बात भी मैंने अक्सर सुनी है। घोड़े पर अंग्रेज़ डाक्टर जाता है, अंधों की आँखें ठीक कर देता है, अंगरेज़ी भाषा का प्रचार करता है, अंगरेज़ी पढ़ जाने पर अच्छी नौकरी दिला देने का भरोसा भी देता है। अंगरेज़ी पढ़ जाने के बाद गाँव के जमींदार-साहूकार और बड़े-से-बड़े प्रतिष्ठित आदमी से भी साधारण किसान के बेटे की इज़्ज़त और हैसियत अधिक बढ़ जायगी, यह प्रलोभन पद-दलित कुलीन किसानों को वश में करता जा रहा था। एक सज्जन ने अपने संस्मरण में मुझे यह सुनाया कि जब पिता की स्वीकृति पाकर वे आगरा के स्कूल में पढ़ने आये तो उस गाँव के एक बहुत प्रतिष्ठित महाजन, उनकी जाति के नेता ने उनके पिता को बुला कर पूछा—क्यों जी केशवराम, (कोई भी नाम) तुम्हारा लड़का शहर में अंगरेज़ी पढ़ता है ?

केशवराम विनयपूर्वक गिड़गिड़ाकर बोले—मुझे तो मालूम नहीं दाऊ, मुझसे तो मिलकर भी नहीं गया; हाँ, अपनी माँ से कह गया है कि वह कुछ सीखने जा रहा है।

दाऊ जी ने केशवराम जी को बहुत डाँटा-फटकारा और मुँह चिढ़ाते हुए कहा—अंगरेज़ी पढ़ा कर हाकिम बनायेगा, हमसे बराबरी करेगा।

उन्होंने बहुत ऊँच-नीच समझाया। धर्म के आगे अंगरेज़ सरकार के हाकिम को भी झुकना पड़ेगा। बिरादरी से निकाल दिये जाओगे वगैरह।

इन धमकियों के साथ केशवराम जी के पुत्र पढ़ते रहे और एक दिन छोटे मोटे हाकिम बने।

जी हुज़ूर क्रांति

ग़दर से लगभग पन्द्रह वर्ष बाद ही अंगरेज़ी पढ़े-लिखों की बिरादरी काफी बढ़ गई थी। मिडिल और स्कूल लीविंग सर्टीफ़िकेट ही नहीं, कुछ लोग तो बी० ए० और एम० ए० तक भी ढैया छूने लगे थे। अंगरेज़ी के सर्टीफिकेट बटोरना और फिर उनकी चर्चा कर शेखी बघारना अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग अर्थात् बाबू वर्ग की चलती-फिरती विशेषता बन गई। अंगरेज़ हाकिम को नौकरी के लिये अर्ज़ी देते समय हिन्दुस्तानी अदबो-आदाब के बड़े-बड़े अजीबो-ग़रीब उल्थे किये जाते थे :

अति आदरणीय हुजूर।

बड़े विश्वस्त सूत्र से यह जानकर कि आपके बड़े काइन्ड कन्ट्रोल में एक क्लर्क की जगह खाली हुई है मैं बड़ी आजिज़ी के साथ, दस्तबस्ता, हुजूर की ख़िदमत में यह अर्ज़ी लगाता हूँ।

मेरी योग्यता के सम्बन्ध में मोस्ट अम्बली निवेदन है कि मैं बहुत ही रिस्पेक्टेबिल फेमिली का हूँ तथा मेरे पुरखे भी सदा से इंगलैण्ड की कुइन मलका विक्टूरिया तथा अंग्रेज़ सरकार के लायल रहे हैं। मैं भी हुजूर को यह आश्वासन दिलाता हूँ कि हुजूर को हर मौके पर अपनी लायल्टी से सन्तुष्ट रखूँगा।

मैं दर्जा....(दर्जा ४-५, क्लाइमेक्स मिडिल तक) अंग्रेज़ी पढ़ा हूँ तथा देवनागरी और फारसी (दोनों या किसी एक) का अच्छा अभ्यास है।

मेरे आदरणीय हुजूर, यदि इस मोस्ट अम्बुल एण्ड लॉयल सरवेण्ट को अपने संरक्षण में लेंगे तो मैं हुजूर को पूर्ण सन्तोष प्रदान करने के हेतु कोई पत्थर बगैर उल्टाये न रहूँगा (शैल लीव नो स्टोन अनटर्न्ड)। हुजूर की दीर्घ आयु और उन्नति के लिये, हुजूर की मेम साहब और बाबा लोगों की उन्नति के लिये जब तक जियूँगा गाड आलमाइटी से नित्य दुआ मांगा करूँगा और मेरे बाद मेरे बच्चे भी यही दुआ करते रहेंगे और हुजूर का यश जब तक सूरज और चाँद रहेंगे (यावत् चन्द्र दिवाकरौ) सारी दुनिया में कायम रहेगा।

मैं हूँ हुजूर का मोस्ट
अम्बुल सर्वेन्ट्स सर्वेन्ट
(दासानुदास का अँग्रेज़ी अनुवाद)

अंग्रेज़ी भाषाविद्, हुजूर के इस दासानुदास ने पगड़ी उतार कर फ़ेल्ट टोपी पहनी और लम्बा कालरदार कोट, वास्कट और नेकटाई-पतलून डाटकर उसने अपने आप को अंग्रेज़ों से भी अधिक विलायती मानना आरम्भ कर दिया। एक ऐसी लहर चली कि जिसमें अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे बाबू को हर हिन्दुस्तानी चीज़ से नफ़रत हो गई थी। अपने अनेक अंग्रेज़ हाकिमों तथा पादरियों के समान ही ये पढ़े-लिखे बाबू भी वेदों को जंगलियों के गीतों की किताब कहने लगे थे। उन्हें हिन्दुस्तानी भोजन से भी अरुचि होने लगी थी; डबलरोटी और मांस-मदिरा तथा धूम्रपान उस समय बाबुओं के लिए एक बहुत बड़ी क्रान्तिकारी एवं आवश्यक वस्तु हो गई थी। गांधी जी की आत्मकथा में उनके मांसाहारवाले प्रसंग में उनके मित्र का जो तर्क है वह उस समय का प्रायः सार्वभौमिक तर्क माना जा सकता है। मांस खानेवाले जवान अमांसाहारियों से प्रायः यही कहते कि मांसाहार से मनुष्य बलवान होता है, अंग्रेज़ों

की बलबुद्धि का एक मात्र कारण मांस और मदिरा ही है। यह होते हुए भी जहाँ तक मुझे पुराने बाबू साहबों से पूछताछकर मालूम हुआ है वहाँ तक मैं निश्चित रूप से यह कह सकता हूँ कि हिन्दुओं ने बाबू बन कर भी, विद्रोही बनकर भी अंग्रेजों की समानता पाने के लिये कभी गोमांस ग्रहण नहीं किया। अपवाद रूप में दस-पाँच अतिविद्रोही बाबू शायद हुए हों तो हुए हों।

जी हुजूर बाबू अंग्रेज़ी पढ़कर अंग्रेज़ों की तरह ही हिन्दुस्तानी बोलना भी सीख गए। आटा, जाटा, बैडमाश, डर्टी निगर, काला आदमी कहने में उन्हें भी मज़ा आता था। अंग्रेज़ साहबों के सामने दुम हिलाना और स्वदेशवासियों के सामने गुर्राना एक आम फैशन की बात हो गई थी।

एक सबसे ख़राबी की बात बाबू दृष्टि से यहाँ पर यह थी कि उन्हें अंग्रेजों के समान स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी मेमों को लेकर बाहर घूमने का मौका नहीं मिलता था। आम तौर पर ये बाबू अपनी पत्नियों और घर की स्त्रियों से घृणा करने लगे थे। स्त्रियाँ बबुआइनें नहीं हो पाई थीं। जिस प्रकार के खान-पान और आचरण में बाबू का रस उमग चुका था उसमें भारतीय नारी के लिये अधर्म और अनाचार के सिवा और कुछ भी न था। बाबू ने अपने मनोरंजन के लिये एक समझौता किया, वह वेश्यागामी हो गया। वेश्यागामिता इसके पहले केवल रईसों और सामन्तों के बीच ही अति प्रचलित थी। औसत आमदनी के लोग इस लम्बे खर्च वाले मनोरंजन को बरदाश्त ही नहीं कर सकते थे। लेकिन बाबू के लिये यही समझौता श्रेयस्कर था। आदाब-अल्क़ाब, शीरीं गुफ़्तगू और मैनोशी के लिये तवायफ़ का कोठा उम्दा जगह थी। वहाँ जाकर बाबू की हिन्दुस्तानी ज़बान भी सुधर जाती थी। नये बढ़ते हुए बाबू वर्ग में वेश्यागामिता प्रायः एक आन्दोलन के रूप में आई, वे दिन भारतीय पत्नियों के लिए बहुत ही बुरे थे। हमारी स्त्रियों द्वारा गाये जानेवाले ढोलक के गीतों में वेश्याओं के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया है :

रंडी घर जाना छोड़ो सनम........।। रंडी घर० ।।
सोने की थलिया में भोजना परोसा
सौतन संग खाना छोड़ो सनम ।। रंडी घर० ।।
सोने की शीशी मीने का प्याला
रंडी संग पीना छोड़ो सनम ।। रंडी घर० ।।

एक गीत में कहा गया है :

जब से चला है रंडो का रखना
कदर बोबी की—कदर प्यारी की गई मेरी जान।

इस प्रकार के कई गीत उस जमाने में रचे गये थे।

इसी जी हुजूर क्रान्ति में बाबुओं ने अपने नामों के साथ अपने जाति नाम भी जोड़ने शुरू किये थे। शर्मा, वर्मा, राजवंशी, यदुवंशी, सक्सेना, श्रीवास्तव, कपूर, मित्र, वाजपेई, नागर—इन सबकी जुड़ाई इसी वक्त में हुई। नाम रखने में भी सुरुचि और सतर्कता बरती जाने लगी—मांगीलाल, घूरेलाल, सट्टीमल, मटरूमल, झब्बन लाल, दूधनाथ आदि क़िस्मों के नाम अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे बाबू को भला क्योंकर पसन्द आ सकते थे। सट्टीमल एस० माल हो गए, देवी प्रसाद कपूर डी० पी० कैम्फ़र हो गए, बाबू राजकिशोर अंग्रेज़ी कोट पतलून में बहुत अकड़े तो शराब के झोंक में अपने नाम की अंग्रेज़ी स्पेलिंग को उल्टा कर जे० इरोकृशा हो गए, ज्वाला सहाय साहब मिस्टर जोलाशोय हो गए। हाँ स्त्रियों के नामों में विशेष परिवर्तन न हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में जन्म लेनेवाली हमारी दादिया मटका, डिब्बा, चुहिया, कुल्हड़, बतासो, मीरो, कल्लो, झुन्नो, मुन्नो आदि ही बनी रहीं।

हमारी पितामह पीढ़ी में सब अधर्मी और कुकर्मी ही बने हों सो बात नहीं, बहुतों में अंग्रेज़ी पढ़ने के बाद राष्ट्रीय भावना और स्वाभिमान भी जागा। अंग्रेज़ जाति के प्रति आदर भाव रखते हुए भी उन्होंने अपने देश और धर्म को हीन मानने से दृढ़तापूर्वक इन्कार किया। ग़दर के बाद बाबू वर्ग का व्यापक प्रसार होने के साथ-ही-साथ हम यह भी देखते हैं कि इस देश में सामाजिक सुधार आंदोलनों का जन्म हुआ। वेद उपनिषद् और गीता ने इस बाबू वर्ग की आध्यात्मिक ही नहीं राष्ट्रीय भावना को भी बड़ा बल दिया, और इसी बल के साथ उन्होंने मूर्तिपूजा और रूढ़ियों के ख़िलाफ़ जेहाद भी ठाना। बंगाल के ब्रह्म समाज, बम्बई के प्रार्थना समाज और उत्तर भारत के आर्य समाज के रूप में यह सुधारवादी आन्दोलन बवण्डर की तरह उठा और देशव्यापी हुआ। सनातन धर्मावलंबियों के लिये ये ब्रह्मवादी आर्य बाबू भी उतने ही बुरे थे जितने कि अंगरेज़ी चालढालवाले साहब बाबू।

ये ब्रह्मवादी आर्य बाबू सभा-सोसाइटियाँ बनाते, पुरानी जातीय पंचायतों के विरुद्ध नये जातीय क्लब बनाते, जातीय 'समाज' स्थापित करते, जातीय समस्याओं के सुधारवादी हल लेकर अख़बार प्रकाशित करते, बालविवाह के विरुद्ध और विधवा विवाह के पक्ष में लेक्चर देते और लेख लिखते, पंडों-

पुरोहितों की भरपेट खिल्ली उड़ाते तथा विलायत-गमन के सिद्धान्त का ज़ोरदार समर्थन करते थे।

बात यदि यहीं तक सीमित रहती तो रूढ़ियों के प्रति निष्ठावान् सनातन धर्मी वर्ग इन लोगों को भी धर्मभ्रष्ट म्लेच्छ क्रिस्तान मानकर उपेक्षापूर्वक मुँह फेर लेता, परन्तु ये आर्य बाबूगण साहब बाबुओं के समान चरित्रहीन और पतित नहीं थे—वरन् ये लोग वेदमंत्रोच्चार और यज्ञ होमादि भी करते थे। ब्रह्मसमाजियों, आर्य समाजियों से उन दिनों सनातनधर्मी लोग सौतों की तरह झोटमझोट जूझे हैं। सनातनधर्मी पण्डितों के लिये सबसे बुरी बात तो यह हुई थी कि जिन वेद-शास्त्रों की धमकी देकर वे अपने समाज पर स्वेच्छानुसार अंकुश रखते थे वे वेद आर्य समाजियों ने जन-साधारण के लिए सुलभ कर दिये। जाति-भेद का ध्यान भी कम रक्खा। उत्तर भारत में आर्य समाज एक ऐसे बवंडर की तरह आया जिसे सनातनधर्मी रोक न पाते थे। आर्य समाजी अपने धर्म की बुराइयों के अलावा चूंकि मुसलमान मुल्लाओं और ईसाई पादरियों से भी लोहा लेते थे, इसलिए वे हिन्दू समाज को बहुत ही भाते थे। सनातनधर्मी पंडितों को अपने इन शत्रुओं से करारा झटका लग रहा था।

कानपुर की घटना है। एक बार सनातनी ब्राह्मणों के उकसाने से कुछ सनातनी सेठ भी धर्ममूर्त्ति धर्मावतार का पद पाने के हेतु चन्दा देकर आर्य-समाजियों के खिलाफ़ सनातन धर्म की सभा करने के लिए कटिबद्ध हुए। तै हुआ कि जिस तरह आर्य समाजी बात-बात में वेद का हवाला देकर वेद मंत्रों का अनर्थ करते हैं उसी प्रकार सनातनी पंडित भी बात-बात में मन्त्रों का हवाला दें और उनके सही अर्थ बतलायें। कानपुर भर के पंडितों के यहाँ ढुंढैया मची, किसी के घर वेद ही न मिला।

आर्य समाजी विद्वानों में ऐसे अनेक विचित्र लोग भी थे जो हर पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कार को वेद से खोज निकालते थे। गैस, बिजली, रेल, तार, भाप, सब कुछ वेदों से निकल आता था। पश्चिमी भौतिक विज्ञान के नित्य नये-नये आविष्कारों और यूरोपीय जातियों की उच्चता से प्रभावित स्वदेशवासियों को आर्य समाजियों के वेदों ने हीन भावना में फँसने से काफ़ी हद तक बचाया। मैंने अपने देश के बुड्ढों में बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें सुनी हैं। सुना है कि हमारे ऋषि-मुनि ताँबे की पटरियों पर रेल चलाते थे, सोने और जवाहिरात का प्रयोग कर ऐसी तरकीब से दीपक बनाते थे जो गैस (बाद में बिजली भी) की रोशनी से सौ गुना ज्यादा प्रकाशवान होते थे। मेरी अपनी धारणा तो यह है कि यदि आर्य समाज का आन्दोलन न चला होता और उसके वकील अनेक विचित्र विद्वानों ने यदि वेदों को

विज्ञान की खान न सिद्ध किया होता तो बाबू देवकी नन्दन खत्री अपने अमर तिलस्मी उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' की कल्पना न कर पाते।

अख़बार क्रान्ति

प्रेस और अखबारों ने समाज सुधार आन्दोलन, नागरी प्रचार आन्दोलन एवं राजनैतिक आन्दोलन को बढ़ाने में बहुत ही बड़ा हाथ बटाया। छापे के अक्षर पढ़े-लिखे समाज के लिए विधाता के लेख की भाँति अटल और विश्वसनीय हो गए। पुराने बुजुर्ग जो हर नई चीज़ का विरोध करते थे अखबार का विरोध भी करते थे। परन्तु इस विरोध के साथ एक आश्चर्यजनक बात मैंने एक नहीं अनेक बुजुर्गों से सुनी है— कई बड़े-बूढ़ों का यह ख्याल है कि जब से अखबार चले तब से मँहगाई बढ़ गई!

मिट्टी का तेल और नल क्रान्ति

आर्य समाज और अखबारों की छत्र छाया में बाल-विवाह भले ही न रुके हों अथवा विधवा विवाह भले ही न हुए हों, परन्तु छोटी-मोटी क्रान्तियाँ अवश्य हुईं। उनमें अंग्रेजी दवाओं, मिट्टी के तेल और पानी के नल का उपयोग बहुत ही मार्के की हैं। बंगाली डाक्टर आने लगे। बाबू घरों में स्वाभाविक रूप से रोग केवल अंग्रेज़ी दवाइयों से ही अच्छे हो सकते थे, वैद्य-हकीम उनकी दृष्टि में दहक़ानी-दक़ियानूस हो गए थे। हिन्दू बाबू घरों में अंग्रेज़ी दवा का उपयोग बड़ी ही मुश्किलों से आरम्भ हो पाया क्योंकि यह धारणा फैली हुई थी कि कोई भी अंग्रेज़ी दवा बगैर ब्रान्डी और बकरे-मुर्गी के सत के बन ही नहीं सकती। शुरू-शुरू में लोग इस धारणा के खिलाफ़ यह प्रचार करते थे कि यह बात ग़लत है, अंग्रेज़ी दवाइयाँ पाउडरों से तैयार होती हैं और पानी में घोली जाती हैं। लखनऊ के एक दवा फ़रोश ने, जिनकी दूकान शहर में सबसे पहले खुली, तो यहाँ तक प्रचार किया था कि उनकी दवाइयाँ नल के पानी में भी नहीं बनती हैं, बल्कि रोज़ उनके यहाँ ठेले पर लद कर कई कलसे गोमती नदी का पानी आता था और वह कलसों-भरा ठेला विज्ञापन के रूप में सदा उनकी दूकान के सामने खड़ा रहता था। लोग-बाग ठाकुर जी को भोग लगा कर अंग्रेज़ी दवा ग्रहण करते थे।

न जाने किस तर्क के आधार पर मिट्टी का तेल जूठन की वस्तुओं में

शामिल कर लिया गया था। लोग-बाग पहले उसे अपने घर की ड्योढ़ी में ही जलाते थे मगर जर्मनी की डीज़ लालटेनें मिट्टी के तेल को घरों के अन्दर ले ही गईं। इसी तरह नल के पानी के सम्बन्ध में भी अनेक भ्रान्त धारणायें फैली थीं। कहा जाता था कि अंग्रेज़ जिस पानी से नहाते और कुल्ला करते हैं उसी को नलों द्वारा घरों में प्रवाहित कर देते हैं; नल भारतीयों को धर्मच्युत करने की एक चाल है, उसमें चमड़े का वाशर लगता है। हमारे नगर के पहले प्लम्बर एक बंगाली बाबू घर-घर जाकर नल लगवाने के लिए अपील करते थे। उनके अनेक तर्कों में एक यह भी था कि जिन परम पावन नदियों में स्नान करना हिन्दू अपना परम धर्म समझते हैं उन्हीं का जल उन्हें आठों याम सुलभ होगा। फिर भी आरम्भ में अनेक वर्षों तक नलों का पानी केवल धोने-धाने के काम में ही लाया गया, पीने और नहाने के लिए उसका व्यवहार न हो सका।

विलायत-गमन क्रान्ति

भक्तो ! विलायत-गमन क्रान्ति का वर्णन कर पुराण-कार आगे भी बाबू की बहुत सी लीलायें बखानेगा। परन्तु भक्तो, आज की पुराणवार्ता यहीं पर समाप्त होती है क्योंकि बाबू वक्ता बाबू श्रोता, सो ठाले की वाहवाह को छोड़ कर और पुजापा न चढ़ेगा। सो कलिकाल के पुराणकार जब पेट पूजा से निस्तरेंगे तब आगे की कथा कहेंगे।

★

विज्ञापन युग

मोहन राकेश

★

मेरे पड़ोसियों की मुझ पर ऐसी कृपा है कि रात को सोने तक और सुबह उठने के साथ ही मुझे ग़ज़लें, भजन और गीत और उनके साथ-साथ चाय तेल और सिर दर्द की टिकियों के विज्ञापन सुनने पड़ते हैं। अब तो मुझे ये विज्ञापन सुनने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि अन्यत्र भी कहीं मैं ग़ालिब की ग़ज़ल सुनता हूँ, या सूरदास का भजन सुनता हूँ, या कोई अच्छा सा गीत सुनता हूँ, तो साथ मेरे दिमाग़ में अपने आप ये शब्द गूँजने लगते हैं—क्या आप के सिर में दर्द रहता है? सिर दर्द से छुटकारा पाइये! एक गोली लीजिए—सिर दर्द ग़ायब!

परिणाम यह है कि अब मेरे लिए कोई ग़ज़ल ग़ज़ल नहीं रही, कोई गीत गीत नहीं रहा, सब किसी-न-किसी चीज़ का विज्ञापन बन गये हैं। दिन भर ये गीत और विज्ञापन मेरा पीछा करते रहते हैं। पहले बहुत मीठे गले में 'रहना नहिं देश बिराना है' की लय और उसके तुरन्त बाद—क्या आप के शरीर में खुजली होती है? खुजली का नाश करने के लिए एक ही राम बाण औषधि है...! कर लें कबीर साहब क्या करते हैं! खुजली कंपनी उन की जिस रचना पर चाहे अपनी मोहर चस्पां कर सकती है।

और बात गीतों ग़ज़लों तक ही सीमित नहीं है। मुझे लगता है कि मेरे चारों ओर हर चीज़ का एक नया मूल्य उभर रहा है, जो उसके आज तक के मूल्य से सर्वथा भिन्न है और जो उसके रूप को मेरे लिए बिल्कुल बदले दे रहा है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो किसी-न-किसी रूप में किसी-न-किसी चीज़ का विज्ञापन न हो। अजन्ता के चित्र और एलोरा की मूर्तियाँ कभी अछूती कला का उदाहरण रही होंगी, परन्तु आज उस कला को एक नयी सार्थकता प्राप्त हो गयी है। उन मूर्तियों का केश-सौंदर्य आज मुझे एक तेल की शीशी का स्मरण कराता है, उनकी आँखें एक फार्मेसी का विज्ञापन प्रतीत होती हैं और उनका समूचा कलेवर एक पेट्रोल कम्पनी की कलाभिरुचि को प्रमाणित करता है। जिन हाथों ने उन कला-कृतियों का निर्माण किया था, वे

हाथ भी आज एक बिस्कुट कंपनी की विकास-योजना के विज्ञापन के रूप में सार्थक हो रहे हैं!

देश के कोने-कोने में बिखरे हुए जितने मन्दिर हैं, जितने पुराने किले और खँडहर हैं, जितने स्तम्भ और स्मारक हैं, वे सब इसी लिए हैं कि लोगों में यातायात की रुचि जाग्रत हो, टूरिस्ट ट्रेड को प्रोत्साहन मिले, विदेश से लोग आकर उनकी तस्वीरें लें और अपनी प्रियतमाओं के पास भेजें। मीनाक्षी और रामेश्वरम् के शिखर और खजुराहो के कक्ष इस दृष्टि से भी उपयोगी हैं कि एक विशेष ब्रांड के सीमेंट की मज़बूती को व्यक्त करने के प्रतीक बन सकें। काश्मीर की सारी पार्वत्य सुषमा, वहाँ की नवयुवतियों का भाव-सौंदर्य और वहाँ के कारीगरों की दिन रात की मेहनत, ये सब इस बात को विज्ञापित करने के उपकरण है कि सफ़ेद रंग का वह शहद जो बंद डिब्बों में मिलता है, सब से अच्छा शहद है! बर्नर्ड शॉ के नाटक हमें यह बतलाते हैं कि ब्रिटेन के किस प्रेस में छपाई सब से अच्छी होती है, प्रशांत सागर में गिराये जाने वाले अणु बम हमें इस बात की चेतावनी देने के लिए हैं कि जब तक हम एक विशेष बीमा कंपनी की पॉलिसी न ले लें तब तक हमारा भविष्य सुरक्षित नहीं और भारत और पाकिस्तान में काश्मीर के लिए झगड़ा इस लिए हो रहा है कि वहाँ के सेबों का मुरब्बा बहुत अच्छा होता है जिसे सिर्फ़ एक ही कंपनी तैयार करती है....!

विधना ने इतनी बारीकबीनी से यह जो धरती बनायी है और मनुष्य ने विज्ञान के आश्रय से उस में जो चार चांद लगाये हैं, वे इसी लिए कि विज्ञापन कला के लिए उपयुक्त भूमि प्रस्तुत की जा सके। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक कोई कोना न बचा होगा जिसका किसी-न-किसी चीज़ के विज्ञापन के लिए उपयोग न किया जा रहा हो। हर चीज़, हर जगह अपने अलावा किसी भी चीज़ और किसी भी जगह का विज्ञापन हो सकती है। गेहूँ की फ़सल एक कपड़े की मिल का विज्ञापन है, क्योंकि नयी फ़सल से प्राप्त हुए नये पैसे का एक ही उपयोग है कि उससे कपड़ा खरीदा जाय। कपड़े की मिल डबल रोटी की बेकरी का विज्ञापन है, क्योंकि मिल में काम करने वाले तभी काम पर जा सकते हैं जब वे डबल रोटी खा चुकें। और बेकरी, वाटर प्रूफ़ जूतों का विज्ञापन है क्योंकि जब तक वाटर प्रूफ़ जूते न होंगे तब तक बारिश में इन्सान डबल रोटी जैसी साधारण चीज़ भी प्राप्त नहीं कर सकता। बहुत सी चीज़ें एक दूसरे का विज्ञापन हैं! फूल इत्र की शीशी का विज्ञापन है, इत्र की शीशी फूलों का विज्ञापन है। पत्र लेखक का विज्ञापन है, लेखक पत्र का विज्ञापन है। सौंदर्य सौंदर्यसाधनों का विज्ञापन है, और सौंदर्यसाधन सौंदर्य के विज्ञापन

हैं। बहुत सी चीज़ें अपना विज्ञापन आप हैं। जैसे उपदेशकता, आलोचकता, नेतागीरी इत्यादि।

मुद्दआ यह कि जहाँ जायें, जिधर जायें, जहाँ रहें, जैसे रहें, इन विज्ञापनों की लपेट से नहीं बचा जा सकता। घर में बन्द हो कर बैठ जायें तो विज्ञापन रोशनदानों के रास्ते हवा में तैरते आते हैं—क्या आज आप ने दाँत साफ़ किये हैं? सबेरे उठते ही सब से पहले क्लोरोफ़िल वाले टुथ पेस्ट से दाँत साफ़ कीजिए। याद रखिए अपने दाँतों को रोगों से बचाने के लिए यही एक साधन है!....घर से निकलिए, हर दोराहे, चौराहे और सड़क के खंभे पर विज्ञापन—ख़तरे से सावधान—धोखे से बचिए इसके पढ़ने से बहुतों का भला होगा—। अख़बार उठा लीजिए, विज्ञापन। पुस्तक उठा लीजिए, विज्ञापन। बस में बैठ जाइए, विज्ञापन। क्या आप का दिल कमज़ोर है? क्या आप का जिस्म टूटता रहता है? क्या आप के सिर के बाल झड़ रहे हैं? क्या आप के घर में झगड़ा रहता है? गोया कि आप की व्यक्तिगत ज़िंदगी बिल्कुल व्यक्तिगत नहीं है, उसे केवल इन विज्ञापनदाताओं के परामर्श से ही जिया जा सकता है।

विज्ञापन-कला जिस तेज़ी से उन्नति कर रही है, उससे मुझे भविष्य के लिए और भी अन्देशा है। मुझे लगता है कि ऐसा युग आने वाला है जब शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और साहित्य, इनका केवल विज्ञापन कला के लिए ही उपयोग रह जाएगा। वैसे तो आज भी इस कला के लिए इनका खासा उपयोग होता है। बहुत सी शिक्षण-संस्थाएँ हैं, जो साम्प्रदायिक संस्थाओं का विज्ञापन हैं। कई कला केन्द्र कुछ स्वनामधन्य लोगों की दानवीरता का विज्ञापन मात्र हैं। अपनी पीढ़ी के कई लेखकों की कृतियाँ लाला छगन लाल मगन लाल या इसी तरह के नाम के किसी और लाला की स्मारक निधि से प्रकाशित हो कर लाला जी की दिवंगत आत्मा के प्रति स्मारक होने का फ़र्ज़ अदा कर रही हैं। मगर आने वाले युग में कला दो क़दम और आगे बढ़ जाएगी। विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के दीक्षान्त महोत्सव पर जो डिग्रियाँ दी जाएँगी, उनके निचले कोने में छपा रहेगा आप की शिक्षा के उपयोग का एक ही मार्ग है—आज ही आयात-निर्यात का धंधा आरम्भ कीजिए। मुफ्त सूची पत्र के लिए लिखिए...। हर नये आविष्कारक का चेहरा मुस्कराता हुआ टेलीवीज़न सेट पर आकर कुछ इस तरह का निवेदन करेगा—मुझे यह कहते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरे प्रयत्न की सफलता का सारा श्रेय रबड़ के टायर बनानेवाली कम्पनी को है, क्योंकि उन्हीं के प्रोत्साहन और प्रेरणा से मैंने इस दिशा में क़दम बढ़ाया था। विष्णु के मन्दिर खड़े होंगे जिनमें संगमरमर की सुन्दर प्रतिमा के नीचे पट्टी लगी होगी—'याद रखिए, इस मूर्ति और इस

भवन के निर्माण का श्रेय लाल हाथी के निशान वाले निर्माताओं को है। वास्तुकला सम्बन्धी अपनी सभी आवश्यकताओं के लिए लाल हाथी का निशान कभी मत भूलिए।' और ऐसे-ऐसे उपन्यास हाथ में आया करेंगे जिन की सुन्दर चमड़े की जिल्द पर एक ओर बारीक अक्षरों में छपा होगा—साहित्य में अभिरुचि रखने वालों को इक्का मार्का साबुन बनाने वालों की एक और तुच्छ भेंट। और बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाएगी कि जब एक दूल्हा बड़े अरमान से दुलहिन ब्याह कर घर लाएगा और घूँघट हटा कर उसके रूप की प्रशंसा में पहला वाक्य कहेगा तो दुलहिन मधुर भाव से आँख उठा कर हृदय का सारा दुलार शब्दों में उँडेलती हुई कहेगी—बताऊँ मैं इतनी सुन्दर क्यों दिखायी देती हूँ? यह इस लिए कि मैं प्रति प्रातः उठ कर नौ सौ इकानवे नम्बर के साबुन से नहाती हूँ। कल से आप भी घर में नौ सौ इक्यानवे नंबर का साबुन रखिए। इसकी सुमधुर गन्ध सारा दिन दिमाग़ को ताज़ा रखती है और इसके मुलायम झाग से त्वचा बहुत कोमल रहती है। और इसकी बड़ी टिकिया ख़रीदने से पैसे की भी किफ़ायत होती है। और इस के बाद उनका नौ सौ इक्यानवे से सुगन्धित चेहरा दूल्हा के चेहरे के बहुत पास चला जाएगा।

जहाँ तक विज्ञापन के लिए जगह का सवाल है, बहुत सी जगहें हैं जो अभी तक एक्सप्लायट नहीं की जा सकीं। क्योंकि विज्ञापन कला की दृष्टि से सब चीज़ों का आपस में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इसलिए दवाई की शीशियों में मक्खन के डिब्बों के विज्ञापन होने चाहिये और मक्खन के डिब्बों में दवाई की शीशियों के। चित्रकला गैलरियों में चित्रों के अतिरिक्त तेल के इश्तहार टाँगे जाने चाहिए और तेल की बोतलों पर चित्रकला प्रदर्शिनी की सूचना चस्पां होनी चाहिए। कंबलों और दुशालों में चाय और कोको के इश्तहार बुने जा सकते हैं। नमदे और ग़ालीचे रबड़ सोल के जूतों के विज्ञापन का आदर्श साधन हो सकते हैं। बैंकों की दीवारों पर लाटरी और रेस कोर्स के विज्ञापन दिये जा सकते हैं। रेस कोर्स में बचत की स्कीमों का विज्ञापन दिया जा सकता है। रेल और हवाई जहाज़ के टिकटों पर बीमा कम्पनियों का विज्ञापन हो सकता है और अस्पतालों की दीवारों पर मैट्रिमोनियल विज्ञापन लगाये जा सकते हैं।

यह तो आने वाले कल की बात है, वैसे आज भी स्थिति यह है कि मुझे हर जगह विज्ञापन ही विज्ञापन दिखायी देते हैं—जहाँ विज्ञापन हों वहाँ भी, और जहाँ न हों वहाँ भी। मेरा मस्तिष्क, हर चेहरे, हर ध्वनि और हर नाम का सम्बन्ध किसी न किसी विज्ञापन के साथ जोड़ देता है। मैं सुबह उठ कर सामने की दुकान के लड़के को चाय लाने का आदेश देता हूँ तो चाय का नाम लेते ही

मुझे नीलगिरि की सुन्दरी का ध्यान आ जाता है जिसका चेहरा मैं रोज़ अख़-बार में देखता हूँ और नीलगिरि के नाम से मुझे तुरन्त काफ़ी प्रदेश की ढलानें याद आ जाती हैं। साथ ही एक बुड्ढे राजपूत का चेहरा मेरी आँखों के आगे फिरने लगता है और मैं अनायास बुदबुदाने लगता हूँ—यह अच्छी काफ़ी और यह अच्छा चेहरा दोनों भारतीय हैं!

ख़ैर, लड़का दो मिनट में ही चाय की प्याली लेकर मुस्कराता हुआ मेरे सामने आ खड़ा होता है। उसके अधखुले ओठों के बीच उसकी सफ़ेद दन्त-पंक्ति को देख कर मुझे लगता है कि वह विशुद्ध क्लोरोफ़िल मुस्कराहट मुस्करा रहा है। अमरीकन मुहावरे में इसे मिलियन डालर स्माइल कहते हैं। और वह लड़का है कि रोज़ छः पैसे की चाय की प्याली मुझे पकड़ाता हुआ एक मिलियन डालर की मुस्कराहट मुस्करा जाता है। मेरी कई बार ख़ाहिश होती है कि लड़के को किसी क्लोरोफ़िल कंपनी के हवाले कर दूँ, जिससे उस के दांतों का सही मूल्य संसार के सामने आ सके। और जब मैं यह सोच रहा होता हूँ, तभी ईथर में तैरती हुई स्त्री कंठ की सुमधुर आवाज़ सुनाई देती है—क्या आप का हाफ़िज़ा दुरुस्त नहीं है? अपना हाफ़िज़ा दुरुस्त करने की ओर आज ही ध्यान दीजिए....

मुझे ठीक मालूम नहीं कि मेरा हाफ़िज़ा दुरुस्त है या नहीं। मगर मैं किसी बच्चे को किलकारी मार कर हँसते देखता हूँ, तो मुझे लाल डिब्बे में बंद बेबी मिल्क की याद हो आती है। किसी सुन्दर दृश्य को देखता हूँ तो उनतीस रुपये वाला कैमरा मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है। विवाह मंडप के पास खड़े होकर मुझे नेशनल सेविंग्ज़ सर्टिफ़िकेट्स की याद ज़रूर आती है। मुहल्ले के लाल चौधरी मुझसे मिलने आते हैं तो मुझे लगता है कि विटामिन बी कम्पलेक्स का विज्ञापन चला आ रहा है। दफ्तर की नयी टाइपिस्ट रोज़ी का समूचा व्यक्तित्व मुझे स्कारलेट रंग की लिपस्टिक का विज्ञापन प्रतीत होता है। और सच कहूँ तो हालत यहाँ तक पहुँच गयी है कि मैं आप शीशे के सामने खड़ा होता हूँ तो मुझे लगता है कि लिवर साल्ट का विज्ञापन देख रहा हूँ।

★

समाधि

कृष्ण बलदेव वैद

★

आज कहीं नहीं जाऊँगा, कहीं भी नहीं।

बिमल कुछ देर मुँह टेढ़ा किये एक टक मेज़ पर पड़े काग़ज़ों को घूरता रहा।

बेकली कहीं जाने (या न जाने) से, किसी से मिलने (या न मिलने) से दिन भर मुँह लटकाए भटकते रहने (या रात भर करवटें बदलते रहने) से, रोने (गाने या गुनगुनाने) से, हँसने (हँसाने या हिनहिनाने) से कदापि दूर नहीं होती। बेकली को दूर करने का एक मात्र उपाय है—साली को पकड़ कर गरदन से, यदि सम्भव हो तो) कला में व्यक्त कर दो।

बिमल अनायास धीरे से मुस्करा दिया।

धीरे से मुस्करा दिये, कहने लगे यह प्यार है।

बिमल ने सायास अपने होंठों की फड़कन को दबाते हुए फिर मेज़ पर पड़े काग़ज़ों की ओर घूरना शुरू कर दिया और उसका मुँह फिर टेढ़ा हो गया।

कहते रहें। जो उनके जी में आए, किन्तु मैं आज भीष्म-प्रतिज्ञा कर के बैठा हूँ। आज यहाँ से हिल के नहीं दूँगा। पढ़ूँगा, लिखूँगा, (अर्थात् जान लड़ा दूँगा)। कहते हैं बिना तपस्या के कुछ भी नहीं हो पाता (अर्थात् जो होता है वह न कुछ के बराबर है)। बिल्कुल ठीक कहते हैं।

तपस्या, साधना, आराधना, तपश्चर्या, घोर निराशा, (घनघोर घटाएँ), घनीभूत अनुभूति और (अन्तिम है) घनी मूछें।

बिमल ऊब के मुस्कराया नहीं बल्कि अपने पिता की घनी मूँछों के आक्रोश-जन्य नृत्य की कल्पना कर के किंचित् काँप उठा। उठ कर दरवाजा बन्द कर दूँ (आज इतवार है), कहीं पिता जी एक हाथ में चश्मा उठाए, दूसरे से अख़बार लटकाए, मुँह पर एक कृत्रिम मुस्कान की झिल्ली चढ़ाए कमरे में आ घुसे तो (एक तो उन्हें निकालना मुश्किल हो जायेगा और दूसरे) सारी साधना दूर हो जाएगी, वे आते ही भविष्यवाणी करने लगेंगे और अख़बार में निकले नौकरियों के विज्ञापन दिखा कर उसे पागल कर देंगे।

बिमल हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। उसने हौले से दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया और एक लम्बी साँस ली। वापस मेज़ की ओर लौटते हुए उसकी दृष्टि (दुर्भाग्यवश) अलमारी में सजी पुस्तकों की पंक्तियों पर जा टिकी और वह तत्क्षण वहीं ठिठक गया।

बिमल, बड़े-बड़े ग्रन्थ रखे हुए हैं ?

शर्म के मारे बिमल की आँखें ज़मीन में गड़ने लगीं और उसका एक हाथ आदि ग्रन्थ से उलझ गया।

एक चुल्लू भर पानी मंगवाओ (या स्वयं ही ले आओ) और उसमें डूब मरो।

मेज़ तक पहुँचते पहुँचते बिमल ने एक बार कनखियों से अलमारी की ओर देखा और हताश होकर कुरसी पर जा गिरा। फिर मेज़ पर पड़े कोरे काग़ज़ों की ढेरी की ओर एक-टक घूरने लगा। फिर यकायक कलम उठाकर मेज़ पर झुक गया। थोड़ी ही देर में एक काग़ज़ काला हो गया किन्तु उसके साथ ही मानों बिमल का माथा भी कलंकित हो गया हो।

सोचो। सींचो। गोड़ो। निराई करो। तब कहीं जाकर शायद कुछ उपजे। बन्जर भूमि, झाड़ झंखाड़। बकवास मत करो। (बकवास) लिखो और.... (फाड़ दो)।

बिमल ने अभी तक जो लिखा था एकाएक सब फाड़ दिया। चर्र-चर्र की आवाज़ कमरे की निस्तब्धता को चीरती हुई क्रमशः लुप्त हो गयी और काग़ज़ के पुरजे फर्श पर बिखर गये। बिमल ने अनुभव किया मानो किसी ने उसकी तपस्या की धज्जियाँ उड़ा दी हों।

बिमल, क्या कर रहे हो ?

अपनी कृति की इति देख रहा हूँ।

देखो, ग़ौर से देखो।

बिमल ने कलम मेज़ पर फेंक कर दोनों हाथों से माथे को जकड़ लिया। माथे की त्वचा के पीछे बहते हुए ऊब के दरिया में कई एक छोटी-छोटी मछलियाँ फुदकने लगीं। बिमल का चिन्तन उन मछलियों को फँसाने का (व्यर्थ) उपक्रम करने लगा।

बिमल, तुम्हारे माथे में क्या हो रहा है ? शायद तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं।

बिमल की जकड़ कुछ ढीली हो गयी और वह लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा।

बिमल, यह क्या कर रहे हो ?

प्राणायाम।

और अब ?

आदिग्रंथेर....

बिमल को फिर अपने होंठों पर एक मुस्कराहट सी बिछती हुई अनुभव हुई और उसे लगा मानो उसके सामने मेज़ पर पड़े काग़ज़ों पर मातम की सफ़ें बिछती चली जा रही हों। उसके दाँतों ने (जब यह देखा तो) मुस्कराहट को काटना शुरू कर दिया। मुस्कराहट के संग (बेचारा) निचला होंठ भी कट गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अनाज के संग घुन पिस जाता है। बिमल ने कटे हुए होंठ को चूसते हुए महसूस किया जैसे वह अपनी मुस्कराहट का खून चूस रहा हो !

विमल एक सर्द आह भर कर उठा और लड़खड़ाता हुआ शीशे के सामने जा खड़ा हुआ।

विमल रोते क्यों हो, कहानी नहीं लिखी जा रही है इसलिये या कि शकल ही ऐसी है ?

जी दोनों ही बातें हैं।

विमल, तुम बहुत फ्रैंक हो।

जी मेरी बदकिस्मती है।

बिमल की आँखों में कुछ सुलगने सा लगा।

बिमल यहाँ खड़े क्या कर रहे हो ?

जी झख मार रहा हूँ।

कुर्सी में बैठ कर मारो।

जो आज्ञा।

बिमल चुपचाप कुर्सी में बैठ गया। इस बार उसने आलमारी की ओर नहीं देखा। कनखियों से भी नहीं। उसने कलम उठाई, (निब कुछ टेढ़ी हो गयी थी) और मेज़ पर झुका ही था कि....

बिमल की कहानी सुनोगे ?

ज़रूर सुनेंगे, रमू, ज़रूर सुनेंगे।

हाँ भई, सब लोग ध्यान-पूर्वक सुनें और भरसक लाभ उठाएँ, विशेषकर वे जो स्वयं कहानी लेखक हैं... ....। एक दो तीन !!!

ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। हरी हरी घास बिछी हुई थी। आकाश गहरे नीले रंग का था। धरती (माता) का रंग मुझे याद नहीं, शायद वह भी उस समय गहरे नीले रंग की ही थी। पंछी चहचहा रहे थे और पशु उस हरी-हरी घास पर विचर रहे होंगे, ऐसा मेरा अनुमान है। और इसी बीच श्यामा कमरे में आई। वह निगोड़ी कमरे में क्या करने आई, यह वह स्वयं नहीं जानती, बिमल बेचारा तो क्या जानेगा। यह (हतभागी) श्यामा कई

बार इस कमरे में आई है और लगभग उतनी ही बार कमरे से बाहर भी चली गयी है। (क्या बात है मेरी इस पीत वर्ण श्यामा की) परन्तु यह कमरा अभी तक वहीं का वहीं खड़ा है। अजीब शै है यह कमरा भी! नाना प्रकार के लोग इस कमरे में आते हैं और चले जाते हैं, आते हैं और चले जाते हैं। और तो और बिमल की कहानियों के ही असंख्य पात्र यदाकदा इस कमरे में आए हैं और अपनी-अपनी (बेसुरी) बांसुरी बजा कर बिमल के नाम पर फटकार भेजते हुए अपना सा मुँह लेकर चले गये हैं। किन्तु यह कमरा ऐसा जड़ है, ऐसा निर्मम है कि यहाँ से टस-से-मस नहीं होता। क्या है यह। आह यह कमरा। आह इस कमरे की निस्तब्धता। श्यामा बेचारी किस्मत की मारी, इसी सोच में गोते लगाती लगाती जब एकदम बेहाल हो जाती है तो अपने सिर पर सवार इस आततताई बिमल की ओर सजल नेत्रों से देखकर पुकार उठती है—क्यों गुरू तुम मेरा पीछा कब छोड़ोगे। आह बेचारी श्यामा। आह वह आर्द्रा।

अब भला पूछो इस से कि यह भी कोई बात है। अगर लिखना ही है—पहले तो हम यही मानने के लिये तैयार नहीं कि तुम्हें किसी डाक्टर या वैद्य ने कहा है कि ज़रूर लिखो ही—तो कम-से-कम ऐसा तो लिखो जिसका कोई सिर पैर तो हो, नंगा सर हो, नंगे पैर हों, हम कुछ नहीं कहेंगे, लेकिन कुछ हो तो। श्यामा आई। अरे भई सुन लिया। आई है तो आए, हम क्या करें। हुआ न। श्यामा आई। जैसे वही तो एक आई है, बाकी के सब तो बस गये ही गये हैं। साले हमने तेरी सेवा में सर्वस्व लुटा दिया है, अपनी लुटिया तक डुबो दी है और सी तक नहीं की और तुझे दिन-रात उस श्यामा की ही चिन्ता है। अब छोड़ भी दो बेचारी को। अच्छा बिमल एक बात का जवाब दो, सिर्फ़ एक का, अगर दूसरी पूछें तो हमें पकड़ कर पुलिस के हवाले कर देना। मान लो कि एक रोज़ श्यामा नहीं आती, सपोज़ करो कि नहीं आती, हम एक बात कहते हैं, कि एक रोज़ किसी भी कारण से—सिर्फ़ सपोज़ कर रहे हैं इसलिये कारण कोई भी हो सकता है—श्यामा नहीं आती तो क्या हो जायेगा। आफ़त आ जाएगी न! अगर श्यामा के न आने से, कारण कुछ भी हो, आफ़त आ जाती है तो बता दो हम अभी मौन हो जाएँगे। बोलो। बोलो। हम कहते हैं कि एक दिन के लिये भी तुम उसे बाहर चल रही ठंडी-ठंडी हवा में खुला नहीं छोड़ सकते कि बेचारी हरी-हरी घास पर क्षण-भर के लिये लोट ले और अपने भीतर की आग को इसी तरह शान्त कर ले क्योंकि उस कमरे में आ-आ कर तो वह हार गयी। एक दिन के लिये छोड़ दो बेचारी को, बिमल। सिर्फ़ एक दिन के लिये श्यामा आई। जान ले लो बेचारी की। अच्छा उसकी नहीं तो हमारी ही ले लो। श्यामा आई। उंह। साले अगर लिखना ही है तो कुछ इस कोटि का लिखो.......

What is life
Without a knife
To one who has tasted a higher existence !
और या फिर ऐसा लिखो—
O hush thee my baby
Thy sire was a knight
Thy mother a lady
Both lovely and bright
The woods and the glens
And the meadows you see
Are all, dear baby,
Belonging to thee.
श्यामा आई । कोई तुक है, कोई बात है ।
विमल क्या हो रहा है ?
रमू याद आ रहा है ।
उनके यहाँ जाना चाहते हो ?
हाँ । नहीं । कहीं भी नहीं जाना चाहता ।
तो फिर अपना काम करो ?
ओ० के०

बिमल ने सर को एक भरपूर झटका दिया और आँखें बन्द करके बैठ गया । आँखों का बन्द होना था कि रमू एक कलाबाज़ी मार कर फिर उसके सामने आ गया ।.... ...

देखो विमल, इस तरह न देखो । बस धीरे से मुस्करा दो, हम समझेंगे कि यही प्यार है । नहीं कहोगे । बोलो । बोलोगे कि करूँ गुदगुदी । हाँ जी, हम तो बहुत ही बुरे हैं । हम तो श्यामा के तलुओं की धूल भी नहीं, हमें तो बस जान से मार दो । किल मी, मर्डर मी, स्लाटर मी । जूलियट्टा, जूलियट्टा, प्यारी जूलियट्टा । अब भी नहीं हंसोगे । नहीं हंसोगे । अच्छा नहीं तो बस श्यामा को लेकर घुस जाओ अपने कमरे में । हाँ जी हम तो बहुत वल्गर हैं । महात्मा बुद्ध के अवतार तो बस तुम्हीं हो । बिमल कल भारत भूषण मिला था । कह रहा था—पाँच हज़ार ई० पू० से लेकर अब तक के सारे भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के बाद कल रात ठीक बारह बजे मैं इस....ख़ैर छोड़ो भारत भूषण को, उसकी कभी फिर सुनाऊँगा । इस समय तो यही बताओ कि तुमने हिन्दुस्तानी की 'रोमियो औरजूलियट' देखी है । नहीं तो साले तू

ने देखा ही क्या है सिवाय श्यामा के! जाओ साले, जाकर श्यामा के तलुए चाटो। हम तो अब दो घड़ी अपनी श्यामा से दिल बहलाएँगे।

रानी अर्थात् क्विन अर्थात् मिसिज़ किंग। अरे भई इधर तो आओ। हम बिमल नहीं हैं कि बस सात कोस की दूरी से ही बहल जाएँ। और तुम श्यामा नहीं हो कि आओ और ख़ाली हाथ चली जाओ। सच कहता हूँ कि आज तो वह ग़ज़ब ढा रही हो, वह ग़ज़ब ढा रही हो कि सती सावित्री सीता ने भी क्या ढाया होगा। बस एक गिलास चाय और पिलवा दो, मेरी रानी। क्या कहा यह हमारा आठवां गिलास है। देखो मिसिज किंग, हम तुम्हारे पाँव पड़ते हैं, हम जो आज तक किसी के पाँव नहीं पड़े, श्यामा के भी नहीं। सिर्फ़ एक गिलास। हम दोनों बाँट लेंगे। प्लीज़, पिताजी, प्लीज। बस यहीं से आवाज़ लगा दो और फिर आकर थोड़ी देर हमारी गोदी में बैठ जाओ, अच्छा वहाँ नहीं बैठना चाहतीं तो हमारे चूंडे पर चढ़ कर बैठ जाओ, ओहदे विच की फ़र्क पैन्दा है। बिमल मैंने पंजाबी स्पिरिट को पकड़ लिया है और अब ऐसी पंजाबी बोलता हूँ कि आठ पंजाबी एक तरफ़ हो जाएँ और मैं दूसरी तरफ़, अगर सब का मुंह न तोड़ कर रख दूँ तो कहना रमू दे विच बकवास होन्दा पया है। क्यों कैसी लगी। अबे रानी महामाया, दुर्गे, तुम ने अभी तक चाय के लिये नहीं कहा। अच्छा तो हम अभी, इसी समय on the spot रो-रो के जान देंगे, तब क्या अच्छा लगेगा!

बिमल, देखो, जब तक हमारी बात पूरी नहीं होती हम उठने नहीं देंगे। जाओगे जाने न देंगे, रस्ता रोक लेंगे। तो और क्या, हमें क्या याद नहीं। बिमल इस तरह उचकदम की बीमारी हो जाएगी। एक जगह जमकर बैठना सीखो। अब हम हैं कल शाम से यहीं बैठे हैं और परसों दोपहर तक यहीं बैठे रहने का विचार है। तुम बैठो तो बिमल हम अभी जाकर श्यामा को भी यहीं बुला लाएँगे। फिर तो बैठोगे।

साले, बिमल, तेरी सारी उमर श्यामा के इन्तजार में बीत जाएगी और श्यामा आ के नहीं देगी। हाँ रानी, हम ने एक दिन उससे पूछा था। हाँ, हाँ एक दिन हम भी हरी-हरी घास पर टहलने के लिये निकल गये थे। आखिर तुम जानो इन्सान हैं, क्या हुआ जो श्यामा नहीं तो। हाँ तो एक दिन—अरे भई उसी दिन जब ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी और आकाश गहरे नीले रंग का था और तुम ने कहा था, आज तो बिमल की चेत गयी, आज तो श्यामा का बाप भी उसके पीछे-पीछे आ निकलेगा—हाँ तो उसी दिन हम थोड़ी देर के लिये अकेले निकल गये थे और वहीं-कहीं हम ने हरी-हरी घास पर एक युवती को औंधे मुँह लेटा पाया। हम ने कहा, हो-न-हो, है वह श्यामा ही। सो हमने आगे बढ़ कर सादर नमस्कार किया और बड़े

विनीत भाव से पूछा—श्यामा जी आज आप बिमल के उस कमरे में न होकर यहाँ कैसे, कुशल तो है ? श्यामा ने तुनक कर कहा—अब हम उस कमरे में कभी नहीं जाएँगे। हम पूछना चाहते थे कि आखिर बात क्या हुई कि इतने में एक चौकीदार ने आकर हमारी ओर ऐसे देखा कि जैसे हम ही बिमल हों। हम चुप चाप वापिस चले आए।

अबे गोबर गणेश, अब तो कुछ बोल। बोल, नहीं तो हम समझेंगे कि तुम भी राम खिलौने की तरह बहुत गहरे में चले गये हो। राम खिलौने को नहीं जानते ? राम खिलौने was the greatest genius ever born ! उससे बड़ा जीनियस हम ने आज तक नहीं देखा। हाँ भई, सच कहते हैं। जब हमारे साथ पढ़ता था तो हमें जमना पार ले जाता था और हमें मार-मार कर हमसे कहलवाया करता था कि वह जीनियस है। हम चिल्ला चिल्लाकर कहते थे—राम खिलौने तू दुनिया का सबसे बड़ा जीनियस है लेकिन उसे यक़ीन थोड़े ही आता था। कहता था—तुम झूठ कहते हो। हम कहते—राम खिलौने, अगर हम झूठ कहें तो हमें पाप चढ़े। लेकिन राम खिलौने को फिर भी यकीन नहीं आता था। और फिर हमारे देखते ही-देखते राम खिलौने कहीं गहरे में चला जाता था और उसका मुँह कुछ इसी तरह लटक जाता था जिस तरह इस वक्त तेरा लटका हुआ है। हाँ वह अब भी है। नयी सड़क पर लोहे की दुकान करता है। हम डर के मारे उधर जाते नहीं, कहीं फिर उसने मारपीट शुरू कर दी और हम से पूछने लगा तो भीड़ इकट्ठी हो जाएगी।

अच्छा, भई बिमल, अब हम थक गये। काफ़ी बकवास कर लिया लेकिन तुम नहीं बोले। न सही। लेकिन अब हम से भी और नहीं बोला जाता। हम भी गहरे में जा रहे हैं। यानी सो रहे हैं। रानी, देखो हमें जगाना नहीं, नहीं तो हम उठ कर फिर वाही-तबाही बकना शुरू कर देंगे, हां हां हम अपना भला-बुरा खूब जानते हैं, हम कोई बिमल थोड़े हैं, हम खुद ही जग जाएँगे—

बिमल ने आँखें खोलीं। घुटनों पर हाथ रख कर उठा और दिल पर हाथ रख कर फिर वहीं बैठ गया।

नहीं, आज कहीं नहीं जाऊँगा।

कुछ देर इसी वाक्य को दोहरा लेने के बाद जब बिमल की संकल्प-शक्ति को कुछ बल मिला तो उसका हाथ फिर कलम की ओर बढ़ा। कलम उठा कर, उसने फिर आँखें मूँद लीं लेकिन उससे एकाग्रता की बजाय उसे नींद सी आने लगी। फिर उसने दाँत पीस कर सिर को ज़ोर से एक झटका दिया। सिर किसी झुनझुने की भाँति बज उठा और उसमें पड़ी कंकरियाँ एक दूसरी में गडमड हो गयीं। बिमल ने मेज़ पर झुककर धड़ाधड़ लिखना

शुरू कर दिया।

लिखने से पहले मैं हमेशा डूड्लिंग किया करता हूँ, बिमल ने सब से ऊपर यही वाक्य लिखा और डूड्लिंग करने लगा —

रमू, रानी, नीलम देश की रानी की अमर कहानी, नयी सड़क पर लोहे की दूकान, जीनियस, चर्चिल ने हिटलर को चर्का दिया, टेलिफ़ोन खड़काए, गहराई, गौरैया, गोरी, बोरी, बोरियत। बताओ रमू मैं जीनियस हूँ कि नहीं, राम खिलौने, आर्टिस्ट, चित्रों में घुन लग गया है, दिमाग़ में भी, अंग शिथिल हो गये हैं, ग़ालिब के, एक ढूंढो हज़ार मिलते हैं, कुछ कमी नहीं है, अगर देश में कमी है तो सिर्फ एक चीज़ की और वह चीज़ क्या है, घोंघाबसंत, पंचमी, शिल्पकार, सप्तमी, एक प्रयास और करूँगा, और फिर मौन धारण कर लूँगा, विदेश पथे, क्या बताएँ, ऊब गये, उलझ गये, डूब गये, गहराइयों में, खो गये, चार पैसे, घर कैसे जाएं, अजीब दुर्दशा हो रही है, किसकी, हर एक की, लिखेंगे, जब तक दम में दम है, जिन्दगी का रहस्य, टटोलेंगे, अन्धेरे में, भटकेंगे, उभरेंगे, कभी तो, क्या हुआ, जो हुआ सो हुआ, जो नहीं हुआ उसी की चिन्ता है, हम को, सताओ नहीं, हम बहुत दुखी हैं, कुछ पता भी चले. ख़ाब है कि बेदारी, कुछ पता नहीं चलता, कुछ पता नहीं चलता, गुमशुदा की तलाश, परदा फाश, नहीं होने देंगे, हम बड़े वह हैं... ....

बिमल क्या कर रहे हो ?

झुनझुने में पड़ी कंकरियां काग़ज़ पर बिखेर रहा हूँ।

शाबाशे।

वाह वाह, बहुत अच्छे, बहुत अच्छे, खूब, क्या अनुपम चित्र है, मौत के माते, सृजन के सोते, सूख गये, अब क्या होगा, उस अबाध का, जिसकी खोज में हम निकले थे, वापस आ जाओ, खोज पूरी हो गयी, क्या हुआ जो हाथ कुछ भी नहीं लगा, सिकन्दर जब मरा तो उस बेचारे के भी दोनों हाथ खाली थे, लौट के वापस चला आऊं मेरी आदत नहीं, नहीं, ऐसा हरगिज़ नहीं होगा, इतवार का दिन है, सुबह के दस बजे हैं, सब नर और नारी, ऊधम मचा हुआ है, इसी ऊधम को शब्दबद्ध कर रहा हूँ, शब्दों का बध, सुनोगे, लिखोगे, क्या, अपना सर पीटो, और पीटो, घन्टियो बजो, देश को तजो, इस देश में, अपने देश में, सब कुछ है प्यारे, फिर तुम इसे तज कर, कहाँ, मास्को, नहीं, अपने देश में सब कुछ है प्यारे, कन्द मूल जो हैं, हम प्रस्तुत हैं, माला, मन की, उस पार और इस पार की, अपार की, उपहार की अर्थात् गले की, सम्पादक के नाम पत्रों की, चुराये हुए लेखों की, बड़े बड़े सवाल उठाए जा रहे हैं, कौन उठा रहा है, बहुत से सरफिरे हैं, जवाब

कौन देगा, यही तो सवाल है, जीना मुहाल है, माई का लाल, बको मत, लिखो, तथ्य और सत्य का अन्तर, प्रश्न और उत्तर, काफ़ी हाउस में, लड़का-लड़की-संवाद, अवसाद, केदार नाथ (सिंह) की यात्रा को गये थे, एक लम्बी कविता, सुनियेगा, अनुवाद, कहानी में गठन नहीं है, कदाचित् कहानीकार ने कसरत बहुत कम की है, हम ने एक पहलवान देखा था, वाह रे गठन, मैं कहानीकार को सुझाव देता हूँ कि वह भी जाकर उसी पहलवान को देख-भर आए, या फिर हम ने एक माडल स्त्री को देखा था, यानी हमने उस पर निगाहों का पथराव किया था, किन्तु वह फिर भी नहीं बिखरी, उलटा और निखर गयी थी, किंचित् बिफर भी गयी थी, हम भाग खड़े हुए थे, घर पहुंचे तो हाँफ रहे थे, बुरी तरह, हमने कहा, हम बाल बाल बच गये, जी नहीं यह बाल की खाल नहीं आप ही की खाल है, जो हम उतार रहे हैं, हिन्दी साहित्य पर एक साथ खिड़कियों की बारिश होने लगी है, रौशनदानों के ओले पड़ रहे हैं, अब क्या होगा, ह्यूबर्ट, हम कहाँ जा रहे हैं, हमारी संवेदना पर काई जम गयी है, आपकी पर भी, फिर तो यूँ कहें कि हमारे और आपके बीच तादात्म्य स्थापित होने जा रहा है, हाँ मेरी जान, आह, उफ़....

बिमल कराह क्यों रहे हो ?

कि राह नहीं मिलती।

दिशा-संकेत, बेच कर ही दम लूँगा, अभी तो शाम कुमार हम ने लिखा ही क्या है, एक हम ही ने क्या, किसी ने भी क्या लिखा है, शाम कुमार एक बात है आपके चित्र हमारी समझ में क्यों नहीं आते, फिर भी बहुत अच्छे लगते हैं, यह दूसरी बात है कि हम ख़रीद नहीं पाते, लेकिन शाम कुमार यह तो बताओ कि इन टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं में जो जादू है वह तुम्हें कहाँ पड़ा मिल गया, बोलो शाम कुमार, ओजी, ओजी, शाम कुमार इस ओजी का क्या मतलब है, हम तुम्हारे चित्रों की प्रशंसा करने आए हैं और तुम.... और शाम कुमार एकाएक सिर पर पाँव रख कर भाग खड़ा हुआ, प्रशंसकों की भीड़ को चीरता हुआ, क्रन्दन करता हुआ और प्रशंसकों का प्रति-निधि उसके पीछे पीछे भागने लगा, सड़क के दोनों ओर तमाशाइयों की भीड़ कतारें बाँध कर खड़ी हो गयी, कुछ तमाशाई सोच रहे थे कि क्या आज फिर छब्बीस जनवरी है, दूसरे उंगलियाँ उठा उठा कर कह रहे थे, वह शाम कुमार भागा जा रहा है। क्यों ? किसी प्रशंसक ने सात सवाल एक साथ कर दिये थे।

बिमल यह किस ओर बहक गये ?

नहीं जानता।

रुक जाओ।

क्यों ?

उधर कुछ भी नहीं है।

किधर है कुछ।

और निखिल ने व्याकुल होकर अपने सारे वस्त्र तार-तार कर दिये और चीख़ उठा—कहीं भी कुछ नहीं है, सभी ओर यातना ही यातना है, अनुभूति की जन्मदायिनी-यातना, सर्व-दुःख-निवारिणी........

बिमल अब डूड्लिंग बन्द करो, अब तो तुम्हारा कलम चल निकला है ?

अश्वमेध यज्ञ........

शीर्षक सुन्दर है, हम कहना चाहते थे, लेकिन जो हम कहना चाहते थे वह सब तो रमेश भाई कह गये और हम उनका मुँह देखते रह गये अब हम क्या कहें, रमेश भाई, आप ने धोखा किया, भविष्य में अथवा निकट भविष्य में जब कभी भी हम आप से मिलेंगे, हम यह कहे बग़ैर नहीं रहेंगे कि रमेश भाई आप ने हमें धोखा दिया। चलो अच्छा हुआ हमें अब कुछ कहने को तो मिल गया, जब कभी आप से भेंट होती थी तो हमें यही नहीं सूझता था कि हम आप से क्या कहें, हम बार-बार यही कह दिया करते थे, रमेश भाई चहुँ ओर आपकी प्रशंसा हो रही है, अब कुछ और भी कह सकेंगे, रमेश भाई इस धोखे के लिये धन्यवाद।

बिमल, अब तुम्हारा हाथ खुल गया है, अब लिखो।

बहुत अच्छा।

विनोद कमरे में बैठा है (श्यामा की इन्तज़ारी में नहीं), या कमरा विनोद पर बैठा है, कुछ पता नहीं चलता, दोनों ही बातें हो सकती हैं, तीसरी नहीं हो सकती, जब तीसरी होती है तो बकवास जन्म लेता है, बकवास का जन्म, क्या सुन्दर शीर्षक है, विमल जी, सच कहते हैं आप के शीर्षक सदैव बहुत अनोखे होते हैं, एक दम अछूते, सुनते ही हमारी तो हैरत गुम हो जाती है, मार्मिक, अनुभूतिजन्य, प्रतिभा-सम्पन्न, गगन-भेदी, विमल जी, सच कहते हैं आपके शीर्षकों के लिये हिन्दी भाषा में यथेष्ट विशेषण उपलब्ध नहीं। आपका वह शीर्षक—एक बात का रहस्य—बिमल जी, हमें सोते जागते आन्दोलित करता रहता है। बिमल जी, आपके इस शीर्षक ने तो हमारा सोना दूभर कर रखा है। हम तो यहाँ तक कहेंगे, विमल जी, कि आप और सब कुछ छोड़-छाड़कर दिन रात शीर्षक जुटाने में ही यदि जुट जाएँ तो हिन्दी साहित्य का कल्याण हो जाए, मज़ाक नहीं करते, एक बात कहते हैं, विमल जी, आप जा कर हमारे इस सुझाव पर ग़ौर तो करें....

विमल, तुम फिर........?

अच्छा, अच्छा, कोसो मत।

आखिर कितनी देर इस तरह........?

भई, अपना-अपना तरीक़ा होता है लिखने का।

विमल यह तो न लिखने का....

अच्छा, अच्छा, अब रहने भी दो।

आइये तो आज हम लोग बारी-बारी यह बताने की कोशिश करें कि हम कैसे लिखते हैं, और किसी कार्यक्रम के अभाव में यही ठीक भी रहेगा, और रोचक भी, क्यों विमल जी? हाँ तो इस तरफ़ से....

मैं उबल कर लिखता हूँ।

मैं पिघल कर।

मैं निगल कर।

मैं फिसल कर।

मैं बिगड़ कर।

मैं संवर कर।

मैं कुरसी पर बैठ कर लिखता हूँ।

मैं ढीली चारपाई पर बैठ कर।

मैं झुककर लिखता हूँ।

मैं अकड़ कर।

मुझे लिखने के लिये एकांत चाहिये।

और मुझे रमाकांत।

मैं लिखते समय सिगरेट पीता हूँ।

मैं चाय।

मैं चाय कम चीनी वाली।

मैं चाय बगैर दूध के।

मैं खूनेजिगर।

मैं जिगर की ग़ज़लों का रस।

मैं गन्ने का रस।

(देखिये विमल जी, सावधान।)

मैं लिखने से पहले कुछ देर के लिये, अपने मन को शुद्ध करने के लिये कुछ मन्त्रों का उच्चारण करता हूँ।

मैं अपनी प्रेमिकाओं के नामों का।

मैं दूसरों की प्रेमिकाओं के नामों का।

मैं गुनगुनाता हूँ।

मैं रोता हूँ।

मैं बस धीरे से मुस्कराता रहता हूँ।

मैं बस अपने आप को यही समझाता रहता हूँ—यह न सोचो क्या न पाया, यह कहो क्या मिल गया।

(विमलजी !)

मैं लिखूँ न लिखूँ, बैठता हर रोज़ हूँ।

मैं बैठूँ न बैठूँ लिखता हर रोज़ हूँ।

मैं रुक-रुककर लिखता हूँ।

मैं अगर रुक जाऊँ तो फिर बस घन्टों रुका ही रहता हूँ।

मैं लिखने के पहले सोचता हूँ।

मैं लिखने के बाद।

मैं न लिखने के पहले न बाद।

I write when I must.

I, when I burst.

मैं डूब कर लिखता हूँ।

मैं ऊब कर।

मैं खीझ कर।

मैं रीझ कर।

लिखते समय मेरी मनः स्थिति पागलों की सी होती है। इसीलिये मेरी बहुत सी कहानियों का शीर्षक है—एक मनःस्थिति।

आप मानें या न मानें मैंने अपनी सारी लम्बी कहानियाँ सड़क के किनारे बैठ कर लिखी हैं, जनप्रवाह मेरे निकट नदी के प्रवाह से कहीं अधिक शान्तिप्रद है।

आप मानें या न मानें मैंने भी इस दृष्टिकोण से विवश होकर एक महाकाव्य की रचना बस स्टैंड पर खड़े हो कर की है।

आप मानें या न मानें मैंने अपने तमाम ड्रामे एक टाँग पर खड़े होकर लिखे हैं।

और आप यह सुन कर स्तम्भित रह जाएँगे कि मैंने आपके ड्रामों की आलोचना उलटा लटककर की थी।

(विमलजी !!!)

मेरे लिखने का उद्देश्य अपनी शंकाओं का समाधान है।

मैं अपनी कुण्ठाओं से बाध्य होकर लिखता हूँ।

मैं आरम्भ में न जाने किस प्रेरणा से लिखा करता था किन्तु अब तो आदत से लाचार हो गया हूँ।

मैं ज़िन्दगी का रहस्य ढूँढ़ने के लिये लिखता हूँ लेकिन यह रहस्योद्घाटन न जाने कब होगा।

मैं आत्म-ज्ञान की वृद्धि के लिये लिखता हूँ लेकिन न जाने क्यों क्रमशः आत्मविस्मरण ही मेरे सृजन का स्रोत बनता चला जा रहा है।

मैं इस लिये लिखता हूँ कि मेरे दोस्त-यार, सगे-सम्बन्धी प्रायः सभी लिखते हैं।

मैं लिखता हूँ, किसलिये, बड़ा टेढ़ा सवाल है और टेढ़े सवालों का जवाब देते समय मेरा मुँह भी कुछ टेढ़ा हो जाता है और मेरी वाणी टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर चल निकलती है। मेरा कहने का अभिप्राय कुछ भी हो, आप को उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जहाँ तक मेरा अनुमान है, हो सकता है मैं ग़लत होऊँ, आपको और भी तो चिन्ताएँ होंगी, हरएक को होती हैं, मेरा मतलब है, it is nothing unusual. तो संक्षेप में मैं यही कह देने की कोशिश करूँगा कि अपने लिखने या न लिखने का (क्योंकि मेरे निकट लिखने का उतना ही महत्व है जितना कि न लिखने का, या क़रीब-क़रीब उतना ही, यदि कुछ अन्तर है भी तो नगण्य है) उद्देश्य खोजने की मूर्खता, आप मुझे क्षमा करेंगे, मैंने अभी तक, यानी आज तक, कल या परसों की बात मैं कह नहीं सकता, की नहीं क्योंकि जैसा कि मैंने आरम्भ में भी कहा था और आप को याद होगा, अगर नहीं है तो बहरहाल होना चाहिये, यह प्रश्न इतना टेढ़ा है, टेढ़े से मेरा मतलब आप कुछ ऐसा वैसा न समझ लें, इसलिये शायद मुझे टेढ़ेपन की परिभाषा कर देनी चाहिये, और अगर आप सब की अनुमति हो तो मैं ऐसा करने का उपक्रम करूँ, क्योंकि वास्तविक बात यही है कि बग़ैर इस परिभाषा के मेरे विचार में काम चलेगा नहीं, यानी ज्यादा देर तक नहीं चलेगा, सो यह मानते हुए कि आप सब इस पर सहमत हैं कि काम तो किसी न किसी तरह चलाना ही चाहिये, मैं अगली बार इस विषय पर, यानी 'टेढ़ेपन की परिभाषा और उसका मेरे लिखने से सम्बन्ध' पर एक लेख लिख कर ले आऊँगा और अगर मैं किसी कारणवश, आप जानते हैं कि........(खैर मैं देख रहा हूँ कि बहुत से लोग मन-ही-मन अगली बार न आने का निश्चय कर रहे हैं।)

हम इनका धन्यवाद करते हैं कि इन्होंने आख़िर अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया, कृतज्ञता के बोझ से हमारी आँखें इतनी भारी हो गयी हैं कि हमें छूटते ही किसी अत्यन्त उत्तेजित समस्या पर विचार करना आरम्भ कर देना चाहिये। मेरा सुझाव है कि लगे हाथों हम आज उन विषयों की सूची तैयार कर लें जिन पर हम अगले दशक में यदा कदा विचार-विमर्श करेंगे। पिछले तीन वर्षों से हम इस काम को ठेलते चले आ रहे है। तो साहब इस तरफ़ से...

१—हिन्दी साहित्य में द्वेष-प्रेम।

२—हिन्दी साहित्य में पत्नी-विरोध।

३—हिन्दी साहित्य—एक विरोधाभास।
४—हिन्दी साहित्य में नारी प्रकाशकों का स्थान।
५—हिन्दी साहित्य में प्रश्नों की जलन।
६—हिन्दी साहित्य और प्रयाग-वाद।
७—हिन्दी साहित्य और विटामिन ई कोम्पलेक्स।
८—हिन्दी साहित्य में तिकड़मबाज़ी।
९—हिन्दी साहित्य में जिल्द-साज़ी।
१०—हिन्दी साहित्य में परलोक-प्रियता।
११—हिन्दी साहित्य में ऊँट की सवारी।
१२—हिन्दी साहित्य में उर्दू वालों की भरमार।
१३—हिन्दी साहित्य में शेखी-मार।

और अन्तिम है—हिन्दी साहित्य पर खुदा (अर्थात् आकाशवाणी) की मार।

(बिमल जी, आप गाम्भीर्य-ग्रस्त होगे या नहीं ?)

बिमल बिलबिलाकर उठ खड़ा हुआ। कुछ देर यूँही खड़ा रहा। फिर लपक कर शीशे के सामने जा खड़ा हुआ। अपनी विकृत आकृति देखकर उसने आँखें मींच लीं। फिर सहसा मुट्ठियाँ भींच कर पागलों की भाँति इधर-उधर भटकने लगा। और फिर धप्प से नीच बैठ गया क्योंकि भटकते-भटकते कुरसी की नोक से ठोकर खाकर उसके दोनों घुटने छिल गये थे। उन्हीं छिले हुए घुटनों में अपना शीश नवाकर बिमल न जाने कितनी देर इसी मुर्ग़-मुद्रा में पड़ा रहा।

बिमल, कहाँ खो गये थे ?

घुटनों की गहराइयों में।

बिमल के क्लांत होंठों पर एक मुस्कराहट ने दम तोड़ना आरम्भ किया।

बिमल, क्या कर रहे हो ?

मुस्करा रहा हूँ।

किस बात पर ?

यूँही।

बिमल, आज कहीं नहीं जाओगे ?

नहीं।

आज इतवार है ?

है तो।

कहीं नहीं जाओगे ?

नहीं।

क्यों।
वैसे ही।

बिमल, तुम क्या करना चाहते हो ?
किससे ?
बिमल, क्या कर रहे हो ?
भीतर झाँक रहा हूँ।
कुछ दिखाई दिया ?
कुछ नहीं।

बिमल, क्या कर रहे हो ?
आत्म-निरीक्षण।
कुछ हाथ लगा।
कुछ भी नहीं।

बिमल, तुम क्या चाहते हो, क्या चाहते हो, क्या चाहते हो, क्या चाहते हो........। बिमल, शादी कर लो।
किससे ?
मुझी से।
मुश्किल बात है।

बिमल, तुम्हारी उम्र क्या है।
यह न पूछो।
क्यों ?
शर्म आती है।
क्यों ?
यह भी न पूछो।
क्यों ?
तुम हंसोगे।
बता दो।
समझ जाओ।
समझ गया।

१०

बिमल, क्या कर रहे हो ?

आत्म-विश्लेषण।

कुछ उपलब्धि हुई ?

नहीं।

क्यों ?

नहीं जानता।

जानना चाहोगे ?

नहीं।

क्यों ?

वैसे ही।

डरते हो ?

शायद।

निडर बनोगे ?

हरगिज़ नहीं।

निर्बल हो ?

शायद।

सबल बनोगे ?

तोबा तोबा।

क्यों ?

वैसे ही।

तो फिर चुपचाप सो जाओ।

All right.

बिमल अपने होंठों पर पड़ी हुई लार को संभालता हुआ उठा। अनमना सा दरवाज़े की ओर चल दिया। बाहर रमू खड़ा था। बिमल को देखते ही बहुत ही धीमी आवाज़ में तेज़-तेज़ बोलने लगा—बिमल, ज़रा कान में बता दो, कि श्यामा अभी कमरे में ही है या चली गयी। अगर नहीं गयी तो हम उल्टे बाँस बरेली चले जाएँ, और अगर चली गयी है तो हमें यह बता दो कि तुम्हारा मुँह दो मील लम्बा क्यों हो गया है, आना जाना तो लिखा हुआ है, उस में हमारा क्या फ़ाल्ट है। अबे जल्दी बोल कि नीचे गली में माता सीता खड़ी हमें कोस रही होंगी, उसने ऊपर आने से साफ़ इनकार कर दिया है, कहती है श्यामा भड़क जाएगी तो....

बिमल को अनुभव हुआ मानों उसके होंठों पर पड़ी लाश ऐंठने की बजाय क्रमशः पुनर्जीवित होती जा रही हो।

—रमू मिसिज़ किंग क्या सचमुच नीचे खड़ी है ?

—Seek and it shall be given unto thee !

—उसे ऊपर ही बुला लो रमू, मैं आज कहीं जाऊँगा नहीं। मैं भीष्म-प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ।

—My conscience clear my chief defence !

जब बिमल ने मेज़ पर बिखरे हुए कागज़ों को समेटने के लिये हाथ बढ़ाया तो रमू ने दोनों हाथ ऊपर उठा कर, एक दीर्घ-निश्वास लेते हुए कहा – O father let my country awake। बिमल कागज़ों को छोड़ कर ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। रमू कह रहा था—

Father, father, mercy take,
Poetry I shall never make !
And if ever I do by mistake,
I shall turn it into prose.

इसी बीच में मिसिज़ किंग भी ऊपर आ गयी थी और बिमल उस से हाथ मिला रहा था।

★

एक तृप्त आदमी की कहानी

हरिशंकर परसाई

★

परिचय—

असल नाम—नंदलाल शर्मा। लड़कों के द्वारा बनाया गया और प्रचलित किया गया नाम—एन० एल० मास्टर। पेशा—स्कूल मास्टरी। वेतन—९० रुपया मासिक; ऊपरी आमदनी १५ रुपया (ट्यूशन से)। उम्र—३५ के लगभग। शरीर स्वस्थ। रूप—सैकंड क्लास। परिवार—माँ बीबी तीन बच्चे। आवास—दो कमरे, एक परछी, जिसमें एक कोने पर रसोईघर और उसके सामने दूसरे कोने पर पाखाना। (भोजन करते वक्त याद रहे कि अन्न का हश्र क्या होने वाला है, जैसे ज्ञानी को घोर भोग के बीच भी अंत याद रहता है।) कमरे में एक टेबिल (बिना टेबिलक्लाथ, पर स्याही के धब्बों और ब्लेड की खुदाई से अलंकृत); एक आराम कुर्सी (आराम की स्थिति नाम के बाहर कहीं नहीं); दो बेंत की कुर्सियाँ; एक लोहे की टूटी कुर्सी (जो बैठनेवाले के कपड़े फाड़ने के काम आती है); दीवार पर चीरहरण करते हुए कृष्ण की तस्वीर; दूसरी तस्वीर हनुमान की—सीना फाड़कर अंतःकरण मे अंकित 'राम' दिखाते हुए; एक चित्र गाँधीजी का (अखबार में से फाड़ कर मढ़ाया हुआ।)

बजट—

वेतन—९० रुपया, ऊपरी आमदनी १५ रुपये—कुल १०५ रुपया।

मकान किराया—३० रु०। शेष—७५ रु०।

परिवार में ६ व्यक्ति

७५ में ६ का भाग देने से हर एक के हिस्से में १२॥ रुपया आता है, यह गणित के अच्छे शिक्षक एन० एल० मास्टर जानते हैं।

दिन-चर्या—

प्रातःकाल दूधवाले की पुकार से एन० एल० मास्टर सात बजे जाग उठे। बड़ा लड़का उन्हीं के पास सोता है—(कपड़ों की कमी वात्सल्य का उद्दीपन

होती है, यह रस के आचार्यों को न मालूम होगा !) रात को नटखट लड़के ने रजाई के छोटे से छेद में अंगूठा फँसाकर उसे और फाड़ दिया था। एन० एल० मास्टर ने उसे पलट कर देखा और पत्नी से कहा, 'मैंने कहा, विजय ने रात को रजाई फाड़ दी थी। जरा टांके लगा देना।' पत्नी ने सिर हिला दिया। मास्टर मुँह-हाथ धोने चले। नमक-मिश्रित कोयले से दाँत घिसे और कुल्ले किये (टूथ पेस्ट और बाजारू मंजन से दाँत खराब हो जाते हैं !) मास्टर कुर्सी पर बैठ गये, मास्टरनी ने चाय का कप लाकर रख दिया—(घर में दो जोड़ी कप-बसी हैं, एक 'विधवा' बसी भी है और एक 'विधुर' कप जो कान का कच्चा निकल गया !) मास्टर ने चाय गटकी, सुपारी काटी, तमाखू घिसी और फांक ली। मास्टर ने कुरता-पायजामा शरीर पर डाला और तमाखू चबाते तथा थूकते ट्यूशन पर चल दिये। रास्ते में एक पान की दूकान पर रुक गये। पानवाला उन्हें कभी-कभी पान खिला देता है। (उसका लड़का पढ़ता है और वह परीक्षा के समय मास्टर से कह देता है, पंडज्जी, ज़रा लड़के को देख लेना, और मास्टर उसे 'देख लेते' हैं। इसी 'देख लेने' के कारण वह देखते-देखते ही पाँचवीं से नवीं कक्षा में पहुँच गया। मास्टर पानवाले का अख़बार उठा कर पढ़ने लगे। वे इसी तरह अखबार पढ़ लेते हैं। अगर कोई पढ़ रहा हो, तो उसके कंधे के ऊपर से गर्दन डाल कर पढ़ लेते हैं। अख़बार नहीं मिला, तो कई दिन नहीं पढ़ते। दूकान पर खड़े एक आदमी ने कहा, 'ये अमेरिका और रूस हमेशा क्यों झगड़ते रहते हैं?' मास्टर बोले, 'झगड़ने दो। अपना क्या लेते हैं?' दूसरा बिना किसी को लक्ष्य किये बोला, 'काश्मीर के मामले में क्या हो रहा है?' मास्टर ने कहा, 'होता होगा। बड़े-बड़े लोग तो लगे हैं।' तभी पानवाले ने कहा 'बंबई में बड़ा गज़ब हो गया। मिल के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। पुलिस की गोली से ११ मज़दूर मर गये।' मास्टर ने कुल इतना कहा, 'देखो भला, मौत कहाँ ले गई !' और आगे बढ़ गये।

मास्टर ट्यूशन पढ़ाकर घर लौट आये। दाढ़ी बनाई, स्नान किया और बनयान में साबुन लगाया—तीनों काम एक ही साबुन से। भोजन करने बैठे—आसपास बच्चे। दाल-भात ज्यादा खाते हैं मास्टर। चावल आसानी से पच जाता है। कभी साग भी बन जाती है। मास्टर ने कपड़े पहिने। कपड़े कम हैं इसलिए मास्टर हर इतवार को खुद धोकर लोहा कर लेते हैं। कोट आदमी की इज्जत भी बचाता है और कमीज़ की भी—फटी कमीज़ कोट के नीचे पहिनकर मास्टर स्कूल चल दिये।

सड़क के बायें किनारे की पट्टी से सीधे चले जा रहे हैं—नीचे देखते, पास पास कदम रखते। रास्ते में लड़के एक के बाद एक नमस्ते करते निकलते हैं और मास्टर सिर हिलाकर जवाब देते हैं। मास्टर के मन ने सिर

उठाया। सोचा, 'मैं चुनाव में खड़ा हो जाऊँ?' उसी क्षण दूसरा ख्याल आया, 'पर ये नमस्ते करनेवाले लड़के मतदाता थोड़े ही हैं।' और तब उन्होंने मन ही मन अपनी उम्मीदवारी निस्संकोच वापस ले ली।

मास्टर ठीक ११ बजे स्कूल पहुँचे, रजिस्टर में हाज़िरी लगाई, बड़ों से खुद नमस्ते किया, छोटों के हाथ जुड़ने की राह देखते रहे। सामूहिक प्रार्थना में एकाग्र मन से खड़े हुए, फिर कक्षा में गये। एक के बाद एक घंटियाँ बजती रहीं और एन० एल० मास्टर इस कमरे से उस कमरे में जाते रहे। वे मेहनत से पढ़ाते हैं। न खुश होते हैं, न नाराज़। न हँसते हैं, न डाँटते हैं। न प्रेम करते हैं, न घृणा। न हेडमास्टर की किसी बात में शंका करते हैं, न अपने से छोटों को सलाह देते हैं।

ठीक समय पर पढ़ाते हैं, ठीक समय पर कोर्स पूरा कर देते हैं। कापियाँ ठीक समय पर जाँचते हैं, हिसाब ठीक बनाते हैं। हर आदेश को ठीक समय पूरा कर देते हैं।

एन० एल० मास्टर अच्छे शिक्षक हैं, उनसे सब खुश हैं।

बीच की छुट्टी में मास्टर ने एक कप चाय पीकर डकार ली और तमाखू फाँकी। घंटी बजी और फिर वही क्रम चला—इस कमरे से उस कमरे में और अंग्रेज़ी, गणित, भूगोल, विज्ञान....

शाम को मास्टर घर लौटे और चाय पीकर दो पुत्रों को साथ लेकर तीन काम एक साथ करने निकल पड़े—घूमने, हनुमानजी के दर्शन करने और साग-भाजी खरीदने। वे रोज़ फुहारे के पास वाले हनुमान के दर्शन करते हैं, (कोतवाली के पास के हनुमान को वे अपना हनुमान नहीं मानते।) साग-भाजी भी हमेशा एक ही दूकान से खरीदते हैं—अक्सर कुम्हड़ा और तुरई। सस्ते होते हैं? नहीं, मास्टर का ख्याल है कि आलू कब्ज़ करते हैं और गोभी में इल्लियाँ होती हैं। अँधेरा होते वे घर लौट आते हैं।

जब तक पत्नी खाना बनाती है, मास्टर बच्चों को खिलाते हैं या पढ़ाते हैं। उद्देश्य यह है कि वे ऊधम न करें। कभी कुछ साथी शिक्षक आ गये, तो वह दो घड़ी गप्पें भी हाँक लेते हैं। छोटी-मोटी बात पर सब खूब हँसते हैं क्योंकि शाम का हँसना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है।

भोजन करके मास्टर ने बच्चों को सुला दिया और बालटियाँ लेकर सामने सड़क पर के नल से पानी लाकर घड़ों में भरने लगे। घर का नल रोता-रोता चलता है, इसलिए सुबह लिए पानी रात को ही सड़क के नल से भर लेते हैं। (मास्टरानी बाहर कैसे पानी भरने जायें, कुलीन घराने की जो हैं!)

काम-काज समाप्त कर मास्टरनी 'हे राम!' के साथ थकान भरी साँस लेकर छोटे बच्चे के पास आकर लेट जाती हैं। मास्टर उसे एकटक निहारते

हैं, श्रम की हँफनी से चढ़ते-उतरते उसके वक्ष को देखते हैं। उनके नेत्रों में असीम प्यार है। वे कहते हैं, 'तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो' और सो जाते हैं।

हर दिन ऐसा ही ऊगता है, ऐसा ही चढ़ता है, ऐसा ही डूबता है। मौसम बदलते रहते हैं, मास्टर की दिन-चर्या में कोई हेर-फेर नहीं होता।

वही क्रम रोज़....

उठना। कोयले का मंजन। फीकी चाय। पान की दूकान का अखबार। ट्यूशन। भोजन। कोट के नीचे फटी कमीज़। सड़क के किनारे-किनारे स्कूल-यात्रा। 'नमस्कार'। अंग्रेजी, गणित, इतिहास, विज्ञान। हनुमान जी के दर्शन। सड़क के नल से पानी। 'तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।'

फुटकर नोट्स ...

एन० एल० मास्टर सिनेमा भी देख लेते हैं, गाना भी सुन लेते हैं, ताश भी खेल लेते हैं। कभी भंग भी छान लेते हैं।

किसी से ज्यादा हेल-मेल नहीं रखते। ज्यादा मिठास में कीड़े पड़ते हैं। वह किसी से नहीं लड़ते। किसी की दो बातें सुन लीं तो क्या बिगड़ता है।

झंझटों से दूर रहते हैं। एक मित्र ने एक दिन कहा, 'मास्टर एम० ए० कर डालो।' वे बोले,' क्या करना है ? इतना ही बहुत है।' हर साल उनके वेतन में ३ रु० की वृद्धि होती है। फरवरी की पहिली तारीख को जब वे बढ़ा हुआ वेतन पाते हैं, तो उन तीन रुपयों की मिठाई ले जाते हैं और पत्नी को दे कर अमित संतोष से कहते हैं, 'लो, बच्चों को खिला दो। तीन रुपये तरक्की हो गई।'

पिछले वर्ष वेतन और नौकरी की शर्तों में सुधार के लिए शिक्षकों ने बड़ा आंदोलन किया। जब कुछ लोग एन० एल० मास्टर के पास आये और उनसे शिक्षक संघ का सदस्य बन जाने के लिए कहा, तो वे बोले, 'भैया, हमें मत झंझट में डालो। आप ही लोग करो।' उनके बिना भी संगठन तो हुआ ही और एक दिन हड़ताल हो गई। उनके अनेक साथी फाटक पर खड़े थे। एन० एल० मास्टर जब ठीक वक्त पर फाटक पर पहुँचे तो वे हाथ जोड़ कर बोले, 'मास्टर साहब, हमारे पेट में लात मत मारिए' मगर एन० एल० मास्टर बिना किसी की तरफ़ देखे सीधे भीतर चले गये। वह 'झंझट' में नहीं पड़ते।

उन्होंने लिखा भी है। एक बार एक स्थानीय दैनिक में उन्होंने पत्र छपाया था जिसमें नागरिकों से अपील की गयी थी कि सार्वजनिक समारोहों

में राष्ट्रगीत के समय सबको अविचल, मौन खड़े हो जाना चाहिये। उसकी कटिंग उन्होंने हिफाजत से रख ली है—संतोष है कि उनके नाम से कुछ छपा भी है।

दाम्पत्य-जीवन संतोषमय है। पति-पत्नी में अच्छी पटती है। एक बार पड़ोसिन विधवा भाभी से मास्टर की घनिष्ठता बढ़ गई थी। खिड़की से देखा-देखी भी होती थी, कभी-कभी वह उसके यहाँ जाकर बैठते भी थे। एक दिन पत्नी ने उन्हें भाभी का हाथ अपने हाथ में लिये हुए, उसका भविष्य बतलाते देख लिया। रात को उसने मास्टर से कहा, 'जरा सोचो तो। लोग क्या कहेंगे।' मास्टर के मन में बात गूँजती रही—लोग क्या कहेंगे। उन्होंने सोचा, 'ठीक तो है। लोग क्या कहेंगे।' दूसरे दिन से उन्होंने भाभी की तरफ देखा भी नहीं। एक दिन अनायास आमना-सामना हो जाने पर भाभी डबडबाई आँखों से बोली, 'क्यो लाला, ऐसे ही नेह निभाया जाता है?' मास्टर ने कहा, 'जरा सोचो तो। लोग क्या कहेंगे।' कुछ दिनों बाद किसी ने उनसे कहा कि आजकल बैंक का मैनेजर भाभी को मोटर में बिठाकर घुमाने ले जाता है। मास्टर ने सहज ही जवाब दिया, 'ठीक है। समरथ को नहिं दोष गुसाँई।'

एन० एल० मास्टर की ज़िंदगी के कुछ नोट्स हैं ये। वह भूखे नहीं रहते, निर्वस्त्र नहीं रहते। भरा-पूरा परिवार है, अच्छी पत्नी है। न किसी से उधार लेते हैं, न किसी को उधार देते हैं। शांत-प्रकृति हैं। उन्हें कोई कमी महसूस नहीं होती, कोई अभाव नहीं खटकता। उन्हें कोई चाह नहीं है।

वर्ष के बाद वर्ष ऐसे ही निकलते जा रहे हैं। प्रकृति बदलती है, मास्टर की जिन्दगी में एक ही मौसम है।

लोग कहते हैं, 'एन० एल० मास्टर पूर्ण तृप्त आदमी हैं।'

मेरा मित्र तो उन पर मुग्ध है। कहता है, 'ऐसा आदमी दुर्लभ है। दुनिया में निराशा, विकलता, पिपासा, और कुंठा के पुतले ही देखने में आते हैं। तृप्त आदमी आउट-आफ-स्टॉक होता जाता है। एन० एल० मास्टर झरना है, रेगिस्तान का। उसे देख लेने से ऐसा लगता है कि जैसे तीर्थ स्थान कर लिया हो। वह पूर्ण तृप्त आदमी है। उसे कोई भूख नहीं है।'

और मुझे याद आता है, कि पिछले साल जब मैं बीमार पड़ा था, तब मेरी भी भूख मर गई थी, अच्छे से अच्छे पकवान मेरे सामने रखे रहते थे और मैं मुँह फेर लेता था।

★

हीरक-जयन्ती

नागार्जुन

★

आठ बजे दिन।

समारोह-समिति की मीटिंग।

चालू सड़क का रोड-साइड। अजंता रेस्तराँ....

नौ कुर्सियों से घिरी हुई बड़ी सी गोलमेज। काफी के प्याले।

तश्तरी में पान और ज़र्दा। गोल्ड फ्लेक की टिन। माचिस।

ऊपर—सचल सीलिंग फैन की हवा और खसखसाहट....

नीचे—पक्की फर्श; आराम करती हुई जूतियाँ और चप्पलें....

★

पत्रकार (उलझे बालों में उंगलियाँ फेरता हुआ साहित्यकार से)—आज का अखबार देखा न?

साहित्यकार (सिगरेट का धुआँ छोड़कर)—'लाइट' भी देखी है, 'दीपक' भी देखा है (आँखें फैला देता है) खूब फ्लैश करके छापा है....

महंत (घुटे सिर पर हाथ फेरने लगता है) बाबू साहब की तबीयत मस्त हो जाएगी देखकर, हाँ! (अधेड़ महिला की तरफ रुख करता है) नहीं देवी जी?

महिला (मुस्कुराती ही रह जाती है)—हूँ....

ज़मींदार (तोंदवाले युवक की तरफ देखकर)—शामियाने की तो जरूरत नहीं पड़ेगी सेठ?

सेठ (निगाहें अंगूठियों के नगों पर टिकी हैं)—छोटे फंक्शन हाल में ही जमते हैं....कहीं शामियाना रद्दी हुआ तो सारा गुड़ गोबर हो जाता है!

जमींदार (ऊँची आवाज में)—माफ कीजिए सेठजी, अभी आपने शामियाना देखा ही कहाँ है! (व्यंग्यपूर्ण हँसी)

सेठ की ओर देखकर सभी हँसते हैं। देवी जी हँसते-हँसते मुँहपर हथेली रख लेती हैं। सेठ हतप्रभ होकर टिन से सिगरेट निकाल लेता है....

साहित्यकार (उठकर माचिस लेता है)—लीजिए, मैं जला दूँ पूनमचंद जी।

(सेठ की सिगरेट से जलती तीली छुआकर) बात यह है कि अच्छा शामियाना हो तो सचमुच फंक्शन में चार चाँद लग जाते हैं....दरभंगा में हम एक बार किसी समारोह में, शायद ओरियंटल कान्फ्रेन्स में, शरीक हुए थे....अब मैं आपसे क्या बतलाऊँ सेठ पूनमचंद कि महाराजा ने कैसा शानदार शामियाना उस कान्फ्रेन्स के लिए खड़ा करवाया था!

महंत—इसी तरह बेतिया-राज में एक भारी शामियाना था, नाम था उसका 'लाल बादल'....

लोकसभा का युवक सदस्य (घड़ी की तरफ नजर। कलाई उठी हुई)—यह आप लोग अच्छा पचड़ा ले बैठे! अरे बाबा, अब कौन पूछता है इन चीजों को? रियासतें खत्म हुईं, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ, देखते नहीं हैं आप? (साहित्यकार की ओर देखता है)

विधानसभा का अधेड़ सदस्य (गंभीर मुद्रा में)—बाबूसाहब को इस अवसर पर इकसठ हजार की थैली देना ही है....अभी ग्यारह हजार की कमी है उसमें....

कुछ क्षणों का सन्नाटा। सभी मानो दृष्टिशून्य नेत्रों से क्रमशः और साथ-साथ इधर-उधर देखते हैं। कोई किसी से नजर नहीं मिला पाता। ब्वाय का प्रवेश—

ब्वाय (इजारबंद के लटकते छोर को उंगली में लपेटता है और खोलता है, फिर लपेटता है, फिर खोलता है....)—सरकार! (पत्रकार की कुर्सी के पीछे खड़ा होकर) ए गो बाबू आपको चाल पाड़ते हैं, उनको यहीं ले आवें हजूर?

पत्रकार—नहीं नहीं नहीं (उठकर खड़ा हो जाता है, पैर चप्पलें टटोलते रहते हैं) चल, मैं अभी आया....उनको बैठा दे....

लोकसभा का सदस्य (उतावली में)—ललन जी, अभी सारा काम पड़ा है और आप जा रहे हैं!

पत्रकार उर्फ ललनजी (चलते-चलते ठमक जाते हैं)—नहीं दयाल बाबू, एक भी काम पड़ा नहीं है। सब-कुछ कम्प्लीट है। अभिनंदन ग्रंथ छपिए गया....साहित्य वाचस्पति राजा रेवतीरंजन सिंह परसों शाम को ही आ गए। केंद्रीय मंत्री माननीय घासीराम जी फ्लाई कर चुके हैं, उनका प्लेन ठीक साढ़े बारह बजे एरोड्रम पर आ धमकेगा (कलाई उठाकर टाइम देखता है) आठ पैंतीस....बारह बजे सेठजी की कार से हम तीन चार जने निकलेंगे, घासीराम जी को ले आएँगे....पार्टी-वार्टी का सारा इन्तजाम महंत जी, देवीजी और डुमरिया के कुमार प्रद्युम्न प्रसाद नारायण सिंह कर ही चुके हैं...प्रचार विभाग मेरे जिम्मे है ही....इसके बाद जो

भी कुछ कोर-कसर रहेगी सो आप दोनों हमारे नए-पुराने नेता-यहाँ मौजूद हइए हैं....(समर्थन की आशा में साहित्यकार की तरफ रुजू होता है) क्यों मृगांक जी, मैं ठीक कह रहा हूँ न ?

साहित्यकार यानी मृगांक जी (सिगरेट के टिन पर झुककर)—बिल्कुल ठीक ललनजी, एकदम ठीक !!

महिला (ढेर-सा मुस्कुराकर)—मगर आप अभी भाग नहीं सकते (आँखें फैला देती है) सिर्फ दो मिनट की मुहलत मिलेगी....

पत्रकार (माथा झुकाकर)—एक मिनट और दीजिएगा ! (हँसता है) बस, मैं अभी आया देवी जी !

⁂

फैशन की दृष्टि से युवती, उम्र के लिहाज से परम प्रौढ़ा—मंजुमुखी देवी एम-एल-सी। खादी की साड़ी, नागपुरी किनारियों वाली। सादी-सफेद ब्लाउज। चौड़ा चेहरा, कमलपत्री आँखें, ऊँची नाक। गेहुआँ सूरत। काले बालों का जूड़ा।

....मृगांक जी !

जी ! फर्माइए !

बहुत दिनों से आपने कुछ सुनाया नहीं !

हँ....हँ....इधर लिखना छूट-सा गया है....

फिर भी एक-आध चीज सुनाइए न !

खि खि खि खि....महंतजी, सेठजी और जमींदार साहब खीसें निपोर-निपोर-कर हँसते हैं। निगाहें एक-दूसरे से उलझती हैं और मिल-जुलकर देवीजी तथा मृगांक जी को छू आती हैं। बीच-बीच में अशिष्ट इंगितों के सतर्क गोपन उन निगाहों में एक अजीब-सी चमक भरते रहते हैं।

....सुनाइए न मृगांक जी !

दयालबाबू सुना जाय ज़रा....

रामसागर बाबू आप भी !

जी हाँ—

....मैं गगन की नीलिमा को पी गया हूँ
....चाँद मेरा क्या करेगा ?
....पा गया हूँ
....प्राण तेरे प्रेमघन की चंद बूँदें
....सृष्टि का संताप मेरा क्या करेगा ?
....मैं गगन की नीलिमा को पी गया हूँ
....चाँद मेरा क्या करेगा ?

वाह ! वाह ! वाह ! वाह !
क्या .खूब....क्या खूब....क्या खूब !!
आप तो कहते थे, लिखना छूट गया है ?
कहिए दयाल बाबू, इनका लिखना छूट गया है ?
—मृगांक का कवि जीवित है, सभी मान गए। मान गए और टिन का ढक्कन खोलकर जमींदार साहब ने सभी को सिगरेट आफर की; खुद को भी। मंजु-मुखी देवी ने पानवाली तश्तरी से सुपारी का एक निहायत छोटा-सा बल्कि चने की दाल का हमवज़न टुकड़ा उठा लिया। जलती सिगरेटों से धूम्र-वलय उठ-उठकर पंखे की हवा पर निछावर होने लगा।

नान ननेना ना ननेना—सेठ पूनम नाक के स्वर में गुनगुना रहा था—नान नेना ना ननेना यानी चाँद मेरा क्या करेगा....
ललन जी को निकले पन्द्रह मिनट हो गए थे।
—आप लोग इइए हैं, मैं जरूरी काम से जा रही हूँ।
—जरूरी काम ? कौन सा ऐसा काम आ पड़ा है ?
लखनऊ से मझली बहू की भावज आई है, आज उसे सर्जन से दिखलाना है दयालबाबू।
तो देवीजी चली गईं। पत्रकार को और भी विलंब हुआ।
आखिर साढ़े नौ बजे बैठक अपने आप बर्खास्त हो गई....

बारह बजे

शाम को आज उनकी संवर्द्धना थी, बाबूसाहब नरपति नारायण सिंह—माननीय मालमंत्री महानुभाव—अपनी इकसठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर पुराने अलबम देख रहे थे।

विशाल सरकारी बंगला।

कलापूर्ण ढंग से सुसज्जित यह स्टडी रूम।

सोफा-सेट, द्वार और रोशनदान आदि के कवर व पर्दे ऐसे थे कि सुरुचि पर सादगी कुर्बान थी, सादगी पर वैभव का उल्लास निछावर था। जुड़े हाथोंवाले बापू का प्रसन्न-गम्भीर चित्र समूचे परिवेश पर छा रहा था....

भागलपुरी तसर का कुर्ता, खद्दर की श्वेत-शुभ्र धोती। चंदल माथा। खूबसूरती को बुढ़ापा अच्छी तरह पी चुका था फिर भी महीन-छँटी मूँछें, बावजूद अपनी सफेदी के, सादे-चिकने गेहुआँ गालों को पानीदार बनाए हुए थीं। मामूली आँखें, नुकीली नाक, बड़े बड़े कान।

रजत जयंती तो नहीं, दस साल पहले स्वर्ण जयंती जरूर मनाई गई थी। और अब यह हीरक-महोत्सव सामने था। बाबू साहब काफी खुश नजर आ रहे थे।

दाइ ओर तिपाई पर दो अलबम पड़े थे। एक को उन्होंने सामने कर लिया।

उलटने पर फोटो में दुबला-पतला नौजवान निकल आया—यह कौन है? नरपत, तुम्हीं तो हो!

छियालिस वर्ष पहले मैट्रिक पास किया था, सेकेंड डिविज़न में। बंगाली फोटोग्राफर गमलों में करोटन के पौधे रखता था। एक टहनी का छाया चित्र वह क्या उचक रहा है....दादा की नीयत थी, बबन जिला-अदालत में मुख्तार-गिरी करे। बाबूजी की इच्छा थी, कलकत्ता रहकर बबन बी-ए-कर ले और पीछे भगवान की मर्जी होगी तो मुन्सिफ या सदराला हो जायगा। नाना की नजरों में बड़ी लाइन के जंकशन का बड़ा बाबू होने पर ही बबन का इहलोक-परलोक सुधर सकता था। मगर बबन को तो जनता के जीवन में घुल मिलकर अपना सर्वस्व देशमाता के चरणों में अर्पित कर देना पड़ा, पराधीन भारत की वह दुर्दशा भला बबन से बर्दाश्त होती?

बाबू साहब ने फोटोवाला वह पेज उलट दिया। अब ग्रुप फोटो सामने था। कलकत्ता के एक ग़ैर-सरकारी कालेज का प्रांगण। सात खास छात्रों की यह मंडली उस विद्या केन्द्र की प्रतिष्ठा का अन्यतम प्रकाश स्तम्भ थी—दाढ़ीवाले प्रिन्सिपल घोषाल आगे बैठे हैं। उनसे सटकर पीछे सात लड़के खड़े हैं....अपनी जवानी को सामने साकार पाकर बाबू साहब का चेहरा खिल उठा। बंग-भंग के खिलाफ जनता का वह तूफानी आन्दोलन दिमाग में नाच गया तो माननीय मन्त्री की झुकी रीढ़ सीधी हो गई।

फिर लॉ की डिग्री, बी-एल्। दो सहपाठियों के साथ नरपत बाबू की यह वही छवि थी जो कन्वोकेशन के बाद खिंचवाई गई थी।

तत्पश्चात् प्रादेशिक युवक संमेलन, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-संमेलन, आल इंडिया कांग्रेस का सालाना अधिवेशन, आदि अवसरों पर साथियों के साथ खिंचवाए हुए फोटो जल्दी-जल्दी में उलट गए।

अब आँखों के आगे थीं दिवंगत पहली पत्नी शिवकाशी देवी, बहुत बड़े खानदान की इकलौती लड़की। गहरी साँस खींचकर बाबू साहब मन-ही-मन बोले—कितनी मिठास थी स्वभाव में तुम्हारे! सन् १९२२ में नगेंदर पैदा हुआ और तीन वर्ष बाद ही तुम हमें छोड़ गईं!

तीन-चार पेज उलटने पर दूसरी पत्नी रामकली देवी से साक्षात्कार हुआ। इनसे बाबू साहब की सदैव अनबन रही। गत वर्ष आपका देहान्त हो गया। रामकली देवी के शील-स्वभाव की मीमांसा कर ही रहे थे कि मन्त्रीजी को शीतलागढ़ की विधवा रानी भुवनमोहिनी का स्मरण हो आया। उसका फोटो अलबम में तो स्थान नहीं पा सका मगर हृदय-कमल के किंजल्क पर सिवा

उसके दूसरी है ही कौन ?....

क्षण भर के लिए नरपत बाबू ने आँखें मूँद लीं, अलबम को अलग रख दिया। रानी के सिलसिले में सोचना चेतना को सुख पहुँचा रहा था।

भुवन मोहिनी....मुँदी आँखों की पलकों का स्पंदन भला कम क्यों होता ?

भुवन मोहिनी....दिनांत की प्रलंबित छाया अपने छोर भला दिगंत तक क्यों न पसारती !

भुवन मोहिनी....पावस की कौंधती बिजली भला महामेघ के नेपथ्य को बेदाग क्यों छोड़ती !

सहसा बाबूसाहब की पलकें खुलीं। पास ही दूसरी तरफ तिपाई पर नौकर पान की डिब्बी रख गया था। मगही पान के चार बीड़े उन्होंने चांदी की उस नफीस डिबिया से निकाल लिये। अंदर गाल का दबाव पड़ा तो बीड़ों को राहत ही मिली। पड़ोसी प्रदेश के मुख्य मन्त्री ने उड़ीसा के स्वर्णकारों की कला का जो प्रतीक सौगात के तौर पर भेजा था, सोने की कलीनुमा वह डिब्बी लखनवी जर्दा से भरी पड़ी थी। देखने में आधा अँगूठा जितनी कील दबाते ही फट से खुल गई। ज़रा-सा जर्दा बाबू साहब ने मुँह के हवाले किया....

उगलदान में पीक डालते हुए बाबू साहब ने सोचा—सन् २४ में जेल से छूटने पर मुकदमे की पैरवी के लिए न पुरुलिया जाना होता, न रानी के भाई से जान-पहचान हुई होती। वीरविक्रम सिंह बहादुर देव, रानी भुवन मोहिनी का भाई। पुरुलिया से वह कैसे मुझे चक्रधरपुर ले गया और कैसे फिर हम शीतलगढ़ पहुँचे। रानी की एकमात्र संतान बारहसाला लड़की घुड़-सवारी दुर्घटना में बुरी तरह घायल होकर चार रोज बाद मर गई थी। पुत्री के शोक में माँ के भी मरने का अंदेशा था। मैंने रानी के भाई से कहा—देखते क्या हैं ! ले चलिए इन्हें पुरी के समुद्रतट पर, महीने-दो-महीने में स्वस्थ हो जाएँगी....आखिर मुझे भी साथ जाना पड़ा....कुमार वीरविक्रम सिंह, स्टेट के काम से शीतलगढ़, लौट आए। रानी के मानस-उपचार की सारी जिम्मे-दारी अब मुझपर ही आ पड़ी थी....

छे साल—'२४ से लेकर '३० के आरंभ तक नरपत बाबू राजा थे और भुवनमोहिनी रानी। छोटा नागपुर के शहरों में जुपीटर इन्शुरेन्स कम्पनी का उन दिनों काफी नाम था। नरपत बाबू कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे। डेढ़-दो साल के लिए खानों की भी मैनेजरी की थी।

बाबू साहब के लिए रानी ने दो तिमंजिला मकान पुष्पपुर-महानगरी के 'अगम कुआँ'—एरिया में बनवा दिये थे। लगभग डेढ़ लाख लागत की वे कोठियाँ दूर से ही जगमगाती थीं। हर महीने पंद्रह सौ का भाड़ा आ रहा

था, केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों के कई दफ्तर इन कोठियों में उठ आये थे।

नरपत बाबू जेल में ही थे कि रानी चल बसीं...

देर तक दिमाग पर रानी छाई रही।

बाबू साहब ने फिर अलबम उठा लिया। '३३ के अंत में जेल से छूटकर आने पर जनता ने मालाओं से लाद दिया था। टोपी की नोक और नाक से ही अब कोई पहचान ले तो हो सकता है। उक्त अवसर के तीन-चार फोटो और भी थे।

दो वर्ष बाद प्रदेश के उत्तरी इलाक़ों में ज़ोरों की बाढ़ आई। सैकड़ों गांव डूब गए। खेतोंवाले मैदान डेढ़-दो हफ्ते जलप्रलय का लीला-निकेतन बने रहे। सेवा-कार्य के लिए केन्द्रीय रिलीफ कमीटी संगठित हुई। लाखों मन अनाज, हजारों थान कपड़ा, पंद्रह लाख से ऊपर नक़द रकम और दवा की बोतलों से भरे सैकड़ों बकस और जाने क्या-क्या सामान....कैम्प-के-कैम्प भर गए। बम्बई-कलकत्ता-कराची-अहमदाबाद....जाने कहाँ से मददगारों की टोलियाँ आ धमकीं। कमीटी का जेनरल सेक्रेटरी होने के नाते नरपत बाबू ने लोकसेवा में एक नई परंपरा की शुरुआत की। कार्यकर्ताओं को इस बात का प्रशिक्षण मिला कि अपढ़ देहातियों को पाँच की रकम दो तो दस वाले रुक्के पर अंगूठे का निशान लो, तीस दो तो पचास का रुक्का बनाओ।

लोकसेवा का व्रत जिनकी रग-रग को सोख चुका है, जिनके जीवन का दीप हमेशा औरों के लिए जलता रहा, ऐसे कार्यकर्ता निर्लिप्तभाव से यदि सार्वजनिक निधि में से सौ-पचास लेते चलें तो इसमें बुराई कैसी ?....सहायता समिति के कर्मचारियों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप अ-दूरदर्शी आलोचकों ने लगाए जरूर किन्तु बाबू साहब ने मुस्कुराकर सभी को चुप कर दिया था। यह मुस्कान ही तो थी जिसके चलते नरपत बाबू 'सिर से पैर तक मिठास भरे व्यक्ति' कहलाते थे!

एक फोटो था – नरपत बाबू के हाथ में कुदाल है और पाँच-सात अर्धनग्न ग्रामीण अधूरी भीत के पास खड़े-खड़े बाबू साहब की तरफ कृतज्ञ नजरों से देख रहे हैं। करीब ही पुराने ढंग की कार दिखाई दे रही है....

—यह मुजफ्फरपुर के देहात का एक दृश्य है, बाबू साहब स्वगत बुदबुदाए और चेहरा चमक उठा। फिर आंतरिक आह्लाद की मीठी अनुभूति के उस प्रवाह में अलबम के पाँच-सात पेज योंही उलट डाले आपने। आगे था '३७ वाली पहली मिनिस्ट्री का शपथ ग्रहण समारोह....चेहरे पर वही सनातन प्रफुल्लता....धोती-कुर्ते में लिपटी यही छरहरी देहयष्टि...किश्तीनुमा यही टोपी ....प्रलंबित ग्रीवावाले मुखमण्डल को आकर्षक बनानेवाली यही नुकीली

नाक !....बाबू साहब मिनिस्टरों और पार्लमेन्टरी सेक्रेटरियों की अपनी इस पुरानी जमात में अपने को अच्छी तरह पहचान गए हैं—बाहरी आडम्बर तो नरपत बाबू को कभी छू ही नहीं पाया ! न तब, न अब !

पहले मन्त्रिमण्डल में आपके पल्ले निरक्षरता-निवारण, समाज कल्याण और ग्रामोद्योग जैसे शुद्ध बुनियादी महकमे पड़े। बापू के प्रति आपकी सर्वाधिक आस्था इस प्रकार खिल उठी।

एक परमार्थी प्रकाशक ने आपके नाम पर दो पैसेवाली पुस्तिकाओं की 'लोकोपयोगी' सीरिज़ ही चला दी तो माननीय मन्त्री जी का चित्त मैत्री और मुदिता वृत्तियों से विगलित हो उठा और किताबों का वह सौदागर कपड़ा और चीनी का क्षेत्रीय लाइसेन्सदार बन के निहाल हो गया। आपके बड़े बबुआ के नाम पर बालीगंज (कलकत्ता) में दो फ्लैट उसने चोरबाजारी के उस पहले दौर में ही ले दिये थे....

झुककर बाबूसाहब ने पान की शेष सीठी उगालदान के हवाले की और चाबियों के गुच्छे में लगी चांदी की सींक से दाहिना कान खोदने लगे।

कान खोदते-खोदते उनकी दृष्टि दाहिने हाथ की अनामिका उँगली पर जगमगाते नग से उलझ गई। रुपये भर विशुद्ध गिनी-गोल्ड की यह अँगूठी पूने का एक प्रख्यात स्वर्णशिल्पी दे गया था। इसके लिए नग कामाख्या के मशहूर तांत्रिक श्री १०८ श्री वज्रलिङ्गाचार्य की पसंद से आया था और जौहरी को नौ सौ पचपन रुपये की चेक देनी पड़ी थी....

यह बड़ा ही शुभ साबित हुआ....नरपत बाबू ने सोचा —अब की तीसरी दफे मन्त्रिमंडल में वे मुझे शायद ही शामिल करते ! जगदंबा की कृपा न हुई होती तो इस बार मामूली एम्-पी बनाकर अपनी पार्टीवाले मुझे दिल्ली की तरफ ठेल देते....जात-पाँत का भस्मासुर एक न एक रोज हमें खाक करके ही छोड़ेगा मगर पचीस प्रकार के स्वार्थ आपस में जहाँ टकरा रहे हों वहाँ अपनी सत्ता को बरक़रार रखने के लिए और भला किया भी क्या जाये ?

'निरक्षरता-निवारण के बनगाँव-जिला केंद्र का उद्घाटन' आगे आया। शिक्षा विभाग का केन्द्रीय उपमंत्री, अमरीका और इङ्गलैण्ड के शिक्षाशास्त्री, अपने राज्य का मुख्य मंत्री; अलावा इनके, शिक्षाविभाग के अनेकों उच्चाधिकारी, तीन विधायक, एक विधायिका....बहुत सारे गण्यमान्य अभ्यागतों का यह ग्रुप-फोटो ही उस महोत्सव का साक्षी रह गया था। मुख्यमंत्री के बाद ही नरपत बाबू दिखाई दे रहे थे....

बनगाँव वही जिला था जिसकी सुदौली बस्ती बाबू साहब की जन्मभूमि थी। अपनी जात-बिरादरी के लोग लाखों की तादाद में आस-पास आबाद थे। दस-पाँच नहीं, पचासों गाँव थे। निरक्षरता निवारण, समाज कल्याण

और ग्रामोद्योग के नाम पर बीसियों युवक बाबू साहब की कृपा से यहाँ काम पा चुके थे। यह दूसरी बात थी कि नियुक्ति से पहले विभागीय हेडक्लर्क ने एक-एक सौ की दक्षिणा वसूल कर ली थी उनसे। शिकायत किए जाने पर हेड-क्लर्क बाबू श्री मुन्द्रिका प्रसाद सिंह के पक्ष में माननीय मंत्री बोले थे—क्या करोगे, मजबूरी है बेचारे मुन्द्रिका की! पाँच-पाँच सयानी लड़कियाँ सीने पर सवार हैं, गनीमत कि दस-पाँच बाल अभी उसके सिर पर देखते हो....पचीस-तीस हजार रुपये कहाँ से लाएगा गरीब? मैं मजबूर हूँ, मुंद्रिका जब सामने आकर खड़ा हो जाता है तो हमदर्दी मेरी न्यायनिष्ठा को गला डालती है....

कोपेनहेगन में समाज कल्याण का विश्व संमेलन हुआ था, भारतीय प्रतिनिधि मंडल में बाबू साहब का भी नाम था और आप संमेलन में उपस्थित भी हुए थे। तीन चार फोटो विदेशयात्रा के थे। यूरोपीय भद्रजनों और महिलाओं के बीच भारतीय लिबास में अपने को पाकर मंत्री जी का चेहरा आवश्यकता से अधिक खिल उठा। मन ही मन बोले—ऐसे ही अवसरों पर राष्ट्रीय संस्कृति खराद पर चढ़ती है वर्ना आज-कल अधिकांश आदमी 'गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमनादास' ही हुआ करते हैं!....फिर जाने क्या सोच कर बाबू साहब ने बापू के चित्र की ओर सामने दीवार पर देखा और दोनों हाथ सिर से सटा लिये!

कि इतने में मंजुमुखी देवी आ पहुँचीं।

पहले तो वह सामने वाली कोच पर बैठीं पर कुछ ही क्षण बाद बाबू साहब वाली आराम कुर्सी के चौड़े हत्थड़ पर आ बिराजीं।

एक अलबम उठा लिया। मुस्कुराकर बोलीं—बहुत दिनों के बाद आप को इनकी सुध आई!

बाबू साहब ने जवाब में एक शब्द भी नहीं कहा, मुस्कान की मद्धिम आभा भीतरी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के लिए काफी थी।

तीनों अलबम परे हटाकर देवीजी बोलीं—डेढ़ बज रहा है, अब तक आपने खाना नहीं खाया! बड़े शौक से आज मैंने श्रीखंड तैयार किया है। बाबाजी से और मृदुला से कह गई थी कि आपको बारह बजे ही खाना खिला दे—

नरपत बाबू ने बीच में ही टोका—आज तुम्हारे सामने खाना खाने की नीयत थी—मृदुला ने वक्त पर भोजन की याद दिलाई जरूर थी मगर—

मगर—मुस्कुराकर देवीजी ने कहा—बीते दिनों का लेखा-जोखा तबीयत को राहत पहुँचाता है बाबू साहब! मैं सब-कुछ समझती हूँ—

नरपत बाबू अंदर से अबोध बालक की हल्की खिलखिलाहट खींच लाए और देवीजी के कंधे पर हाथ रख दिया।

बूढ़ी हथेली पर जब प्रौढ़ महिला का मजबूत और गरम हाथ पड़ा तो वह उलट गई—

—माधवी कहती थी, आप उसपर नाराज हैं!

—नहीं, मैं भला माधवी पर नाराज रहूँगा?

—तो छोकरी झूठ कहती थी?

—तुम जानो, जाने तुम्हारी लड़की—

—लड़की तो वह आपकी भी है—

—हूँ, तुम लोग अब इस बुड्ढे से चाहती क्या हो?

...बाबू साहब आराम कुर्सी से उठे, अँगुलियों से उलझाकर अँगुलियाँ फोड़ीं तो चट्-चट् की आवाज हुई। बाथरूम की दिशा में बढ़ते-बढ़ते बोले—कभी किसी परीक्षा में जो फस्ट या सेकेण्ड नहीं आई, वही अब सरकारी गर्ल्स कालेज में हेड आफ डिपार्टमेन्ट है। रातों-रात मैं उसे प्रिन्सिपल कैसे बना दूँ? जिंदा रहा तो दो वर्ष में माधवी प्रिन्सिपल भी हो ही जाएगी। लेकिन इस तरह घबराओगी तो किया-कराया सब चौपट हो जाएगा—आज तो नहीं कल उसे यहाँ भेज देना, समझा बुझा दूँगा। अरे धीरज का पाठ माधवी को हमारी मृदुला से लेना होगा—

देवीजी ने इधर सिर घुमाकर मुँह बनाया और उधर बाबू साहब बाथरूम के अंदर घुसे।

पाँच बजे शाम

समारोह-समिति के तरफ से बड़े ही नफीस निमंत्रणपत्र छपवाये गये थे। चौपेजी आर्ट पेपर। दुरंगी सुनहली प्रिंटिङ्ग। शंखों और सीपियों की हल्की चंपई सतह इस लाल-पीली छपाई को अधिकाधिक निखार रही थी। ऊपर अजंता स्टाइल में दो नर्तकियाँ आमने-सामने घुटने टेक कर आरती वाले हाथ उठाए हुए थीं। प्रख्यात कलाकार उग्रमोहन महापात्र की तूलिका का यह चमत्कार लोगों के लिये अब अपनी चीज था—अंदर निमंत्रण का मजमून था। तीसरे पेज पर प्रोग्राम छपा था:

१. आशीर्वाद (वैदिकों और बौद्ध भिक्खुओं द्वारा)
२. मंगलगान (महिला कला निकेतन की छात्राओं द्वारा)
३. समारोह की अध्यक्षता (राजा रेवती रंजन सिंह करेंगे)
४. अभिनंदन ग्रंथ (माननीय घासीराम द्वारा अर्पित होगा)
५. संवर्द्धना के दो-दो शब्द (प्रमुख नागरिकों, मान० घासीराम जी एवं अध्यक्ष द्वारा)
६. बाबू साहब का कृतज्ञता-निवेदन
७. कविता पाठ (सर्वश्री पद्मानंद, विशाख, पंचानन सिंह 'प्रचंड',

कविवर मंजुघोष, महाकवि मृगांक)

८. नृत्य (कुमारी अंजलिदास गुप्त, वंदना ठाकुर, नीलिमा झा)

९. धन्यवाद (दयाल बाबू)

नीचे बारीक टाइपों में छपा था—कार्ड साथ लाना न भूलें।

आठ बजे रात को कुमार प्रद्युम्नप्रसाद नारायण सिंह बाबू साहब के निमित्त अभ्यागतों और विशिष्ट नागरिकों को प्रीतिभोज देने वाले थे, उसके लिए अलग से कार्ड छपा था।

साधना-सदन का विस्तृत हाल। अगस्त की उमस भरी शाम। दरी और जाजिम पर बैठा हुआ जनसमुदाय। ऊपर तीन कतारों में नाचते हुए पंद्रह सीलिंग फैन—सामने सुसज्जित मंच, तीन मसनदें, दो माइक—

राजा साहब, मा० घासीराम और नरपत बाबू बरामदे से होकर मंच की दाहिनी तरफ प्रगट हुए। पीछे पीछे दयाल बाबू, ललनजी, मृगांकजी। चुस्त चूड़ीदार सफेद पाजामा और असमिया अंडी की शेरवानी में साधना-सदन के मंत्री श्री रामप्यारे प्रसाद भी आहिस्ते से डैस पर चढ़े और मृगांकजी से सट-कर खड़े हुए।

नरपत बाबू और रायसाहब ने माननीय घासीराम जी से आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया। वह बीच वाली मसनद के सहारे बैठे तो अगल-बगल नरपत बाबू और राजा साहब ने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया। पीछे दाईं तरफ दयालबाबू आदि भी बैठ गए।

दीवार से टिकाकर भारी-भरकम तानपूरा रखा हुआ था। वहीं मालाओं से भरी डाली भी दिखाई दे रही थी। बाईं तरफ हारमोनियम, तबला और पखावज पड़े थे। ऊपर दो पंखे और तीन बल्ब।

हाल में जनता की उपस्थिति निहायत मामूली थी।

दयालबाबू ने ललनजी के कान में फुसफुसाकर कहा—अभी नहीं,घुँघरू छनकेंगे लोग तब टूटेंगे।

हाँ—कुटिल इंगित में डूबी हुई पलकें झपक कर दयालबाबू ने जवाब दिया— घंटा भर बाद आडियेन्स कई गुना बढ़ जायगी। आज न सनीचर है न एतवार। कालेजियट छोकरे और दफ्तर वाले लोग भला पांच बजे क्यों आने लगे?

मृगांकजी ने अपनी पोर्टफोलियो से निकालकर एक-एक प्रोग्रामवाला पर्चा मा० घासीराम, राजासाहब और बाबूसाहब को थमा दिया।

कलाई पर निगाह टिकाकर राजासाहब बोले—पांच पंद्रह हो रहे हैं, अब आरम्भ कीजिए।

बस दो मिनट और!—ललनजी ने कहा।

राज्यपाल श्री चिचालकर आ चुके हैं—हाँफते हुए आकर महन्त जी ने कहा।

राज्यपाल आए। पीछे-पीछे मिलिटरी सेक्रेटरी और दो पार्षद मिलीटरी तथा सिविल सूट में।

राज्यपाल के संमान में सभी उठ खड़े हुए। माननीय घासीराम ने उन्हें अपने साथ बैठा लिया।

उपस्थिति में बीस-पचीस की तादाद बढ़ गई। अब तक सभी बैठ चुके थे।

इशारा पाकर दो पंडित और भिक्खु मंच पर आए। मैकनीक ने माइक फिट कर दिया तो वैदिक और पालि गाथाओं से मङ्गलपाठ होने लगा।

तत्पश्चात् तीन छात्राओं ने मांगलिक गीत गाया।

तिर्छी टोपी और घनी मूँछों वाले पंडित श्री शिवदयाल पाठक एम० एल-ए० उर्फ दयाल बाबू ने राजा रेवती रंजनप्रसाद सिंह महोदय से समारोह की अध्यक्षता के लिए प्रार्थना की। ललनजी ने मान्य-अभ्यागतों के गले में एक-एक माला डाल दी।

अध्यक्ष ने माननीय घासीराम जी से बाबू साहब को अभिनंदन ग्रंथ अर्पित करने का अनुरोध किया। चंदन की वह नफीस मंजूषा आ चुकी थी थी जिसके अंदर अभिनंदन ग्रंथ रखा था। दयालबाबू मुस्तैद थे कि अवसर आने पर मंजूषा समेत अभिनंदन ग्रंथ घासीराम जी को थमा देंगे।

घासीरामजी खड़े हुए तो माइक उनके मुँह के सामने एडजस्ट किया गया। शेरवानी का गला ढीला करके वह बोलने लगे :

'अध्यक्ष महोदय, महामहिम राज्यपाल और सज्जनो एवं देवियो !

'मैं जिला स्कूल में नाइन्थ क्लास का विद्यार्थी था। उन्हीं दिनों बाबू साहब की कीर्ति इन कानों में पहले-पहल पहुँची थी।

'मैंने हमेशा इन्हें अपनी जनता के साथ पाया। संघर्ष और शाति, सत्याग्रह और समझौता, हर्ष और शोक....चाहे कैसी भी स्थिति में देश रहा हो, नरपत बाबू उसी में रमे रहे।

'इन्होंने अपनी वकालत पर लात मार दी, परिवार की सुख-सुविधा का रत्ती भर खयाल नहीं रखा, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की पर्वाह नहीं की, पत्नी को भारतमाता की बलि वेदी पर न्योछावर कर दिया—'

इसके बाद वक्ता का गला भर आया। शब्द अटक-अटक कर निकलने लगे और आँखें डबडबा आईं। जेब से रूमाल निकालकर उसने आँसू पोंछे और भावावेग पर काबू पाने की कोशिश की।

कि किसी स्त्री की गोद का बच्चा रो पड़ा। आकस्मिक विघ्न जनता के

मन को कानों से हटाकर निगाहों पर खींच लाया।

वक्ता को प्रकृतिस्थ होने का मौका मिला और देवी जी विक्षुब्ध शिशु को शांत करने के लिए बाहर बरामदे की तरफ निकल गईं।

हॉल में चालीस-पचास आदमी और आ गए।

घासीरामजी दस मिनट और बोले।। अभिनंदनग्रंथ वाली मंजूषा दयालबाबू से लेकर बाबू साहब की ओर बढ़े।

बाबूसाहब उठे और विनम्र होकर अभिनंदन ग्रंथ ले लिया।।

महिला कला निकेतन, शिल्पीसंघ, बालमंडल, हिंद-हितकारी समाज, दलितहितैषिणी सभा आदि संस्थाओं की तरफ से बाबूसाहब को मालाएँ पहनाई गईं। दो-तीन अभिनंदन पत्र भी पढ़े गए।

राज्यपाल और कतिपय प्रमुख व्यक्तियों ने संवर्द्धन के दो-दो शब्द कहे। इनमें व्यापारी भी थे, विद्वान् भी थे, जनसेवक भी थे।

मंजुमुखी देवी से भी बोलने का आग्रह किया गया। आपने पहले तो अपनी असमर्थता जतलाई, पीछे मृगांकजी के डबल अनुरोध पर उठ खड़ी हुईं। घुटकती आवाज में कहा —

'माननीय अध्यक्ष और भाइयो!

'बाबू साहब के बारे में मैं भला क्या कहूँ? वह तो मेरे राजनीतिक गुरु हैं। आज मैं जो भी कुछ हूँ सब उन्हीं की कृपा का फल है....'

उपस्थित जनसमुदाय में दबी हुई हँसी और व्यंग्यात्मक ध्वनि की मिश्रित गूँज उठी कि देवी जी ने उस इंगित को समझ लिया। अध्यक्ष की तरफ मुँह करके हाथ जोड़े और पीछे जाकर मृगांकजी के पास बैठ गईं।

अब कृतज्ञता निवेदन का अवसर आया तो बाबू साहब उठे। माइकवाले ने मशीन के डंडे को उनकी लंबाई के अनुपात में ठीक कर दिया।

जनसमूह को प्रणाम करके नरपत बाबू बोले—

'मान्य अध्यक्ष, महामहिम राज्यपाल, आयुष्मान् घासीराम जी, देवियो और सज्जनो!

'फूल की संगति पाकर कीड़ा भी सज्जनों के सिर पर विराजमान होता है: कीटोऽपि सुमनस्संगाद् आरोहति सतां शिर:। भारतीय परम्परा की यह एक पुरानी कहावत है। मेरे जैसा अदना आदमी आपकी श्रद्धा-भक्ति का भाजन हो नहीं सकता था अगर बापू का जादू भरा संपर्क मुझे नहीं मिलता। पारस का संपर्क मामूली से मामूली लोहे को सोना बना डालता है....

'भारत अब एक स्वाधीन राष्ट्र है, सार्वभौम प्रभुता से संपन्न शांतिकामी राष्ट्र। स्वाधीनता की बदौलत हमने क्या हासिल किया है, इसका पता बाहर विदेशों में चलता है। सारा संसार आज भारत की तरफ टकटकी लगाए हुए

है। क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठकर हमें अपने अंदर राष्ट्रीय स्वाभिमान की ताजगी महसूस करनी चाहिए।

'समस्याएँ हैं और उनका हल भी हमें निकालना होगा मगर संक्रांति के इन क्षणों में रत्ती भर भी उतावली हमारा भारी-से-भारी अहित कर सकती है।

'मैं अब बूढ़ा हुआ। मैं ही क्यों, देश को आज़ादी दिलाने वाले बहुत सारे नेता अब बूढ़े हो चले हैं। हमारा ध्यान नई पीढ़ी पर अटका है। साधना के विशाल क्षेत्र युवकों के लिए रिक्त पड़े हैं।

'शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अंदर नहीं है। हाँ, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता-जनार्दन की सेवा के लिए अंतिम क्षण तक हम अपने तन-मन का उपयोग कर सकें....'

तालियों की गड़गड़ाहट हुई। बाबू साहब बैठ गए।

ललन जी उर्फ पत्रकार महोदय ने अध्यक्ष जी के कान से मुँह सटाकर कुछ कहा। उधर बाईं तरफ बगलवाले रूम से घुँघरू की आवाज आई तो हाल क्षण भर के लिए मुखर हो उठा। बाहर बिखरी भीड़ दरवाजे के करीब बटुर आई।

राजा रेवती रंजन प्रसाद सिह साहित्यकार तो थे ही, इस बुढ़ौती में भी 'नजाकत की सोन छड़ी' कहलाते थे। धोती, कुर्ता, तह की हुई चादर। चौड़ा चेहरा और चमकीला माथा। सांवली सूरत को बैठी नाक और कौड़िया आँखें अकारण गम्भीर बनाए रहती थीं। नकियाकर बोलते थे। खड़े होकर बाएँ हाथ से माइक का डंडा थाम लिया और दायां हाथ चमका कर बोले :

'भाइयो और बहनो'

'बस दो शब्द ही कहूँगा मैं तो। फिर कविता पाठ और डान्स मुख्तसर और बस, समारोह की समाप्ति....

'अंधेरी रात थी, बरसाती आसमान था। बिजली कौंधी और बादलों का सीना चाक-चाक हो गया। बजती रही बूंदों की पायल, जुड़ाता रहा धरती का कलेजा....

'ऐसे में कुंवर कन्हैया नाग नथैया पैदा हुआ था और सो भी जेल में ही—'

राजा साहब की वचन भंगी ने झटका खाया, साथ ही छरहरी देह सधे अभिनेता की तरह कुलांच खा कर बांकी हो गई....

पलक मारते ही जादूगर की तरह राजा साहब ने भांप लिया कि जन-मन का कौतूहल कई गुना बढ़ गया है। झटके से एक दृष्टि पीछे बैठे सज्जनों की तरफ डालकर फिर सामने देखा। कहने लगे :

'हाँ, जेल में ही पैदा हुए थे नरपत बाबू! आपको अचरज होता है? अरे

आप और हम और हमारे ये लीडरान सब-के-सब जेल में पैदा हुए थे।.... फिरंगियों की अमलदारी में समूचा हिन्दोस्तान एक विराट् जेलखाना था! अब समझे आप?....

इस तरह पाँच मिनट तक राजा साहब अपनी उस फुलझड़ी-टेकनीक में नरपत बाबू की प्रशंसा करते रहे और लोगों को बोर होने से उबार लिया।

उपस्थित कवियों की सूची मृगांकजी ने तैयार कर रखी थी। कागज राजा साहब ने ले लिया।

उदीयमान कालेजियट कवि पद्मानंद—

मुसकाती है शारद रजनी
मुसकाता है पूनम—चन्द!
धरती का हिय जुड़ा रहा है
नरपति, तव यश अमल-अमंद।

कानों को चाहिए तुम्हारी
वाणी का पीयूष प्रवाह!
देव, तुम्हारी कर्मंमुखरता
भर दे जन-जन में उत्साह!

नए लोग हैं, नई उम्र है
हम से लो तुम आशीर्वाद!
ओ युगपुरुष, तुम्हारी साँसें
युग युग तक बाँटें आह्लाद!

नई धारा के गीतकार विशाख—

बोल रही बांसरी!
काया की डाल पर
जीवन के ताल पर
सपनों के उजले पर तोल रही सांस री!
बोल रही बांसरी!

बोल रही बांसरी!
श्रम-सुधा चाट कर
तिमिर-तोम काट कर
खोल रहा मानव अब किस्मत की फांस री!
बोल रही बांसरी!

युगधर्मी कवि 'प्रचंड'—

आसमान से उतरे हो तुम, मैं धरती का प्राणी
सुयश तुम्हारा उधर, इधर मेरी कविता कल्याणी
तुम जीवन के देव और मैं शब्दशिल्प का साधक
विधि-विधान के स्रष्टा तुम, मैं प्रज्ञा का आराधक

किंतु प्रभो, यह धनुष तुम्हारा मैं ही उठा सकूँगा
पथ का छोर बढ़ाते जाओ, मैं क्या कभी थकूँगा !
नरपति, तुम असीम सागर हो, मैं प्रचंड बड़वानल
तुम हो गौतम बुद्ध और मैं कपिलवस्तु का अंचल
तुम हो राजा राम और मैं शुभ-साकेतपुरी हूँ
तुम युग के रथचक्र और मैं उसकी अटल धुरी हूँ
तुम लोहितनद ब्रह्मपुत्र, मैं चेरापुंजी का जल
तुम गंगा की धारा, मैं उत्तर भारत का समतल—

दुख-दुविधा के दुष्ट दैत्य पर अपनी गदा चलाओ
महारुद्र की सांसों से हिमगिरि का तुहिन गलाओ
तोड़ विषमता की कारा समता के सुमन खिलाओ
शोषित-पीड़ित वंचित को अपना अधिकार दिलाओ
तुम दारिद्र्य-दशानन की खातिर बन जाना राम
गद्दी पर हो, भूल न जाना तुम शबरी का नाम

कविवर मंजुघोष—

यह श्याम सलिल, यह विमल ताल
अंदर-अंदर ये बिछे पड़े शैवालजाल
उनका अंतरतर चीर-चीर उभरे मृणाल
खिल उठे आज सौ सौ शतदल
गा रहे भ्रमरगण मधुमंगल
जय प्रखर सूर्य, जय बालारुण, जय उदयाचल !
तुम पर निर्भर है त्रिभुवन-भर की उथल पुथल !

महाकवि मृगांक—

बनाती है कल्पना ही तथ्य को रंगीन
सत्य की है परिधि व्यापक, सत्य सीमाहीन
ग्रहों की महिमा बनी है गगन का विस्तार
बूँद के आगे प्रणत है अगम पारावार

चेतना पर वास्तविकता का चढ़ाकर खोल
बजाता है तर्क संशय का सनातन ढोल
धुन रही है शीश श्रद्धा विवश-दुर्बल-मौन
कुंजवन में बंसरी फिर से बजाए कौन

ध्वजा पर से भूमि पर उतरे महान अशोक
बढ़ो आगे, तिमिर पर विजयी रहे आलोक

बढ़ो आगे, मृत्यु पर हो जिंदगी की जीत
बढ़ो आगे, हर उषा गाए अरुण के गीत

कविता पाठ समाप्त हुआ। तालियाँ बीच-बीच में उतनी नहीं बजीं जितनी अपेक्षित थीं। इसकी वजह जन-साधारण की अ-रसिकता नहीं थी। लोगों की उत्सुकता प्रोग्राम के अगले आइटम पर टंगी थी यानी सभी का दिल नाच देखने के लिए बेताब हो रहा था। फिर भी अध्यक्ष ने इतना तो बतला ही दिया कि सभी रचनाएँ अभिनंदन ग्रंथ में छपी हैं और अभी अंशतः ही सुनाई जा सकीं।

दयाल बाबू ने उठकर जनता को सूचित किया कि अब एक ही प्रोग्राम शेष है। डान्स के लिए पूरा मंच चाहिए और हमारे माननीय अभ्यागतगण एवं अमंत्रित सज्जन नीचे जाजिम पर बैठेंगे....इस व्यवस्था में दो मिनट लगेगा, आप धैर्य रखें....

कि इतने में ललन जी बिजली की फुर्ती से माइक के नजदीक आए और कहा—

'भाइयो,

'व्यापार मंडल की तरफ से सेठ पूनमचंद जी इकसठ हजार की थैली इस अवसर पर बाबू साहब को अर्पित करेंगे।

'सेठ पूनमचंदजी स्वर्गीय रायबहादुर सेठ बिरधीचंद जी झंझानिया के सुपुत्र हैं....'

राजस्थानी वेश-भूषा में सेठजी मंच पर आए। थैली तो नहीं, चाँदी का कास्के) हाथों में था। गेहुआं सूरत, नाटा कद और गोल चेहरा।

वह बाबू साहब की ओर मुँह करके खड़े हुए। ललनजी ने चाँदी की उस चौकोर तश्तरी में से हल्के नीले रंग की चेक उठा ली, और सामने जन-समुदाय की ओर देखते हुए उस कीमती हुंडी को क्षण-भर वह हिलाते रहे। तालियों की गड़गड़ाहट से हाल गूंज उठा।

बाबू साहब को चेक थमाई गई तो फिर दुबारा तालियाँ पिटीं।

बाबू साहब फौरन उठे, माइक के सामने मुँह करके कहा —

'भाइयो,

'मैं नहीं समझता कि इसकी कोई आवश्यकता थी। मगर मैं इस निधि को अपने लिए आपकी तरफ से श्रद्धापूर्ण नैवेद्य मानता हूँ।

'यह रकम मैं महिला मंगल समाज को सौंपता हूँ जिसकी सेक्रेटरी मंजुमुखी देवी यहाँ मौजूद हैं....'

तालियों की गड़गड़ाहट में ही बाबूसाहब ने चेक देवीजी को पकड़ा दिया।

ललनजी ने देवी जी का इंगित पाकर माइक पर इस दान के लिए महिला मंगल समाज की तरफ से बाबूसाहब को धन्यवाद दिये।

अगले ही क्षण मंच खाली हो गया। ऊपर वाले सज्जन नीचे जाजिम पर आ विराजे। पर्दा गिरा तो इधर हाल में बातचीत की हल्की ध्वनियाँ ऊपर उठने लगीं....

मृगांकजी और ललनजी खिसक गए और बरामदे में जाकर सिगरेट धूंक आए।

ठीक तीन मिनट बाद नाच शुरू हुआ।

पर्दा उठते ही स्थानीय कलामंडल की दो छात्राएँ—कुमारी अंजलिदास गुप्ता और कुमारी नीलिमा झा आमने-सामने आरती लिए दिखाई पड़ीं। ओट से हार्मोनियम और तबला की आवाजें आ रही थीं।

यह आरती-नृत्य था जो मशहूर नर्तक समीर सरकार का निर्देशन पा चुकने के कारण इस वक्त अच्छा निखर रहा था। अंजलि तथा नीलिमा की जोड़ी उम्र में ही नहीं, सौंदर्य-अंगमार्दव-नाट्यभंगिमा आदि में भी परस्पर मैच करती थी।

मसनद पर झुककर माननीय घासीराम जी ने ललन जी से भोजपुरी में पूछ लिया—कहाँ की लड़कियाँ हैं?

ललनजी ने भी आत्मीयता में विभोर होकर भोजपुरी भाषा में ही बताया—एक बंगाली लड़की है दूसरी मैथिल। पहली का बाप जज है दूसरी का प्रिन्सपल। पढ़ती भी दोनों एक ही स्कूल में हैं और क्लास भी एक है....

उधर धीमे से बाबू साहब बोले—आगे अभ्यास छूट नहीं गया तो दोनों काफी नाम पैदा करेंगी।

राजा साहब क्यों चुप रहते? कहा—अजी, यहाँ क्या होगा? ललित कलाओं के सेन्टर तो कलकत्ता-बंबई-मद्रास-दिल्ली तक ही महदूद हैं....वर्ना अपने प्रांत में क्या नहीं हो सकता है?

बड़ों में इधर बातें चलती रहीं, उधर घुंघरू की छमछम। हाल में पहले का विरल जन-समुदाय घना हो आया था। तीनों दरवाजे लोगों से खचाखच भर गए थे। अंदरवाली ऊपरी बालकोनियों का भी यही हाल था।

आरती नृत्य दस मिनट तक चला। पर्दा गिरा। देर तक तालियाँ पिटती रहीं।

मणिपुरी शैलीका 'युगल रास' आधा घंटा तक चला, ततः पर राज्यपाल महोदय स-दलबल उठ गए। अब हाल खाली होने लगा तो माइक पर किसी ने कहा—इसके बाद आदिवासियों का 'छउ' नृत्य होगा और अंत में वंदना ठाकुर का भारतनाट्यम्, पन्द्रह मिनट में आपको फुर्सत मिल जाएगी....

'छउ' नृत्य तो मामूली रहा लेकिन वंदना ठाकुर ने सचमुच कमाल कर दिया।

सेठ पूनमचंद ने तीनों लड़कियों के लिएं एक एक स्वर्णपदक की घोषणा करवाई।

धन्यवाद देने की आखिरी रस्म दयाल बाबू ने अदा कर दी तो सारा हाल खड़ा हो गया। आम लोग तो निकल गए लेकिन कुछ-एक सज्जन रुके रहे। उन्हें अभिनंदन ग्रंथ की एक-एक प्रति दी गई। अंत में पान-सिगरेट का एक दौर और चला।

दस बजे रात

मन्त्री महोदय का बंगला दीपावली की सजावट में इठला रहा था। हाते के अंदर दाईं ओर लान में कुर्सियों पर बारह चौदह सज्जन बैठे थे।

बीच में गोल टेबुलपर पान की तश्तरी, सिगरेट की टिन, जर्दा की डिब्बी, माचिस....

ललन जी ने पास बैठे अधेड़ व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखा और कहा—कुमार साहब, ठीक वक्त पर आप कलकत्ते से न आ गए होते तो प्रीतिभोज का प्रोग्राम हमें कैन्सल करना पड़ता।

सांवली सूरत और बड़ी आँखोंवाला वह गोल चेहरा बोला—क्यों शर्मिन्दा करते हैं मुझे? जल्दी-जल्दी में जो भी कुछ मुझसे हो सका....

मृगांक जी आगेवाली खाली कुर्सी पर पैर फैलाकर सिगरेट धूंक रहे थे। आँखें मुँदी थीं।

सिगरेटवाला हाथ उठाकर कहा—नहीं कुमार साहब, पार्टी आपकी शानदार थी! पिछले चार-पाँच वर्षों में जितने भी प्रीतिभोज हुए हैं, यह उनसे बाजी मार ले गया....

मगर इसका श्रेय—कुमार ने कहा—महंत जी को है। चाय-नमकीन और मिठाइयों के लिए यों अजंता रेस्टॉरेन्ट वालों ने पूरी सतर्कता बरती थी लेकिन हमारे महंतजी की सूझ और व्यावहारिकता से प्रीतिभोज दर-असल प्रीतिभंडारा हो गया।

दो-सौ यूनिट का बल्ब दूधिया रोशनी बिखेर रहा था। उस धवल-पांडुर आलोक में महंतजी की घुटी चांद चमक रही थी। आपकी आवाज एक तो यों ही महीन थी, प्रशंसा में हुलसकर उसमें चिकनापन घुलने लगा। बोले—मैंने सोचा, नमकीन और छेना की मिठाइयाँ हींग वाली कचौड़ियों और बालूशाही इमर्ती जैसी मिठाइयों का मुकाबला भला कैसे करेंगी। किसी को मालूम नहीं होने दिया। गुलटेनी साव से कहकर तीन हलवाइयों को बुला लिया। कुमार साहब की पुरानी हवेली में इफरात की जगह पड़ी है, वहीं ईंटे जोड़कर उन्होंने दो चूल्हे तैयार कर लिये। आटा-मैदा-घी-चीनी-तरकारी-मसाले........रामजी की किरपा से जो है सो कि दुपहर से ही माल तैयार होने लगा....

अच्छा, डालना कैसा रहा ललन जी ?

लाजवाब—ललनजी की वाणी उछलकर बाहर आई—आपकी खुद की डाइरेक्शन थी न ? पूछिए न, मैंने मृगांक जी से तभी कहा था। नहीं मृगांक जी ?

—हाँ, प्रीतिभोज में हम पास-पास बैठे थे महंतजी। ऐसा डालना मैंने जिन्दगी में पहली बार खाया है....

दयालबाबू दूब नोचकर उसकी डंठल से दाँत खोद रहे थे। मुँह टेढ़ा हो रहा था। उसी मुद्रा में बोले—बाबू साहब कह रहे थे, भंडारे की क्या जरूरत थी, कुमार ने नाहक इतना खर्च किया ...

हथेली पर नजरें टिकाकर देवी जी बोलीं—उनसे पूछ-पूछकर करते तो यह फंक्शन ही नहीं होता....क्यों मृगांक जी, मैं झूठ कह रही हूँ ?

मृगांक जी तो नहीं बोले, बोले उधर से एक बड़े साहब—आनरेबुल रेवन्यू मिनिस्टर को यह कभी नहीं अच्छा लगा कि उनकी वजह से लोगों की परेशानी बढ़े ...

परेशानी काहे की ?—सेठ पूनमचंद हँसते रहे।

धीरे-धीरे बात-चीत का सिलसिला उन लोगों पर आ लगा जो न तो फंक्शन में शामिल हो सके थे और न प्रीतिभोज में ही।

रामसागर राय एम्-पी ने कहा—पंकज प्रकाशनवाला दुर्गाबाबू नहीं दिखाई पड़ा मृगांक जी ?

—बीबी को डायरिया हो गया है।

—द्वितीया को या तृतीया को ?

प्रकाशक की पत्नियों के मामले में ललन जी की इस जिज्ञासा पर सभी हँस पड़े।

खिलखिलाहट का रेला थमा तो दयालबाबू पर डकार का हमला हुआ। किसी तरह सँभलकर बोले—हम तो दो ही ठो को जानते थे, तीसरी बीबी भी है सेठ दुर्गादास की ?

मृगांक जी बोलने को हुए तो हाथ के इशारे से ललन जी ने उन्हें रोक दिया, कहने लगे—आप तो अब छै-सात वर्षों से दिल्ली रहने लगे हैं सागर बाबू, इसी दर्म्यान में दुर्गादास ने पाँच हजार की हैसियत से पाँच लाख की हैसियत कर ली है। चार साल पहले की बात है। प्राइमरी और मिडिल कक्षाओं की सत्रह रीडरें टेक्स्ट बुक कमेटी ने दुर्गादास की मंजूर की थीं। दो महीने के अन्दर ही तीन लाख की बचत हुई तो पट्ठे ने दूसरी शादी कर ली उसी वर्ष। गत वर्ष कहीं से पंजाबी लौंडिया बझा लाया है।

महन्तजी और भूतपूर्व जमींदार बाबू गोपीवल्लभ ठाकुर खि-खि-खि-खि

करके हँसने लगे। कई लोगों ने उनका साथ दिया। मृगांक जी पर गंभीरता छाई रही क्योंकि पंकज प्रकाशन से उनके तीन संकलन और 'समुद्रकन्या' नाम से खंडकाव्य निकला था। आगे 'विमर्षिणी' छपनेवाली थी। शंकित थे कि प्रकाशक के उपहास में साहित्यिक का योगदान कहीं जाहिर न हो जाय।

देवीजी कुर्सी के हत्थड़ पर उँगलियों से अनजाने ही तबला के बोल निकाल रही थीं। इस प्रसंग में मृगांकजी का मौन उन्हें अच्छा नहीं लगा। व्यंग्य के लहजे में कहा—आपको तो अक्सर काफी पिलाती है बेचारी, नहीं मृगांक जी ?....

बात काटकर महन्त जी ने कहा—दुर्गादास काफी समझदार आदमी है। बैंक-बैलेन्स वाली निराकार लक्ष्मी से उसकी तबीयत नहीं भरी तो अब साकार लक्ष्मी को ढूँढ़ लाया है....

महन्त का मखौल अधूरा ही रहा क्योंकि खानसामा ने आकर बड़े साहब और दयाल बाबू से कहा—हजूर अंदर चलिए, कहीं से ट्रंककाल आया है।

दयाल बाबू और बड़े साहब बंगले के अन्दर गए। पीछे-पीछे देवीजी गईं, रामसागर बाबू भी गए। परिहास-उपहास का वह वातावरण उखड़ गया। मृगांक जी के विवेक को मुक्ति का स्वाद मिला....

अन्दर बंगले के आफिसवाले कमरे में अपनी घुमौआ कुर्सी पर बाबू साहब बैठे थे। सामने बड़ा मेज। बगल में स्टील की दो बड़ी आलमारियाँ मेज के इर्द-गिर्द तीन-चार कुर्सियाँ....ग्यारह बज रहे थे।

चेहरे पर विषाद की घनी पर्तें चढ़ी थीं। लगता नहीं था कि अभी कुछ देर पहले इन्हीं का हीरक महोत्सव संपन्न हुआ है, कि इन्हीं की प्रीति-कामना से प्रेरित होकर डुमरिया के कुमार प्रद्युम्नप्रसाद नारायण सिंह ने अभी-अभी सौ-सवा सौ विशिष्ट व्यक्तियों को प्रीति-भोज दिया है....बाबू साहब को परेशान देखकर दयाल बाबू भौचक रह गए।

नजदीक खड़े होकर पूछा—क्या बात है सरकार ?

बाबूसाहब को मानो बेहद कष्ट हो रहा था बोलने में। मंजुमुखीजी दाइ तरफ आकर उन्हें गौर से देखती रहीं। बाकी लोग सामने थे।

फोन का रिसीवर 'स्टेट्समैन' पर पड़ा था। बड़े साहब मन्त्रीजी के विभागीय अंडर सेक्रेटरी थे। आगे बढ़कर उन्होंने रिसीवर उठा लेना चाहा।

बाबूसाहब ने हाथ के इशारे से मना किया और बोले—नगेंदर चार घंटे से पुलिस की कस्टडी में है। आबकारी महाल के अधिकारियों ने उसकी ट्रक जोगबनी में रोक रखी है। कहते हैं ऊपर बीस मन तम्बाखू के पत्ते थे, नीचे पचीस

मन गांजा....इस लड़के ने तो मुझे भारी संकट में डाल दिया है दयाल बाबू, बतलाइए अब इस वक्त मैं क्या करूँ ?

कुछ देर तक कमरे में सन्नाटा रहा। सिर्फ घड़ी की टिक-टिक सुनाई देती रही। ट्यूब लाइट का नीलाभ आलोक....पंखे की मद्धिम हवा....बाबू साहब का म्लान मुखमण्डल....लगता था कि सभी के दिमाग चक्कर खा रहे हैं। पचास मन नेपाली गाँजा कोई मामूली माल नहीं था, हिन्दुस्तान में उसकी कीमत दो लाख रुपये थी....बाबूसाहब के सुपुत्र श्री नगेन्द्रनारायणसिंह ने बहुत बड़ा शिकार किया था....फंदा उलटा पड़ा तो अब पिताजी की गुहार मचाई थी....सभी गुम थे, सबका सिर दर्द बढ़ रहा था !

लोकसभा के युवक सदस्य रामसागर राय अपनी छात्रावस्था में मार्क्सिस्ट थे। सुभाषबाबू और स्वामी सहजानंद से आपको राजनीति की आरंभिक दीक्षा मिली थी। '४५ तक आप फारवर्डब्लाकिस्ट रहे, तत्पश्चात् नेहरूवादी हो गए। मेधा बड़ी तीव्र थी, समाजवादी शासन-व्यवस्था के खिलाफ जहर उगलने में इधर रायजी का यश अच्छी तरह फैल रहा था।....उनकी बुद्धि में बिजली-सी कौंधी तो आगे बढ़ आए और फोन का रिसीवर उठा लिया। ज़ोर लगा कर बोले—हलोऽ....हलोऽऽ....ट्रङ्क !!... हलो ऽ....हाँ, मैं रेवेन्यू मिनिस्टर का प्राइवेट सेक्रेटरी....हाँ, आप कौन ? मिस्टर सेन ? एक्साइज सुपरिन्टेन्डेन्ट ?.... हलो ऽ....हलो....ट्रङ्क ! कनेक्शन अभी तोड़िए नहीं....हाँ मिस्टर सेन ? हमारे पास इस बात का पक्का सबूत है कि उस ट्रङ्क में तम्बाखू ही तम्बाखू थी, गांजा नहीं था उसमें नहीं, बिल्कुल नहीं साब ! ट्रक में गांजे की एक भी कली नहीं थी आप लोगों को धोखा हुआ है मिस्टर सेन !....मिस्टर सेन, आप हँसते क्यों हैं ? यकीन नहीं होता है ?....हलोऽ....हलोऽऽ....ट्रङ्क....अच्छा, लाइन नहीं तोड़िए....अभी आधा घंटा और ...

पड़ोसवाला बंगला पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन का था। रामसागर बाबू साहब की कार से वहाँ पहुँचे और फोन से आबकारी महाल के आइ जी (इन्सपेक्टर-जेनरल) की मौजूदगी मालूम की। पाँच मिनट के अन्दर ही रायजी आई-जी के सामने थे।

अपने आका की डांट-डपट खाकर बेचारे मिस्टर सेन को मान लेना पड़ा कि ट्रक में तम्बाखू ही थी, गांजा नहीं था....और नगेन्द्र नारायण सिंह रात को साढ़े बारह बजे पुलिस की हाजत से छुटकारा पा गए। उनकी ट्रक सही-सलामत नेपाल-भारत सीमा के इस पार आ पहुँची।

उतनी रात को देवीजी के आग्रह से आबकारी महकमे के आई-जी मिस्टर प्रसाद को काफी का प्याला लेना पड़ा। चलते वक्त अपने कन्धे पर उन्होंने बाबूसाहब का ठंढा हाथ महसूस किया, इतनी ही उम्र वाले चाचा की याद

आ गई तो बोले—एक बज रहा है, हुजूर अब सोएँ जाकर।

तुम्हारा आना क्या रोज़-रोज़ होता है?—बाबू साहब मुस्कराए तो दयाल बाबू आदि को भी मुस्कुराना ही पड़ा।

रामसागर बाबू मिस्टर प्रसाद को लेकर चले गए।

हँसी-खुशी अब दयाल बाबू और ललनजी की मंडली भी हाते से बाहर निकली।

सेठ पूनमचन्द की बड़ी कार 'डि-सोटो' और कुमार साहब की 'शेवर्ले' देवीजी-समेत सभी को ले गईं।

तीन बजे रात

पिताजी,

इस कोठी में यह मेरी आखिरी रात है। अब कभी मैं आपसे मिल नहीं सकूँगी... मैं सदा के लिए आपसे बिछुड़ रही हूँ....

प्रांत में कोई भी शुभ कार्य नहीं जिसे आपके आशीर्वादों से वंचित होना पड़ा हो। साड़-सम्मेलन से लेकर साधु-सम्मेलन तक का उद्घाटन आपने किया है। अनाथालय, विधवाश्रम, बहरों-गूँगों का स्कूल, पिंजरापोल, वानप्रस्थ-आश्रम....जाने कितनी संस्थाओं को आपकी मदद मिलती रहती है। महिलामंगल समाज तो खैर आपका अपना शिशु है। दसियों युवतियों ने आपकी छत्र छाया में वैधव्य के अभिशाप से छुटकारा पाया है।

लेकिन मैं?

मेरी तरफ क्या कभी आपने ध्यान दिया? क्वार की अगली पूनम को मैं छब्बीस वर्ष की हो जाऊँगी। अट्ठारह की उम्र में शादी हुई। शादी के छ महीने बाद ही हवाई दुर्घटना में उनका देहांत हो गया। इन्टर के बाद आपने मेरी पढ़ाई छुड़ा दी। एक बूढ़े पंडितजी रखे गए जिनसे मुझे गीता, रामायण, उपनिषद्, वेदांत आदि पढ़ना पड़ता था....

गत वर्ष तक मुझे आखिर माँ की ममता प्राप्त थी। पिछले दिनों मेरी नकेल आपने चाचीजी को थमा दी। माँ वह माधवी की हो सकती है, मेरे लिए तो चुड़ैल से बदतर है यह औरत....

भाई-भाभी को अपनी पड़ी रहती है, उनपर जब आपका ही कोई बस नहीं चलता तो मैं भला किस खेत की मूली हूँ!

इंटर का मेरा एक साथी बंबई में रहता है। हम बीच-बीच में मिलते रहे हैं। एक मिल में वह टेक्निकल एक्स्पर्ट है, छ सौ पाता है....वह आया हुआ है, मैं उसी के साथ जा रही हूँ। विजयदशमी के शुभ अवसर पर हमारी शादी होगी। आपकी हीरक जयंती हुई, मेरी यह ताम्र-जयंती ही सही!

आपकी मृदुला

पुनश्च :

माँ के गहने और पाँच हजार नक़द रकम मैं साथ ले जा रही हूँ।

मृ०

मृदुला ने जल्दबाजी में तारीख़ नहीं डाली। ख़त को अपनी मेज पर पेपरवेट से दबाकर रख दिया। स्विच-आफ होते ही टेबललैम्प बुत गया।

कोठी के पिछवाड़े होकर नौकरों के क्वार्टर के बगल से वह निकली। हाथ में चमड़े का छोटा-सा सूटकेस था।

सड़क के किनारे बिजली की धीमी रोशनी में मृदुला प्रगट हुई तो पास के नीम की झुटपुटी छांह में से साइकिल-सवार एक युवक आगे बढ़ आया।

सूटकेस को उसने आगे लटका लिया। मृदुला पीछे कैरियर पर बैठ गई।

अगले दिन चार बजे

प्रांत की राजधानी से सुबह-सुबह नौ दैनिक निकलते थे—तीन दो आनेवाले, तीन छै पैसे वाले, तीन इकन्नीवाले....दो अंग्रेजी में, पांच हिंदी में और दो उर्दू में....

विस्तार से सभी दैनिकों ने हीरकजयंती की खबरें छापी थीं। समारोह के फोटो भी छपे थे। माननीय घासीराम, राजा साहब और बाबू साहब की तस्वीरें अलग-अलग भी शाया हुई थीं।

चार बजे दिन में दो पैसेवाला रोजाना 'बिगुल' निकला करता था। मामूली दुकानदार, फेरीवाले, पानवाले, धोबी, मेहतर, चपरासी आदि इस सस्ते दैनिक को बड़े चाव से पढ़ते थे।

समय पर आज भी 'बिगुल' का हॉकर निकला और चिल्ला-चिल्लाकर अखबार बेचने लगा मगर आज उसकी आवाज़ में अजीब गर्मी थी, बल्कि एक प्रकार का उपहास छलकता था....

वह कह रहा था—पढ़िए रोज़ाना बिगुल! बेटी ने बाप की नाक काट ली....बाप ने अपनी हीरकजयंती मनाई तो बेटी ने अपनी तांबा-जयंती.... गहना का बक्सा और हजारों की नगद लेकर चंपत! दो पैसे में पढ़िए, रोजाना बिगुल! पढ़िए....

चिथड़ा-सा वह सड़ियल अखबार धड़ाधड़ बिक रहा था। भद्र लोग भी उत्सुकता के मारे आज उसे खरीद रहे थे। जो खबर कहीं नहीं छपी थी, उसे जाने कैसे 'बिगुल' के नगर-संवाददाता ने जन-साधारण के लिए सुलभ कर दिया था....

★

कविताएँ : २

किरण के जाले उगलता सूर्य
मकड़ी-सा
परिन्दे फांसता चुपचाप
सन्ध्या तक,
मगर उस रात से पहिले
न दिन बरबाद हो :

क़हक़हों-सा होश,
जागूं बुद्धि तक उर्वर
अचानक छूट कर—
खुश प्राण में भर लूं
बहारें लूट कर,
सूनी नज़र आबाद हो।

दुष्यन्त कुमार | अभी तो

रात के घने, काले समय में
मेरी हथेली पर
तुमने बनाया है जो सूरज
—मेंहदी से
कहीं सुबह तक रचेगा,
लाल होगा !

यों उतावले मत हो
रचेगा ज़रूर
सूरज है
तुमने बनाया है;

लेकिन प्रिय
अभी तो अँधेरा है,
नमी है, हथेली में
सुबह की प्रतीक्षा है ।

कीर्ति चौधरी | कुहू

दिन बीते कभी इस शाख पर
किसी कोयल को कूकते सुना था

तब से जब भी इस ओर आती हूँ
बार बार
कानों में वही कुहू
गूंजती हुई पाती हूँ
जैसे मेरे मन के लिए
एक बार का पा लेना ही हमेशा की थाती है
या वह कोयल की कूक है
जो अमराई में छा ही जाती है।

हरिनारायण व्यास | आज यह दुनिया....

आज यह दुनिया नहीं वैसी रही
जैसी कभी थी।
सृष्टि के आधार, ममता-स्नेह-सुख संवेदनाएँ
सूख कर बाज़ार में ईंधन सरीखे बिक रहे हैं।
आज गद्हे सिंह की पोशाक पहिने
खा रहे हैं घास सूखी।
स्वार्थ का सरिया पकड़ कर झूलती है मूढ़ प्रज्ञा
आज दिल दीमाग़ सब के हो गये निर्जीव पत्थर।
ज्ञान औ विज्ञान सब
संघर्ष के परिणाम के आगे विजित हैं।
आज मिट्टी के समर्पण में निहित
औदार्य औ वात्सल्य के तल में छिपे
विश्वास का आलोक गहने के लिये
इस ज़िन्दगी की आँख में दीदे नहीं हैं।
सजल सावन की घटा में
औ शरद् की चांदनी में
दोस्ती मिलने बिछुड़ने
प्यार-पत्री-पार्टी-परिणय-प्रणय में
एक रूखी रस्म की निर्जीवता है।
हो गया बेहोश ब्रह्मानंद औ
चैतन्य-शिव-आनन्द का उपभोग केवल शब्द में
सोया हुआ है।
आज यह दुनिया नहीं वैसी रही
जैसी कभी थी।
आदमी की पंच भूतों से बनी यह देह
इसमें जागने वाला विवेकी जीव केवल फार्मूला रह गया है।
इस गणित के जोड़ बाकी के जगत में
आदमीयत हो गई है 'ग़लत उत्तर।'

और इस मस्तिष्क के टेलीविज़न पर
बुद्धि की किरनें सतत प्रोजेक्ट करती हैं
गणित के फार्मूले।
रोटियों के केन्द्र में बैठा हुआ विध्वंस
युग की फैलने वाली परिधि का
छोर पाने के लिये बेताब है।
आज यह दुनिया नहीं वैसी रही
जैसी कभी थी
आदमी ओ आदमी
तुमने बनाया भूल से घर
कामना के प्यार के पर्दे लगा कर
आंधियों के वेग रोके।
मनु इड़ा को सौंप तुमको
कर गये वन में पलायन।
बिक गई अधिकार के बाज़ार में पर
यह इड़ा माता तुम्हारी,
इन चिरंतन सूलियों की नोक पर तुमको
सुलाकर।
तर्क की तलहीन गहरी खाइयों में
भ्रान्ति का कड़ुवा धुंआँ फैला हुआ है।
आज यह दुनिया नहीं वैसी रही
जैसी कभी थी।

ज़िन्दगी रंगीन बल्बों की अमर ज़ंजीर है
जोकि बुझती और जलती
जी रही है
और आगे भी जियेगी।
आज की दुनिया अगर कल
आज के जैसी नहीं थी
तो यही दुनिया हमेशा
आज के जैसी नहीं कल भी रहेगी।

✕

परमानन्द श्रीवास्तव | प्रतीक्षा का गीत

अभी अभी लगा
तुमने मुझे हांक दी है
रह रह पुकारा है

अभी अभी लगा
तुमने मेरी आँखें मूंदी हैं
अधमुंदी पलकों में
देर तक निहारा है

अभी अभी लगा
तुमने नम भीगे स्पर्शों से
मुझको छुआ है
कि मेरे पास की
हर ठांव, हर जगह में
कुछ कम्प सा हुआ है

अभी अभी लगा
तुमने मोरपंखी बादलों सी
छाया तरलता में
मुझे समेट लिया है
कि तुम्हारी समीपता को
मैंने
आँखों देखा है, पिया है

लेकिन मैं वैसा का वैसा ही अकेला हूँ
प्रतीक्षा के कठिन दुर्निवार क्षण :
इन्हें झेला हूँ
और,
अब भी प्रतीक्षा के फूल
मेरी मुट्ठियों में वैसे ही कसे हैं
अक्षर प्रतीक्षा के
कापियों किताबों में
वैसे ही टंके हैं
कि मैं ही प्रतीक्षा हूँ
मेरी आंखों में तिरती आकृति
संभावित अतिथि की
प्रतीक्षा की
कि तुम हो

कि मैं तुममें प्रतीक्षा
तुम मुझमें प्रतीक्षा हो

लेकिन, यह अनवधि उत्सुकता उद्वेलन
ओ मन !

अन्य कहानियाँ

परिन्दे

निर्मल वर्मा

★

Can we do nothing for the dead ? And for a long time the answer had been—nothing !

—Katherine Mansfield.

अँधेरे गलियारे में चलते हुए लतिका ठिठक गयी। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल कटी-फटी आकृति खींचने लगी। सात नम्बर कमरे से लड़कियों की बात-चीत और हँसी-ठहाकों का स्वर अभी तक आ रहा था। लतिका ने दरवाजा खट-खटाया। शोर अचानक बन्द हो गया।

—कौन है ?

लतिका चुप खड़ी रही। कमरे में कुछ देर तक घुसुर-पुसुर होती रही, फिर दरवाज़े की चिटख़नी के खुलने का स्वर आया। लतिका कमरे की देहरी से कुछ आगे बढ़ी, लैम्प की झपकती लौ में लड़कियों के चेहरे सिनेमा के परदे पर ठहरे हुए क्लोज़-अप की भाँति उभरने लगे।

—कमरे में अँधेरा क्यों कर रखा है ? लतिका के स्वर में हल्की-सी झिड़की का आभास था।

—लैम्प में तेल ही खत्म हो गया, मैडम।

यह सुधा का कमरा था, इसलिये उसे ही उत्तर देना पड़ा। होस्टल में शायद वह सब से अधिक लोकप्रिय थी, क्योंकि सदा छुट्टी के समय या रात को डिनर के बाद आस-पास के कमरों में रहने वाली लड़कियों का जमघट उसी के कमरे में लग जाता था। देर तक गप-शप, हँसी-मजाक चलता रहता।

—तेल के लिये करीमुद्दीन से क्यों नहीं कहा ?

—कितनी बार कहा मैडम, लेकिन उसे याद रहे तब तो।

कमरे में हँसी की फुहार एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गयी। लतिका के कमरे में आने से अनुशासन की जो घुटन घिर आयी थी, वह अचानक बह

गयी। करीमुद्दीन होस्टल का नौकर था, उसके आलस और काम में टालमटील करने के किस्से होस्टल की लड़कियों में पीढ़ी दर पीढ़ी चले आते थे।

लतिका को हठात् कुछ स्मरण हो आया। अँधेरे में लैम्प घुमाते हुए उसने चारों ओर निगाहें दौड़ाईं। कमरे में चारों ओर घेरा बना कर वे बैठी थीं—पास-पास एक दूसरे से सट कर। सब के चेहरे परिचित थे, किन्तु लैम्प के पीले मद्धिम प्रकाश में जैसे कुछ बदल गया था या जैसे वह उन्हें पहली बार देख रही थी।

—जूली, अब तक तुम इस ब्लाक में क्या कर रही हो ?

जूली खिड़की के पास पलंग के सिरहाने बैठी थी। उसने चुपचाप आँखें नीची कर लीं। लैम्प का प्रकाश चारों ओर से सिमटकर अब केवल उसके चेहरे पर गिर रहा था।

—नाइट-रजिस्टर पर दस्तखत कर दिये ?

—हाँ मैडम।

—फिर....? लतिका का स्वर कड़ा हो आया। जूली सकुचाकर खिड़की के बाहर देखने लगी।

जब से लतिका इस स्कूल में आयी है, उसने अनुभव किया है कि होस्टल के इस नियम का पालन डाँट-फटकार के बावजूद नहीं किया जाता।

—मैडम, कल से छुट्टियाँ शुरू हो जायेंगी, इसलिये आज रात हम सब ने मिल कर....और सुधा पूरी बात न कह कर हेमन्ती की ओर देखते हुए मुस्कराने लगी।

—हेमन्ती के गाने का प्रोग्राम है, आप भी कुछ देर बैठिये न मैडम।

लतिका को उलझन मालूम हुई। इस समय यहाँ आकर उसने इनके मजे को किरकिरा कर दिया। इस छोटे से हिल-स्टेशन पर रहते उसे खासा अर्सा हो गया लेकिन कब समय पतझड़ और गर्मियों का घेरा पार करके सर्दी की छुट्टियों की गोद में सिमट जाता है, उसे कभी याद नहीं रहता।

चोरों की तरह चुपचाप वह देहरी से बाहर हो गयी। उसके चेहरे का तनाव ढीला पड़ गया। मुस्कराने लगी।

—मेरे संग स्नो-फाल देखने कोई नहीं ठहरेगा ?

—मैडम, छुट्टियों में क्या आप घर नहीं जा रही हैं? सब लड़कियों की आँखें उस पर जम गयीं।

—अभी कुछ पक्का नहीं है—आई लव द स्नो फ़ाल।

लतिका को लगा यही बात उसने पिछले साल भी कही थी, और शायद पिछले से पिछले साल भी। उसे लगा मानों लड़कियाँ उसे सन्देह की दृष्टि से देख रही हैं, कि जैसे उन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसका सिर

चकराने लगा, मानों बादलों का स्याह मुट झुरकिसो अनजाने कोने से उठकर उसे अपने में डुबो लेगा। वह थोड़ा सा हँसी, फिर धीरे से सिर को झटक दिया।

—जूली, तुम से कुछ काम है, अपने ब्लाक में जाने से पहले मुझसे मिल लेना—वेल गुडनाइट। लतिका ने अपने पीछे दरवाजा बन्द कर दिया।

गुड नाइट मैडम, गुड नाइट, गुड नाइट....

गलियारे की सीढ़ियाँ न उतर कर लतिका रेलिंग के सहारे खड़ी हो गयी। लैम्प की बत्ती को नीचे घुमाकर कोने में रख दिया। बाहर धुंध की नीली तहें बहुत घनी हो चली थीं। लान पर लगे हुए चीड़ के पत्तों की सर-सराहट हवा के झोंकों के संग कभी तेज कभी धीमी होकर भीतर बह आती थी। हवा में सर्दी का हल्का सा आभास पाकर लतिका के दिमाग़ में कल से शुरू होने वाली छुट्टियों का ध्यान भटक आया। उसने आँखें मूँद लीं। उसे लगा कि जैसे उसकी टागें बाँस की लकड़ियों की तरह उसके शरीर से बँधी हैं, जिसकी गांठें धीरे-धीरे खुलती जा रही हैं। सिर की चकराहट अभी मिटी नहीं थी मगर अब जैसे वह भीतर न होकर बाहर फैली हुई धुंध का हिस्सा बन गई थी।

सीढ़ियों पर बातचीत का स्वर सुन कर लतिका जैसे सोते से जागी। शाल को कंधों पर समेटा और लैम्प उठा लिया। डाक्टर मुकर्जी मि० ह्यूबर्ट के संग एक अँग्रेजी धुन गुनगुनाते हुए ऊपर आ रहे थे। सीढ़ियों पर अँधेरा था और ह्यूबर्ट को बार-बार अपनी छड़ी से रास्ता टटोलना पड़ता था। लतिका ने दो-चार सीढ़ियाँ उतर कर लैम्प नीचे झुका दिया। 'गुड ईवनिंग डाक्टर, गुड ईवनिंग मिस्टर ह्यूबर्ट' 'थैन्क यू मिस लतिका'—ह्यूबर्ट के स्वर में कृतज्ञता का भाव था। सीढ़ियाँ चढ़ने से उनकी साँस तेज हो रही थी और वह दीवार से लगे हुए हांफ रहे थे। लैम्प की रोशनी में उनके चेहरे का पीलापन कुछ तांबे के रंग जैसा हो गया था।

—यहाँ अकेली क्या कर रही हो मिस लतिका?—डाक्टर ने होंठों के भीतर से सीटी बजायी।

—चेकिंग करके लौट रही थी। आज इस वक्त ऊपर कैसे आना हुआ मिस्टर ह्यूबर्ट?

ह्यूबर्ट ने मुस्कुराकर अपनी छड़ी डाक्टर के कंधों से छुला दी—इनसे पूछो, यही मुझे जबरदस्ती घसीट लाये हैं।

—मिस लतिका, हम आपको निमन्त्रण देने आ रहे थे। आज रात मेरे कमरे में एक छोटा सा कन्सर्ट होगा जिसमें मिस्टर ह्यूबर्ट शोपां और चाइकोवस्की के कंपोजीशन बजाएँगे और फिर क्रीम काफ़ी पी जायेगी और उसके बाद

अगर समय रहा तो पिछले साल हमने जो गुनाह किये हैं उन्हें हम सब मिल कर कन्फेस करेंगे। डाक्टर मुखर्जी के चेहरे पर भरी मुस्कान खेल गयी।

—डाक्टर, मुझे माफ़ करें, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।

—चलिए यह ठीक रहा। फिर तो आप वैसे ही मेरे पास आतीं। डाक्टर ने धीरे से लतिका के कंधों को पकड़ कर अपने कमरे की तरफ मोड़ दिया।

*

डाक्टर मुकर्जी का कमरा ब्लाक के दूसरे सिरे पर छत से जुड़ा हुआ था। वह आधे बर्मी थे, जिसके चिन्ह उनकी थोड़ी दबी हुई नाक और छोटी-छोटी चंचल आँखों से स्पष्ट थे। बर्मा पर जापानियों का आक्रमण होने के बाद वह इस छोटे से पहाड़ी शहर में आ बसे थे। प्राइवेट प्रेक्टिस के अलावा वह कान्वेंट स्कूल में हाइजीन फ़िज़ियालोजी भी पढ़ाया करते थे और इसीलिये उनको स्कूल के होस्टल में ही एक कमरा रहने के लिये दे दिया गया था। कुछ लोगों का कहना था कि बर्मा से आते हुए रास्ते में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई थी लेकिन इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि डाक्टर स्वयं कभी अपनी पत्नी की चर्चा नहीं करते।

बातों के दौरान में डाक्टर अक्सर कहा करते हैं—मरने से पहले मैं एक दफ़ा बर्मा ज़रूर जाऊँगा - और तब एक क्षण के लिए उनकी आँखों में एक नमी सी छा जाती। लतिका चाहने पर भी उनसे कुछ पूछ नहीं पाती, उसे लगता कि डाक्टर नहीं चाहते हैं कि कोई उनके अतीत के सम्बन्ध में उनसे कुछ भी पूछे या सहानुभूति दिखलाये। दूसरे ही क्षण अपनी गम्भीरता को दूर ठेलते हुए वह हँस पड़ते—एक सूखी, बुझी हुई हँसी।

—होम-सिक्नेस ही एक ऐसी बीमारी है जिसका इलाज किसी डाक्टर के पास नहीं है।

छत पर मेज कुर्सियाँ डाल दी गयीं और भीतर कमरे में परकोलेटर में काफ़ी का पानी चढ़ा दिया गया।

—सुना है अगले दो तीन वर्षों में यहाँ पर बिजली का इन्तजाम हो जायगा, डाक्टर ने स्प्रिट लैम्प जलते हुए कहा।

—यह बात तो पिछले दस सालों से सुनने में आ रही है। अँग्रेजों ने भी कोई लम्बी चौड़ी स्कीम बनाई थी, पता नहीं उसका क्या हुआ, ह्यूबर्ट ने कहा। वह आराम कुर्सी पर लेटा हुआ बाहर लान की ओर देख रहा था।

लतिका कमरे से दो मोमबत्तियाँ ले आई। मेज के दोनों सिरों पर टिका कर उन्हें जला दिया गया। छत का अंधेरा मोमबत्ती की फीकी रोशनी के इर्द-गिर्द सिमटने लगा। एक घनी नीरवता चारों ओर घिरने लगी। हवा में चीड़ के वृक्षों की सांय-सांय दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों और घाटियों में एक

अजीब सी सीटियों की गूँज छोड़ती जा रही थी।

— इस बार शायद बर्फ जल्दी गिरेगी, अभी से हवा में एक सर्द खुश्की-सी महसूस होने लगी है, डाक्टर का सिगार अंधेरे में लाल बिन्दी सा चमक रहा था।

—पता नहीं, मिस वुड को स्पेशल सर्विस का गोरख धंधा क्यों पसन्द आता है। छुट्टियों में घर जाने के पहले क्या यह ज़रूरी है कि लड़कियाँ फादर एल्मन्ड का सर्मन सुनें? ह्युबर्ट ने कहा।

—पिछले पाँच साल से मैं सुनता आ रहा हूँ—फादर एल्मन्ड के सर्मन में कहीं हेर-फेर नहीं होता।

डाक्टर को फादर एल्मन्ड एक आँख नहीं सुहाते थे।

लतिका कुर्सी पर आगे झुक कर प्यालों में काफ़ी उँडेलने लगी। हर साल स्कूल बन्द होने के दिन यही दो प्रोग्राम होते हैं—चैपल में स्पेशल सर्विस और उसके बाद दिन में पिकनिक। लतिका को वह पहला साल याद आया जब वह डाक्टर के संग पिकनिक के बाद क्लब गई थी। डाक्टर बार में बैठे थे, बाल रूम कुमाऊँ रैजीमेन्ट के अफ़सरों से भरा हुआ था। कुछ देर तक बिलियर्ड का खेल देखने के बाद जब वह वापिस बार की ओर आ रहे थे तब उसने दायीं ओर क्लब की लाइब्रेरी में देखा—मगर उसी समय डाक्टर मुकर्जी पीछे से आ गए थे। 'मिस लतिका, यह मेजर गिरीश नेगी हैं।' बिलियर्ड रूम से आते हुए हँसी-ठहाकों के बीच वह नाम दब-सा गया था। वह किसी किताब के बीच में उँगली रख कर लाइब्रेरी की खिड़की के बाहर देख रहा था। 'हलो डाक्टर—' वह पीछे मुड़ा। तब उस क्षण....

उस क्षण न जाने क्यों लतिका का हाथ काँप गया और काफ़ी की कुछ गर्म बूंदें उसकी साड़ी पर छलक आईं। अंधेरे में किसी ने नहीं देखा कि लतिका के चेहरे पर एक उनींदा सा रीतापन घिर आया है।

हवा के झोंके से मोम बत्तियों की लौ फड़कने लगी। छत के ऊपर काठगोदाम जाने वाली सड़क पर यू० पी० रोडवेज़ की आखिरी बस डाक लेकर जा रही थी। बस की हैड लाइट्स में आस-पास फैली हुई झाड़ियों की छायाएँ घर की दीवार पर सरकती हुई गायब होने लगीं।

—मिस लतिका, आप इस साल भी छुट्टियों में यहीं रहेंगी? डाक्टर ने पूछा।

डाक्टर का सवाल हवा में टंगा रहा। उसी क्षण पियानो पर शोपाँ का नौक्टर्न ह्यूबर्ट की उँगलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे छत के अंधेरे में घुलने लगा—जैसे जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भंवरों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर दूर किनारों तक फैलती जा रही हैं। लतिका को

लगा कि जैसे कहीं बहुत दूर बर्फ की चोटियों से परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं। इन दिनों अक्सर उसने अपने कमरे की खिड़की से उन्हें देखा है—धागे में बंधे चमकीले लट्टुओं की तरह वह एक लंबी, टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं, पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर जहाँ शायद वह कभी नहीं जायगी।

लतिका आर्म चेयर पर ऊँघने लगी। डाक्टर मुकर्जी का सिगार अंधेरे में चुपचाप जल रहा था। डाक्टर को आश्चर्य हुआ कि लतिका न जाने क्या सोच रही है और लतिका सोच रही थी, क्या वह बूढ़ी होती जा रही है? उस के सामने स्कूल की प्रिंसिपल मिस वुड का चेहरा घूम गया—पोपला मुँह, आँखों के नीचे झूलती हुई मांस की थैलियाँ, ज़रा-ज़रा सी बात पर चिढ़ जाना, कर्कश आवाज़ में चीखना—सब उसे 'ओल्ड मेड' कह कर पुकारते हैं। कुछ वर्षों बाद वह भी हूबहू वैसी ही बन जायेगी....लतिका के समूचे शरीर में झुरझुरी सी दौड़ गयी, मानो अनजाने में उसने किसी ग़लीज़ वस्तु को छू लिया हो। उसे याद आया, कुछ महीने पहले अचानक उसे ह्यूबर्ट का प्रेम-पत्र मिला था—भावुक, याचना से भरा हुआ पत्र, जिस में उसने न जाने क्या कुछ लिखा था, जो कभी उस की समझ में नहीं आया। उसे ह्यूबर्ट की इस बचकाना हरकत पर हँसी आयी थी, किन्तु भीतर ही भीतर उसे प्रसन्नता भी हुई थी, उसकी उम्र अभी बीती नहीं है, अब भी वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। ह्यूबर्ट का पत्र पढ़ कर उसे क्रोध नहीं आया, आयी थी केवल ममता। वह चाहती तो उसकी गलत-फ़हमी को दूर करने में देर न लगती, किन्तु कोई शक्ति उसे रोके रखती है, उसके कारण अपने पर विश्वास रहता है, अपने सुख का भ्रम मानो ह्यूबर्ट की गलत-फ़हमी से जुड़ा है....

ह्यूबर्ट ही क्यों, वह क्या किसी को भी चाह सकेगी, उस अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो छाया सी उस पर मँडराती रहती है, न स्वयं मिटती है, न उसे मुक्ति दे पाती है। उसे लगा, जैसे बादलों का झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है, उसकी टाँगें फिर निर्जीव, शिथिल सी हो गयी हैं।

वह झटके से उठ खड़ी हुई—डाक्टर मुझे माफ करना, मुझे बहुत थकान सी लग रही है....बिना वाक्य पूरा किये हुए लतिका चली गयी।

कुछ देर तक टैरेस पर निस्तब्धता छायी रही। मोम बत्तियाँ बुझने लगीं थीं। डाक्टर मुकर्जी ने सिगार का नया कश लिया—'सब लड़कियाँ एक जैसी होती हैं—बेवकूफ़ और सेन्टीमेन्टल।'

ह्यूबर्ट की उंगलियों का दबाव पियानो पर ढीला पड़ता गया—अन्तिम

सुरों की झिझकी सी गूंज कुछ क्षणों तक हवा में तिरती रही।

'डाक्टर, आप को कुछ मालूम है....मिस लतिका का व्यवहार पिछले कुछ अर्से से अजीब सा लगता है।' ह्यूबर्ट के स्वर में लापरवाही का भाव था। वह नहीं चाहता था कि डाक्टर को लतिका के प्रति उसकी भावनाओं का आभास-मात्र भी मिल सके। जिस कोमल अनुभूति को वह इतने समय से सँजोता आया है, डाक्टर उसे हँसी के एक ही ठहाके में उपहासास्पद बना देगा।

'क्या तुम नियति में विश्वास करते हो, ह्यूबर्ट?' डाक्टर ने कहा। ह्यूबर्ट दम रोके प्रतीक्षा करता रहा। वह जानता था कि कोई भी बात कहने से पहले डाक्टर को फ़िलासोफ़ाइज़ करने की आदत थी। डाक्टर टैरेस के जँगले से सट कर खड़ा हो गया। फीकी सी चाँदनी में चीड़ के पेड़ों की छायाएँ लान पर गिर रही थीं। कभी-कभी कोई जुगनू अँधेरे में हरा प्रकाश छिड़कता हुआ हवा में गायब हो जाता था।

'मैं कभी-कभी सोचता हूँ, इन्सान ज़िन्दा किस लिये रहता है—क्या उसे कोई और बेहतर काम करने को नहीं मिला। हज़ारों मील अपने मुल्क से दूर मैं यहाँ पड़ा हूँ—यहाँ कौन मुझे जानता है....यहीं शायद मर भी जाऊँगा। ह्यूबर्ट, क्या तुमने कभी महसूस किया है कि एक अजनबी की हैसियत से परायी ज़मीन पर मर जाना काफ़ी ख़ौफ़नाक बात है....'

ह्यूबर्ट विस्मित सा डाक्टर की ओर देखने लगा। उसने पहली बार डाक्टर मुकर्जी के इस पहलू को देखा था। अपने सम्बन्ध में वह अक्सर चुप रहते थे।

'कोई पीछे नहीं है, यह बात मुझ में एक अजीब किस्म की बेफ़िक्री पैदा कर देती है। लेकिन कुछ लोगों की मौत अन्त तक पहेली बनी रही है....शायद वे ज़िन्दगी से बहुत उम्मीद लगाते थे। उसे ट्रैजिक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आख़िरी दम तक उन्हें मरने का एहसास नहीं होता....'

'डाक्टर, आप किस का ज़िक्र कर रहे हैं?' ह्यूबर्ट ने परेशान हो कर पूछा।

डाक्टर कुछ देर तक चुपचाप सिगार पीता रहा। फिर मुड़ कर वह मोमबत्तियों की बुझती हुई लौ को देखने लगा।

'तुम्हें मालूम है, किसी समय लतिका बिलानाग़ा क्लब जाया करती थी। गिरीश नेगी से उसका परिचय वहीं हुआ था। काश्मीर जाने से एक रात पहले उसने मुझे सब कुछ बता दिया था। मैं अब तक लतिका से उस मुलाकात के बारे में कुछ नहीं कह सका हूँ। किन्तु उस रात कौन जानता

था कि वह वापिस नहीं लौटेगा। और अब....अब क्या फ़र्क पड़ता है। लेट द डेड डाई....'

डाक्टर की सूखी सर्द हँसी में खोखली सी शून्यता भरी थी।

'कौन गिरीश नेगी ?'

'कुमांऊ रेजीमेंट में कैप्टेन था।'

'डाक्टर, क्या लतिका —' ह्यूबर्ट से आगे कुछ नहीं कहा गया। उसे याद आया वह पत्र, जो उसने लतिका को भेजा था....कितना अर्थहीन और उपहासास्पद, जैसे उसका एक-एक शब्द उसके दिल को कचोट रहा हो। उसने धीरे से पियानो पर सिर टिका लिया। लतिका ने उसे क्यों नहीं बताया, क्या वह इसके योग्य भी नहीं था ?

'लतिका — वह तो बच्ची है, पागल! मरने वाले के संग खुद थोड़े ही मरा जाता है।'

कुछ देर चुप रह कर डाक्टर ने अपने प्रश्न को फिर दुहराया।

'लेकिन ह्यूबर्ट, क्या तुम नियति पर विश्वास करते हो ?'

हवा के हल्के झोंके से मोमबत्तियाँ एक बार प्रज्ज्वलित हो कर बुझ गयीं। टेरेस पर ह्यूबर्ट और डाक्टर अंधेरे में एक दूसरे का चेहरा नहीं देख पा रहे थे, फिर भी वे एक दूसरे की ओर देख रहे थे। कान्वेन्ट स्कूल से कुछ दूर मैदानों में बहते पहाड़ी नाले का स्वर आ रहा था। जब बहुत देर बाद कुमाऊँ रेजीमेंटल सेन्टर का बिगुल सुनायी दिया, तो ह्यूबर्ट हड़बड़ा कर खड़ा हो गया।

'अच्छा चलता हूँ डाक्टर, गुड नाइट।'

'गुड नाइट ह्यूबर्ट....मुझे माफ़ करना, मैं सिगार ख़त्म करके उठूँगा....'

*

सुबह बदली छायी थी। लतिका के खिड़की खोलते ही धुंध का गुब्बारा-सा भीतर घुस आया, जैसे रात भर दिवार के सहारे सरदी में ठिठुरता हुआ वह भीतर आने की प्रतीक्षा कर रहा हो। स्कूल से ऊपर चैपल जाने वाली सड़क बादलों में छिप गयी थी, केवल चैपल का 'क्रास' धुंध के परदे पर एक दूसरे को काटती हुई पेंसिल की रेखाओं सा दिखायी दे जाता था।

लतिका ने खिड़की से आँखें हटायीं, तो देखा कि करीमुद्दीन चाय की ट्रे लिये खड़ा है। करीमुद्दीन मिलिट्री में अर्दली रह चुका था, इसलिये ट्रे मेज़ पर रख कर 'अटेन्शन' की मुद्रा में खड़ा हो गया।

लतिका झटके से उठ बैठी। सुबह से आलस करके कितनी बार जागकर वह सो चुकी है। अपनी खिसियाहट मिटाने के लिये लतिका ने कहा — बड़ी सरदी है आज, बिस्तर छोड़ने को जी नहीं चाहता।

—अजी मेमसाहब, अभी क्या सरदी आयी है—बड़े दिनों में देखना, कैसे दाँत कटकटाते हैं, और करीमुद्दीन अपने हाथों को बगलों में डाले हुए इस तरह सिकुड़ गया जैसे उन दिनों की कल्पना मात्र से उसे जाड़ा लगना शुरू हो गया है। गंजे सिर पर दोनों तरफ़ के बाल खिज़ाब लगाने से कत्थई रंग के भूरे हो गये थे। बात चाहे किसी विषय पर हो रही हो, वह हमेशा खींचतान कर उसे ऐसे क्षेत्र में घसीट लाता था, जहाँ वह बेझिझक अपने विचारों को प्रकट कर सके।

'एक दफ़ा तो यहाँ लगातार इतनी बर्फ़ गिरी थी, कि भुवाली से लेकर डाक बंगले तक सारी सड़कें जाम हो गयीं। इतनी बर्फ़ थी मेमसाहब कि पेड़ों की टहनियाँ तक सिकुड़ कर तनों से लिपट गयी थीं—बिल्कुल ऐसे' और करीमुद्दीन नीचे झुक कर मुर्गा-सा बन गया।

'कब की बात है?' लतिका ने पूछा।

'अब यह तो जोड़ हिसाब करके ही पता चलेगा, मेम साहब....लेकिन इतना याद है कि उस उक्त अंग्रेज बहादुर यहीं थे। कन्टोनमेन्ट की इमारत पर कौमी झंडा नहीं लगा था। बड़े जबर थे ये अंग्रेज़, दो घन्टों में ही सारी सड़कें साफ़ करवा दीं। उन दिनों एक सीटी बजाने से पचास घोड़े वाले जमा हो जाते थे, अब सारे शैड खाली पड़े हैं। वो लोग अपनी खिदमत भी करवाना जानते थे, अब तो सब उजाड़ हो गया है—' करीमुद्दीन उदास भाव से बाहर देखने लगा।

आज यह पहली बार नहीं है जब लतिका करीमुद्दीन से उन दिनों की बातें सुन रही है, जब 'अंग्रेज़ बहादुर' ने इस स्थान को स्वर्ग बना रखा था।

'आप छुट्टियों में इस साल भी यहीं रहेंगी, मेमसाहब?'

'दिखता तो कुछ ऐसा ही है करीमुद्दीन - तुम्हें फिर तंग होना पड़ेगा।'

'क्या कहती हैं मेम साहब। आप के रहने से हमारा भी मन लग जाता है, वरना छुट्टियों में तो यहाँ कुत्ते लोटते हैं।'

'तुम आज ज़रा मिस्त्री से कह देना कि इस कमरे की छत की मरम्मत कर जाय। पिछले साल बर्फ़ का पानी दरारों से टपकता रहता था।' लतिका को याद आया, पिछली सर्दियों में जब कभी बर्फ़ गिरती थी, उसे पानी से बचने के लिए रात भर कमरे के कोने में सिमट कर सोना पड़ता था।

करीमुद्दीन चाय की ट्रे उठाता हुआ बोला—ह्यूबर्ट साहब तो शायद कल ही चले जायें—कल रात उनकी तबियत फिर ख़राब हो गयी। आधी रात के वक्त मुझे जगाने आये थे। कहते थे छाती में तकलीफ़ है। उन्हें यह मौसम नहीं रास आता। कह रहे थे, लड़कियों की बस में वो भी कल ही चले जायँगे।

करीमुद्दीन दरवाज़ा बन्द करके चला गया। लतिका को इच्छा हुई कि वह ह्यूबर्ट के कमरे में जाकर उसकी तबियत की पूछताछ कर आये। किन्तु फिर न जाने क्यों स्लीपर पैरों में टंगे रहे और वह खिड़की के बाहर बादलों को उड़ता हुआ देखती रही। ह्यूबर्ट का चेहरा जब उसे देखकर सहमा सा दयनीय हो जाता है, तब लगता है कि वह अपनी मूक निरीह याचना में उसे कोस रहा है—न वह उसकी ग़लतफ़हमी को दूर करने का प्रयत्न कर पाती है, न उसे अपनी विवशता की सफ़ाई देने का साहस होता है। उसे लगता है कि इस जाले से बाहर निकलने के लिये वह धागे के जिस सिरे को पकड़ती है, वह खुद एक गाँठ बनकर रह जाता है—

बाहर बूँदाबांदी होने लगी थी—कमरे की टिन की छत 'खट-खट' बोलने लगी। लतिका पलंग से उठ खड़ी हुई। बिस्तर को तहा कर बिछाया। फिर पैरों में स्लीपरों को घसीटते हुए वह बड़े आइने तक आयी और उसके सामने स्टूल पर बैठ कर बालों को खोलने लगी। किन्तु कुछ देर तक कंघी बालों में उलझी रही और वह गुमसुम सी शीशे में अपना चेहरा ताकती रही। करीमुद्दीन को यह कहना याद ही नहीं रहा कि धीरे-धीरे आग जलाने की लकड़ियाँ जमा कर ले। इन दिनों सस्ते दामों पर सूखी लकड़ियाँ मिल जाती हैं। पिछले साल तो कमरा धुँएं से भर जाता था जिसके कारण कंपकंपाते जाड़े में भी उसे खिड़की खोल कर ही सोना पड़ता था।

आइने में लतिका ने अपना चेहरा देखा—वह मुस्करा रही थी। पिछले साल अपने कमरे की सीलन और ठंड से बचने के लिये कभी-कभी वह मिस वुड के खाली कमरे में चोरी-चुपके सोने चली जाया करती थी। मिस वुड का कमरा बिना आग के भी गर्म रहता था, उनके गदोले सोफ़े पर लेटते ही आँख लग जाती थी। कमरा छुट्टियों में खाली पड़ा रहता है, किन्तु मिस वुड से इतना नहीं होता कि दो महीनों के लिये उसके हवाले ही कर जाये। ह० साल कमरे का ताला ठोंक जाता है, वह तो पिछले साल गुसलखाने में भीतर की सांकल देना भूल गयी थी, जिसे लतिका चोर-दरवाज़े के रूप में इस्तेमाल करती रही थी।

पहले साल अकेले में उसे बड़ा डर सा लगता था। छुट्टियों में सारे स्कूल और होस्टल के कमरे सायं-सायं करने लगते हैं। डर के मारे उसे जब कभी नींद नहीं आती थी, तब वह करीमुद्दीन को देर रात तक बातों में उलझाये रखती। बातों में जब खोयी सी वह सो जाती, तब करीमुद्दीन चुपचाप लैम्प बुझा कर चला जाता। कभी कभी बीमारी का बहाना करके वह डाक्टर को बुलवा भेजती थी और बाद में बहुत ज़िद करके दूसरे कमरे में उनका बिस्तर लगवा देती।

लतिका ने कंघे से बालों का गुच्छा निकाला और उसे बाहर फेंकने के लिए वह खिड़की के पास आ खड़ी हुई। बाहर छत की ढलान से बारिश के जल की मोटी-सी धार बराबर लान पर गिर रही|थी। मेघाच्छन्न आकाश में सरकते हुए बादलों के पीछे पहाड़ियों के झुंड कभी उभर आते थे, कभी छिप जाते थे मानो चलती हुई ट्रेन से कोई उन्हें देख रहा हो। लतिका ने खिड़की से सिर बाहर निकाल लिया—हवा के झोंके से उसकी आँखें झिप गयीं। उसे जितने काम याद आते हैं, उतना ही आलस घना होता जाता है! बस की सीटें रिज़र्व करवाने के लिये चपरासी को रुपये देने हैं। जो सामान होस्टल की लड़कियाँ पीछे छोड़ जा रही हैं, उसे गोदाम में रखवाना होगा। कभी-कभी तो छोटी क्लास की लड़कियों के साथ पैकिंग करवाने के काम में भी हाथ बटाना पड़ता था।

वह इन कामों से ऊबती नहीं। धीरे-धीरे सब निपटते जाते हैं, कोई गलती इधर उधर रह जाती है, सो बाद में सुधर जाती है—हर काम में किचकिच रहती है, परेशानी और दिक्कत महसूस होती है—किन्तु देर-सबेर इससे छुटकारा मिल ही जाता है। किन्तु जब लड़कियों की आखिरी बस चली जाती है, तब मन उचाट-सा हो जाता है—खाली कॉरीडोर में घूमती हुई वह कभी इस कमरे में जाती है कभी उसमें। वह नहीं जान पाती कि अपने से क्या करे—दिल कहीं भी नहीं टिक पाता, हमेशा भटका-भटका सा रहता है।

इस सबके बावजूद जब कोई सहज भाव से उससे पूछ बैठता है, 'मिस लतिका, छुट्टियों में आप घर नहीं जा रहीं?' तब—तब वह क्या कहे?

डिंग—डांग—डिंग....स्पेशल सर्विस के लिये स्कूल चैपल के घन्टे बजने लगे थे। लतिका ने अपना सिर खिड़की के भीतर कर लिया। उसने झटपट साड़ी उतारी, और पेटीकोट में ही कंधे पर तौलिया डाले गुसलखाने में घुस गयी।

*

लेफ़्ट—राइट—लेफ़्ट....लेफ़्ट....

कन्टोनमेन्ट जाने वाली पक्की कड़क पर चार-चार की पंक्ति में कुमाऊँ रेजीमेन्ट के सिपाहियों की एक टुकड़ी मार्च कर रही थी। फौजी बूटों की भारी खुरदुरी आवाज़ें स्कूल चैपल की दिवारों से टकरा कर भीतर 'प्रेयर-हाल' में गूँज रही थीं।

'ब्लेसेड आर द मीक....' फ़ादर एलमन्ड एक-एक शब्द चबाते हुए खंखारते स्वर में 'सर्मन आफ द माउन्ट' पढ़ रहे थे। ईसा मसीह की मूर्ति के नीचे 'कैन्डलब्रियम' के दोनों ओर मोमबत्तियाँ जल रही थीं, जिनका प्रकाश आगे बेंचों पर बैठी हुई लड़कियों पर पड़ रहा था। पिछली लाइनों की बेंचें

अँधेरे में डूबी हुई थीं, जहाँ लड़कियाँ प्रार्थना की मुद्रा में बैठी हुई सिर झुकाये एक दूसरे से घुसर-पुसर कर रही थीं। मिस वुड स्कूल सीज़न के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर विद्यार्थियों और स्टाफ़ सदस्यों को बधाई का भाषण दे चुकी थीं—और अब फ़ादर के पीछे बैठी हुई अपने में ही कुछ बुड़बुड़ा रही थीं मानो धीरे-धीरे फ़ादर को 'प्रोम्प्ट' कर रही हों।

'आमीन' फ़ादर एलमन्ड ने बाइबल मेज़ पर रख दी और 'प्रेयर बुक' उठा ली। हॉल की ख़ामोशी क्षण-भर के लिये टूट गयी। लड़कियों ने खड़े होते हुए जान बूझ कर बेंचों को पीछे धकेला—बेंच फ़र्श पर रगड़ खाते सीटी बजाते हुए पीछे खिसक गयी—हॉल के कोने से हँसी फूट पड़ी। मिस वुड का चेहरा तन गया, माथे पर भृकुटियाँ चढ़ गयीं। फिर अचानक निस्तब्धता छा गयी—हॉल के उस घुटे हुए धुँधलके में फ़ादर का तीखा फटा हुआ स्वर सुनायी देने लगा—जीसस सेड, आई एम द लाइट आफ़ द वर्ल्ड—ही दैट फ़ालोएथ मी शैल नाट वॉक इन डार्कनेस, बट शैल हैव द लाइट आफ़ लाइफ़........

डाक्टर मुकर्जी ने ऊब और उकताहट से भरी जम्हुआई ली, 'कब यह किस्सा ख़त्म होगा?' उसने इतने ऊँचे स्वर में लतिका से पूछा कि वह सकुचा-कर दूसरी ओर देखने लगी। स्पेशल-सर्विस के समय डाक्टर मुकर्जी के होंठों पर व्यंगात्मक मुस्कान खेलती रहती और वह धीरे-धीरे अपनी मूँछों को खींचता रहता।

फ़ादर एलमन्ड की वेश-भूषा देख कर लतिका के दिल में गुदगुदी सी दौड़ गयी। जब वह छोटी थी, तो अक्सर यह बात सोच कर विस्मित हुआ करती थी कि क्या पादरी लोग सफ़ेद चोगे के नीचे कुछ नहीं पहनते, अगर धोखे से वह ऊपर उठ जाये तो!

लेफ़्ट....लेफ़्ट....लेफ़्ट, मार्च करते हुए फौजी बूट चैपल से दूर होते जा रहे थे—केवल उनकी गूँज हवा में शेष रह गयी थी।

'हिम नम्बर ११७—' फ़ादर ने प्रार्थना-पुस्तक खोलते हुए कहा। हॉल में प्रत्येक लड़की ने डेस्क पर रखी हुई हिम-बुक खोल ली। पन्नों के उल-टने की खड़खड़ाहट फिसलती हुई एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी।

आगे की बेंच से उठ कर ह्यूबर्ट पियानो के सामने स्टूल पर बैठ गया। संगीत-शिक्षक होने के कारण हर साल स्पेशल-सर्विस के अवसर पर उसे 'कॉयर' के संग पियानो बजाना पड़ता था। ह्यूबर्ट ने अपने रुमाल से नाक साफ़ की। अपनी घबड़ाहट छिपाने के लिये ह्यूबर्ट हमेशा ऐसा ही किया करता था। कनखियों से हॉल की ओर देखते हुए उसने काँपते हाथों से हिम-बुक खोली।

लीड काइन्डली लाइट....

पियानो के सुर दबे, झिझकते से मिलने लगे। घने बालों से ढँकी ह्यूबर्ट की लम्बी, पीली अंगुलियाँ खुलने-सिमटने लगीं। 'कॉयर' में गानेवाली लड़कियों के स्वर एक दूसरे से गुँथ कर कोमल, स्निग्ध लहरों में बिंध गये।

लतिका को लगा, उसका जूड़ा ढीला पड़ गया है, मानो गरदन के नीचे झूल रहा है। मिस वुड की आँख बचा लतिका ने चुपचाप बालों में लगे क्लिपों को कस कर खींच दिया।

'बड़ा झक्की आदमी है....सुबह मैंने ह्यूबर्ट को यहाँ आने से मना किया था, फिर भी चला आया,' डाक्टर ने कहा।

लतिका को करीमुद्दीन की बात याद हो आयी। रात भर ह्यूबर्ट को खाँसी का दौरा पड़ा था....कल जाने के लिये कह रहे थे....

लतिका ने सिर टेढ़ा कर के ह्यूबर्ट के चेहरे की एक झलक पाने की विफल चेष्टा की। इतने पीछे से कुछ भी देख पाना असंभव था; पियानो पर झुके हुए केवल ह्यूबर्ट का सिर दिखायी देता था।

लीड काइन्डली लाइट....संगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़ कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं। बारिश की मुलायम धूप चैपल के लम्बे चौकोर शीशों पर झलमला रही है, जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी हो कर गिर रही है। मोमबत्तियों का धुआँ धूप में नीली सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है। पियानो के क्षणिक 'पॉज़' में लतिका को पत्तों का परिचित मर्मर कहीं दूर अनजानी दिशा से आता हुआ सुनायी दे जाता है। एक क्षण के लिये उसे भ्रम हुआ कि चैपल का फीका सा अँधेरा उस छोटे से 'प्रेयर हॉल' के चारों कोनों से सिमटता हुआ उसके आस-पास घिर आया है—मानो कोई उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे यहाँ तक ले आया हो और अचानक उसकी आँखें खोल दी हों। उसे लगा कि जैसे मोमबत्तियों के धूमिल आलोक में कुछ भी ठोस, वास्तविक न रहा हो—चैपल की छत, दिवारें, डेस्क पर रखा हुआ डाक्टर का सुघड़ सुडौल हाथ,—और पियानो के सुर अतीत की धुंध को भेदते हुए स्वयं उस धुंध का भाग बनते जा रहे हों........

एक पगली-सी स्मृति, एक उद्भ्रान्त भावना—चैपल के शीशों के परे पहाड़ी सूखी हवा, हवा में झुकी हुई वीपिंग विलोज़ की काँपती टहनियाँ, पैरों तले चीड़ के पत्तों की धीमी सी चिर-परिचित खड़....खड़....। वहीं पर गिरीश एक हाथ में मिलिट्री का खाकी हैट लिये खड़ा है—चौड़े, उठे हुए, सबल कंधे, अपना सिर वहाँ टिका दो, तो जैसे सिमट कर खो जायेगा....चार्ल्स

बोयर, यह नाम उसने रखा था, वह झेंप कर हँसने लगता।

'तुम्हें आर्मी में किसने चुन लिया, मेजर बन गये हो, लेकिन लड़कियों से भी गये बीते हो....ज़रा-ज़रा सी बात पर चेहरा लाल हो जाता है।' यह सब वह कहती नहीं, सिर्फ़ सोचती भर थी—सोचा था कभी कहूँगी, वह 'कभी' कभी नहीं आया....

बुरुस का लाल फूल
लाये हो ?
न
झूठे !

खाकी कमीज़ के जिस जेब पर बैज चिपके थे, उसी में से मुसा हुआ बुरुस का फूल निकल आया।

छिः सारा मुरझा गया
अभी खिला कहाँ है ?
(हाऊ क्लम्ज़ी)

उसके बालों में गिरीश का हाथ उलझ रहा है—फूल कहीं टिक नहीं पाता, फिर उसे क्लिप के नीचे फँसाकर उसने कहा—

देखो

वह मुड़ी और इससे पहले कि वह कुछ कह पाती गिरीश ने अपना मिलिट्री का हैट धप से उसके सिर पर रख दिया। वह मंत्रमुग्ध सी वैसे ही खड़ी रही—उस के सिर पर गिरीश का हैट है—माथे पर छोटी सी बिन्दी है। बिन्दी पर उड़ते हुए बाल हैं। गिरीश ने उस बिन्दी को अपने होंठों से छुआ है, उसने उसके नगे सिर को अपने दोनों हाथों में समेट लिया है—

लतिका
बोलो नहीं

गिरीश ने चिढ़ाते हुए कहा—मैनईटर आफ कुमाऊँ—(उसका यह नाम गिरीश ने उसे चिढ़ाने के लिये रखा था)....वह हँसने लगी।

'लतिका....सुनो'....गिरीश का स्वर कैसा हो गया था ?

'ना, मैं कुछ भी नहीं सुन रही।'

'लतिका....मैं कुछ महीनों में वापिस लौट आऊँगा....'

'ना....मैं कुछ भी नहीं सुन रही....' किन्तु वह सुन रही है—वह नहीं जो गिरीश कह रहा है, किन्तु वह जो नहीं कहा जा रहा, जो उसके बाद कभी नहीं कहा गया....

लीड काइन्डली लाइट........

लड़कियों का स्वर पियानो के सुरों में डूबा हुआ गिर रहा है, उठ रहा है....

ह्यूबर्ट ने सिर मोड़ कर लतिका को निमिष भर देखा—आँखें मूँदे ध्यान-मग्ना प्रस्तर मूर्ति सी वह स्थिर निश्चल खड़ी थी। क्या यह भाव उसके लिये है ? क्या लतिका ने ऐसे क्षणों में उसे अपना साथी बनाया है ? ह्यूबर्ट ने एक गहरी सांस ली और उस सांस में ढेर सी थकान उमड़ आयी।

'देखो....मिस वुड कुर्सी पर बैठे-बैठे सो रही है' डाक्टर होंठों में ही फुस-फुसाया। यह डाक्टर का पुराना मज़ाक था कि मिस वुड प्रार्थना करने के बहाने आँखें मूँदे हुए नींद की झपकियाँ लिया करती हैं।

फ़ादर एलमन्ड ने कुर्सी पर फैले अपने गाउन को समेट लिया और प्रेयर-बुक बन्द करके मिस वुड के कानों में कुछ कहा। पियानो का स्वर क्रमशः मन्द पड़ने लगा, ह्यूबर्ट की अँगुलियाँ ढीली पड़ने लगीं। सर्विस के समाप्त होने से पूर्व मिस वुड ने आर्डर पढ़ कर सुनाया। बारिश होने की आशंका से आज के कार्यक्रम में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े थे। पिक-निक के लिये झूला देवी के मन्दिर जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिये स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज़' में ही सब लड़कियाँ नाश्ते के बाद जमा होंगी। सब लड़कियों को दुपहर का 'लंच' होस्टल किचन से ही ले जाना होगा, केवल शाम की चाय 'मीडोज' में ही बनेगी।

पहाड़ों की बारिश का क्या भरोसा ? कुछ देर पहले धुआँधार बादल गरज रहे थे, सारा शहर पानी में भीगा ठिठुर रहा था—अब धूप में नहाता नीला आकाश धुंध की ओट से बाहर निकलता हुआ फैल रहा था। लतिका ने चैपल से बाहर आते हुए देखा—वीपिंग विलोज की भीगी शाखाओं से धूप में चमकती हुई बारिश की बूँदें टपक रही थीं....

लड़कियाँ चैपल से बाहर निकल कर छोटे-छोटे गुच्छे बना कर कॉरीडोर में जमा हो गयी हैं। नाश्ते के लिये अभी पौन घण्टा पड़ा था और उनमें से अभी कोई भी लड़की होस्टल जाने के लिये इच्छुक नहीं थी। छुट्टियाँ अभी शुरू नहीं हुई थीं, किन्तु शायद इसी लिये वे इन चन्द बचे-खुचे क्षणों में अनुशासन के घेरे के भीतर भी मुक्त होने का भरपूर आनन्द उठा लेना चाहती थीं।

मिस वुड को लड़कियों का यह गुल-गपाड़ा अखरा, किन्तु फ़ादर एल-मन्ड के सामने वह उन्हें डाँट-फटकार नहीं सकीं। अपनी झुँझलाहट दबा कर वह मुस्कराते हुए बोलीं—कल सब चली जाएँगी, सारा स्कूल वीरान हो जाएगा।

फ़ादर एलमन्ड का लम्बा ओजपूर्ण चेहरा चैपल की घुटी हुई गरमाई से लाल हो उठा था। कॉरीडोर के जंगले पर अपनी छड़ी लटकाकर वह बोले—

'छुट्टियों में पीछे होस्टल में कौन रहेगा ?'

'पिछले दो तीन सालों से मिस लतिका ही रह रही हैं...'

'और डाक्टर मुकर्जी ?' फ़ादर का ऊपरी होंठ तनिक खिंच आया।

'डाक्टर तो सरदी-गरमी यहीं रहते हैं,' मिस वुड ने विस्मय से फ़ादर की ओर देखा। वह समझ नहीं सकीं कि फ़ादर ने डाक्टर का प्रसंग क्यों छेड़ दिया है ?

'डाक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते ?'

'दो महीने की छुट्टियों में बरमा जाना काफ़ी मुश्किल है, फ़ादर' मिस वुड हँसने लगीं।

किन्तु फ़ादर एलमन्ड ने मिस वुड की हँसी में योग नहीं दिया। उनके चेहरे पर तनाव की रेखाएँ खिन्ची रहीं।

'मिस वुड, पता नहीं आप क्या सोचती हैं। मुझे तो मिस लतिका का होस्टल में अकेले रहना कुछ समझ में नहीं आता।'

'लेकिन फादर,' मिस वुड ने कहा, 'यह तो कानवेन्ट स्कूल का नियम है कि कोई भी टीचर छुट्टियों में अपने खर्चे पर होस्टल में रह सकती है।'

'मैं फिलहाल स्कूल के नियमों की बात नहीं कर रहा....मिस लतिका डाक्टर के संग यहाँ अकेली ही रह जाएँगी और सच पूछिये मिस वुड, डाक्टर के बारे में मेरी राय कुछ बहुत अच्छी नहीं है....'

'फादर आप कैसी बात कर रहे हैं....मिस लतिका बच्चा थोड़े ही हैं....' मिस वुड को ऐसी आशा नहीं थी कि फ़ादर एलमन्ड अपने दिल में ऐसी दकियानूसी भावना को स्थान देंगे।

फ़ादर एलमन्ड कुछ हतप्रभ-से हो गये, बात पलटते हुए बोले—मिस वुड, मेरा मतलब यह नहीं था। आप तो जानती हैं मिस लतिका और उस मिलिट्री अफ़सर को लेकर एक अच्छा खासा स्कैन्डल बन गया था, स्कूल की बदनामी होने में क्या देर लगती है।

'वह बेचारा तो अब नहीं रहा। मैं उसे जानती थी फ़ादर। ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति दे।'

मिस वुड ने धीरे से अपनी दोनों बाहों से क्रास किया।

फ़ादर एलमन्ड को मिस वुड की मूर्खता पर इतना अधिक क्षोभ हुआ कि उनसे आगे और कुछ नहीं बोला गया। डाक्टर मुकर्जी से उनकी कभी नहीं पटती थी, इसीलिये मिस वुड की आँखों में वह डाक्टर को नीचा दिखाना चाहते थे। किन्तु मिस वुड लतिका का रोना ले बैठीं। आगे बात बढ़ाना व्यर्थ था। उन्होंने छड़ी को जंगले से उठाया और ऊपर साफ़ धुले आकाश को

देखते हुए बोले—प्रोग्राम आप ने यूं ही बदला, मिस वुड, अब क्या बारिश होगी।

*

ह्यूबर्ट जब चैपल से बाहर निकला तो उसकी आँखें चकाचौंध-सी हो गयीं। उसे लगा जैसे किसी ने अचानक ढेर सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी में भरकर उसकी आँखों में झोंक दी हो। पियानो के संगीत के सुर रूई के छुई-मुई रेशों से अब तक उसके मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे थे। वह काफ़ी थक गया था। पियानो बजाने से उसके फेफड़ों पर हमेशा भारी दबाव पड़ता था; दिल की धड़कन तेज़ हो जाती थी। उसे लगता था कि संगीत के एक नोट को दूसरे नोट में उतारने के प्रयत्न में वह एक अँधेरी खाई पार कर रहा है।

आज चैपल में मैंने जो महसूस किया, वह कितना रहस्यमय, कितना विचित्र था, ह्यूबर्ट ने सोचा। मुझे लगा, पियानो का हर नोट चिरन्तन ख़ामोशी की अन्धेरी खोह से निकल कर बाहर फैली नीली धुन्ध को काटता, तराशता हुआ एक भूला सा अर्थ खींच लाता है। गिरता हुआ हर 'पोज़' एक छोटी-सी मौत है, मानो घने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई पगडन्डी गुम हो गयी हो, एक छोटी सी मौत जो आने वाले सुरों को अपनी बची-खुची गूँजों की साँसें समर्पित कर जाती है....जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं पाती, मिटती नहीं इसलिये मर कर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है....

डाक्टर, क्या मृत्यु ऐसे ही आती है ? अगर मैं डाक्टर से पूछूँ तो वह हँस कर टाल देगा। मुझे लगता है, वह पिछले कुछ दिनों से कोई बात छिपा रहा है—उसकी हँसी में जो सहानुभूति का भाव होता है, वह मुझे अच्छा नहीं लगता। आज उसने मुझे स्पेशल-सर्विस में आने से रोका था—कारण पूछने पर वह चुप रहा था। कौन सी ऐसी बात है, जिसे मुझसे कहने में डाक्टर कतराता है। शायद मैं शक्की मिज़ाज होता जा रहा हूँ, और बात कुछ भी नहीं है।

ह्यूबर्ट ने देखा, लड़कियों की कतार स्कूल से होस्टल जाने वाली सड़क पर नीचे उतरती जा रही है। उजली धूप में उनके रंग-बिरंगे रिबन, हल्की आसमानी रंग की फ्राकें और सफ़ेद पेटियाँ चमक रही हैं। सीनियर-केम्ब्रिज की कुछ लड़कियों ने चैपल की वाटिका से गुलाब के फूलों को तोड़ कर अपने बालों में लगा लिया है। कन्टोनमेन्ट के तीन चार सिपाही लड़कियों को देखते हुए अश्लील मज़ाक करते हुए हँस रहे हैं और कभी-कभी किसी लड़की की ओर ज़रा सा झुक कर सीटी बजाने लगते हैं।

'हलो मि० ह्यूबर्ट....' ह्यूबर्ट ने चौंककर पीछे देखा। लतिका एक मोटा

सा रजिस्टर बगल में दबाये खड़ी थी।

'आप अभी यहीं हैं?' ह्यूबर्ट की दृष्टि लतिका पर टिकी रही। वह क्रीम रंग की पूरी बाँहों की ऊनी जैकेट पहने हुए थी, कुमायूँनी लड़कियों की तरह लतिका का चेहरा गोल था। धूप की तपन से पका गेहुआँ रङ्ग कहीं-कहीं हल्का सा गुलाबी हो आया था मानो बहुत धोने पर भी गुलाल के कुछ धब्बे इधर-उधर बिखरे रह गये हों।

'उन लड़कियों के नाम नोट करने थे, जो कल जा रही हैं....सो पीछे रुकना पड़ा। आप भी तो कल जा रहे हैं मि० ह्यूबर्ट?'

'अभी तक तो यही इरादा है। यहाँ रुक कर भी क्या करूँगा। आप स्कूल की ओर जा रही हैं?'

'चलिये....'

पक्की सड़क पर लड़कियों की भीड़ जमा थी, इसलिये वे दोनों पोलो-ग्राउन्ड का चक्कर काटती हुई पगडन्डी से नीचे उतरने लगे।

हवा तेज़ हो चली थी; चीड़ के पत्ते हर झोंके के संग टूट-टूट कर पगडन्डी पर ढेर लगाते जाते थे। ह्यूबर्ट रास्ता बनाने के लिये अपनी छड़ी से उन्हें बुहार कर दोनों ओर बिखेर देता था! लतिका पीछे खड़ी हुई देखती रहती थी, अल्मोड़ा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रूमालों-से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपटे-से जाते थे फिर हवा में आगे बह निकलते थे। इस खेल में धूप कभी मन्द फीकी-सी पड़ जाती थी, कभी अपना उजला आँचल खोल कर समूचे पहाड़ी शहर को अपने में समेट लेती थी।

लतिका तनिक आगे निकल गयी, ह्यूबर्ट की साँस चढ़ गयी थी और वह धीरे-धीरे हाँफता हुआ पीछे आ रहा था। जब वे पोलो ग्राउन्ड के पवेलियन को छोड़ कर सिमिट्री के दायीं ओर मुड़े तो लतिका ह्यूबर्ट की प्रतीक्षा करने के लिये खड़ी हो गयी। उसे याद आया, छुट्टियों के दिनों में जब कभी कमरे में अकेले बैठे-बैठे उसका मन ऊब जाता था, तो वह अक्सर टहलते हुए सिमिट्री तक चली जाती थी। उससे सटी पहाड़ी पर चढ़कर वह बर्फ़ में ढँके देवदार वृक्षों को देखा करती थी, जिनकी झुकी हुई शाखों से रूई के गालों-सी बर्फ़ नीचे कब्रों पर गिरा करती थी। नीचे बाज़ार जाने वाली सड़क पर बच्चे 'स्लेज' पर फिसला करते थे। वह खड़ी-खड़ी बर्फ़ में छिपी हुई उस सड़क का अनुमान लगाया करती थी जो फ़ादर एलमन्ड के घर से गुज़रती हुई मिलिट्री अस्पताल और डाकघर से होकर चर्च की सीढ़ियों तक जाकर गुम हो जाती थी। जो मनोरंजन एक दुर्गम पहेली को सुलझाने में होता है, वही लतिका को बर्फ़ में खोये हुए रास्तों को खोज निकालने में होता था।

'आप बहुत तेज़ चलती हैं, मिस लतिका' थकान से ह्यूबर्ट का चेहरा

कुम्हला गया था। माथे पर पसीने की बूँदें छलक आयी थीं।

'कल रात आपकी तबियत क्या कुछ खराब हो गयी थी, मि० ह्यूबर्ट ?'

'आपने कैसे जाना ? क्या मैं अस्वस्थ दीख रहा हूँ ?' ह्यूबर्ट के स्वर में हलकी सी खीझ का आभास था। सब लोग मेरी सेहत को लेकर क्यों बात शुरू करते हैं, उसने सोचा।

'नहीं, मुझे तो पता भी नहीं चलता, वह तो सुबह करीमुद्दीन ने बातों ही-बातों में ज़िक्र छेड़ दिया था।' लतिका कुछ अप्रतिभ सी हो आयी।

'कोई खास बात नहीं; वही पुराना दर्द शुरू हो गया था—अब बिल्कुल ठीक है।' अपने कथन की पुष्टि के लिए ह्यूबर्ट छाती सीधी करके तेज़ कदम बढ़ाने लगा।

'डाक्टर मुकर्जी को दिखलाया था ?'

'वह सुबह आये थे। उनकी बात कुछ समझ में नहीं आती। हमेशा दो बातें एक दूसरे से उलटी कहते हैं। कहते थे कि इस बार मुझे छः-सात महीने की छुट्टी लेकर आराम करना चाहिये, लेकिन अगर मैं ठीक हूँ, तो भला इसकी क्या जरूरत है ?'

ह्यूबर्ट के स्वर में व्यथा की छाया लतिका से छिपी न रह सकी। बात को टालते हुए उसने कहा—आप तो नाहक चिन्ता करते हैं, मि० ह्यूबर्ट! आजकल मौसम बदल रहा है, अच्छे भले आदमी बीमार हो जाते हैं।

ह्यूबर्ट का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगा। उसने लतिका को ध्यान से देखा। वह अपने दिल का संशय मिटाने के लिये निश्चिन्त हो जाना चाहता था कि कहीं लतिका उसे केवल दिलासा देने के लिये ही तो झूठ नहीं बोल रही।

'यही तो मैं सोच रहा था मिस लतिका। डाक्टर की सलाह सुनकर तो मैं डर ही गया। भला छः महीने की छुट्टी लेकर मैं अकेला क्या करूँगा। स्कूल में तो बच्चों के संग मन लगा रहता है। सच पूछो तो दिल्ली में ये दो महीनों की छुट्टियाँ भी काटनी दूभर हो जाती हैं....।'

'मि० ह्यूबर्ट....कल आप दिल्ली जा रहे हैं....?'

लतिका चलते-चलते हठात् ठिठक गयी। सामने पोलो-ग्राउन्ड फैला था, जिसके दूसरी ओर मिलिट्री की ट्रकें कन्टोनमेन्ट की ओर जा रही थीं। ह्यूबर्ट को लगा, जैसे लतिका की आँखें अधमुंदी सी खुली रह गयी हैं, मानों पलकों पर एक पुराना, भूला सा सपना सरक आया हो।

'मि० ह्यूबर्ट.... आप दिल्ली जा रहे हैं—' इस बार लतिका ने प्रश्न नहीं दुहराया—उसके स्वर में केवल एक असीम दूरी का भाव घिर आया।

'बहुत अर्सा पहले मैं भी दिल्ली गयी थी मि० ह्यूबर्ट, तब मैं बहुत छोटी

थी—न जाने कितने बरस बीत गये। हमारी मौसी का ब्याह वहीं हुआ था। बहुत सी चीजें देखी थीं, लेकिन अब तो सब कुछ धुन्धला-सा पड़ गया है। इतना याद है, कि हम कुतुब पर चढ़े थे। सबसे ऊँची मंज़िल से नीचे झाँका था— न जाने कैसा लगा था। नीचे चलते हुए आदमी चाभी भरे हुए खिलौनों से लगते थे। हमने ऊपर से उन पर मूँगफलियाँ फेंकी थीं, लेकिन हम बहुत निराश हुए थे क्योंकि उनमें से किसी ने हमारी तरफ़ नहीं देखा। शायद माँ ने मुझे डाँटा था, क्योंकि मैं नीचे सीढ़ियाँ उतरती हुई रो रही थी। शायद माँ ने नहीं डाँटा था, और मैं सिर्फ नीचे झाँकते हुए डर गयी थी। सुना है, अब तो दिल्ली इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जाता....

वे दोनों फिर चलने लगे। हवा का वेग ढीला पड़ने लगा। उड़ते हुए बादल अब सुस्ताने से लगे थे, उनकी छायाएँ नन्दा देवी और पंचचूली की पहाड़ियों पर गिर रही थीं। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते चीड़ के पेड़ पीछे छूट गये, कहीं-कहीं खुबानी के पेड़ों के आस-पास बुरूस क लाल फूल धूप में चमक जाते थे। स्कूल तक आने में उन्होंने पोलो-ग्राउन्ड का लम्बा चक्कर लगा लिया था।

'मिस लतिका, आप कहीं छुट्टियों में जातीं क्यों नहीं—सरदियों में तो यहाँ सब कुछ वीरान हो जाता होगा?'

'अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है,' लतिका ने कहा, 'पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था– अब आदी हो गयी हूँ। क्रिसमस की एक रात पहले क्लब में डांस होता है, लाटरी डाली जाती है और रात को देर तक नाच-गाना होता रहता है। नये साल के दिन कुमाऊँ रेजीमेन्ट की ओर से परेड-ग्राउन्ड में कार्नीवाल किया जाता है, बर्फ पर स्केटिंग होती है, रंग बिरंगे गुब्बारों के नीचे मिलिट्री बैंड बजता है, फौजी अफसर फैन्सी ड्रेस में भाग लेते हैं– हर साल ऐसा ही होता है मि० ह्यूबर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विन्टर-स्पोर्ट्स के लिये अंग्रेज टूरिस्ट आते हैं, हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ, वापिस लौटते हुए वे हमेशा वादा करते हैं, कि वे अगले साल भी आयेंगे, मैं जानती हूँ कि वे नहीं आयेंगे, वे भी जानते हैं, कि वे नहीं आयेंगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर....फिर कुछ दिनों बाद पहाड़ों पर बर्फ़ पिघलने लगती है, छुट्टियाँ खत्म होने लगती हैं, आप सब लोग अपने अपने घरों से वापिस लौट आते हैं—और मि० ह्यूबर्ट, पता भी नहीं चलता छुट्टियाँ कब शुरू हुई थीं, कब खत्म हो गयीं..'

लतिका ने देखा कि ह्यूबर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटाकर चुप हो गयी। उसे लगा, मानो वह इतनी देर से पागल-सी अनर्गल प्रलाप कर रही हो।

'मुझे माफ़ करना मि० ह्यूबर्ट....कभी-कभी मैं बच्चों की तरह बातों में बहक जाती हूँ।'

'मिस लतिका....' ह्यूबर्ट ने धीरे से कहा। वह चलते-चलते रुक गया था। लतिका ह्यूबर्ट के भारी, कुंठित स्वर को सुन कर चौंक सी गयी।

'क्या बात है मि० ह्यूबर्ट !'

'वह पत्र....उसके लिये मैं लज्जित हूँ। उसे आप वापिस लौटा दें समझ लें, कि मैंने उसे कभी नहीं लिखा था।'

लतिका कुछ समझ नहीं सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यूबर्ट के पीले, उद्विग्न चेहरे को देखती रही।

ह्यूबर्ट ने धीरे से लतिका के कंधे पर हाथ रख दिया।

'कल डाक्टर ने मुझे सब कुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो....तो....' ह्यूबर्ट हकलाने लगा।

'मि० ह्यूबर्ट....' किन्तु लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफेद हो गया था।

वे दोनों चुपचाप कुछ देर तक कान्वेन्ट स्कूल के गेट के बाहर खड़े रहे।

*

मीडोज़....पगडन्डियों, पत्तों, छायाओं से घिरा छोटा सा द्वीप, मानो कोई घोसला दो हरी घाटियों के बीच आ दबा हो। भीतर घुसते हुए ही पिकनिक के काले आग से झुलसे हुए पत्थर, अधजली टहनियाँ, बैठने के लिये बिछाये गये पुराने अखबारों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए दिखायी दे जाते हैं। अक्सर टूरिस्ट पिकनिक के लिये यहाँ आते हैं। मीडोज़ को बीच मे काटता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा बरसाती नाला बहता है, जो दूर से धूप में चमकता हुआ सफेद रिबन-सा दिखायी देता है।

यहीं पर काठ के तख्तों का बना हुआ टूटा सा पुल है, जिस पर लड़कियाँ हिचकोले खाती हुई चल रही हैं।

'डाक्टर मुकर्जी आप तो सारा जंगल जला देंगे' मिस वुड ने अपनी ऊँची एड़ी के सेंडल से जलती हुई दियासलाई को दबा डाला, जो डाक्टर ने सिगार सुलगा कर चीड़ के पत्तों के ढेर पर फक दी थी। वे नाले से कुछ दूर हट कर दो चीड़ के पेड़ों की गुथी हुई छाया के नीचे बैठे थे। उनके सामने एक छोटा सा रास्ता नीचे पहाड़ी गाँव की ओर जाता था, जहाँ पहाड़ की गोद में शकरपारों से खेत एक दूसरे के नीचे बिछे हुए थे। दुपहर के सन्नाटे में भेड़-बकरियों के गलों में बंधी हुई घन्टियों का स्वर हवा में बहता हुआ सुनायी दे जाता था।

घास पर लेटे-लेटे डाक्टर सिगार पीते रहे ।

'जंगल की आग कभी देखी है मिस वुड....एक अलमस्त नशे की तरह धीरे-धीरे फैलती जाती है ।'

'आप ने कभी देखी है डाक्टर ?' मिस वुड ने पूछा 'मुझे तो बड़ा डर लगता है ।'

'बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था।' डाक्टर लेटे हुए आकाश की ओर ताक रहे थे। 'एक एक मकान ताश के पत्तों को तरह गिरता जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर देखने में बहुत कम आते हैं ।'

'आपने कहाँ देखा, डाक्टर ?'

'लड़ाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था।' मिस वुड की आत्मा को ठेस लगी, किन्तु फिर भी उनकी उत्सुकता शान्त नहीं हुई ।

'आप का घर—क्या वह भी जल गया था ?'

डाक्टर कुछ देर तक चुपचाप लेटा रहा ।

'हम उसे खाली छोड़ कर चले आये थे—मालूम नहीं बाद में क्या हुआ ।' अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में डाक्टर को कठिनाई महसूस होती है ।

'डाक्टर, क्या आप कभी वापिस बरमा जाने की बात नहीं सोचते ?' डाक्टर ने अंगड़ाई ली और करवट बदल कर औंधे मुँह लेट गये। उनकी आँखें मुँद गयीं, और माथे पर बालों की लटें झूल आयीं ।

'सोचने से क्या होता है मिस वुड....जब बरमा में था, तब क्या कभी सोचा था कि यहाँ आकर उम्र काटनी होगी ?'

'लेकिन डाक्टर, कुछ भी कह लो अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता। यहाँ तुम चाहे कितने वर्ष रह लो, अपने को हमेशा अजनबी ही पाओगे ।'

डाक्टर ने सिगार के धुएँ को धीरे-धीरे हवा में छोड़ दिया—दरअसल अजनबी तो मैं वहाँ भी समझा जाऊँगा मिस वुड। इतने वर्षों बाद वहाँ मुझे कौन पहचानेगा । इस उम्र में नये सिरे से रिश्ते जोड़ना काफ़ी सिरदर्द का काम है....कम स कम मेरे बस की बात नहीं है ।

'लेकिन डाक्टर आप कब तक इस पहाड़ी कस्बे में पड़े रहेंगे—इसी देश में रहना है तो किसी बड़े शहर में अपनी प्रैक्टिस शुरू कीजिये ?'

'प्रैक्टिस बढ़ाने के लिये कहाँ-कहाँ भटकता फिरूँगा, मिस वुडा। जहाँ रहो, वहीं मरीज़ मिल जाते हैं । यहाँ आया था कुछ दिनों के लिये—फिर मुद्दत हो गयी और टिका रहा। जब कभी जी ऊबेगा कहीं चला जाऊँगा।

जड़ें कहीं नहीं जमतीं, तो पीछे भी कुछ नहीं छूट जाता। मुझे अपने बारे में कोई गलत फहमी नहीं है मिस वुड, मैं सुखी हूँ....

मिस वुड ने डाक्टर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। दिल में वह हमेशा डाक्टर को उच्छृंखल, लापरवाह और सनकी समझती रही है किन्तु डाक्टर के चरित्र में उसका विश्वास है—न जाने क्यों, क्योंकि डाक्टर ने जाने-अनजाने में उसका कोई प्रमाण दिया हो, याद नहीं पड़ता।

मिस वुड ने एक ठंडी साँस भरी। वह हमेशा यह सोचती थीं कि यदि डाक्टर इतना आलसी और लापरवाह न होता तो अपनी योग्यता के बल पर काफ़ी चमक सकता था। इसीलिये उन्हें डाक्टर पर क्रोध भी आता था और दुःख भी होता था।

मिस वुड ने अपने बैग से ऊन का गोला और सलाइयाँ निकालीं, फिर उसके नीचे से अखबार में लिपटा हुआ चौड़ा टाफी का डिब्बा उठाया, जिसमें अंडों की सेंडविचें और हैम्बर्गर दबे हुए थे। थर्मस से प्यालों में कॉफ़ी उँडेलते हुए मिस वुड ने कहा—डाक्टर, कॉफ़ी ठंडी हो रही है....

डाक्टर लेटे-लेटे बुड़बुड़ाया। मिस वुड ने नीचे झुक कर देखा, वह कुहनी पर सिर टिकाये चुपचाप सो रहा था। ऊपर का होंठ जरा सा फैल कर मुड़ गया था, मानो किसी से मज़ाक करने से पहले मुस्करा रहा हो।

उसकी अँगुलियों में दबा हुआ सिगार नीचे झुका हुआ लटक रहा था।

*

मेरी, मेरी, वाट डू यू वान्ट, वाट डू यू वान्ट... दूसरे स्टैन्डर्ड में पढ़ने वाली मेरी ने अपनी चंचल, चपल, आँखें ऊपर उठाई— लड़कियों का दायरा उसे घेरे हुए कभी पास आता था, कभी दूर खिंचता चला जाता था।

आई वान्ट....आई वान्ट ब्लू—दोनों हाथों को हवा में घुमाते हुए मेरी चिल्लायी। दायरा पानी की तरह टूट गया, सब लड़कियाँ एक दूसरे पर गिरती-पड़ती किसी नीली वस्तु को छूने के लिये भाग-दौड़ करने लगीं।

लंच समाप्त हो चुका था। लड़कियों के छोटे-छोटे दल मीडोज़ में बिखर गये थे। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियाँ चाय का पानी गर्म करने के लिये पेड़ों पर चढ़ कर सूखी टहनियाँ तोड़ रही थीं।

दुपहर की उस घड़ी में मीडोज़ अलसाया ऊँघता सा जान पड़ता था। हवा का कोई भूला-भटका झोंका....चीड़ के पत्ते खड़खड़ा उठते थे। कभी कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने झाड़ियों से उड़ कर नाले के किनारे बैठ जाता था, पानी में सिर डुबोता था फिर ऊब कर हवा में दो चार निरुद्देश्य चक्कर काट कर दुबारा झाड़ियों में दुबक जाता था।

किन्तु जंगल की खामोशी शायद कभी चुप नहीं रहती। गहरी नींद में

डूबी सपनों सी कुछ आवाज़ें नीरवता के हल्के झीने परदे पर सलवटें बिछा जाती हैं... मूक लहरों सी हवा में तिरती हैं....मानो कोई दबे पाँव झाँक कर अदृश्य संकेत कर जाता है....'देखो मैं यहाँ हूँ....'

लतिका ने जूली के 'बॉब हेयर' को सहलाते हुए कहा, 'तुम्हें कल रात बुलाया था....'

'मैडम, मैं गयी थी—आप अपने कमरे में नहीं थीं।' लतिका को याद आया कि कल रात वह डाक्टर के कमरे के टैरेस पर देर तक बैठी रही थी—और भीतर ह्यूबर्ट पियानो पर शोपां का नौक्टर्न बजा रहा था।

'जूली, तुमसे कुछ पूछना था।' उसे लगा, वह जूली की आँखों से अपने को बचा रही है।

जूली ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी भूरी आँखों से कौतूहल झाँक रहा था।

'तुम आफ़िसर्स मेस में किसी को जानती हो?'

जूली ने अनिश्चित भाव से सिर हिलाया। लतिका कुछ देर तक जूली को अपलक घूरती रही।

'जूली, मुझे विश्वास है, तुम झूठ नहीं बोलोगी।' कुछ क्षण पहले जूली की आँखों में जो कौतूहल था, वह भय में परिणत होने लगा।

लतिका ने अपनी जैकट की जेब से एक नीला लिफ़ाफ़ा निकाल कर जूली की गोद में फेंक दिया।

'यह किस की चिट्ठी है?'

जूली ने लिफ़ाफ़ा उठाने के लिये हाथ बढ़ाया, किन्तु फिर एक क्षण के लिये उसका हाथ काँप कर ठिठक गया—लिफ़ाफ़े पर उसका नाम और होस्टल का पता लिखा हुआ था।

'थैंक यू मैडम, मेरे भाई का पत्र है, वह झाँसी में रहते हैं।' जूली ने घबड़ाहट में लिफ़ाफे को अपनी स्कर्ट की तहों में छिपा लिया।

'जूली, ज़रा मुझे लिफ़ाफ़ा दिखलाओ।' लतिका का स्वर तीखा, कर्कश सा हो आया।

जूली ने अनमने भाव से लतिका को पत्र दे दिया।

'तुम्हारे भाई झाँसी में रहते हैं?'

जूली इस बार कुछ नहीं बोली। उसकी उद्भ्रान्त उखड़ी सी आँखें लतिका को देखती रहीं।

'यह क्या है?'

जूली का चेहरा सफेद, फक़ पड़ा गया। लिफ़ाफे पर कुमाऊँ रेजीमेन्टल सेन्टर की मुहर उसकी ओर घूर रही थी।

'कौन है यह....' लतिका ने पूछा। उसने पहले भी होस्टल में उड़ती हुई अफ़वाह सुनी थी, कि जूली को क्लब में किसी मिलिट्री अफ़सर के संग देखा गया था, किन्तु ऐसी अफ़वाहें अक्सर उड़ती रहती थीं, और उसने उस पर विश्वास नहीं किया था।

'जूली तुम अभी बहुत छोटी हो....' जूली के होंठ काँपे—उसकी आँखों में निरीह याचना का भाव घिर आया।

'अच्छा अभी जाओ .. तुम से छुट्टियों बाद बात करूँगी।'

जूली ने ललचायी दृष्टि से लिफ़ाफ़े की ओर देखा, कुछ बोलने को उद्यत हुई, फिर बिना कुछ कहे चुपचाप वापिस लौट गयी।

लतिका देर तक जूली को देखती रही, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गयी। क्या मैं किसी खूसट बुढ़िया से कम हूँ? अपने अभाव का बदला क्या मैं दूसरों से ले रही हूँ?

शायद....कौन जाने....शायद जूली का यह प्रथम परिचय हो, उस अनुभूति से, जिसे कोई भी लड़की बड़े चाव से संजोकर, संभाल कर अपने में छिपाये रहती है; एक अनिर्वचनीय सुख, जो पीड़ा लिये है, पीड़ा और सुख को डुबोती हुई उमड़ते ज्वार की खुमारी....जो दोनों को अपने में समो लेती है....एक दर्द, जो आनन्द से उपजा है और पीड़ा देता है....

यहीं इसी देवदार के नीचे उसे भी यही लगा था, जब गिरीश ने पूछा था—तुम चुप क्यों हो? वह आँखें मूँदे सोच रही थी—सोच कहाँ रही थी, जी रही थी, उस क्षण को जो भय और विस्मय के बीच भिंचा था—बहका सा पगला क्षण। वह अभी पीछे मुड़ेगी तो गिरीश की 'नर्वस' मुस्कराहट दिखायी दे जायेगी, उस दिन से आज दुपहर तक का अतीत एक दुःस्वप्न की मानिन्द टूट जायेगा। वही देवदार है, जिस पर उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उतरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था, तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था। जब कभी कोई अक्षर बिगड़ कर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता था, तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था....

लतिका को लगा कि जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है, लेकिन जब सचमुच भूलने लगती है, तब उसे भय लगता है कि जैसे कोई उसकी कोई चीज़ उसके हाथों से छीने लिये जा रहा है, ऐसा कुछ जो सदा के लिये खो जायेगा। बचपन में जब कभी वह अपने किसी खिलौने को खो देती थी, तो वह गुमसुम सी होकर सोचा करती थी, कहाँ रख दिया मैंने। जब बहुत दौड़-धूप करने पर खिलौना मिल जाता, तो वह बहाना करती कि अभी उसे खोज ही रही है, कि वह अभी मिला नहीं है। जिस स्थान पर

खिलौना रखा होता। जानबूझ कर उसे छोड़कर घर के दूसरे कोनों में उसे खोजने का उपक्रम करती। तब खोयी हुई चीज़ याद रहती, इसलिये भूलने का भय नहीं रहता था....

आज वह उस बचपन के खेल का बहाना क्यों नहीं कर पाती? 'बहाना'.... शायद करती है, उसे याद करने का बहाना, जो भूलता जा रहा है....दिन, महीने बीत जाते हैं, और वह उलझी रहती है, अनजाने में गिरीश का चेहरा धुन्धला पड़ता जाता है, याद वह करती है, किन्तु जैसे किसी पुरानी तसवीर के धूल भरे शीशे को साफ़ कर रही है, अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ उस को याद करती है, जो पहले कभी होता था—तब उसे अपने पर ग्लानि होती है। वह फिर जान बूझ कर उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद, उसकी कोशिशों के बावजूद....भरता जा रहा है....

देवदार पर खुदे हुए अधमिटे नाम लतिका की ओर निस्तब्ध निरीह भाव से निहार रहे थे। मीडोज़ के घने सन्नाटे में नाले पार से खेलती हुई लड़कियों की आवाजें गूँज जाती थीं...

वाट डू यू वान्ट? वाट डू यू वान्ट?

*

तितलियाँ, झींगुर, जुगनू....मीडोज़ पर उतरती हुई साँझ की छायाओं में पता नहीं चलता, कौन आवाज़ किसकी है? दुपहर के समय जिन आवाजों को अलग-अलग कर के पहचाना जा सकता था, अब वे एकस्वरता की अविरल धारा में घुल गयी थीं। घास से अपने पैरों को पोंछता हुआ कोई रेंग रहा है। झाड़ियों के झुरमुट से परों को फड़फड़ाता झपटकर कोई ऊपर से उड़ जाता है....किन्तु ऊपर देखो तो कहीं कुछ भी नहीं है। मीडोज़ के झरने का गड़गड़ाता स्वर....जैसे अंधेरी सुरंग में झपाटे से ट्रेन गुज़र गयी हो, और देर तक उसमें सीटियों और पहियों की चीत्कार गूँजती रही हो....

पिकनिक कुछ देर तक और चलती किन्तु बादलों की तहें-की-तहें एक दूसरे पर चढ़ती जा रही थीं। पिकनिक का सामान बटोरा जाने लगा। मीडोज़ के चारों ओर बिखरी हुई लड़कियाँ मिस वुड के इर्द-गिर्द जमा होने लगीं। अपने संग वे अजीबो-गरीब चीजें बटोर लायी थीं। कोई किसी पक्षी के टूटे पंख को बालों में लगाये हुए थी, किसी ने पेड़ की टहनी को चाकू से छीलकर छोटी-सी बेंत बना ली थी। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियों ने अपने-अपने रूमालों में नाले से पकड़ी हुई छोटी-छोटी बालिश्त भर की मछलियों को दबा रखा था जिन्हें मिस वुड से छिपाकर वे एक दूसरे को दिखा रही थीं।

मिस वुड लड़कियों की टोली के संग आगे निकल गयीं। मीडोज़ से पक्की सड़क तक तीन-चार फर्लाङ्ग की चढ़ाई थी, लतिका हाँफने लगी। डाक्टर

मुकर्जी सब से पीछे आ रहे थे, लतिका के पास पहुँच कर ठिठक गये। डॉक्टर ने दोनों घुटनों को ज़मीन पर टेकते हुए सिर झुकाकर एलिज़बिथ-युगीन अंग्रेज़ी में कहा—मैडम, आप इतनी परेशान क्यों नज़र आ रही हैं....

और डॉक्टर की नाटकीय मुद्रा को देखकर लतिका के होठों पर एक थकी सी ढीली-ढीली मुस्कराहट बिखर गयी।

'प्यास के मारे गला सूख रहा है....और यह चढ़ाई है, कि ख़त्म होने में नहीं आती।'

डॉक्टर ने अपने कंधे पर लटकती हुई थर्मस को उतारकर लतिका के हाथों में देते हुए कहा—थोड़ी सी कॉफ़ी बची है, शायद कुछ मदद कर सके।

'पिकनिक में तुम कहाँ रह गये डॉक्टर, कहीं दिखायी नहीं दिये ?'

'दुपहर भर सोता रहा—मिस वुड के संग। मेरा मतलब है, मिस वुड पास बैठी थीं।'

'मुझे लगता है, मिस वुड मुझसे मुहब्बत करती हैं।' कोई भी मज़ाक करते हुए डॉक्टर अपनी मूँछों के कोनों को चबाने लगता है।

'क्या कहती थीं ?' लतिका ने थर्मस से कॉफ़ी को मुँह में उँड़ेल लिया।

'शायद कुछ कहतीं, लेकिन बदकिस्मती से बीच में ही मुझे नींद आ गयी। मेरी ज़िन्दगी के कुछ खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम्बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गये हैं !'

और इस दौरान में जब वे दोनों बातें कर रहे थे, उनके पीछे मीडोज़ और मोटर रोड के संग चढ़ती हुई चीड़ और बाँज के वृत्तों की कतारें सांझ के घिरते अंधेरे में डूबने लगीं, मानो प्रार्थना करते हुए उन्होंने चुपचाप अपने सिर नीचे झुका लिये हों। इन्हीं पेड़ों के ऊपर बादलों में गिरजे का क्रास कहीं उलझा पड़ा था। उसके नीचे पहाड़ों की ढलान पर बिछे हुए खेत भागती हुई गिलहरियों-से लग रहे थे, जो किसी की टोह में स्तब्ध ठिठक गयी हों।

'डाक्टर, मि० ह्यूबर्ट पिकनिक पर नहीं आये ?'

डाक्टर मुकर्जी टार्च जला कर लतिका के आगे-आगे चल रहे थे।

'मैंने उन्हें मना कर दिया था।'

'किस लिये ?'

अँधेरे में पैरों के नीचे दबे हुए पत्तों की चरमराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था। डाक्टर मुकर्जी ने धीरे से खांसा।

'पिछले कुछ दिनों से मुझे सन्देह होता जा रहा है कि ह्यूबर्ट की छाती का दर्द शायद मामूली दर्द नहीं है।' डाक्टर थोड़ा सा हँसा, जैसे उसे अपनी यह गम्भीरता अरुचिकर लग रही हो।

डाक्टर ने प्रतीक्षा की, शायद लतिका कुछ कहेगी। किन्तु लतिका चुप-चाप उसके पीछे चल रही थी।

'यह मेरा महज़ शक है, शायद मैं बिल्कुल ग़लत होऊँ, किन्तु फिर भी यह बेहतर होगा कि वह अपने एक फेफड़े का एक्सरे करा लें—इससे कम-से-कम कोई भ्रम तो नहीं रहेगा।'

'आपने मि० ह्यूबर्ट से इसके बारे में कुछ कहा?'

'अभी तक कुछ नहीं कहा। ह्यूबर्ट ज़रा सी बात पर चिन्तित हो उठता है, इसलिये कभी साहस नहीं हो पाता....'

डाक्टर को लगा, उसके पीछे आते हुए लतिका के पैरों का स्वर सहसा बन्द हो गया है। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा, लतिका बीच सड़क पर अँधेरे में छाया सी चुपचाप, निश्चल खड़ी है।

'डाक्टर....' लतिका का स्वर भर्राया हुआ था।

'क्या बात है मिस लतिका....आप रुक क्यों गयीं?'

'डाक्टर—क्या मि० ह्यूबर्ट....'

डाक्टर ने अपनी टार्च की मद्धिम रोशनी लतिका पर उठा दी....उसने देखा लतिका का चेहरा एकदम पीला पड़ गया है और वह रह-रह कर पत्ते-सी काँप जाती है।

'मिस लतिका, क्या बात है, आप तो बहुत डरी सी जान पड़ती हैं?'

'कुछ नहीं डाक्टर....मुझे....मुझे कुछ याद आ गया था....'

वे दोनों फिर चलने लगे। कुछ दूर जाने पर उसकी आँखें ऊपर उठ गयीं। पक्षियों का एक बेड़ा धूमिल आकाश में त्रिकोण बनाता हुआ पहाड़ों के पीछे से उनकी ओर आ रहा था। लतिका और डाक्टर सिर उठा कर इन पक्षियों को देखते रहे। लतिका को याद आया, हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिये बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ़ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जायेंगे....

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डाक्टर मुकर्जी, मि० ह्यूबर्ट—लेकिन कहाँ के लिये, हम कहाँ जायेंगे?

किन्तु उसका कोई उत्तर नहीं मिला—उस अँधेरे में मीडोज़ के झरने के भुतैले स्वर और चीड़ के पत्तों की सरसराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था।

लतिका हड़बड़ा कर चौंक गयी। अपनी छड़ी पर झुका हुआ डाक्टर धीरे-धीरे सीटी बजा रहा था।

'मिस लतिका, जल्दी कीजिये, बारिश शुरू होने वाली है।'

होस्टल पहुँचते-पहुँचते बिजली चमकने लगी थी किन्तु उस रात बारिश देर तक नहीं हुई। बादल बरसने भी नहीं पाते थे कि हवा के थपेड़ों से धकेल दिये जाते थे। दूसरे दिन तड़के ही बस पकड़ना था, इसलिये डिनर के बाद लड़कियाँ सोने के लिये अपने-अपने कमरों में चली गयी थीं।

जब लतिका अपने कमरे में गयी, उस समय कुमाऊँ रेजीमेंटल सेन्टर का बिगुल बज रहा था। उसके कमरे में करीमुद्दीन कोई पहाड़ी धुन गुनगुनाता हुआ लैम्प में गैस पम्प कर रहा था। लतिका उन्हीं कपड़ों में, तकिये को दुहरा कर के लेट गयी। करीमुद्दीन ने उड़ती हुई निगाह से लतिका को देखा, फिर अपने काम में जुट गया।

'पिकनिक कैसी रही मेम साहब?'

'तुम क्यों नहीं आये, सब लड़कियाँ तुम्हें पूछ रही थीं?' लतिका को लगा, दिन भर की थकान धीरे-धीरे उसके शरीर की पसलियों पर चिपटती जा रही है। अनायास उसकी आँखें नींद के बोझ से झपकने लगीं।

'मैं चला आता तो ह्यूबर्ट साहब की तीमारदारी कौन करता। दिन भर उनके बिस्तरे से सटा हुआ बैठा रहा....और अब वह गायब हो गये।'

करीमुद्दीन ने कंधे पर लटकते हुए मैले-कुचैले तौलिये को उतारा और लैम्प के शीशों की गर्द पोंछने लगा।

लतिका की अधमुँदी आँखें खुल गयीं। 'क्या ह्यूबर्ट साहब अपने कमरे में नहीं हैं?'

'खुदा जाने, इस हालत में कहाँ गये। पानी गर्म करने कुछ देर के लिये बाहर गया था, वापिस आने पर देखता हूँ कि कमरा खाली पड़ा है।'

करीमुद्दीन बुड़बुड़ाता हुआ बाहर चला गया। लतिका ने लेटे-लेटे पलंग के नीचे चप्पलों को पैरों से उतार दिया।

ह्यूबर्ट इतनी रात कहां गये? किन्तु लतिका की आंखें फिर झपक गयीं। दिन भर की थकान ने सब परेशानियों, प्रश्नों पर कुंजी लगा दी थी; जैसे दिन भर आंखमिचौनी खेलते हुए उसने अपने कमरे में 'दय्या' को छू लिया था, अब वह सुरक्षित थी, कमरे की चहारदिवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड़ सकता। दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज़ का उससे तक़ाज़ा था, अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं, उलहना नहीं, सब खींचतान खत्म हो गयी है, जो अपना है, वह बिल्कुल अपना-सा हो गया है, उसका दुःख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं....

लतिका ने दिवार की ओर मुंह मोड़ लिया। लैम्प के फीके आलोक में हवा में काँपते परदों की छायाएँ हिल रही थीं। बिजली कड़कने से खिड़कियों के शीशे चमक चमक जाते थे, दरवाज़े चटखने लगते थे, जैसे कोई बाहर से

धीमे-धीमे खटखटा रहा हो। कॉरीडोर से अपने-अपने कमरों में जाती हुई लड़कियों की हँसी, बातों के कुछ शब्द - फिर सब कुछ शान्त हो गया, किन्तु फिर भी देर तक कच्ची नींद में वह लैम्प का धीमा-सा 'सी-सी' का स्वर सुनती रही, कब वह स्वर भी मौन का भाग बन कर मूक हो गया, उसे पता न चला।

कुछ देर बाद उसको लगा, सीढ़ियों से कुछ दबी आवाजें ऊपर आ रही हैं, बीच-बीच में कोई चिल्ला उठता है, और फिर सहसा आवाज़ें धीमी पड़ जाती हैं।

'मिस लतिका, ज़रा अपना लैम्प ले आइये,' कॉरीडोर के ज़ीने से डाक्टर मुकर्जी की आवाज़ आयी थी।

कॉरीडोर में अंधेरा था। वह तीन चार सीढ़ियाँ नीचे उतरी, लैम्प नीचे किया। सीढ़ियों से सटे जंगले पर ह्यूबर्ट ने अपना सिर रखा हुआ था, उसकी एक बाँह जंगले के नीचे लटक रही थी और दूसरी डाक्टर के कंधे पर झूल रही थी, जिसे डाक्टर ने अपने-अपने हाथों में जकड़ रखा था।

'मिस लतिका, लैम्प ज़रा और नीचे झुका दीजिये....ह्यूबर्ट....ह्यूबर्ट' डाक्टर ने ह्यूबट को सहारा देकर ऊपर खींचा। ह्यूबर्ट ने अपना चेहरा ऊपर किया। ह्विस्की की तेज़ बू का झोंका लतिका के सारे शरीर को झिंझोड़ गया। ह्यूबर्ट की आँखों में सुर्ख़ डोरे खिंच आये थे, कमीज़ का कालर उलटा हो गया था और टाई की गाँठ ढीली होकर नीचे खिसक आयी थी। लतिका ने काँपते हाथों से लैम्प सीढ़ियों पर रख दिया और आप दीवार के सहारे खड़ी हो गयी। उसका सिर चकराने लगा था।

'इन अ बैक लेन आफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हू लव्ज़ मी....' ह्यूबर्ट हिचकियों के बीच गुनगुना उठता था।

'ह्यूबर्ट प्लीज़....प्लीज़,' डाक्टर ने ह्यूबर्ट के लड़खड़ाते शरीर को अपनी मज़बूत गिरफ्त में पकड़ लिया।

'मिस लतिका, आप लैम्प लेकर आगे चलिये....' लतिका ने लैम्प उठाया, दीवार पर उन तीनों की छायाएं डगमगाने लगीं।

'इन अ बैक लेन आफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हू लव्ज़ मी....' ह्यूबर्ट डाक्टर मुकर्जी के कंधे पर सिर टिकाये अंधेरी सीढ़ियों पर उलटे सीधे पैर रखता हुआ चढ़ रहा था।

'डाक्टर हम कहाँ हैं ?' ह्यूबर्ट सहसा इतनी ज़ोर से चिल्लाया, कि उसकी घटती हुई आवाज़ सुनसान अंधेरे कॉरीडोर की छत से टकरा कर देर तक हवा में गूंजती रही।

'ह्यूबर्ट....' डाक्टर को एकदम ह्यूबर्ट पर गुस्सा आ गया, फिर अपने गुस्से पर ही उन्हें खीझ सी हो आयी और वह ह्यूबर्ट की पीठ थपथपाने लगे।

'कुछ बात नहीं है ह्यूबर्ट डियर, तुम सिर्फ़ थक गये हो।' ह्यूबर्ट ने अपनी आँखें डाक्टर पर गड़ा दीं, उनमें एक भयभीत बच्चे की सी कातरता झलक रही थी, मानो डाक्टर के चेहरे से वह किसी प्रश्न का उत्तर पा लेना चाहता हो।

ह्यूबर्ट के कमरे में पहुँच कर डाक्टर ने उसे बिस्तरे पर लिटा दिया। ह्यूबर्ट ने बिना किसी विरोध के चुपचाप अपने जूते-मोज़े उतरवा लिये। जब डाक्टर ह्यूबर्ट की टाई उतारने लगा, ह्यूबर्ट अपनी कुहनी के सहारे उठा, कुछ देर तक डाक्टर को आँखें फाड़ते हुए घूरता रहा, फिर धीरे से उसका हाथ पकड़ लिया।

'डाक्टर, क्या मैं मर जाऊँगा?'

'कैसी बात करते हो ह्यूबर्ट!' डाक्टर ने हाथ छुड़ा कर धीरे से ह्यूबर्ट का सिर तकिये पर टिका दिया।

'गुड नाइट ह्यूबर्ट....'

'गुड नाइट डाक्टर' ह्यूबर्ट ने करवट बदल ली।

'गुड नाइट मि० ह्यूबर्ट....' लतिका का स्वर सिहर गया।

किन्तु ह्यूबर्ट ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवट बदलते ही उसे नींद आ गयी थी।

कॉरीडोर में वापिस आकर डाक्टर मुकर्जी रेलिंग के सामने खड़े हो गये। हवा के तेज़ झोंकों से आकाश में फैले बादलों की परतें जब कभी इकहरी हो जातीं तब उनके पीछे से चाँदनी बुझती हुई आग के धुएँ सी आस-पास की पहाड़ियों पर फैल जाती थी।

'आप को मि० ह्यूबर्ट कहाँ मिले?' लतिका कॉरीडोर के दूसरे कोने में रेलिंग पर झुकी हुई थी।

'क्लब की बार में उन्हें देखा था, मैं न पहुँचता तो न जाने कब तक बैठे रहते।' डाक्टर मुकर्जी ने सिगरेट जलायी। उन्हें अभी एक दो मरीज़ों के घर जाना था, कुछ देर तक उन्हें टाल देने के इरादे से वह कॉरीडोर में खड़े रहे।

नीचे अपने क्वार्टर में बैठा हुआ करीमुद्दीन माउथ आर्गन पर कोई पुरानी फ़िल्मी धुन बजा रहा था।

'आज दिन भर बादल छाये रहे, लेकिन खुल कर बारिश नहीं हुई....'

'क्रिसमस तक शायद मौसम ऐसा ही रहेगा।' कुछ देर तक दोनों चुपचाप खड़े रहे। कनवेन्ट स्कूल के बाहर फैले लान से झींगुरों का अनवरत स्वर चारों ओर फैली निस्तब्धता को और भी अधिक घना बना रहा था। कभी-कभी ऊपर मोटर रोड पर किसी कुत्ते की रिरियाहट सुनायी पड़ जाती थी।

'डाक्टर....कल रात आप ने मि० ह्यूबर्ट से कुछ कहा था—मेरे बारे में ?'

'वही जो सब लोग जानते हैं और....ह्यूबर्ट, जिसे जानना चाहिये था, नहीं जानता था........'

डाक्टर ने लतिका की ओर देखा, वह जड़वत्, अविचलित रेलिंग पर झुकी हुई थी।

'वैसे हम सब की अपनी-अपनी ज़िद होती है, कोई छोड़ देता है, कोई-कोई आख़िर तक उससे चिपके रहते हैं।' डाक्टर मुकर्जी अँधेरे में मुस्कराये। उनकी मुस्कराहट में सूखा सा विरक्ति का भाव भरा था।

'कभी-कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज़ को न जानना यदि गलत है, तो जानबूझ कर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे रहना—यह भी गलत है। बरमा से आते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी ज़िन्दगी बेकार सी लगी थी। आज उस बात को अर्सा गुज़र गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँ, उम्मीद है कि काफ़ी अर्सा और जियूँगा। जिन्दगी काफ़ी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में भी न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है, कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था—आज भी करता हूँ........'

'लेकिन डाक्टर....' लतिका का गला रुंध आया था।

'क्या मिस लतिका....'

'डॉक्टर—सब कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज़ है जो हमें चलाये चलती है, हम रुकते हैं, तो भी अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।' लतिका को लगा कि—जो वह कहना चाह रही है, कह नहीं पा रही, जैसे अँधेरे में कुछ खो गया है, जो मिल नहीं पा रहा, शायद कभी नहीं मिल पायेगा।

'यह तो आपको फ़ादर एलमन्ड ही बता सकेंगे मिस लतिका,' डाक्टर की खोखली हँसी में उनका पुराना सनकीपन उभर आया था।

'अच्छा चलता हूँ, मिस लतिका, मुझे काफ़ी देर हो गयी है,' डाक्टर ने दियासलाई जला कर घड़ी को देखा।

'गुड नाइट मिस लतिका।'

'गुड नाइट डाक्टर....'

डाक्टर के जाने पर लतिका कुछ देर तक अँधेरे में रेलिंग से सटी खड़ी रही। हवा चलने से कॉरीडोर में जमा हुआ कुहरा सिहर उठता था। शाम को सामान बाँधते हुए लड़कियों ने अपने-अपने कमरे के सामने जो पुरानी कापियों,

अखबारों और रद्दी कागज़ों के ढेर लगा दिये थे वे अब सब अँधेरे कॉरीडोर में हवा के झोंकों से इधर-उधर बिखरने लगे थे।

लतिका ने लैम्प उठाया और अपने कमरे की ओर जाने लगी। कॉरीडोर में चलते हुए उसने देखा, जूली के कमरे से प्रकाश की एक पतली रेखा दरवाजे के बाहर खिंच आयी है। लतिका को कुछ याद आया। वह कुछ क्षणों तक सांस रोके जूली के कमरे के बाहर खड़ी रही। कुछ देर बाद उसने दरवाज़ा खटखटाया। भीतर से कोई आवाज़ नहीं आयी। लतिका ने दबे हाथों से हलका सा धक्का दिया, दरवाज़ा खुल गया। जूली लैम्प बुझाना भूल गयी थी। लतिका धीरे-धीरे दबे पाँव जूली के पलंग के पास चली आयी। जूली का सोता हुआ चेहरा लैम्प के फीके आलोक में पीला-सा दीख रहा था। लतिका ने अपनी जेब से वही नीला लिफ़ाफ़ा निकाला, और उसे धीरे से जूली के तकिये के नीचे दबा कर रख दिया।

★

बदबू

शेखर जोशी

★

एक साथी ने उसकी परेशानी का कारण भाँप लिया था—'ऐसे नहीं उतरेगा मास्टर। आओ तेल में घोलो' कह कर उस साथी ने उसे अपने साथ चले आने का संकेत किया।

घटिया किस्म के कैरोसीन तेल में कुहनी-कुहनी हाथ डुबाकर दोनों ने अपने अपने हाथों को मला। अब हथेलियों और बाँहों में लिपटी सारी चिकनी कालिख घुल गई थी, परन्तु उसे लगा जैसे दोनों बाँहों में अदृश्य चींटियाँ रेंग रही हों। कैरोसीन की गंध के कारण जी मिचला उठा; इस खीझ और गंध से मुक्ति पाने के लिये वह नल की ओर चल दिया।

अन्तिम साइरन बज चुका था। पानी के प्रत्येक नल पर बीसियों कामगर घिरे हुए थे, कुछ लोग हाथों में साबुन मल रहे थे और शेष साबुन मल चुकने पर हाथों को पानी से धोने के लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। उसे देखकर सबकी अजनबी निगाहें उसकी ओर गईं। एक-दो मज़दूरों ने सौजन्य प्रदर्शन के लिये अपनी बारी आने से पहले ही उसे पानी लेने को बढ़ावा दिया। किंचित् संकोच के बाद उसने आगे बढ़ कर पानी ले लिया। यह संकोच स्वाभाविक था। अपनी बारी आने से पहले पानी लेने का प्रयत्न करनेवालों को उत्साहित करने की इच्छा किसी के मन में न थी, यह वह दो क्षण पहले विभिन्न स्वरों में सुन चुका था।

परन्तु उसे पानी लेते देखकर किसी ने आपत्ति नहीं की। एक बार हाथ अच्छी तरह धो लेने पर उसने उन्हें नाक तक ले जाकर सूंघा, मिट्टी के तेल की गंध अभी नहीं छूटी थी। दुबारा साबुन से धो लेने पर भी उसे वैसी ही गंध का आभास हुआ। फिर एक बार और उसने साबुन जेब से निकालकर हाथों में मलना शुरू कर दिया।

घासी रस ले लेकर एक किस्सा सुनाने लगा और सारा समूह अपनी व्यस्तता भूलकर उसकी बात सुनना रहा—

एक गाँव के मेहतर की लौंडिया थी। उसकी शादी हुई शहर में जैसा तुम जानो—गाँव के मेहतरों को तो कभी गंदा उठाने की जरूरत ह नहीं पड़ती। नई-नई शहर में गई तो दिन-रात नाक चढ़ा के अपने खसम से कहा

करे—बदबू आती है, बदबू आती है। मालिक क्या कहता। उसकी खातिर पेशा तो छोड़ नहीं सकता था। धीरे-धीरे लौंडिया भी काम पर जाने लगी। साल-छः महीने के बाद मेहतर की सासू शहर देखने आई। रास्ते में ही हाथ में झाड़ू-बाल्टी लिये बेटी मिल गई। माँ पहिले तो लाड़ से बेटी के गले मिली और फिर नाक पर आँचल रख लिया।

बेटी ने पूछा—ऐं अम्मा, नाक-मुँह क्यों बन्द कर लिया?

माँ बोली—बेटी, बदबू आती है।

बेटी अचंभे से बोली—कैसी बदबू? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम देती।

नल के इर्दगिर्द घिरे हुए सभी कामगरों के थके उदास चेहरों पर भी उसकी बातें सुनकर हंसी खिल गई। घासी ने ही फिर बात को स्पष्ट किया—ये भाई भी अभी हाथ नाक पै ले जा जाके सूँघ रहे थे तभी किस्सा याद आया। पहले-पहल हम भी ऐसे ही सूंघा करें थे पर अब तो ससुरा पता ही नहीं लगता। किसी बार तो साबुन नहीं मिलता, ऐसे ही पोंछ-पांछ के रोटी खाने बैठ जाते हैं।

संकेत उसी की ओर था। परिहास के उत्तर में गंभीर हो जाना उसे उचित न लगा। सभी की हंसी में उसने अपना योग भी दे दिया परन्तु घासी की बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था। तेल की ऐसी तीखी दुर्गन्ध को साबुन से छुटाये बिना आदमी भला कैसे चैन से रह सकेगा। इसका उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था।

कपड़े बदल कर वह लाइन में जा लगा। इकहरी पंक्ति के प्रारम्भ में हेड फोरमैन के साथ एक गोरखा सिपाही खड़ा था। प्रत्येक मज़दूर अपना रोटी का खाली डिब्बा खोल कर उसे दिखाता और फिर दोनों हाथ ऊँचे उठाकर तलाशी देने की मुद्रा में खड़ा हो जाता। गोरखा सर्चर मज़दूर की छाती, कमर और जेबों को टटोलकर आगे बढ़ जाने का संकेत कर देता। जल्दी घर पहुँचने की इच्छा रखनेवालों को पंक्ति की धीमी गति के कारण झुंझलाहट हो रही थी। इसी झुंझलाहट के कारण कभी कभी लोग पंक्ति में में अपने से आगेवाले व्यक्ति को ठेल देते। बीच-बीच में मोटा फोरमैन उनकी इस जल्दबाज़ी का कोई भद्दा, अश्लील कारण बताकर हँस देता था। उसे फोरमैन का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। परन्तु उसने सुना—पंक्ति में से ही कोई कह रहा था, 'फोरमैन जी भी बड़े रंगीले आदमी हैं।' सम्मति प्रकट करनेवाला एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति था जो अब भी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से फोरमैन की ओर देख रहा था कि जैसे फोरमैन ने यह मज़ाक करके उन पर बड़ी कृपा कर दी हो।

उसकी तलाशी देने की बारी आ गई थी। ठिगने सिपाही ने अपनी एड़ी

उठाकर बड़ी कठिनाई से उसकी तलाशी ली। सिपाही के इस आयास को देखकर उसका मन हँसने को हुआ परन्तु मन पर अवसाद की धुंध इतनी गहरी छा गई थी कि वह हँस न सका। बड़े फाटक से पहिले फिर इकहरी पंक्ति बन गई थी। परन्तु इस बार पंक्ति के परले सिरे पर खड़ा हुआ सिपाही तलाशी नहीं ले रहा था वरन् वह यह देखने के लिये खड़ा था कि कोई भी व्यक्ति कठघरे में आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाँघे बिना न चला जाय। अन्य सभी मज़दूरों की भाँति वह भी आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाघकर बाहर चला आया। पीछे मुड़कर उसने फिर एक बार कठघरे की ओर देखा—लोग अब भी एक-एक कर कूदते हुए चले आ रहे थे। इस उछलकूद का प्रयोजन वह नहीं समझ पाया। गेट से बाहर निकलकर उसने अनुभव किया जैसे वह बन्द कोठरी से निकलकर खुली हवा में चला आया हो।

'क्या आफ़त बना रखी है!' अनायास ही उसके मुँह से निकल गया।

अनजान में ही कहे गये ये शब्द चलनेवाले एक बुजुर्ग के कानों तक पहुँच गये थे। उन्होंने धीरे से अपनी राय प्रकट की—'नये आये लगते हो? पहले-पहल ऐसा ही लगता है, धीरे-धीरे आदत पड़ जायगी।' आकाश की ओर अँगुली उठा कर उन्होंने बात आगे बढ़ायी—उस नीली छतरीवाले का शुक्र करो कि यहाँ काम मिल गया। अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग धक्के खाते फिरते हैं, हमारे पड़ोस में एक लड़का....... ....बुजुर्ग अपने अनुभव की पोटली खोलकर बहुत कुछ बिखेरना चाहते थे, लेकिन उसका मन उनकी बातों में नहीं लगा, कनखियों से उसने उनकी ओर देखा। उस ऊपरवाले के अहसान का बोझ उठाते-उठाते ही जैसे उनकी कमर टेढ़ी हो गई थी। वह चाल तेज़ कर आगे बढ़ गया।

रास्ते भर उसके दिमाग में वही सब कुछ घूमता रहा जो वह दिनभर में देख-सुन चुका था। घासी और उस बुजुर्ग आदमी की बात याद आने पर वह सोचने लगा, क्या सच ही एक दिन वह भी सब कुछ सहने का आदी हो जायगा और नीली छतरीवाले के अहसानों का बोझ उसकी कमर को भी वैसे ही झुका देगा।

*

कारखाने में हर जगह बीड़ी का तूफान मचा हुआ था।

—अबे, हद हो गई। साला बुधुवा सुलगती बीड़ी निगल गया।

—निगली नहीं यार। दाँत के नीचे दबा रखी थी।

—हम वहीं खड़े थे भाई। साहब ने मुँह खुलवाया, मुँह में नहीं थी।

—कमाल है। साले को सरकस में जाना चाहिये।

चीफ साहब के आदेश पर सभी मज़दूर एक स्थान पर एकत्रित हो गये

थे। साहब के निकट ही बुद्धन सिर झुकाये खड़ा था। उपस्थित समूह को नसीहत देते हुए साहब ने बताया कि किस तरह उन्होंने पीछे से जाकर बुद्धन को कारखाने के अन्दर बीड़ी पीते हुए पकड़ा और किस चतुराई से उसने बीड़ी मुँह के अन्दर ही डालकर गायब कर ली थी।

साहब बोले—कारखाने में इतनी कीमती चीजें पड़ी रहती हैं, किसी भी वक्त आग लग सकती है, एक आदमी की वजह से लाखों रुपये का नुकसान हो सकता है। हम ऐसी गलतियों पर कड़ी से कड़ी सजा दे सकते हैं।

बुद्धन को कड़ी चेतावनी के साथ एक रुपये का दण्ड देने की साहब ने घोषणा कर दी, तभी भीड़ में से किसी ने ऊँचे स्वर में कहा—साहब, आग तो सभी की बीड़ी-सिगरेट से लग सकती है!

सैकड़ों विस्मित आँखें उस ओर उठ गईं जिधर से आवाज आई थी। साहब कुछ कहे इससे पहले वही व्यक्ति फिर बोला—अफसर साहबान भी तो सारे कारखाने में मुँह में सिगरेट दाबे घूमते रहते हैं!

भीड़ में एक भयानक खामोशी छा गई। इस मुँहजोर नये आदमी की उद्दंडता देखकर साहब का मुँह तमतमा उठा। बड़ी कठिनाई से उनके मुँह से निकला, 'ठीक है, हम देखेंगे,' और फिर जाते जाते उन्होंने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा जैसे उसकी मुखाकृति को अच्छी तरह पहचान लेने का प्रयत्न कर रहे हों।

चीफ़ साहब अपने चैम्बर की ओर चल दिये। भीड़ छंट गई। हवा में चारों ओर कानाफूसी के विचित्र स्वर फैलने लगे। बुद्धन की ओर से हटकर लोगों का ध्यान अब उसकी ओर केन्द्रित हो गया था।

उस दिन छुट्टी के बाद लौटते हुए दो-तीन नौजवान उसके साथ हो लिये। प्रत्यक्ष रूप में किसी ने भी बीड़ीवाली घटना को लेकर उसकी सराहना नहीं की, यद्यपि उनके व्यवहार और उनकी बातों से उसे लगा जैसे उन्हें यह अच्छा लगा हो और वे उसके अधिक निकट आना चाहते हों। कठघरे से निकल कर एक नौजवान बुदबुदाया - सालों को शक रहता है कि हम टाँगों के साथ कुछ बांध ले जा रहे हैं, इसीलिये अब यह उछलकूद का खेल कराने लगे हैं।

'इनका बस चले तो ये गेट तक हमारी नागा साधुओं सी बारात बनाकर भेजा करें,' दूसरे ने उसकी बात का समर्थन किया।

'खीर खाये बामणी, फाँसी चढ़ै शेख़, नहीं देखा तो यहाँ आकर देख! छोटे साहब की गाड़ी के पिस्टन अन्दर बदले गये हैं, खुद मैंने अपनी आँखों से देखा' पहले वाले ने आवेश में आकर कहा।

'चुप,' दूसरे नौजवान ने फुसफुसाकर उसे टोक दिया, 'टेलीफून जारहा है!

एक चुस्त-चालाक आदमी उनके साथ-साथ चलने लगा था, तभी दोनों जवानों ने अपनी बीबियों के बारे में बातें शुरू कर दीं।

जिस बात की उसे आशंका थी वही हुआ। शायद रात की सारी रिपोर्ट चीफ साहब के पास पहुँच गई थी। चपरासी ने साहब के कमरे का द्वार खोलकर उसे उनके सामने पहुँचा दिया, फिर द्वार पूर्ववत् बन्द हो गया। साहब ने अपने हाथों से स्टूल उठाकर उसके बैठने के लिये आगे बढ़ा दिया और फिर नर्मी से बोले—हम तुम्हारी भलाई के लिये ही कह रहे हैं। ज़माना बुरा है। बाल-बच्चोंवाले आदमी को ऐसी बातों मे नहीं पड़ना चाहिये।

अपनी बात की प्रतिक्रिया जानने के लिये साहब ने उसकी ओर देखा। उनके हाथ मेज़ पर बिछे कपड़े की सलवटों को सहलाने में व्यस्त थे। साहब की ओर देखकर इस प्रश्न का उत्तर उनकी आँखों में ही झाँक पाने का उसका मन हुआ परन्तु काले चश्मे के अपारदर्शी शीशों के पीछे छिपी आँखों के स्थान पर केवल अन्धकार घिरा हुआ था।

'ऐसा कोई खतरनाक काम तो मैंने नहीं किया साब' उसने पेपरवेट के फूलों पर अपनी नज़र जमा कर उत्तर दिया।

'हम जानते हैं, सब कुछ जानते हैं। कल रात तुम्हारे घर पर मीटिंग हुई थी या नहीं?' मानसिक उत्तेजना के कारण साहब दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस में उलझाते हुए बोले।

'दो चार यार-दोस्त बैठने के लिए आ जाँय तो उसे मीटिंग कौन कहेगा साहब?' उसने बात का महत्व कम करने की कोशिश में मुस्कराने का अभिनय किया।

'सुनो जवान। यार-दोस्तों की महफ़िल में गप्पें होती हैं, ताश खेले जाते हैं, शराब पी जाती है, स्कीमें नहीं बनतीं!' इस बार स्वर कुछ अधिक सधा हुआ था।

'साहब, लोगों को थकान की परेशानी है, छुट्टियों का ठीक हिसाब नहीं, छोटी-छोटी बातों पर जुर्माना हो जाता है। यही बातें आपसे अर्ज करनी थीं। यही वहाँ भी सोच रहे थे।' स्वर में दीनता थी परन्तु साहब के चेहरे पर टिकी हुई उसकी तीखी दृष्टि अनजान में ही जैसे इस अभिनय को झुठला रही थी।

'मैं कौन होता हूँ, जो तुम लोग मुझसे यह कहने के लिये आते हो? मैं भी तो भाई, तुम्हीं लोगों की तरह एक छोटा-मोटा नौकर हूँ।' अपनी दोनों हथेलियों को मेज पर फैलाकर साहब ने कृत्रिम मुस्कान का ऋण लौटा दिया और अपनी कुर्सी पर अधिक आश्वस्त होकर बैठ गये।

उनके सामने बैठे व्यक्ति को यह समझौता स्वीकार न हुआ। कृत्रिमता के आवरण को पूरी तरह उतारकर दृढ़ स्वर में वह बोला—तो जो भी हमारी बात सुनेगा उसी से कहेंगे साहब !

एकाएक साहब बौखलाकर कुर्सी पर उछल पड़े—तुम लोग बाहर की पार्टियों के एजेन्ट हो, ऐसे लोग ही हड़ताल करवाते हैं। मैं एक-एक को सीधा कर दूँगा ! मैं जानता हूँ तुम्हारे गट में कौन-कौन हैं। आइन्दा ऐसी बातें मैं नहीं सुनना चाहता।

वह चीफ़ के कमरे से निकलकर अपने काम पर लौटा तो मिस्त्री पास बिठाकर समझाने लगा—इस दुनियाँ में सबसे मेल-जोल रखकर चलना पड़ता है। नदी किनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ खड़ी होती है लेकिन बड़े-बड़े पेड़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं। साहब ने तुम्हारी बदली कास्टिक टैंक पर कर दी है, बड़ा सख्त काम है, अब भी साहब को खुश कर सको तो बदली रुक सकती है।

उत्तर में उसने कुछ नहीं कहा, उठकर कास्टिक टैंक पर चला गया। टैंक पर काम करनेवाले पुराने मज़दूरों ने उसे देखकर भी अनदेखा कर दिया। उसे ऐसा लगा कि जैसे वे लोग जान बूझकर उससे पृथक् रहने का प्रयत्न कर रहे हों। पुराने पैन्ट और जंग लगे हुए सामान को कास्टिक में धोया जा रहा था। आगे बढ़कर उसने भी उन्हीं की तरह काम शुरू कर दिया। शाम तक काम का यही क्रम चलता रहा। घर लौटकर उसने अनुभव किया....हाथ-पैर में विचित्र प्रकार की जलन हो रही थी।

घर पहुँचते-पहुँचते अंधेरा घिर गया था; हाथ मुँह धोकर उसने जल्दी-जल्दी खाना खाया और फिर बच्चे को लेकर आँगन में झिलँगी चारपाई पर आ बैठा। साँझ अत्यधिक उदास हो आई थी। बच्चे ने कुछ देर तक उससे खेलने का प्रयत्न किया लेकिन पिता की ओर से विशेष प्रोत्साहन न पाने पर पर वह कब माँ के पास चला गया, इसका उसे ध्यान न रहा। जिनकी उसे प्रतीक्षा थी उनमें से कोई भी न आया था, केवल हरीराम ने आकर अब तक दो-तीन बीड़ियाँ फूँक ली थीं। हरीराम की ओर से ही दो-तीन बार बातचीत शुरू करने का प्रयत्न किया जा चुका था लेकिन उसके अटूट मौन के कारण हर बार यह प्रयत्न विफल सिद्ध हुआ था। इस बार फिर हरीराम ने ही बात छेड़ी।

—घनश्याम की तो बीबी बीमार हो गई लेकिन मोहन, राधे, हनीफ़ वगैरह किसी को तो आना चाहिये था !

—शायद उनके बच्चे बीमार हो गये हों, झुंझलाकर उसने उत्तर दे दिया।

हरीराम ने फिर बात दुहरायी, इस बार स्वर में चाटुता की भरमार थी—हम तो तुम्हारे पीछे हैं भाई। जैसा तुम कहोगे वैसा करेंगे। मैं तो ठीक टैम पर आ गया था, देख लो।

—तुम ठीक टैम पर न आओगे तो चीफ साहब को रपोट कौन देगा ? हरीराम की ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टि डालकर घृणा से उसने कहा और अपनी साइकिल उठा कर बाहर चल दिया।

*

उसके विरुद्ध कब कौन-सा षड्यंत्र रच दिया जाय इसका उसे संदेह रहने लगा था। छुट्टी होने पर उसने थैला शीघ्रता से कंधे पर डाला। दुपहर में उसने सब रोटियाँ खा ली थीं पर आज थैला अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ भारी था। विस्मय से उसने रोटी के डिब्बे को खोलकर देखा...एक कागज में छोटे-मोटे नट-बोल्ट लिपटे रखे थे। उसने अनुभव किया कि उसके हृदय की धड़कन तेज़ हो गई है। आवेश में उसकी मुट्ठी भिंच गई, परन्तु फिर संयत होकर उसने वह सामान पास की अलमारी में डाल दिया।

बाहर पंक्ति के परले सिरे पर फोरमैन चिल्ला-चिल्लाकर लोगों के अपने डिब्बे-थैले खोलकर दिखाने का आदेश दे रहा था। उसकी बारी आ गई थी। फोरमैन ने स्वयं डिब्बा-थैला हाथों में लेकर देखा, असन्तोष के कारण उसका मुँह फीका पड़ गया। सिपाही को सबकी जेबें टटोलने का उसने आदेश दिया, उसकी जेबें भी स्वयं फोरमैन ने टटोलीं, परन्तु फोरमैन के चेहरे पर फिर निराशा छा गई। जाते-जाते उसने फोरमैन की ओर देखा, फोरमैन ने आँखें भूमि की ओर झुका ली थीं। गर्व से छाती उठाकर वह बड़े गेट की ओर चल दिया।

*

प्रातःकाल अन्तिम साइरन हो जाने पर गेट बन्द हो जाना चाहिए, फिर आधा घण्टा उसके खोले जाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, परन्तु ऐसा नहीं होता। साइरन सुनकर दूर से पैदल आनेवाले दौड़ लगाना शुरू कर देते हैं, साइकिलों के पैडल दुगनी गति से चलने लगते हैं। लोग हाँफते-हाँफते दो-तीन मिनट में अन्दर पहुँच पाते हैं। पकी उम्र के बड़े-बूढ़े अन्दर आकर घड़ी भर दम लेने के बाद ही हाज़िरी पर जा पाते हैं। परन्तु उस दिन वर्क मैनेजर ने साइरन के बाद ही गेट बन्द करवा दिया। वह गेट से बीस-तीस गज की दूरी पर ही था परन्तु वहाँ पहुँचने से पहिले ही चौकीदार ने जाली खोल दी। अभी बीस-पचीस आदमी और भी थे जो हाँफते हुए चले आ रहे थे। निकट आकर सभी उदास हो गये। आधा घण्टा देर से आने का दण्ड छः-आठ आने से कम नहीं होता।

पिछली बार वेतन के दिन घर जाने पर पत्नी ने उससे पूछा था—कितने हैं ?

—चौवन आठ आने।

—अच्छा ! मैंने पूरे पचपन का हिसाब लगाया था। बबुआ की टोपी इस महिने भी रह गई।

हाँफते हुए लोगों में से कितनों के बबुओं की टोपी इस बार भी रह जायगी, उसने सोचा परन्तु तभी उसने जो कुछ सुना उसे सुनकर उसको ऐसा लगा जैसे सारा दोष अकेले उसी का हो। वही झुकी कमरवाले बुजुर्ग हाँफते हुए कह रहे थे—घोड़े के पीछे और अफसर के आगे कौन समझदार जायगा। एक आदमी के कारण इतने लोगों का नुकसान हो गया, ऐसे लड़ने-भिड़ने को ही जवानी बना रखी हो तो आदमी दंगल करै, अखाड़े में जाय। नौकरी में तो नौकर की ही तरह रहना चाहिये।

उसका मन हुआ कि बुजुर्ग के पास जाकर कुछ बातें करे पर न जाने क्यों वह ऐसा न कर सका।

दिनभर वह यंत्रवत् काम करता रहा थकने के कारण शरीर चूर-चूर हो रहा था परन्तु बैठकर सुस्ता लेने को भी उसका मन नहीं हुआ। कैन्टीन में जाकर उसने चाय ली और अनुभव किया कि चाय फीकी है। पहले किसी दिन ऐसी बात होती तो वह कैन्टीन मैनेजर से शिकायत करता परन्तु आज आधी चाय छोड़कर चला आया। ग्रीज़ और तेल लगा हुआ सामान उठाने के कारण हाथ गन्दगी से भर गये थे। साइरन की आवाज़ उसके कानों में पड़ी, तब उसने काम बन्द किया। ऐसा लगता था कि साइरन यदि किसी कारण से न बजता तो वह उसी प्रकार यंत्रवत् काम करता रहता। साथी कामगर हाथ धोकर कपड़े पहन रहे थे। जल्दी-जल्दी में उसने दोनों हाथ कैरोसीन तेल में धो डाले। साबुन का डिब्बा टटोलकर देखा तो वह खाली था। भूमि पर से थोड़ी मिट्टी उठाकर वह नल की ओर चल दिया। पिछले तीन-चार महीनों की नौकरी में आज वह पहली बार मिट्टी से हाथ धो रहा था। भुरभुरी मिट्टी को पानी के साथ लगा कर उसने हाथों में मला—और फिर दोनों हाथ नल के नीचे लगा दिये। पानी के साथ मिट्टी की पतली पर्त भी बह चली। दूसरी बार मिट्टी लगाने से पहले उसने हाथों को सूँघा और अनुभव किया कि हाथों की गंध मिट चुकी है। सहसा एक विचित्र आतंक से उसका समूचा शरीर सिहर उठा। उसे लगा जैसे आज वह भी घासी की तरह इस बदबू का आदी हो गया है। उसने चाहा कि वह एक बार फिर हाथों को सूंघ ले लेकिन उसका साहस न हुआ मगर फिर बड़ी मुशकिल से वह धीरे-धीरे दोनों हाथों को नाक तक ले गया और इस बार उसके हर्ष की सीमा न रही। पहली बार उसे भ्रम हुआ था। हाथों से कैरोसीन तेल की बदबू अब भी आ रही थी।

★

पत्थर का शेर

भैरव प्रसाद गुप्त

★

कुशल-समाचार की बातें बहुत लम्बी नहीं हुआ करतीं, और इस मुहल्ले में रहनेवालों के पास अपने सुख-दुख के सिवा था ही क्या। दो क्षण को दो मिलते, तो राम-राम और कुशल-समाचार और फिर कृत्रिम मुस्कराहटें, ऐसी जैसे गाड़ी पास हो जाने का सिगनल। तुम अपनी राह, हम अपनी। दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है, होगी; दुनिया में हज़ारों तरह की बातें हैं, होंगी। हमें उनसे क्या। आप भला, जग भला। हम किसी के यहाँ मिलने जायें और चाय पियें, तो क्या यह शिष्टाचार नहीं कि वह भी हमारे यहाँ आये और हम भी उसे चाय पिलायें। नहीं, साहब, यह रोग हम पालते ही नहीं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। राम-राम, कुशल-समाचार, राह-रस्म बनी रहे, बहुत है।

लेकिन एक दिन इन कौओं के बीच मोर की तरह जाने कहां से एक राजा साहब आ टपके और शेरोंवाली कोठी (इसलिए कि उसके फाटक के दोनों खम्भों पर एक-एक पत्थर का शेर बैठाया गया था) जो सालों से किसी झगड़े में पड़कर आवारा गायों का थान बन चुकी थी, आबाद हो गयी। उस दिन सुबह जब लोग बाज़ार से सर-सामान लेने उधर से गुजरे, तो कोठी के फाटक पर उन्होंने उस नये आदमी को आँखें फाड़कर देखा। बड़ी-बड़ी, रोबीली आँखें, फूले-फूले सुर्ख गाल, घनी, बिच्छू के डंक की तरह काली-काली मूँछें, प्रौढ़ आयु, लम्बा-तड़ंगा। पिंडुलियों तक सफेद चम-चम रेशमी धुटन्ना और ठेहुनों तक वैसी ही गंजी। वह फाटक पर टहल रहा था। जिससे भी आँखें मिलीं, होठों से आप ही नमस्कार निकल गया।

उस दिन घरों में और दफ्तरों में उसी की चर्चा रही—अरे भाई, वह शेरोंवाली कोठी आबाद हो गयी!....कैसा रोबीला आदमी है!....मुझे तो लगा कि दो शेरों के बीच एक तीसरा शेर आ खड़ा हुआ हो!....कोई बड़ा आदमी मालूम होता है।....

और दो-तीन दिन में ही लोगों को उसके बारे में बहुत-सारी बातें मालूम हो गयीं। जौनपुर जिले का कोई बहुत बड़ा ज़मींदार है।....राजा साहब कह-

लाता है ।....जमींदारी टूट जाने के कारण यहां कोई बड़ा कार-बार करने के इरादे से आया है....उसके साथ दो लड़कियाँ और पाँच नौकर-नौकरानियाँ हैं। एक लड़की कालेज में पढ़ती है, दूसरी युनिवर्सिटी में....क्या शानदार कार है उसके पास !....

और फिर लोगों ने पाया कि जितना ही वह बड़ा आदमी है, उतना ही मिलनसार भी !....किसी ने बताया, साहब, आदमी हो तो ऐसा ! सुबह मैं सब्जी लेने जा रहा था, शेरोंवाली कोठी से गुज़रा, तो फाटक पर वह टहल रहा था। आँखें मिलीं, तो नमस्कार किया। फिर क्या था साहब, बढ़कर उसने सायकिल की हैंडिल पकड़ ली। बोला, वाह साहब यह दूर-दूर से ही नमस्कार आप लोग कब तक करते रहेंगे ? कभी तशरीफ़ लाइए। हमें भी अपनों में ही एक समझिए। बोलिए, आप शाम को तशरीफ़ लायँगे न। यहीं कहीं पास ही रहते होंगे। किस दफ़्तर में काम करते हैं ?....भाई, मैं तो दंग रह गया। मैं तो समझता था, बहुत बड़ा आदमी मालूम पड़ता है !....हम सरीखों को क्यों मुँह लगाने लगा। लेकिन नहीं, साहब, एक ही आदमी मालूम पड़ता है !....

और सुनने वालों ने कहा, बिल्कुल यही, बिल्कुल यही !

और देखते-देखते राजा साहब के यहाँ शाम की महफ़िल जमने लगी। ठंडाई के साथ पान-सिग्रेट। और राजा साहब के लखनौए ज़र्दे का लोगों को कुछ ऐसा चस्का लगा, कि घरवालियों की डाँट-फटकार भी बेमानी हो गयी। दफ़्तर से छूटे, भागम-भाग घर आये, सायकिल पटकी और राजा साहब के यहाँ हाज़िर। पीछे से औरत चिल्लाती रहे, कौन परवाह करता है !

राजा साहब की ज़बान पर हर आदमी का नाम ऐसे आ गया, जैसे वे सब-के-सब उनके जमाने के परिचित हों। और लोगों ने पाया कि राजा साहब में इतनी खूबियाँ है, जितने आसमान मे तारे।

एक दिन राजा साहब ने कहा—भई, आदत भी क्या शै है।

लोग चौकन्ने होकर सुनने लगे।

राजा साहब ने महफिल पर नजर डाली और आगे बढ़े—अब हमारी आदत ये कि जब तक दस को खिला न लें, मुँह में कौर न पड़े, जब तक दस की महफ़िल में दस-पाँच बातें कह-सुन न लें, रात को नींद न आये....और अब तक़दीर का करना यह हुआ कि हमारी महफ़िल उजड़ गयी, वतन छूट गया और इस बेगानी जगह पर आ पड़े। खाना खराब हो गया, नींद हराम हो गयी। लेकिन जो कहा है न, भगवान चींटी को चून देता है, तो हाथी को दून, साहबान, हम आप लोगों के शुक्रगुज़ार हैं कि आप लोगों ने हमारी महफ़िल गुलज़ार कर दी।

—अजी साहब, हम लोग क्या हैं—लोग चीख उठे—यह तो आपकी मेहरबानी है कि हमारी शामें रौशन हो गयीं!

और राजा साहब ने आवाज़ लगायी—अबे ननकुआ! सिग्रेट का दूसरा टीन ला!

*

जाडे के दिन आये, शामें उदास होने लगीं और राजा साहब ने देखा कि उनकी महफ़िल की रौनक भी कम होती जा रही है। उनकी समझ में न आ रहा था कि ऐसा क्यों हो रहा है। आदर-सत्कार में तो कोई कमी हुई नहीं। ठंडाई की जगह अब चाय का प्रबन्ध रहता है। सिग्रेट-पान की कमी नहीं। फिर भी महफ़िल नहीं जमती। इक्के-दुक्के लोग आ भी जाते हैं, तो उन्हें जल्दी ही भाग जाने की पड़ी रहती है।

एक शाम शनिवार की थी। आज महफ़िल कुछ जमी थी, राजा साहब ने पूछा—भई, ये क्या बात है। ऐसी हमसे क्या ख़ता हुई कि आप लोग....

—नहीं, नहीं, साहब,—लोग चीख उठे—ऐसी कोई बात नहीं!

एक बोला—आजकल दफ्तर से लौटते शाम झुक जाती है।

दूसरा बोला—मेरे पास, साहब, क्या बताऊँ, ऐसे कपड़े नहीं कि....

तीसरा बोला—मुझे तो, साहब, दफ्तर से लौटकर बच्चों को सँभालना पड़ता है। महरी ने काम छोड़ दिया है। उन्हें ही अब घर-बासन भो करना पड़ता है। क्या बतायें, कैसे नमकहराम हो गये हैं ये लोग! गर्मी-बरसात में हमें महरी की बिल्कुल ज़रूरत नहीं रहती, तो ये लोग हाथ जोड़ते हैं, बाबू, आप छुड़ा देंगें, तो हम क्या खायेंगे। यही तो हमारा सहारा है। और जाड़ा आया नहीं कि इनका दिमाग चढ़ जाता है। ये कम्बख्त आँखें नहीं मिलाते, मोल सुनाते हैं। नमकहराम!

और जाने क्या हुआ कि राजा साहब अचानक अट्टहास कर उठे। लोग अचकचाकर उनकी ओर देखने लगे। लेकिन उनका अट्टहास रुकने का नाम ही न ले रहा था। और फिर लोगों को भी जाने क्या हुआ कि वे भी हँसने लगे।

साँस फूल गयी और खाँसी ने जब ज़ोर मारा, तो राजा साहब रुके। फिर देर तक खाँसते रहे। रुमाल से मुँह, नाक, आँखें पोंछीं। फिर बोले—साहब, माफ़ कीजिएगा, आपके साथ हमारी पूरी हमदर्दी है। हँसी आने की वजह दूसरी थी।

—क्या वजह थी, साहब?—कई लोग बोल पड़े।

—इनकी बात सुनकर हमें अपनी एक नौकरानी की याद आ गयी। आप लोग चाहें तो सुनाऊँ, बड़ी दिलचस्प बात है।

—ज़रूर-ज़रूर सुनाइए, साहब !—सब चीख पड़े।

और राजा साहब ने कहानी शुरू की—हम दो भाई हैं, मैं बड़ा हूँ। मैं बीस भी पूरे नहीं कर पाया था कि अचानक पिताजी का देहान्त हो गया। उस समय मैं कालेज में पढ़ रहा था। हमारे कारिन्दा एक मुंशीजी थे। बड़े ही विश्वासपात्र और स्वामीभक्त। उनकी राय थी कि मैं पढ़ना जारी रखूँ, वह सब सँभाल लेंगे। लेकिन माताजी इसके विरुद्ध थीं। उनका कहना था कि पढ़कर क्या होगा, मैं जमींदारी सँभालूँ। जमाना बड़ा ख़राब लगा है। किसका मन कब डोल जायगा, कौन जानता है। सो पढ़ाई छोड़कर मैं ज़मींदारी सँभालने लगा। फिर बड़ी धूम-धाम से मेरी शादी हुई। छोटा भाई मेरा बड़ा प्यारा था। उसे मैंने एम० ए० तक पढ़ाया। फिर विदेश भेजनेवाला था। लेकिन तभी उसके साथ एक कांड हो गया। इम्तिहान देकर वह घर आया था। रिश्ते में एक शादी पड़ी थी। वह नवेद पर गया, तो वहाँ बारात में नाचने आने वाली बनारस की एक मशहूर तवायफ़ पर दिल दे बैठा। बहुत दिनों के बाद जब हमें मालूम हुआ, तो हमने सिर पीट लिया। माताजी, मुंशीजी और हमने उसे बहुत समझाया कि वह खान्दान की नाक न कटाये, अपनी ज़िन्दगी बरबाद न करे। लेकिन तब तक पानी सिर से गुज़र चुका था। उसने किसी की बात पर कान न दिया। पन्द्रह दिन गाँव, तो पन्द्रह दिन बनारस में उसका बीतता। तब माताजी ने उसकी शादी कर देने की ठान ली। पहले तो वह साफ़ इन्कार कर गया। फिर इस शर्त पर मान गया कि वह तवायफ को रखेल बनाकर रख सकता है। माताजी से राय हुई, तो उन्होंने कहा, खान्दान और दान-दहेज का ख़्याल छोड़, बस इसकी कोशिश कर कि लड़की ऐसी सुन्दर मिल जाय कि यह तवायफ़ का जादू भूल जाय। मैंने खुद इसमें गहरी दिलचस्पी ली। भाई की ज़िन्दगी का सवाल था। बीसियों लड़कियाँ मैंने देखीं। और आखिर लड़की तो मिल गयी, लेकिन खान्दान न मिला। फिर खूब धूमधाम से शादी हुई। और जैसा हमने सोचा था, भाई तवायफ को भूल गया। इस उम्र की मुहब्बत !—और राजा साहब फिर अट्टहास कर उठे।

लोगों ने भी मूर्खों की तरह हँसने में उनका साथ दिया।

एक बोला—लेकिन आप तो कहानी किसी नौकरानी की कहनेवाले थे। यह....

—आता हूँ, भई, आता हूँ—राजा साहब ने आँखें पोंछकर कहा—पहले कहानी की बुनियाद तो समझ लें। हाँ, हम कामयाब तो हो गये, लेकिन इससे एक बात और भी पैदा हो गयी, और इसी बात ने हमारे खान्दान की जड़ खोदकर रख दी। उसकी बीबी साधारण ख़ानदान से आयी थी। वह मेरी बीबी से जलने लगी। या यों भी कह सकते हैं कि मेरी बीबी अपनी देवरानी को वह मान न

दे सकी, जिसकी वह अधिकारिणी थी, क्योंकि उसका खानदान उससे कहीं ऊँचा था। अब क्या था, घर में वह टंटा शुरू हुआ कि आखिर हममें अलग्योझा होकर रहा। माताजी बहुत दुखी हुईं। मुझे भी कम दुख न था। लेकिन दूसरा कोई चारा न था। अब सवाल उठा कि माताजी किसके साथ रहेंगी? वह हम दोनों को बराबर मानती थीं, फिर भी मैंने सोचा था कि वह हमारे साथ ही रहेंगी। कई दिनों तक वह चिन्ता में पड़ी रहीं। आखिर उन्होंने एक दिन फैसला सुना दिया कि वह दोनों के साथ रहेंगी, यानी किसी के साथ नहीं रहेंगी। उनका हिस्सा भी अलग कर दिया जाय। अलग्योझे का एक दिन मुकर्रर किया गया। नाना और हम दोनों के ससुर बुलाये गये। उन्होंने जो फैसला कर दिया, हमने मान लिया। तीन किता मकान थे, एक-एक हम लोगों को मिल गया। दीवान एक ही था, तै हुआ कि वह सबका साझा रहे। जायदाद बराबर-बराबर बाँट दी गयी। जेवरात जो जिसके शरीर पर थे, बहाल रखे गये। नकदी का सवाल उठा, तो माताजी ने कहा कि जब तक वह जीवित हैं, वह उन्हीं के पास रहेगी। मरते वक्त वह उसका बाँट-बखरा लगा देंगी। यह हमें मान्य न था, लेकिन हमारे बुजुर्गों ने जब समझाया कि वह विधवा हैं, उनकी बात न मानी जायगी, तो जग हँसेगा; आखिर वह क्या करेंगी रुपयों का, सब तुम्हीं लोगों का तो है, माँ से रार बेसहना अच्छा नहीं, तो हम मान गये।

—चार साल तक सब ठीक-ठाक चलता रहा, मुन्शीजी माताजी की जायदाद सँभालते थे, उनका कोई खर्च न था, बस, रहतीं वह अपने मकान में थीं, खाना एक वक्त हमारे यहाँ खातीं, तो दूसरे वक्त भाई के यहाँ। कपड़े भी हमीं देते, उनके पास सिर्फ एक नौकरानी थी, वही उनका सारा काम सँभालती, माता जी अधिकतर अपना समय पूजा-पाठ में बितातीं, कोई-न-कोई धार्मिक अनुष्ठान वह बराबर नाँधे रहतीं। हम दोनों भाई अपनी-अपनी तरह उन्हें खुश रखने की कोशिश करते।

—जेठ का महीना था। एक दिन आधी रात के समय माताजी की नौकरानी ने हम सब को जगाया। वह बहुत घबरायी हुई थी। उसने बताया कि माताजी ने उठकर पानी माँगा। वह पानी लेकर गयी, तो देखा, वह फिर लेट गयी थीं। उसने आवाज़ दी, तो कोई जवाब नहीं। बस, हफर-हफर हाँफ रही थीं। उसका माथा ठनका, उसने मुँह टटोलकर देखा, तो दाँत लगे हुए थे। और वह भागी-भागी हमारे पास आयी, हमने जाकर देखा, तो माताजी बेहोश पड़ी थीं। कई बार पानी छिड़कने पर उन्होंने आँखें खोलीं, लेकिन फिर तुरन्त ही डूब गयीं। ऐसे ही रात बीत गई। सुबह कस्बे के अस्पताल का डाक्टर बुलाया गया। दवा उनके मुँह में जा ही नहीं रही थी। सुई की दवा के लिए आदमी

शहर दौड़ाया गया। पुरोहितजी ने ग्रह बताया। गोदान कराकर वह दुर्गापाठ करने लगे। और भिखारियों को अन्न-वस्त्र दान किया जाने लगा।

—ठीक चौबीस घन्टों के बाद वह होश में आयीं। डाक्टर ने बताया कि इनका दिल कमज़ोर है। हमें बराबर सावधान रहना चाहिए। मैं अलग से डाक्टर से मिला, तो उसने बताया, यह बड़ी मूज़ी बीमारी है। जाने कब दौरा आये और वह चल बसें।

—भाई शायद उनसे अलग से मिला था। दानिशमन्दों के लिए इशारा काफ़ी है। आप लोग समझ गये होंगे कि अब हम दोनों भाई अपना-अपना दाँव खेलने लगे। माताजी के पास बड़ी गहरी रकम थी। सारा पैतृक कोष उनके कब्जे में था। और अब हमारे दिलों में पाप बैठ गया था।

—मैंने दूसरे ही दिन अपनी एक बूढ़ी नौकरानी को माताजी के पास तैनात कर दिया। यह सबसे अधिक चालाक और विश्वासपात्र नौकरानी थी। उसे मैंने अच्छी तरह समझा दिया था कि उसके दो काम हैं, एक तो यह कि वह पता लगाये कि रकम कहाँ है, और दूसरा यह कि माताजी को कुछ ऐसा-वैसा हो, तो सबसे पहले मुझे खबर मिले।....तीसरे दिन यह देखा गया कि भाई की भी एक नौकरानी माताजी के पास रहने लगी।

—माताजी अब बहुत कम चलती-फिरतीं। रात-दिन अपने पलंग पर पड़ी रहतीं। यह पलंग उन्हें दहेज में मिला था। बहुत बड़ा और बड़ा शानदार। उस पर चार गावतकिये और आठ छोटे-छोटे रेशमी रुई के तकिये रहते थे। तीन महीने के बाद उन्हें फिर दौरा आया. अबकी छत्तीस घंटे वह बेहोश रहीं।

—और दो महीने बाद जो फिर दौरा आया, तो माताजी हमेशा के लिए हमें छोड़ गयीं, सुबह भाई के घर रोने-धोने की आवाज सुनकर हमारी आँखें खुलीं। बात जब मालूम हुई, तो मुझे पहला धक्का यह लगा कि हमारी नौकरानी को क्या हुआ, उसने हमें खबर क्यों न दी? भागम-भाग पहुँचा, तो देखा, माताजी अपने शयन-कक्ष में पलंग पर निष्प्राण पड़ी थीं और हमारी नौकरानी फर्श पर बैठी सिसक रही थी, मारे गुस्से के मैं जल रहा था, चीख-कर बोला, भगतिनिया, तूने हमें खबर क्यों नहीं दी।

—वह बिलखकर रो पड़ी और हाय-हाय करती बोली—हमका करती, सरकार? छोटे बाबू हमार हाथ-गोड़ बाँध के, मुँह में लुग्गा ठूँस देले रहलन। सब माल-टाल लोग ढो चुकल, तब जाके अभी थोड़े देर पहले हमके छोड़ल है लोग....और उसने चारों ओर देखकर ऐसी आँख मारी, कि मैं तो दंग रह गया। फिर उठकर खड़ी हुई और मेरे कान में फुसफुसाकर जो कहा, उससे मैं मान गया। फिर भी गुस्सा बनाये रखना जरूरी समझ बाहर निकल मैं चिल्लाने

लगा, बहुत अच्छा किया, इन्दर, बहुत अच्छा किया! तुम्हें हमने बेटे की तरह पाला, और तुमने हमारा ही हक मार लिया!

—लोगों की भीड़ जमा हो गयी, माताजी के घर में उनके पलंग, बिस्तर और तकियों के सिवा कुछ भी नहीं था। मैं कहता था कि इन्दर सब उठा ले गया और इन्दर कहता था कि भैया सब उठा ले गये, उसे तो सुबह ही मालूम हुआ है, भगतिनिया की बात पर कोई विश्वास नहीं कर रहा था। मैं भी उसे डाँट रहा था, यह नमकहराम बैठी-बैठी ताकती रही और इन्दर सब माल-मता उठा ले गया और मैंने उस बूढ़ी को तीन-चार झापड़ भी रसीद कर दिये और उसी वक्त उसे ढकेलकर घर से बाहर भी कर दिया। वह चकित होकर मेरी ओर ताक रही थी। मैंने सोचा था बाद में उसे समझा दूंगा कि मसलहत इसी में थी।

—सारे गाँव में थू-थू हो रहा था कि माँ की लाश घर में पड़ी है और बेटे माल-मता के लिए कुत्तों की तरह झगड़ रहे हैं। आखिर मैंने ही सब किया और सब प्रबन्ध करने में लग गया।

—अर्थी बाहर निकाली गयी, तो तकिये मैंने अपने घर भिजवा दिये।

—श्मशान से लौटकर आये, तो सुना कि भगतिनिया ने जाने क्या खा लिया है। उसकी हालत बहुत खराब है, मैं अशौच में था, फिर भी लपककर उसके पास गया कि कहीं मेरी बात उसे लग न गयी हो, वह मरणासन्न पड़ी थी। लोगों ने कहा कि राजा साहब आये हैं, तो उसने आँखें खोलीं और आँसू भरकर बस इतना कहा, सरकार, हम नमकहराम नहीं....और आँखें मूँद लीं। आँसू की लकीरें उसके पिचके, नीले पड़े गालों पर खिच गयीं। उतने लोगों के सामने मैं उसे कैसे समझाता कि, नहीं, वह नमकहराम नहीं, उस वक्त की यही मसलहत थी....और वह मर गयी।

—मर गयी?—महफिल चीख उठी।

—हाँ,—धीरे से राजा साहब बोले—उसे मेरी बात ने मार डाला। वह नमकहराम नहीं, नमकहलाल थी। उसकी बात सच निकली थी। माताजी के तकियों में ही उनके सारे जेवरात, मोहरें और नोटों के गड्डे थे।

—ओह—लोगों के मुँह से निकल गया, और जाने कैसी नज़रों से राजा साहब की ओर देखते लोग उठ खड़े हुए।

राजा साहब कहते रहे, बैठिए, साहब, बैठिए, लेकिन कोई रुका नहीं। महफिल उखड़ गयी। फाटक से लोगों के खँखारने और थूकने की आवाज़ें आयीं।

दूसरे दिन दफ्तरों में राजा साहब की ही बातें होती रहीं, कैसा आदमी है। राम-राम!

और फिर शामें बेरौनक हो गयीं। तश्तरी में पड़े पान सूखते रहते हैं। कोई आता नहीं।

यह दूसरी बार महफिल उजड़ी थी, गाँव की और फिर यह शहर की। अब!

राजा साहब अब भी सुबह फाटक पर दो पत्थर के शेरों के बीच टहला करते हैं, लोग आते हैं, जाते हैं, लेकिन उनसे आँखें नहीं मिलाते, उनकी आँखें इस या उस पत्थर के शेर पर अटकी रहती हैं।

★

माई

मार्कण्डेय

★

'बचवा यह कूनी, इस समय कैसा सीधा-साधा बन कर बैठा है, जैसे यह तो बेचारा कुछ जानता ही नहीं, मैं पास बैठी हूँ न !' माई मिट्टी की खाभी में मथानी चलाती, हँसती हुई कह रही थीं; एक तुम भी लड़के थे कि बुरी जबान कभी किसी ने मुँह से नहीं सुनी, ये सब तो इतने पाजी हैं कि जहाँ घर की बाहरी दुवार के पास पहुँचेंगे, हाथ से बाहर हो जाएँगे।'

रज्जू वहीं बाँस के नन्हें-से खटोले पर बैठा, फूल के कटोरे में दूध और धान का लावा खाता, कूनी को देख कर मुस्करा रहा था। 'नहीं माई, यह तो बेचारा बड़ा सीधा है। यह छोटे साहब बहुत शरारती हैं, मैंने कहा, 'भैया मेरे सिर के पके बाल निकालो। एक पैसे फी बाल के हिसाब से तुम्हें पैसे मिल जाएँगे, तो एक बाल उखाड़ लिया और उसे मुझे दिखा कर कहने लगे, 'यह फेंक दे रहा हूँ।' और फिर उसी को बीस बार दिखा कर कहते हैं, बीस पैसा हो गया भइया !'

छोटा रबी बड़े भाई की बात सुन कर माई के पास से उठा और रज्जू की पीठ से जा लगा, 'पाँच आने हो गये हैं भइया, बहकाओ नहीं।'

दूसरा बीरु माई का रज्जू से छोटा लड़का, उसी खटोले के पैताने चुपचाप बैठा, किसी कारण नाराज़ है। माई मथानी चलाते हुए बार-बार उसे देख लेती और बात करने लगतीं। कूनी आँखें टेढ़ी करके देखता और लगातार हँसता पर हँसने की कोई आवाज़ सुनाई न देती। माई उसके ऊपर इस समय इसलिए बिगड़ी थी कि उसने चाची की छोटी लड़की को घर में घुसते ही एक थाप लगा दी थी और लड़की का बेसुरा अलाप और उसकी माँ की तानों भरी गरगराहट-सी आवाज़ अब भी कोठे पर आ रही थी। 'बहुत अच्छे लड़िका हैं तो क्या किसी को कुछ दे देंगे क्या ? जब होगा, ठुनकियाते चलेंगे, वह भी तो अपनी माई की कोख से ही जनमी है, कोई परती-परेल में से तो आयी नहीं। माई का करेजा तो एक ही है न, उन लोगों को तो कोई छू भी ले तो बाघ की तरह खाने दौड़ती हैं....'

इस आवाज़ की उठान के साथ-साथ माई का गुस्सा थर्मामीटर के पारे की

रहे हैं पर माई के बिगड़ते हुए रुख को देख कर, उसे होठों पर उतरने नहीं। दे रहे हैं पर बीरु के माथे पर सिकन आती जा रही है और माई के क्रोध के साथ ही उसका क्रोध भी बढ़ता जा रहा है। अंत में उससे नहीं रहा जाता और घूम कर कूनी को आग्नेय दृष्टि से देखता है, तो जैसे पाला मार गया हो कूनी को। सहसा वातावरण भारी हो गया। नीचे का शोर भी मंद हो गया—बस माई की मथानी की एक निश्चित ताल पर चलने की आवाज़ सुनाई पड़ रही है। रबी माई के आँचल में धँसा टुकुर टुकुर ताक रहा है।

'इस घर का यही हाल समझो।' कहते-कहते माई के चेहरे की रेखाएँ एकाएक और भी गहरी हो गयीं और उनके नन्हें-से, सुहाने मुखड़े पर वार्धक्य की परछाइयाँ मुखर हो आयीं। रज्जू को याद आ गया। जब माई कभी-कभी काम से छुट्टी पा कर कटोरे में तिल्ली का तेल और कंघी ले कर अपने बालों को ठीक करती, उठती, आँचल फैला कर आजी के पाँव लगती, फिर कभी-कभी अपने हाथ-पाँव निहारने लगती।---आजकल की बहुरियों को देखो न भइया, आज आयीं नहीं कि गाल पिचक गये....दो दिन चौका-बरतन करने में हाथ-पाँव करकरा कर फट जाते हैं। नहीं तो बारह बरस हो गये इस घर में उतरे, पल भर को चैन नहीं मिला होगा। हिल्ला-किच्चा एक भी न बराया होगा।---और वे अपना हाथ आगे फैला देती! कभी काले घुघराले बालों में कंघी चलाना मुश्किल होता था और आज!—रज्जू भाई के सिर की ओर देखने लगा था। उन्होंने धोती थोड़ी आगे खींच ली, उनके सफेद बाल छिप गये। बीरु बिना बोले एकाएक उठा तो सामने की खुरदरी मुड़ेर पर सोन्हाने के लिए रखी खाभी उसके हाथ से टकरा कर फर्श पर गिरी और पक्क् से फूट गयी। छाजन पर आँख गड़ाये बैठा कौवा काँव-काँव करके उड़ा और चारपाई के नीचे गुड़मुड़ाई बिल्ली उठ खड़ी हुई। फिर आगे-पीछे के पाँवों को फैला कर देह तोड़ती हुई, धीरे-धीरे दूध के घर की ओर जाने लगी। बीरु ने जीने के पास ठिठक कर उसकी ओर देखा और वहीं से कड़क कर बोला, 'कहाँ?' बिल्ली को जैसे बिजली की करेन्ट छू गयी हो जान ले कर छत की ओर भागी और बिना कुछ बोले वह धीरे-धीरे नीचे उतर गया, लेकिन माई के चेहरे पर एक दबी हँसी उभर आयी। जो केवल हँसी नहीं थी, बल्कि अपने पीछे कोई बड़ा प्रसंग लिए हुए थी। उन्होंने पीछे घूम कर देखा और दबी जबान में कहने लगी, 'बिलार राम की जान सूख गयी बचवा! उसे देखते ही सिर पर पाँव रख कर भाग खड़ी होती है।' रज्जू भी मुस्करा पड़ा, निश्चय ही इसमें माई का समर्थन था पर कूनी की हँसी में खुराफात थी—माई की आलोचना थी, लेकिन रज्जू उसे कुछ कह नहीं पा रहा था। उनका चेहरा फिर बिगड़ने लगा और कूनी अपनी जगह से धीरे-धीरे उठने लगा। सहसा रज्जू का ध्यान माई के हाथों की ओर गया ही था कि

नौ-दो-ग्यारह और बाहर के दरवाज़े के पास पहुँच कर उसकी हँसी का फव्वारा फूट पड़ा। सारे घर में उसकी छल् छल् ध्वनि गूँज गयी फिर वह देर तक वहीं खड़ा हँसता रहा और माई किटकिटा कर अपना गुस्सा व्यक्त करती रही। पहले तो रज्जू को भी उसकी इस बेमानी हँसी पर हँसी आयी पर माई का रुख देख कर उसने अपना रुख भी बदल लिया और गुस्से में कूनी की ओर देखा तो वह चुप हो कर धीरे-धीरे बाहर चला गया।

नीचे आँगन में कोई छोटा लड़का बार-बार तम्बाखू के लिए आवाज़ दे रहा था और रसोई के काम में लगी हुई उसकी माँ उसे झिड़कती जा रही थी। चरवाहा अपने जानवर थान पर से छटका कर दोपहर का दाना माँगने आया था और बार-बार इस बात का हवाला दे रहा था कि अगर जानवर किसी के खेत में चले गये तो बाबू हमीं को पीटेंगे। तुलसी के चौरे के पास रोटी-गुड़ खाती नन्हीं बच्ची के हाथ से गाँव की कोई चोट्टिन कुतिया रोटी का टुकड़ा छीन ले गयी थी और वह गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रही थी। सयानी राधा वहीं एक ओर खटोले की पाटी पकड़े स्थितप्रज्ञ-सी बैठी थी और बीच-बीच में इधर-उधर आँख उठा कर देख लेती थी और बड़ी ही मधुर आवाज़ में किसी को उत्तर दे देती थी।

रबी अब भी माई की गोद में उसी तरह बैठा था। कभी रज्जू भी माई की गोद में इसी तरह बैठा करता था—घंटों, जैसे वही उसका माया लोक हो। आज रज्जू को वह सब याद आ रहा था। माई के बीसवें-बाइसवें में रज्जू उस परिवार में सूर्य की तरह उदित हुआ था,—माई के कहने का भाव यही होता था कि हमारे कुल-परिवार, गाँव-जवार में सूरज की रोशनी फैल गयी थी और धूप की भाव-भरी गर्मी की खुशियों में मनोहर फूल खिल उठे थे। माई यह भी बताती थीं कि परिवार के पुश्तैनी दुश्मन अपनी भेंट साथ-साथ ले कर रज्जू के बाबा को बधाई देने आये थे, सूरजभान सिंह का वर्णन करते हुए माई की आँखों में तारे चमकने लगते थे। सफेद कलारास घोड़े पर मुरेठा बाँध कर बरही के दिन आये तो बाबा ने खटिया से उठ कर उनका स्वागत किया था। साथ में दस सेर जूनी दूध देने वाली पहिलाँ गाय, दो नौकरों के सिर पर बतासे का रँगा हुआ कुंडा और एक्यावन रुपया बच्चे की मुँह देखाई! और था भी रज्जू माई के लिए वैसा ही, एक पुत्र नहीं—सौभाग्य का दिया हुआ चरम-आनन्द का एक भाव। पहले तो वह समझ ही नहीं पा रही थी कि वह अपने आँचल में इस भाव को कैसे छिपाये पर धीरे-धीरे उसे बोध होता गया।

—वह कहीं काम कर रही होती और एकाएक आँधी का झोंका आता तो विशालकाय बाबा के पैरों की नसें दहलीज़ में चटख जातीं और आँगन में

आ कर उनकी हुक्की पुड़कने लगती, 'दुलहिन बचऊआ को आड़ में कर लो, आँधी आ रही है, और क्षण ही भर बाद उनके छोटे भाई भी जल्दी-जल्दी घर में घुसते, जैसे कोई महान आपत्ति आ रही हो, 'कहाँ है भइया, जल्दी आड़ में करो, और माई का हाथ-पाँव बँध जाता था। वह तो अब भी उन बातों का वर्णन करते-करते पसीने-पसीने हो जाती थी—रज्जू सोचता जा रहा था और नीचे का शोर कानों को छेद डालने की स्थिति में पहुँच गया था। माई ने हाथ की मथानी, दही की कमोरी में छोड़ दी और अपना दीर्घ-मौन ताड़ते हुए कहने लगीं, 'अब देखो यही भइया ! न उठूँ तो किसी को पानी न मिले। चार-चार जन हैं नीचे, लेकिन कोई उठ नहीं सकता। अभी घर के मन्सेधू गरजते हुए आएँगे तो हमी को दोसी कहेंगे। ऊपर से इन लड़कों की झिक-झिक, सोचती हूँ कुछ दिनों के लिए कहीं चली जाऊँ तो देखूँ कैसे चलता है इन लोगों का काम।'

रज्जू माँ को खूब पहचानता है, 'नहीं माई तुम्हारे जाने से तो सारा काम ही बिगड़ जाएगा। किसी को कोई पूछने वाला होगा, यहाँ।' उसने हाथ का कटोरा ज़मीन पर रखते हुए कहा और रवी को पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया, 'माई शहर में रवी की बड़ी याद आती है।'

'तुममें-इसमें कोई अंतर नहीं है बचवा ! सच कहूँ....' जैसे माई बड़े जतन से मन का भार उतार देना चाहती हों, 'उन दोनों को तो मतारी-बाप का धियान ही नहीं रहता। रोज-न-रोज एक झगड़ा रोपे रहेंगे। मुदा ये हमरे मुन्ना....!' कह कर, माई ने रवी का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा तो रवी शरमा कर उसके पैरों में छिप गया। रज्जू सोचने लगा,—चार ही बरस पहले की बात है, जब मैं छुट्टियों में घर लौटता और कभी माई के आँचल में मुँह डाल कर दूध पीने का दिखावा करता तो रवी जहाँ भी होता तेज़ी से माई की ओर भागता और हाथ में जो भी होता चला देता। वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती और उसे अपने सीने में छिपा लेती....

लेकिन माई अपनी बात कहती जा रही थी, 'जब कभी काम-धंधा से थक कर किसी खटोले पर पड़ जाती हूँ और एक बार भी मुँह से कराहने की आवाज निकल जाती है तो बचवा इस तरह मेरी देह दबाता है कि आतमा सीतल हो जाती है। 'कहाँ दरद है माई, यहाँ ?' इन्हीं नन्हें-नन्हें हाथों से छू कर ऐसे पूछता है, कि सारी दुनियाँ का सुख-सोहाग छोटा लगने लगने लगता है।'

रवी शरमा कर उछल रहा है कि किसी तरह माँ का मुँह छू पाता तो उस पर हाथ रख कर उसे बन्द कर देता। पर माई ?....माई का मुँह कौन बन्द कर सकता है....? आसमान भी तो उससे छोटा है—ठीक रवी के बराबर और रज्जू का रोम-रोम पुलकित हो जाता है। वह सोचने लगता है कि क्या

सचमुच वह माँ को इतना प्यारा है ? इससे बढ़ कर दूसरी सफलता उसके जीवन की क्या हो सकती है कि हर अच्छे समय माई को उसकी अच्छाइयों की याद हो आती है और हर बुरे समय में माई उसकी कमी महसूस करने लगती है। शायद वही इतना प्यारा है। लोग कहते भी हैं कि पहला बच्चा माँ-बाप को बड़ा प्यारा होता है। लेकिन माई फिर बीच में बोल उठती है और उसका ध्यान टूट जाता है। सूरज खपरैल की सतह पर चढ़ आया है, धूप रेंग कर माई की दही की कमोरी के पास पड़ने लगी है, इसलिए वे उसे धीरे-धीरे छाया में सरकाती जा रही हैं।

'अब तो अन्न-पानी की कमी नहीं रहती बचवा! पशु-परानी सब मजे में हैं। दो साल का पुराना चाऊर अब खाया जा रहा है। नहीं तो वे कितने कुदिन थे! जोन्हरी की लिट्टी खानी पड़ती थी, सारी बरसात। तिस पर भी दिन दिन नहीं मालूम पड़ता था....नहीं तो जो हमरे जनमें हैं न....'

माई ने इधर-उधर देखा, जैसे इस बात को सबसे छिपा कर कहना चाहती हों।

'कौन माई ?' रज्जू को विस्मय हो रहा था, 'कूनी ?'

'नहीं बचवा बीरू....' वे कहते-कहते रुक गयी, क्योंकि बुढ़िया आजी अपनी कटोरी लिए कहरती हुई आयीं और नन्हीं पमील के लिए दूध माँगने लगीं।

माई दूध दे ही रही थी कि आजी ने कहा, 'आज बतकही ही होगी कि काम-धन्धा भी कुछ देखा जाएगा। नीचे मजूर रस-दाना के लिए बैठे हैं। बचवा लोग खेतार से लौटने ही वाले हैं।'

उसी समय रज्जू के चाचा ने नीचे से आवाज़ दी और माई मट्ठे की कमोरी लिए नीचे उतर गयी।

रज्जू जाड़े की छुट्टियों में घर लौट रहा है। बनारस कचहरी से चलने वाली लारी अपनी गति के लिए शायद संसार की सबसे धीरे चलने वाली सवारी मानी जाए और ऊपर से भीड़ का यह हाल कि एक के सिर पर दूसरा। सारी लारी में कोहराम मचा हुआ है, पर ड्राइवर की अपनी मस्ती....मुर्दहा की हौली पर उतर कर दो कुल्हड़ गले के नीचे उतार भी चुका है। लोग चीखते हैं, चिल्लाते हैं, पर मिठाई वाली गली की मनिहारिन का मुँह देखे बिना कैसे चले ड्राइवर। रज्जू सब जानता है और उसके होने से ड्राइवर संकोच में भी बहुत है, इसलिए चुपचाप बैठा है। आँखों में रह-रह कर माई की शक्ल उतरा आती है।—पूस-माघ की ठारी, शाम ही से लोग कुहरे को लपेट में आ गये हैं पर माई बार-बार रज्जू की फिकर में है।—कहाँ गया है....? अभी तो बाल ठीक किये हैं, कहीं धूल माटी भर लाया तो और भी झंझट होगी, कब पूरा होगा पाँच और उसकी मुंडन होगी।—रज्जू सिसकता हुआ लौटता

है, आँखें लाल हो गयी हैं, गाँव के लड़कों ने धूल डाल दी है बाल में, पर दया नहीं आयी माई को....गये ही क्यों तुम, मना किया था न....! और हर्-हर् पानी की धार! रज्जू चीखने लगता है। बाबा की हुक्की आँगन में बोलने लगती है। चाचा गाल बजाने लगते हैं। पर माई का क्रोध! —रज्जू सोचता जा रहा है।....पर तुरन्त ज़ार-ज़ार आँसू, आग की गरमाहट और माई की छोहभरी गोद....रज्जू डूब गया है।—ऐसे ही कितने खयाल उसे बहाये लिए जा रहे हैं....धान की भूसी की आग माई को पसन्द है पर उसमें आग पकड़ाने के लिए पतली-पतली सूखी लकड़ी मिल जाए तो माई बड़ी खुश होती है। रज्जू रोज़ लकड़ी जुटा लेता है और माई उसे देख कर फूली नहीं समाती। आज यही सब तो याद करती है, वह।

—'इसी गाँव के लड़के हैं ये मइया, मतारी-बाप का जवाब देते हैं। सड़्-सड़् गाली मुँह से निकल आती है पर एक बचवा भी इसी गाँव में थे कि किसी नीच-ऊँच जाति ने बदजबान भी न सुनी होगी, मुँह से। अगर कभी डाँट कर कह दिया होगा कि उस रास्ते न जाओ तो बचवा वह रास्ता भूल गये होंगे। —यही सब याद करता रज्जू घर पहुँचा तो दूर ही से चाचा के ज़ोर-ज़ोर से बिगड़ने की आवाज़ सुनाई दी, 'साले को पकड़ लाओ तो अज मार ही डालेंगे।'

घर पहुँचने पर उसे पता लगा कि किसी मुराई ने उनसे यह कह दिया कि बीरू ने उसका भाँटा तोड़ा है और साथ ही एक उखाड़ा हुआ बैगन का पौदा भी चाचा को ला दिखाया। चाचा इसे अपने घर के आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझते थे और उन्होंने उसी बैगन के पेड़ से बीरू को बहुत पीट दिया। लेकिन उसी समय उन्हें पता लगा कि बीरू ने यह काम नहीं किया था, वह तो चुपचाप चला जा रहा था। गाँव के किसी दूसरे लड़के ने भाँटा तोड़ा तो बीरू ने उसे डाँटा भी था। पर चूँकि बीरू एक नामधारी घर का लड़का है, इस लिए मुराई ने उसी के नाम से रपट कर दी। चाचा का पश्चाताप गहरा था, और इसी क्रोध में वे मुराई को पकड़ लाने के लिए आदमी भेज कर गरज रहे थे।

रज्जू घर में गया तो बीरू सीने से तकिया लगाये चुपचाप एकटक दीवार की ओर देखता लेटा है। और माई भादों के भरे-भरे, कजरारे मेघ की तरह अपने कामों में लगी घूम रही है। रज्जू ने पैर छुआ तो रुकीं, फिर जैसे मशीन की तरह चलने लगीं और बीरू बिना नमस्कार किए ही उठ कर तेज़ी से बाहर चला गया।

अँधेरा गहरा था और कुहरे की ओछाँह ने उसे और भी गाढ़ा बना दिया था। कूनी बिना कुछ ओढ़े ही चुपचाप चारपाई के पायताने बैठा था और रबी

रह-रह कर सबका मुँह ताक रहा था। कोई तो कुछ कहे...पर नहीं, तो नहीं। लोग रज्जू को जानते हैं, लोग उसकी माँ को जानते हैं। दोनों को साथ क्रोध आ जाए तो इस घर की नींव खुद जाए। इस घर की दीवारें हिल जाएँ। इसलिए सब चुप हैं और इसी चुप्पी में रात बीत जाती है। कौन कहाँ सोया, इसका पता नहीं। पर बीरू ने बड़ी रात को दरवाज़ा भड़भड़ाया तो रज्जू की नींद खुली पर माई तो अभी बोरसी लिए चुपचाप दरवाज़े पर बैठी हुई थी।

सबेरे पता लगा कि उस मुराई के पूरे खेत के भाँटे के पौधे उखाड़ कर एक मेंड़ पर इस तरह रखे मिले जैसे उन्हें बेकार समझ कर मुराई ने स्वयं उखाड़ दिया हो। एक अजीब-सी सनसनीखेज़ बात थी पर मुराई कहीं जा भी नहीं पा रहा था और बीरू स्कूल जाने की तैयारी आज तड़के ही करने लगा था। गाँव के उसके साथी भी उसके घर ही आ गये थे। कूनी रह-रह कर मुस्कराता था पर रबी अब भी सब का मुँह देख रहा था।

दोपहर को खाना-पीना हो जाने पर माई रज्जू के पास बैठी तो एक साथ ही बीरू की बातें करती चली गयी।

'कूनी को डाँट देती हूँ तो वह डर भी जाता है और खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता सब का ध्यान रखता है, बचवा! एक-से-एक कड़ो-कड़ी बात कह देती हूँ, कभी-कभी तो मार भी देती हूँ पर बीरू तो अब हाथ के बाहर होता जा रहा है। समझ नहीं पाती हूँ कि क्या करूँ। डर-भीर तो रह ही नहीं गयी है किसी की, उसके मन में। खाना-पीना छोड़ देगा तो क्या मजाल जो किसी के कहने से माने। कभी-कभी तो दो-दो दिन दोनों जन उपवास करते रह जाते हैं। न वह खाएगा, न मैं। एक दिन तो ऐसे ही किसी बात पर नाराज़ हो कर कोठे पर जा बैठा और हथौड़ी ले कर धीरे-धीरे सारे बक्सों की कुंडी तोड़ डाली। एक दिन सारे अनाज के मिट्टी के बरतन तोड़ डाले। तीन-चार दिन की बात है कि बुढ़ऊ सागर के पिल्ले को ईंट का छोटा-सा टुकड़ा उठा कर ऐसा मार दिया कि बेचारा उसी जगह टें बोल गया। एक दिन गुलेल से एक तोता मार लाया था। यहीं बैठे-बैठे कौवे की आँख में निशाना लगा देगा और निशाना भी ऐसा कि चूकना नहीं जानता।'

रज्जू सुनता जा रहा था, चुपचाप। जाड़ों की उदास दोपहरी पश्चिम की ओर ढलती जा रही थी और माई बार-बार धूप की ओर निहार लेती थी—काम की बेला जो पास आ रही थी। रज्जू कुछ और ही सोच रहा था....कैसे यह सब आज कहती जा रही है माई? पिता जी ने इन्हीं बक्सों को देख कर कभी पूछा था तो माई ने कहा था कि, 'दुलहिन के नइहर से यह सब ऊँट पर लद कर आ रहा था, ऊँट के भड़क जाने से गिर कर टूट गया।' और जब मैंने पूछा था तो उन्होंने कोई दूसरी बात कह कर टाल दिया था।

बीरू की न खानेवाली बात को ले कर माई कभी-कभी अपना और उसका उपवास इस तरह छिपा जाती है जैसे दोनों ने पेट भर कर खाना खा लिया है। सिर्फ इसलिए न कि लोग सुनेंगे कि बीरू खाना नहीं खा रहा है तो उसे बुरा-भला कहेंगे। माई उसे मनाती भी है तो इस तरह धीरे-धीरे कि कहीं कोई सुन न ले। और अपने निश्छल आंसुओं से ही उसे समझा देना चाहती है कि बेटा तुम्हें इस तरह खाना छोड़ने पर लोग बुरा-भला कहते हैं, मुझसे सहा नहीं जाता....मैं झूठ बोल रही हूँ लोगों से। दो-दो दिन खाना न खाने पर जी तोड़ कर रात-दिन काम इस लिए किया करती हूँ कि कहीं कोई जान न जाए कि तुमने अभी तक नहीं खाया है....रज्जू भीतर से भरता गया था। माई का यह दुख उसके लिए असहनीय था पर वह आग से खेलना भी तो नहीं चाहता था, क्योंकि माई के क्रोध का उसे अन्दाज़ा था। बीरू को वह कभी भी कुछ न कहता पर उसका मन भीतर से बेहद दुखी रहने लगा था।

माई की आज की बातें सुन कर रज्जू के मन में यह बात स्थिर हो गयी थी कि वही माई का सबसे प्यारा लड़का है। उसी को माई सबसे ज़्यादा चाहती है। उसके इस साधारण से अहम् ने बीरू के प्रति उसके मन के क्रोध को और भी भड़का दिया पर वह लाख कोशिश करने पर भी इन दो चार दिन की छुट्टियों में कोई अवसर न पा सका और छुट्टियाँ समाप्त होते ही कालेज के लिए रवाना हो गया।

धीरे-धीरे बीरू का स्वास्थ्य गिरता गया और उसे कभी फिट् का, कभी साँस का दौरा होने लगा। उसी में वह बुरे लड़कों की सोहबत में बीड़ी भी पी लेता और बीच-बीच में खाना छोड़ना, झगड़ा करना, और जिद पर अड़ कर घर की चीज़ों का नुकसान करना भी उसने जारी रखा। नतीजा यह हुआ कि उसकी बीमारी बढ़ती गयी। माई रोती, लोगों से दवा के लिए कहती, पर एक भी आदमी उनकी बात को ध्यान से न सुनता। कभी-कभी तो वे मरने-जीने से लेकर एक-से-एक गंदी बातें बीरू को झुंझलाहट में कह जातीं।

'जब सबके सिर पर भार बन गया है तो मर क्यों नहीं जाता। नहीं तो इसी घर में किसी के सिर में दर्द होता है तो बइद-डाक्टर दौड़ने लगते हैं।' और माई फूट-फूट कर रोती और खाना न खाती।

रज्जू को यह सब कालेज में ही मालूम हो गया था, इसलिए वह चिट्ठी पाते ही भाग कर आ गया था और माई के साथ घर के उसी बारजे पर बैठा था। कूनी बार-बार आता और खटोली की पाटी पर बैठ जाता पर माई कोई-न-कोई काम बता कर उसे इधर-उधर रवाना कर देती। जैसे वे कोई बात उससे छिपाना चाहती हों और रवी रज्जू की पीठ पर लटका झूल रहा है।

भूरी बिल्ली उसी खटोले के नीचे सिकुड़ी बैठी है और कौवा बार-बार खपरैल के कलश पर अपनी चोंच पैनी कर रहा है।

'वैद्य ने मछली गोश्त खाने के लिए मना कर दिया था।' माई कहती जा रही है, 'वहीं दहलीज में कूनी गोस्त पका रहा था। मैं भी अपने काम-धन्धा में लगी थी। जाने कब बीरू घर में से बाहर गया और लौटती बार चूल्हे के पास जा कर खड़ा हो गया। कूनी चुपचाप बैठा था उससे कहने लगा, 'बन गया हो तो दो मुझे!' उसने मना किया, तो कहने लगा, 'देते हो कि डाल दें जूता इसमें'; कूनी ने फिर मना कर दिया और उसने पैर का जूता गोश्त के बरतन में डाल दिया....एक नहीं, एक गाड़ी बातें हैं बचवा! मैं क्या-क्या बताऊँ....'

'मैंने सुना है कि बीड़ी-सिगरेट भी पीने लगा है।' रज्जू ने तनिक बड़ाई से कहा तो माई के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

'ना ना बचवा, जानते नहीं इन लोगों को। जिसके पीछे न पड़ जाएँ।' पर झूठ बोलने की छाया उनके चेहरे पर साफ मँडराने लगी थी और रज्जू अपनी बात दोहराता जा रहा था। जैसे माई का इतना कह देना काफ़ी न हो। इसी बीच नीचे से शोर उठने लगा। चाची की बच्ची बेतहाशा चीखने लगी थी और वे उसे अंधाधुन्ध पीटती जा रही थीं। आजी उन्हें मना करने के लिए अपने घर से उठ कर गालियाँ बकती हुई चल पड़ी थीं। कूनी किसी बात पर ठहाका मार कर हँस रहा था। तभी ज़ोरों से भड़ की आवाज़ हुई और माई उठ खड़ी हुई। रबी चीख पड़ा, 'ओहो, भइया ने पानी का बड़ा वाला मिट्टी का कुन्डा फोड़ दिया।' और बीरू की थकी बीमार आवाज़ ऊपर आ रही थी, 'कब से पानी माँग रहा हूँ। पर किसी को सुनाई ही नहीं पड़ता।'

माई बिना कुछ कहे नीचे उतरने लगी, जैसे जल्दी से पहुँच कर इस बात को दबा देना चाहती हो। आजी बीरू के ऊपर बिगड़ती जा रही हैं, 'रोज़ एक चीज़ तोड़ देते हो। आज कहती हूँ रज्जू से!'

'जाओ कह दो अभी, नहीं तो देर हो जाएगी।'

'इसी कारन यह दशा है, ये बचवा!'

रज्जू भरा हुआ है। यह बात जैसे उसके क्रोध की आग में घी डाल देती है। वह उठता है, 'इसी तरह चारपाई पर पड़े-पड़े सड़ कर मर जाएँगे। कोई बात नहीं पूछेगा।' वह जीने से नीचे उतरता जा रहा है, 'एक हम लोग भी लड़के थे कि सिर में दर्द होते ही सारा घर हाथों पर ले लेता था।' वह आँगन पार कर रहा है, 'न किसी का डर, न लिहाज़। ऐसे लड़के के रहने न रहने से फ़ायदा ही क्या।' वह दहलीज़ में पहुँच गया है, चार कदम और चल कर वह बाहर जा सकता है पर जैसे वह गड़ गया है, उसी जगह। माई

आँगन में गरज रही है, पर यह सूखी गरज नहीं, लगता है उसकी आँखें भी साथ-साथ बरस रही हों, 'जो पढ़-लिख लेगा, साहब-सूबा हो जाएगा उसे तो सब लोग पूछेंगे, लेकिन जो रोगी है, बुरा है, उसके लिए तो मैं ही हूँ न! कोई किसी को कुछ दे नहीं देगा। लोग अपनी पढ़ाई-लिखाई ले कर अपने घर बैठें! आज से मुझसे किसी से कोई मतलब नहीं, मैं मरूँगी उसे ले कर! मैं देश-देश छानूँगी, उसकी दवा के लिए....'

रज्जू का गला सूख गया है। उसके होंठ एक दूसरे से चिपक गये हैं किन्तु उसके चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कराहट छा गयी है। आँखें उमड़ आयी हैं, बस वह यही चाहता है कि माँ और भी कुछ कहे—और भी जली-कटी बातें सुनाये, जिससे भविष्य में फिर माँ की ममता का अर्थ समझने में उसे भ्रम न हो....

★

कवितायें : ३

अजित कुमार | पुनरावृत्तियाँ

१

(रात के पिछले पहर में
स्वप्न टूटा।
दीप की लौ आखिरी सा,
उस समय था
भोर का तारा टिमकता।
चाँद की टूटी लहर में
तैरती-सी दिख गईं अरुणाभ किरनें।)
—बार-बार मैंने यह सोचा—
चलो, आज से नई ज़िन्दगी शुरू हुई।
एक लड़ाई लड़ी, ख़तम की
और एक मंज़िल पाई।
आगे की मंज़िल, पहले की मंज़िल से है
कुछ तो भिन्न।
भिन्न, और शायद विच्छिन्न।
तबसे बीत गए कितने ही लंबे-आड़े-तिरछे वर्ष।
मीठे-कड़ुए-तीखे वर्ष।
लेकिन पाता हूँ—
अब भी हैं : वही, वही, वे ही संघर्ष।
जो पहले था वही आज है—
वही स्वप्न, वे ही आदर्श।

२

(हाय ! कैसी थी कहानी !
अश्रु के भीगे कणों से,
प्यार के मीठे क्षणों से
रची —

वह कैसी कहानी !
कौन जाने कब सुनी थी,
कहाँ की थी,
और किसकी ?
किन्तु अब भी
बची—
वह कैसी कहानी ?)
—कितनी बार किया यह निश्चय—
अब किताब को पढ़कर रोना ख़त्म हुआ।
एक उम्र थी : नहीं रही।
अब किताब को पढ़कर सिर्फ़ विचारेंगे,
बिसरा देंगे ज़्यादातर, थोड़ा सा मन में धारेंगे।

लेकिन यह सब नहीं हुआ।
उसको 'कृत्रिम' कहा अगर,
'यह' ज़्यादा कृत्रिम जान पड़ा।
सहज बनूं कैसे ?
उधेड़-बुन यही शुरू से थी....

अब भी।

२

(कितनी अकेली राह थी,
कैसा अकेला साथ था।
बेहद थके डगमग क़दम !
लेकिन
कहाँ वह हाथ था—
जो बढ़े आगे
थाम ले !)
—हुआ नहीं कोई भी अपना।
नहीं टूटता
पर वह सपना।

बार-बार जो सोच रहे थे हम
कि अकेले ही रह लेंगे।
चलो, अकेले ही रह लेंगे।

बार-बार वह झूठा निकला—
एक न एक चाँद मुस्काया किया
ज्वार बनकर मैं उमड़ा।
उमड़ा, वापस आया, उमड़ा।

४

(राग का जादू हिरन पर छा गया।
वह कुलांचें मारनेवाला
खिंचा-सा आ गया।)
—कई बार यह हुआ कि
अब सङ्गीत सुनेंगे कभी नहीं।
मोहक जो सङ्गीत कहाता : मुझको
सिर्फ़ उबाता है।
गहराई से खींच, धरातल पर मुझको
ले आता है।
लेकिन जब भी, जब भी
कांपे थरथर-थरथर तार
और
उमड़ी-लहराई स्वर की करुणा-धार
कांपने लगे हौंठ हर बार,
धड़कने लगे प्राण के तार।

५

(एक घर था
और उसके द्वार में ताला जड़ा था।
बन्द घर को कौन खोले !
स्तब्धता में कौन बोले !)
—ऊँचे शिखरों के प्रति मेरी वृहत् कल्पना
बार-बार रह गई सिर्फ़ टेढ़ी-मेढ़ी, संकरी गलियों तक।
इनसे बाहर हटकर, उठकर
किसी अपरिचित ऊँचाई तक जाने की
जो साध बड़ी थी—
उसके आगे एक अजब दीवार....

१

....एक बार का सोचा-समझा
बार-बार क्यों सच लगता ?
बीच-बीच में 'झूठ' समझकर भी
क्यों उसमें मन रमता ?
आज : झूठ, कल : सच दिखनेवाली माया का अन्त कहाँ ?

२

स्वप्न वहाँ हैं
और यहाँ पर परिणति है।
कृत्रिम उभार
और आवेगों की
क्यों इधर अपरिमिति है ?

३

कौन कहाँ से आया
उसका तो है कुछ आभास नहीं।
एक मुट्ठी में इतना सब कुछ था
यह भी विश्वास नहीं।

४

क्यों दुहराया तुमने उसको,
कहो, उसे क्यों दुहराया ?
भूल नहीं पाए क्यों उसको ?
भूलो ! अब तो भूलो सब !

५

जो दीवारें थीं लोहे की,
वे दीवारें हैं लोहे की।
जैसी थीं वे, वैसी ही हैं।
—ऊँचे शिखर किन्तु अब उतने ऊँचे नहीं रहे।
पुनरावर्तन, प्रत्यावर्तन किसने नहीं सहा ?
लेकिन
लौटे हुए व्यक्ति के लिए
शिखर तक जाना
उतना दुर्लभ नहीं रहा।

बंशीधर | स्मृति चित्र : वर्षा

१

वे सब भईं दूर की बातें
सपरतते[1] जब भरे तला में
कूँदत लगा गुलाटैं[2]
टेरत हती मताई ठाँड़ीं,
नोंनोंदार[3] बुलाकें
पानी में खों भगत जात ते,
डूबा और लगाकें।
नोंनों[4] लगत हतौ भीजत में,
गुंइयन के संग जाकें
गरजतते बदरा जब बूँदें
बड़ी बड़ी बरसाकें।
खेलत हते चिरौलन[5] चढ़कें
डारन-डारन जाकें
दूर कितउँ से आकें मइया
टेरतते धमका कें।
घूमत हते टौरियन[6] चढ़कें
संगिन खों संग ल्वाकें
जितै भेंट सी करत बदरियाँ
हतीं पहारन आकें
दौरत हते मिदरियन[7] पाछें
पकरन की वे घातें
झूलत-झूलत वा संजा सें
हौन 'लगततीं रातें।
अब तौ ढिंगा बउत है नदिया
अबहू आवतीं रातें
पै न जानें कितै चलौ गयौ,
वौ मनुआ, वे बातें।

१. नहाते २. कलाबाजी ३. नौ नौ बार ४. अच्छा ५. चिरोल के पेड़ ६. पहाड़ियों ७. मेढकियाँ।

२

मेहा बरसै
धरती हरसै
बदरा गरजै रे
बदरा गरजै रे
बिजुरिया, चमचम चमकै रे—
वन अँधयाये
मनमन माये
बूँदन बरसे रे
बूँदन बरसे रे
बदरिया अंग-अंग सरसै रे—
नदिया नाचै
झिरना नाचै
पोखर तरसै रे
पोखर तरसै रे
डगरिया बनठन हरसै रे—
बिरछा डोले
झींगुर बोले
बनबन झनकै रे
बनबन झनकै रे
बजरिया, फूलन गमकै रे—
पवन झकोरै
बिरछन झोरै
मो मन हरसै रे
मो मन हरसै रे
नगरिया कंचन बरसै रे—

३

कारी बदरी के चंदा रे
छिपछिप जिन झलकाओ,
सौनें सौ अंग—
कारी....

लगौ सूनी सी आज
कछु सूजत न काज
कहौं कैसे बेलाज
 सुध आयौ पियरंग—
छिपे जाओ न दूर,
तुम्हें देखों भरपूर,
रीतौ अंतर देव पूर
 मोय भायौ जौ संग—
इतै बैठी अनजान
बाँधें आसा में प्रान
मनें लागै सुन्सान
 बोलो देहौ न संग—
घर आयें भरतार
मेरो सोहै सिंगार
पूजों तोए सौबार
 पाओं साजन जो संग—

४

नैन खुले
भोर भई
निंदिया नें
गैल गहो;
दूर कितउँ
किरन जगी
रैन भगी
बगिया में हँसन लगी
 कली नई
 भोर भई

पनघट पै
सखी चली
कनियाँ पै
गगर धरी
धरती उजयारी भई

बागन में
खूब नची
कारी परी
रंग भरी
मगन भई

अँगना में
लाल जगे
माई की
कूँख सजी
पंख खोल चुगन चली
मधुबन की
सुघर सखी
राम चले
श्याम चले
गाँवन के गाँव चले
नगर चले
पंथ चले
डगर चली
मन की
बांसुरिया बजी
तन को
जा नगरी सखी
गूँज गयी
मगन भई
भोर भई
नैन खुले....

रामकृष्ण श्रीवास्तव | मेरे शब्द

मेरे शब्द
सड़े गले अंगूर नहीं हैं
जिससे तुम शराब बनाने का काम लो।
मेरे शब्द
आत्मा के ताल में ऊगे हुए
पानी के फल हैं सिंघाड़े हैं :
ऊपर से हरे मटमैले हैं
आत्मा के ताल तले फैले हैं
हृदय की डोंगी चढ़
बुद्धि के डांडे दे
अनुभूतियों के फल तोड़ तोड़
दूध भरे मीठे शब्दों के दल जोड़-जो
चेतना के तट पर लाया हूँ
सिंघाड़े सरीखे सोंधे शब्द ये
लो मेरे प्यारे-प्यारे दोस्तो
सुलगे हुए कंडे जैसे
शिशिर की सुबह के सूर्य पर
रखो इन्हें (अभी ये कच्चे हैं)
चखो इन्हें
भूल जाओ
सड़े गले अंगूर के ज़हरीले स्वाद को।

केदार नाथ अग्रवाल | दो कविताएँ

बोलती लकीर

पक्षी जो
एक अभी-अभी उड़ा,
और एक बोलती लकीर-सा
अभी-अभी —
नील व्योम-वक्ष में समा गया,
गीत वहाँ गाने के लिए गया !
गायेगा ।
और लौट आयेगा,
पक्षी जो एक अभी-अभी उड़ा !!

दिन के दिये

आज अभी आँखों से
पर्वतीय निर्जन के धुंध-भरे घेरे में
क़ैद खड़े पेड़ों के मौन-पड़े डेरे में
पातहीन डालों के आख़िरी किनारों पर
पीत-पगे फूलों के आरसी-कपोलों पर
दिन में ही जगर-मगर दीप जले देखे हैं ।

प्रमोद वर्मा | दंडक वन में

उहापोह के दंडक वन में
आगे बढ़े चरण को पिछला
पैर ग़लत जब ठहरा देता
जुगनू जैसे बुझते बलते मन को जब
आशंका सी उधमी लड़की
अपनी मुट्ठी में बन्दी कर खोला बाँधा करती है
अन्तः प्रेरित कर्म-भाव पर
संस्कार की बेड़ी जब लग जाती है
तो बियाबान में
घुटनों की घूँघट से मुख को ओट किये
तुमने आँखों से
दीन विवशता के दाने धरती पर बोये नहीं
कि जैसे तुमसे पहले
तुम सी अनगिन ने बोये थे
जिससे बन बैठा अभेद्य यह दंडक वन !

यह दंडक वन
कितना भीषण, कितना विस्तृत !
अपने सर ओढ़े आसमान
बाहों में घिरीं दिशायें सब
इसके अन्दर के घनीभूत अँधियारे ने
जाने कितने
सूरज चन्दा के छौनों के आखेट किये
इसकी ज़हरीली साँसों को छू
सुकृत पुण्य भी पाप हो गया
इसके काँटों की बरछी से
कितने नन्हें कोमल मन के पाँव बिंध गये
जिनकी सीत्कारों को भी इसने पी डाला ।

यह ऊहापोह का दंडक वन
जिससे होकर मुझको, तुमको, उसको,—सबको
नयी ज़िन्दगी की कविता का
अर्थवान, सप्राण, बोधमय चरण
नये स्वर में पढ़ना है
इसके मुख पर ख़त्म हुई
जीवन की इस छिंगुनी अंगुली सी पगडंडी को
नयी राह गढ़ना है
इसमें से गुज़रे बिना
दर्द में पगे, चुटीले, ये बीते क्षण
आने वाले दिन-मास-बरस से
जुड़ न सकेंगे
और उसी बासी उबकाई लाने वाले जीवन की
शतशः परिक्रमा करनी होगी

(लेकिन परिक्रमा
चलने का झूठा बोध
हमारे मन में चाहे भरे
किन्तु वह
एक इंच भी
कल से आगे हमको करती नहीं।)

यह विस्तृत अवकाश
कि जो पर्वत, भूखंडों, नद, नदियों, क़स्बों, नगरों के
टुकड़ों को
बेतरतीबी से सजा बीच में
मुझको तुमसे अलग किये है
मेरी वाणी को ईथर पर फैला देगा
और स्नेह सद्भाव युक्त आशीर्वचन ये
तुमको थोड़ा सा बल देंगे
जिसकी तुमको आज ज़रूरत होगी निश्चय।

तुमको देखा नहीं कभी मैंने
यद्यपि मेरी सहोदरे !
किन्तु एक माता का तीखा दर्द

धमनियों में दोनों की खौल रहा है
एक पिता के जराजीर्ण विश्वासों का
सत्यानाशी स्वर
हम दोनों के संस्कार में
बोल रहा है
अन्तर्द्वन्द्वों के वात-चक्र में घिरी
आज संक्रान्ति-काल में
ध्वस्त भवन की खंडित मीनारों पर चढ़कर
चार वर्ष के मधुर प्रणय-शिशु
को धकेल कर नीचे तुमने
जीवन भर धुंधुवाने से इनकार कर दिया
और उतर आई नीचे तुम बीहड़ पथ पर
निपट अकेली
ढाँक उसे अपने अंचल से।

मेरी बहिन!
तुम्हारे माध्यम से जैसे यह
नये मनुज की
ह्रास-ग्रस्त घुनखाये आदर्शों की थी
कटिबद्ध अस्वीकृति
उहापोह की प्रसव-वेदना से जो जन्मी।

महेन्द्र भटनागर | निवेदन

फूल जो मुरझा रहे
जग-वल्लरी पर
अधखिले
कारण उसी का खोजता हूँ !
हे प्राण
मुझको माफ़ करना
यदि तुम्हारे गीत कुछ दिन
मैं न गाऊँ !
स्वर्ण-आभा-सा
सुवासित तन तुम्हारा देख
अनदेखा करूँ,
छवि पर न मोहित हो
तनिक भी मुस्कराऊँ !
फूल जब मुरझा रहे
वसुधा बनी विधवा
सुमुखि !
फिर अर्थ क्या शृंगार का
पग-नूपरों की गूँजती झंकार का ?

हर फूल खिलने दो ज़रा,
डालियों पर प्यार हिलने दो ज़रा !

जार्ज लूकाच से एक भेंट

रामकुमार

★

अक्टूबर १९५५ में जब मैं पेरिस में था तो एक दिन हंगरी से निमन्त्रण पाकर जो सबसे बड़ी प्रसन्नता हुई वह थी जार्ज लूकाच से मिलने की। उनकी अंग्रेज़ी में अनुवादित पुस्तक 'योरोपीय यथार्थवाद—एक अध्ययन' को पिछले तीन-चार वर्षों में मैंने कितनी ही बार पढ़ा था और टाल्स्टाय, बाल्ज़ाक, ज़ोला, गोर्की आदि के कृतित्व पर उनके विचार पढ़ कर मुझे कितनी ही नई बातें पता चली थीं। लूकाच के सूक्ष्म विश्लेषण में, मौलिकता के साथ-साथ, इन लेखकों के उन पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है जो आलोचना की किसी अन्य पुस्तक में देखने को नहीं मिलते। टामस मान ने उन्हें आज के महान् साहित्यिक आलोचक की उपाधि दी थी और लूकाच ने जो लिखा उसका प्रभाव मान की लेखनी पर पड़ा। पश्चिम के बहुत-से लेखक और आलोचक यद्यपि मार्क्सवादी आलोचना से तीव्र मतभेद रखते हैं तथापि लूकाच की आलोचना का—जिसके सिद्धान्त मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित थे—उन्होंने सदा आदर किया क्योंकि इन सिद्धान्तों के साथ-साथ लूकाच में कलात्मक और मानवीय परख की पैनी दृष्टि भी थी।

बुदापेस्त आने के तीन-चार दिन बाद ही मैंने लूकाच से मिलने की बात अपने मित्रों से कही और लूकाच को जब यह पता चला तो एक दिन शाम को उन्होंने मुझे अपने घर चाय पर आने का निमन्त्रण दिया। मेरे होटल से उनका घर क़रीब ही था और मैं दैन्यूब के किनारे-किनारे उस शाम को उनके घर की ओर चल दिया। दैन्यूब के तट पर बनी एक नई इमारत की पांचवीं मंज़िल पर उनका फ्लैट था। बुदापेस्त के कोलाहल से दूर वे इस मकान में अपनी लाइब्रेरी में बैठ कर पुस्तकें लिखा करते थे।

जार्ज लूकाच का जन्म सन् १८८५ में बुदापेस्त में हुआ था। वे एक अमीर बैंक डाइरेक्टर के पुत्र थे। उनकी साहित्यिक और बौद्धिक प्रतिभा के चिन्ह आरम्भ में ही प्रकट होने लगे थे। जब उनकी उम्र बीस से भी कम थी तब उन्हें दो भागों में लिखी हुई अपनी पुस्तक 'आधुनिक नाटक का जन्म' पर एक साहित्यिक पुरस्कार मिला। इस पुस्तक का महत्व आज भी कम नहीं

हुआ है। उनकी पुरानी पुस्तकों में उपन्यास के सिद्धान्त और हाफ़मानस्ताल, स्टीफ़ेन जार्ज और रिलके आदि कवियों पर लिखे गये लेखों का एक संग्रह भी है।

१६१८ में लूकाच पर साम्यवाद का प्रभाव पड़ा और फिर बेला कुन की क्रान्तिकारी सरकार के वे बहुत काल तक शिक्षा मंत्री भी रहे। इस सरकार के पतन के बाद उन्हें बर्लिन भाग जाना पड़ा। बर्लिन में जब नाजियों की शक्ति बहुत बढ़ गई और वहाँ रहना असम्भव हो गया तो वे मास्को चले गये जहाँ उन्होंने बारह वर्ष बिताये और इस काल में उनका अभूतपूर्व विकास हुआ। पिछले युद्ध के बाद जब सोवियत नेताओं ने हंगरी को नाज़ियों से स्वतंत्र किया तो वे पुनः बुदापेस्त लौट आये। स्वाभाविक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर बुद्धिजीवियों के नेता होने का सम्मान उन्हें ही प्राप्त हुआ। बुदापेस्त विश्वविद्यालय में ईस्थेटिक्स (सौन्दर्य शास्त्र) का विभाग उन्होंने सँभाला और छात्रों पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा। सारे विश्वविद्यालय में वे सब से सम्मानित बुद्धिजीवी थे।

जार्ज लूकाच को देखते ही ऐसा जान पड़ता है मानों उनके और हमारे बीच में कोई दीवारें न हों और आत्मीयता की गाँठ बिना किसी कठिनाई के बंध गई हो। उनके चेहरे को एक बार देख कर मेरी सारी झिझक दूर हो गई। मैं इस बात को भूल गया कि मैं अपने युग के सब से महान् साहित्य आलोचक से बातें कर रहा हूँ। उनके अस्त-व्यस्त सफ़ेद बाल उनके माथे पर बिखरे हुए थे, उनकी भूरी आँखों में एक गहराई सी दिखाई देती थी जिसमें डूब कर खो जाना कठिन नहीं था, मझोला कद था और चेहरे पर उनके बौद्धिकता की स्पष्ट छाया थी। वे बहुत साधारण-सा कोट और बिना क्रीज की पैंट पहने हुए थे। उनके व्यक्तित्व में कृत्रिमता की ज़रा भी छाप नहीं थी। लूकाच से बातें करते समय मुझे ऐसा लगा जैसे बहुत सी गुत्थियाँ बड़ी आसानी के साथ एकदम सुलझ गई हों।

हम उनके अध्ययन के कमरे में ही बैठे; उनकी बड़ी सी मेज़ पर टाइप किये हुए और हाथ से लिखे हुए कितने ही कागज़ बेतरतीब बिखरे पड़े थे। सिगार और सिगरेटों से भरा एक डिब्बा कोने में रखा हुआ था, कमरे के चारों ओर दीवार से लगी हुई बुकशेल्फ़ों में अँग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मन और हंगेरियन भाषाओं की किताबें सजी हुई थीं। बाद में अपने पुस्तकालय की चर्चा करते समय उन्होंने बतलाया था कि उस कमरे में केवल साहित्य संबंधी पुस्तकें हैं, अन्य दो कमरों में दर्शन और कला की पुस्तकें हैं। कमरे का सारा वातावरण बौद्धिक ज़िन्दगी से भरा हुआ जान पड़ा।

स्वाभाविक रूप से हमारी बातचीत शिष्टाचार के वाक्यों के बाद भार-

तीय कला और साहित्य से आरम्भ हुई। वे अंग्रेजी बहुत शुद्ध बोलते थे अतः दुभाषिये की साहायता हमें नहीं लेनी पड़ी। उन्होंने कालिदास की कृतियाँ पढ़ी थीं जिन्हें आज तक वे भूले नहीं थे। अपनी युवावस्था में उन्होंने गीता और प्राचीन भारतीय दर्शन के कुछ जर्मन अनुवाद भी पढ़े थे। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्हें बहुत दुख हुआ कि टैगोर और मुल्कराज आनन्द की कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने आधुनिक भारतीय साहित्य का अध्ययन नहीं किया है। उन्हें मुल्कराज आनन्द का 'कुली' बहुत पसन्द आया था लेकिन 'उनके उपन्यास पढ़ कर मुझे वह नवीनता का आघात (Shock of novelty) नहीं लगा जिसकी मैं उम्मीद कर रहा था। बचपन में पहली बार जब हम लोगों ने गोगोल, तुर्गनेव, चेख़व और विशेषकर दास्तोवस्की पढ़ा तो हम लोगों ने इस आघात को बहुत ज़ोरों से महसूस किया था क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में योरोपीय साहित्य रूसी साहित्य से सर्वथा भिन्न था और स्वभावतः हम लोग योरोपीय साहित्य के अधिक समीप थे, उससे परिचित थे। रूसी साहित्य की परंपरा भी सर्वथा भिन्न थी। बड़े होने पर रूसी और योरोपीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद हम लोगों को पता चला था कि पश्चिमी साहित्य का रूस पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ा था। यही नवीनता हमें आधुनिक भारतीय साहित्य में मिलनी चाहिये थी क्योंकि हिन्दुस्तान की परम्परा, दर्शन, सामाजिक जीवन योरोप से कितना भिन्न है और उसकी संस्कृति कितनी पुरानी है!' फिर हँसते हुए उन्होंने यह आशा प्रकट की कि भविष्य में वे ऐसे भारतीय उपन्यास पढ़ना चाहेंगे जिनमें उन्हें यह नवीनता मिले।

उन्होंने ऐसा महसूस किया मानों इस बात को अभी तक पूर्ण रूप से मुझे समझा न पाये हों, अतः तुरन्त ही उसी सूत्र को पकड़ कर वे फिर कहने लगे— दक्षिण अमरीका के साहित्य की बात दूसरी है। जब हम देखते हैं कि उनके लेखक अन्य योरोपीय लेखकों की ही भाँति लिखते हैं तब हम उस नयेपन की आशा नहीं करते क्योंकि उनकी परम्परा बहुत नई है। 'माया' संस्कृति को वे अपनी संस्कृति नहीं कह सकते। इस स्थिति में जार्ज अमादो जैसे ब्राजील के लेखक को योरोपीय ढंग से लिखते देख कर हमें आश्चर्य भी नहीं होता। परन्तु हिन्दुस्तान की बात बिलकुल अलग है। हिन्दुस्तान के लेखकों से हम इस नवीनता की माँग को जायज़ समझते हैं जो स्वयं उनके हित में भी है।

मैंने उनको बतलाया कि मुल्कराज आनन्द अंग्रेज़ी में लिखते हैं। उन्हें यह सुन कर आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा कि यही कारण है कि उनके उपन्यास पढ़ कर हमें 'नवीनता का आघात' नहीं मालूम होता।

इसी विषय में उन्होंने एक अन्य उदाहरण दिया कि १६ वीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी पाठक को शेक्सपीयर पढ़ कर ऐसी ही नवीनता का आभास मिला होगा। आज के फ्रांसीसी पाठक ऐसा अनुभव नहीं करते क्योंकि शेक्सपीयर योरोपीय सभ्यता का एक भाग बन गया है।

चाय आई और बातचीत का सिलसिला कुछ देर के लिये टूट गया। हमने सिगार सुलगा लिये। कमरे के गम्भीर वातावरण में एक हल्कापन-सा आ गया। मैं लूकाच की बड़ी-बड़ी आँखों की ओर ध्यान से देखने लगा जिनमें चेहरे की सिकुड़नों के बावजूद भी अबाध गति से बहती हुई जिन्दगी करवटें ले रही थी। वे कमरे की बन्द खिड़की में से दैन्यूब के पार ऊपर उठी हुई बुदा पहाड़ियों को देख रहे थे लेकिन उनके विचार उन पहाड़ियों से भी दूर किसी अदृश्य दिशा में घूमते जान पड़े।

मैंने वर्तमान योरोपीय साहित्य और सामाजिक यथार्थवाद पर उसके विचार जानने चाहे। क्षण भर के लिये वे चुप रहे। जिस विषय पर उन्होंने इतना अध्ययन किया था, जिन समस्याओं पर बहुत खोज-बीन करके उन्होंने कुछ निष्कर्ष निकाले थे (जिन पर पिछले कुछ सालों में अनेक वाद-विवाद भी हुए जिनकी खबरें सारी दुनिया तक पहुँचीं जैसे रेवाई के साथ उनकी बहस जो पूरे साल भर तक चली थी), उस पर कहाँ से शुरू किया जाये, शायद यही कठिनाई उनके सामने आई थी। परन्तु एक बार जब उन्होंने अपने विचार प्रकट करने शुरू किये तो बहुत आसानी से उनका तारतम्य बँधता गया और मैं बिना उनकी ओर देखे नोट करने लगा।

—आज योरोप में दो ऐसी स्थितियाँ हैं जो एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। यह बात साहित्य और संस्कृति की प्रगति के लिये लाभदायक नहीं है। दो 'एक्स्ट्रीम' जीवन के किसी भी क्षेत्र में हितकर साबित नहीं होते। एक ओर साम्यवादी हैं जो समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त को मानते हैं और दूसरी ओर 'बुर्जुआ डिकेडेंट' हैं जिनका अपना एक सोचने-समझने का ढंग है। वास्तव में देखा जाये तो समाजवादी यथार्थवाद के विषय में बहुत से लोगों की ग़लत धारणाएँ हैं और कितने ही ऐसे लोग जो अपने आप को समाजवादी यथार्थवाद के अनुयायी कहते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को ग़लत समझे हैं और इस प्रकार के लेखकों ने एक ग़लत दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को अपने लेखों और कृतित्व में प्रकट किया है। उदाहरणार्थ मैं समझता हूँ कि काफ़का के विषय में लोगों के मन में नाना प्रकार की भ्रांतियाँ हैं; उन्होंने काफ़का के साहित्य और उनके दृष्टिकोण का सही-सही विश्लेषण नहीं किया है।

—पिछले युद्ध के बाद योरोपीय जीवन में एक नई स्थिति पैदा हो गई

है। मेरे विचार में समाजवादी यथार्थवाद के अतिरिक्त भी एक ऐसे यथार्थवाद की आवश्यकता है जो 'बुर्जुआ डिकेडेंस' का डट कर मुक़ाबिला करे। आज के समय में ऐसे यथार्थवाद का टिका रहना स्वाभाविक भी है। इस यथार्थवाद के सिद्धान्तों पर महान् साहित्य की रचना हो सकती है और टामस मान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। एक ओर वे 'डिकडेंट' कतई नहीं हैं और दूसरी ओर उन्हें समाजवादी यथार्थवाद का लेखक भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु वे एक यथार्थवादी लेखक हैं और बीसवीं शताब्दी में उनके स्तर तक बहुत कम लेखक पहुँच सके हैं। यही धारा कितने ही अन्य लेखकों में भी पाई जाती है। अतः इस सत्य से इन्कार करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना है। ये यथार्थवादी साहित्यकार मानववादी हैं, जीवन की समस्याओं और उलझनों के प्रति सतर्क हैं परन्तु फिर भी कुछ कारणों से समाजवादी नहीं हैं। उनका साहित्य वास्तविकता को अपने ढंग से चित्रित करता है और प्रतिक्रियावादी शक्तियों का मुक़ाबिला करता है।

—मैं एक और उदाहरण देता हूँ। चैपलिन समाजवादी नहीं हैं परन्तु वे एक महान् यथार्थवादी कलाकार हैं और उनकी कला की शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। यही बात इटली की आधुनिक फिल्मों में भी पाई जाती है जिनमें आधुनिक जीवन की विषमताएँ अत्यन्त कलात्मक और यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। ये कलाकार प्रगतिशील भावनाओं से भरे हुए हैं यद्यपि वे समाजवादी नहीं हैं। यह समस्या आधुनिक जीवन की केन्द्रीय समस्या है और इसका सहानुभूति के साथ पूर्ण विश्लेषण करना और इससे लोगों को परिचित कराना अत्यन्त आवश्यक है। एशिया और दक्षिण अमरीका में यह यथार्थवाद और भी उभर कर हमारे सामने आता है क्योंकि वहाँ की स्थितियाँ योरोप से बिल्कुल भिन्न हैं।

कभी-कभी वे कुछ देर रुककर सिगार का एक लम्बा कश खींच लेते थे। उनके विचार बिना किसी हिचकिचाहट के बहुत सहज भाव में बहे जा रहे थे।

—व्यक्तिशः मैं समाजवादी यथार्थवाद में विश्वास रखता हूँ परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि प्रत्येक कलाकार का अपना एक पर्सपेक्टिव होता है। लेकिन जो भी हो 'डिकेडेंस' और समाजवादी यथार्थवाद के विषय में हमारे दिमाग़ में कोई शक नहीं है, कोई भ्रांतियाँ नहीं हैं। आज के युग में स्थितियाँ और विचार जितने स्पष्ट रूप से हमारे सामने हैं उतने शायद पहले कभी नहीं थे। योरोपीय डिकेडेंस का गहरा प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ा है और उससे हिन्दुस्तान भी अछूता नहीं बचा है। इसका मुकाबिला समाजवादी यथार्थवाद द्वारा सफलता के साथ नहीं किया जा सकता। इसके लिये एक

ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हिन्दुस्तान की जिन्दगी को सही रूप से और सहानुभूति के साथ चित्रित करे और डिकेडेंट धाराओं की कड़ी आलोचना करे। तब समाजवादी यथार्थवाद की आवश्यकता नहीं रहेगी।

—चेखव ने अपने यथार्थवाद द्वारा डिकेडेंस का सफलता के साथ मुक़ाबला किया। राष्ट्रीय चेतना होने पर कलाकार के हाथ में शक्ति आ जाती है। यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद साथ-साथ एक ही रास्ते पर बिना टकराव के चल सकते हैं, उनमें पारस्परिक मैत्री के संबन्ध स्थापित रह सकते हैं और बुर्जुआ डिकेडेंस के विरुद्ध वे एक संयुक्त मोर्चा तैयार कर सकते हैं। इन सब यथार्थवादी धाराओं का संयुक्त मोर्चा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है। यह मेरी निश्चित धारणा है और इसमें मुझे पूर्ण विश्वास है।

—प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह इस मोर्चे के सही रूप को समझे। समाजवादी कलाकारों को यह बात अपने संकुचित और सीमित दृष्टिकोण से नहीं देखनी चाहिये। यह आवश्यक है कि हम अपने मित्रों को धीरे-धीरे समाजवादी यथार्थवाद की ओर आकर्षित करें। प्रत्येक कलाकार का हमें उसकी पृष्ठ भूमि में परखना चाहिये; कोई एक निश्चित सिद्धान्त और कसौटी हम सब पर लागू नहीं कर सकते। शोलोखोव जैसे लेखक को हमें उनकी पुरानी स्थितियों, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर परखना चाहिये अन्यथा हम उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय करेंगे।

फिर बातचीत का रुख चित्रकला की ओर मुड़ गया।

—पूर्व के कलाकार के सम्मुख बहुत विकट समस्याएँ हैं और उन्हें उसके अतिरिक्त दूसरा कोई हल नहीं कर सकता। चीन, जापान, हिन्दुस्तान....सब देशों की सैद्धान्तिक समस्याएँ एक जैसी ही हैं जिन्हें हल करने में कितने ही वर्ष लगेंगे। यह समस्या इन देशों की परम्परा और आधुनिक योरोपीय कला के बीच संघर्ष की है। इन दोनों के बीच जब संतुलन हो जायेगा तो समस्या सुलझ जायेगी। परन्तु संतुलन पा लेना आसान नहीं है, इसमें कितने ही सफल और असफल प्रयोग होंगे। दोनों ही अपना विशेष महत्व रखते हैं। योरोपीय कला के प्रभाव से अपने आप को मुक्त नहीं किया जा सकता। पूर्वीय कला में कभी स्वाभाविक रूप में प्रगति नहीं हुई, जैसा कि हमें फ्रांस में दिखाई देता है जहाँ हर अगला क़दम पिछले क़दम को दृष्टिकोण में रख कर आगे बढ़ा था। प्रत्येक पूर्वीय देश की कला का इतिहास एक दूसरे से अलग है। यहाँ कला के रूप और विषय दोनों में ही असमानान्तर रूप से परंपरा के धागे टूटे और जुड़े और इस प्रकार उनके टूटने और जुड़ने का क्रम जारी रहा। इसी कारण से आज हमें इन देशों की कला का कोई निश्चित रूप दिखाई नहीं देता। कहीं-कहीं राष्ट्रीय कला के जामे में सस्ती कला को ऊपर उठाने का

प्रयास किया जाता है। पूंजीवाद का जन्म सब देशों के लिये आवश्यक है क्योंकि इससे आपसी टकराव उभरते हैं और पूर्व में स्वाभाविक रूप से पूंजीवाद की जो उन्नति होनी चाहिये थी और जो नहीं हो सकी, उसे अब होना है।

फिर सोवियत चित्रकला की चर्चा करते हुए वे कहने लगे कि सोवियत कला को, उसके इतिहास को, दृष्टिकोण में रख कर परखना चाहिए। सोवियत कला की परंपरा फ्रांस की अपेक्षा बहुत भिन्न है, अतः उसे फ्रांसीसी कला की कसौटी पर परखना गलत होगा। यहाँ कभी वे सब इज़्म नहीं उपजे जो पश्चिमी योरोप में फैले थे।

उन्होंने मुझसे पूछा कि हिन्दी में एक उपन्यास की कितनी प्रतियाँ प्रायः छपती हैं। मेरा उत्तर सुन कर वे अवाक् रह गये। मैंने उन्हें वास्तविक स्थिति समझाने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि जब तक साहित्य में आम लोगों की दिलचस्पी नहीं होती तब तक हमारी बहुत सी समस्याएँ हल नहीं होंगी। केवल शहरों के पढ़े-लिखे लोगों का पुस्तकों में दिलचस्पी लेना काफ़ी नहीं है। लगभग तीस वर्ष पूर्व जब वे नार्वे में घूम रहे थे तो बहुत-से किसानों के घरों में उन्होंने इब्सन की पुस्तकें देखीं जबकि फ्रांस जैसे उन्नत और सुसंस्कृत देश में किसानों के घरों में बाल्ज़ाक और ह्यूगो की पुस्तकें पाना संभव नहीं है। साहित्य-प्रेम की यही असली कसौटी है। अच्छे साहित्य का प्रसार करने में सरकारी सहायता बहुत आवश्यक है। कुछ देर पहले तक आना सेघर्स जैसी लेखिका की आर्थिक दशा बहुत गिरी हुई थी क्योंकि उनके उपन्यास जर्मनी में 'बेस्ट सेलर्स' नही बन पाये थे यद्यपि उनकी प्रतिभा किसी से छिपी नहीं थी।

फिर टामस मान की चर्चा छिड़ गई। मुझे ऐसा जान पड़ा मानों टामस मान के विषय में कुछ कहते वक्त उनका उत्साह दूना हो जाता है। परन्तु कुछ महीने पूर्व टामस मान की मृत्यु से उन्हें बहुत दुख पहुँचा था और उसी की छाया उनकी आँखों में उभर आयी। टामस मान के साहित्य के सम्बन्ध में लिखे गये उनके कितने ही लेख पिछले दस वर्षों में अनेक देशों में प्रकाशित हो चुके हैं और अब उन सब का एक संग्रह जर्मन भाषा में छप रहा है।

सिगार का धुंआ छोड़ते हुए वे उत्साहित स्वर में कहने लगे—टामस मान की मृत्यु से विश्व साहित्य में एक ऐसा स्थान खाली हो गया है जो शायद कभी भर नहीं सकेगा। उनकी महानता का एक कारण यह भी है कि उनका प्रत्येक उपन्यास दूसरे से भिन्न है—टेकनीक में, विषय वस्तु में, जीवन दर्शन में। 'मैजिक माउंटेन' और 'डा० फ़ास्टस' में जो समस्याएँ उठायी गई हैं, वे बिल्कुल अलग-अलग हैं। उनकी मृत्यु से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि उनके नये उपन्यास का दूसरा भाग पूरा नहीं हो सका। वे २० वीं शताब्दी

के एक बहुत महान् साहित्यकार हैं। अन्य लेखकों ने भी उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी हैं परन्तु उनमें टामस मान की यह बात देखने को नहीं मिलती कि उनकी हर पुस्तक एक-सी ऊँचे स्तर की ही हो। कुछ महान् साहित्य का भाग बन गईं और कुछ कृतियाँ नीचे ही झूलती रहीं। सिन्कलेयर लुइस में यह बात बात बहुत स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है परन्तु टामस मान ने 'बडेनब्रुक्स' से लेकर आज तक हमें निरन्तर उच्चकोटि का साहित्य दिया।

मैंने उनसे अपने कृतित्व पर भी कुछ प्रकाश डालने के लिए कहा। मैंने बतलाया कि उनकी अंग्रेज़ी में अनुवादिक पुस्तक 'योरोपीय यथार्थवाद-एक अध्ययन' को हमारे आलोचकों और लेखकों ने बहुत ध्यान से पढ़ा है परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी दूसरी पुस्तकों के विषय में हम लोग कुछ भी नहीं जानते।

अपने विषय में कुछ बतलाने में उन्हें झिझक हो रही थी लेकिन मैंने जोर दिया और उन्हें अपनी कृतियों की सूचना देने के लिये बाध्य होना ही पड़ा। १९४६ में जर्मन साहित्य पर उनकी एक बड़ी पुस्तक 'जर्मन लिटरेचर इन दि एज आफ़ इम्पीरियलिज़्म' प्रकाशित हुई। फिर १९४७ में 'गेटे एण्ड हिज़ टाइम', १९४८ में 'यंग हिगेल' का प्रकाशन हुआ। एक छोटी सी पुस्तक में उन्होंने अस्तित्ववाद का विश्लेषण भी किया है। १९५५ में वर्षों के अध्ययन के बाद लूकाच की नई कृति 'डेस्ट्रक्शन आफ़ रीज़न' छपी जिसे वे अपनी सबसे महत्वपूर्ण रचना समझते हैं। इसका सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा दर्शन से अधिक है।

—जापान में मेरी लगभग सभी पुस्तकों के अनुवाद हो चुके हैं। जर्मन भाषा में जब कभी कोई पुस्तक छपती है तो उसके एक सप्ताह बाद ही जापान से पत्र आने लगते हैं और बहुत कम समय मे जापानी भाषा में उसका अनुवाद छप जाता है। अंग्रेजी में अनुवाद की काफ़ी बड़ी समस्या है क्योंकि अमरीका और ब्रिटेन में प्रकाशक मेरी पुस्तकों को छापने के लिए तैयार नहीं होते।

—हंगरी में लेखकों को किसी प्रकार की आर्थिक चिन्ताओं का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि एक तो हमें सरकार की ओर से काफी सहायता और सुविधायें मिलती हैं और दूसरे आम लोगों में साहित्य प्रचार होने के कारण एक पुस्तक की पन्द्रह बीस हज़ार प्रतियाँ छपना साधारण-सी बात है। मैंने वर्तमान सरकार के पहले और बाद की स्थिति को देखा है और स्वयं अनुभव भी किया है और इस अन्तर को मैं भलीभाँति जानता हूँ।

फिर कुछ इधर-उधर की बातें हुई। मुझे भय था कि कहीं अपना कौतूहल शांत करने के पीछे मैंने उनका अमूल्य समय तो नष्ट नहीं किया। मेरी बात

सुनकर लूकाच हँसने लगे और बोले कि इतनी दूर से आये व्यक्ति से मिलके कभी समय के नष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता।

सूर्य बुदा की पहाड़ियों के पीछे ओझल हो गया था और उनके कमरे की खिड़की के सामने खड़े होकर मैं देन्यूब में चमकती धुंधली परछाइयों को देखने लगा। उनके कमरे की नीरवता शाम के सन्नाटे में डूब कर और भी गहरी हो गई थी। उन्हें धन्यवाद देकर मैंने उनसे विदा ली। उन्होंने मुझको टामस मान पर लिखी अपनी एक पुस्तक का जर्मन अनुवाद भेंट किया।

*

आज हंगरी से कोसों दूर बैठ कर जब अखबारों में हंगरी के झगड़ों के समाचार पढ़ता हूँ, तो डेढ़ वर्ष पुरानी अनगिनत स्मृतियाँ मेरे मन को झिंझोड़ जाती हैं, कितने ही जाने-पहचाने चेहरे आग की लपटों में चीत्कार करते हुए दिखाई देते हैं और जो चेहरा बार-बार मेरी आँखों के सामने आता है और जिसे कोशिश करने पर भी मैं भूल नहीं पाता, वह है जार्ज लूकाच का चेहरा।

मैं जानता था कि हंगरी और पूर्वी योरोप में लूकाच का विरोध करने-वालों की संख्या कम नहीं है। खुले रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के एक नेता रूडाज़ ने उनकी कड़ी आलोचना की थी, दैनिक पत्र 'ज़ाबाद नेप' के सम्पादक मार्टिन होरवाट ने उनके विचारों का विरोध किया था। उनका लूकाच पर सबसे बड़ा आरोप यह था कि उनके हृदय में पश्चिम के बुर्जुआ साहित्य के प्रति पूर्व के समाजवादी यथार्थवादी की अपेक्षा अधिक सहानुभूति है।

हाल में हंगरी में हुए भीषण हत्याकांड में लूकाच का क्या हुआ, यह प्रश्न बार-बार हम लोगों में उठा करता था लेकिन कभी इसका उत्तर नहीं मिल सका। हाल ही में 'न्यू स्टेटसमैन एण्ड नेशन' में लूकाच पर हरबर्ट रीड के एक लेख से पता चला कि जब इम्रे नाज की चन्द दिनों की सरकार बनी थी तो लूकाच शिक्षा मंत्री नियुक्त हुए थे। चार नवम्बर को इम्रे नाज के साथ लूकाच ने भी यूगोस्लाव दूतावास में आश्रय लिया। परन्तु एक दिन कुछ सैनिकों के संरक्षण में वे भी अन्य लोगों के साथ बाहर आ गये और कहने लगे कि अपने घर जा रहे हैं, परन्तु न तो वे अपने घर पहुँचे और न उसके बाद ही उनका कोई समाचार मिला।*

★

* बाद का समाचार है कि लूकाच वापस बुदापेस्ट पहुँच गये।—लेखक

दो एकांकी

पिकनिक

विष्णु प्रभाकर

★

हेमन्त कुमार—पिता

प्रमिला—माता

निरूपा—हेमन्त-प्रमिला की पुत्री

करुणा—महिला कालेज की प्रिंसिपल

वीरेश्वर } —स्थानीय कालेज के छात्र
अजित

सेवक—हेमन्त का सेवक

(दुमंजले का ड्राइंग रूम। काफी चौड़ा और आधुनिक रीति से सजा हुआ। दीवारों पर कई तैल-चित्र हैं। कार्निश पर चाँदी के अनेक कप, जो हेमन्त ने टेनिस के मैचों में जीते हैं। दरवाजों के काफी ऊपर दीवार पर हिरन और लोमड़ियों के सिर टँगे हैं। फर्श पर नीली दरी है और फिर कीमती कालीन है। कमरे के बीच में एक बहुमूल्य सोफा-सेट बिछा है।

कमरे के दक्षिण-पश्चिम की ओर टीक वुड की राइटिंग डेस्क और घूमने वाली कुरसी है। डेस्क पर लिखने का सामान और बिजली का टेबुल लैम्प है। पूर्व की ओर तीन बेड साइड टेबुल हैं। एक पर इंग्लिश के कई दैनिक और साप्ताहिक पत्र हैं। दूसरी पर हाथी दाँत के खिलौने तथा तीसरी पर ताजा फूलों के गुलदस्ते हैं।

ड्राइंग-रूम के सब ओर द्वार हैं। उत्तर के द्वार बाहर बरामदे में खुलते हैं जहाँ से नीचे की ओर जीना जाता है। पूर्व में शयन कक्ष है और पच्छिम में बच्चों का कमरा। सब दरवाजों पर नीले हरे परदे हैं। देहलियों पर पायदान है।

पच्छिम के द्वार के साथ बड़ी अलमारी है, जिसमें सुन्दर जिल्दवाली बहुत-सी पुस्तकें हैं।

परदा उठने के समय सन्ध्या के ६ बजने वाले हैं। वर्षा ऋतु है। सोफे पर दो स्त्रियाँ बैठी दिखाई देती हैं। दोनों प्रौढ़ाएँ हैं। प्रमिला गृह स्वामिनी,

सुन्दर न होकर भी आकर्षक है। इस समय वह कुछ विशेष चिन्तित और थकी जान पड़ती है। करुणा स्थानीय महिला कालेज की प्रिंसिपल है—प्रभावशाली, दबंग और दृढ़। बातें करती हैं और बराबर बुनती रहती है।)

करुणा—प्रमिला ! तुम्हें निरूपा को रोकना होगा। वह बहुत दूर चली गई है। मैं नहीं चाहती कि वह इतनी दूर चली जाय कि लौट भी न सके।

प्रमिला—मैं बराबर कोशिश कर रही हूँ पर....

करुणा—शायद हेमन्त नहीं चाहते कि निरूपा को कुछ कहा जाय।

प्रमिला—नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। वह भी कई बार कोशिश कर चुके।

करुणा—क्या तुमने निरूपा से सीधे बात की ?

प्रमिला—नहीं, ऐसा तो नहीं किया। ऐसा करना भी नहीं चाहिये।

करुणा—क्यों, क्यों नहीं करना चाहिये ?

प्रमिला—क्योंकि निरूपा इतनी बड़ी है कि वह बुरा मान सकती है और तुम जानती हो जब बड़ी लड़की बुरा मान जाती है तो वह क्या नहीं कर सकती।

करुणा—हाँ प्रमिला ! मैं जानती हूँ। पुरुष के हाथों अपमानित होकर मैं आजन्म अविवाहित रहने का प्रण करे बैठी हूँ। हिन्दू कन्या का विवाह होना ही है, मैं इस सिद्धान्त को झुठलाना चाहती हूँ। मैं....

प्रमिला—तुम गलत समझ गईं। मैंने यह नहीं कहा था।

करुणा—कहो भी तो मैं बुरा नहीं मानूँगी। इन्कार भी नहीं करूँगी। पर प्रमिला मैं पुरुष से नफरत नहीं करती। पुरुष की सत्ता से नफरत करती हूँ। निरूपा उन्हीं पुरुषों के हाथ का खिलौना बन रही है और....अब इससे आगे क्या कहूँ, हेमन्त को सब कुछ दिखा चुकी हूँ।

प्रमिला—दिखा चुकी हूँ, क्या मतलब ?

करुणा—तुम्हें नहीं मालूम। हेमन्त को मेरी बात पर विश्वास ही नहीं आता था। वह समझते थे कि मैं पुरुषों से नफरत करती हूँ इसीलिये निरूपा का उनसे मिलना-जुलना मुझे बुरा लगता है लेकिन कल मैं उन्हें क्लब ले गई और उन्होंने देखा कि एक एकान्त कमरे में....

प्रमिला—(चीखकर) करुणा !

करुणा—मैं क्षमा चाहती हूँ। उन्हीं लोगों के साथ निरूपा आज पिकनिक पर जा रही है।

प्रमिला—वह नहीं जा सकती। वह कभी नहीं जा सकती।

करुणा—मैं जीवन में विश्वास करती हूँ। मैं आनन्द में विश्वास करती हूँ लेकिन मैं कभी यह नहीं मान सकती कि जीवन आनन्द का दास है।

नहीं प्रमिला। जीवन स्वप्न से भी सुन्दर है। ये युवक निरूपा के पास इसलिये नहीं आते कि वे उससे प्रेम करते हैं, हालांकि मैं जानती हूँ वे स्वप्नों की भाषा में उस प्रेम का दावा करते होंगे लेकिन सचाई यह है कि वे उसके यौवन....

प्रमिला—करुणा! करुणा!

करुणा—मैं क्षमा चाहती हूँ। मैं तुमसे कुछ छिपा नहीं सकती। तुम उसकी माँ हो। तुम उसे प्यार करती हो।

प्रमिला—यह नहीं हो सकता। यह कभी नहीं हो सकता। मैं आज उनसे साफ साफ कह दूँगी। मैं उसे कभी नहीं जाने दूँगी। कभी नहीं। मैंने नहीं सोचा था कि बात इतनी बढ़ गई है। ओफ़....

करुणा—बात अभी हाथ से बाहर नहीं गई है। बस तुम्हें दृढ़ होने की आवश्यकता है। तुम्हें उसे सब कुछ स्पष्ट कह देने की आवश्यकता है।

प्रमिला—मैं कहूँगी। कहना होगा....

करुणा—और तुम्हें उसका विवाह भी करना होगा।

प्रमिला—विवाह?

करुणा—मेरा मतलब है कि उसे सुझाव देना होगा।

प्रमिला—मैं समझ गई लेकिन करुणा, वह जिस वातावरण में पली है और आज जैसी हालत है उसको देखते हुए• अभी से विवाह की बात करना क्या उचित होगा।

करुणा—क्या उचित है क्या अनुचित यह परिस्थिति पर निर्भर होता है। कई बार अनुचित दिखाई देने वाली बात भी गुमराह को राह पर ले आती है।

प्रमिला—मैं समझ गई। मैं हेमन्त से कहूँगी।

(इसी समय बच्चों वाले कमरे से निरूपा का स्वर सुन पड़ता है। वह धीरे-धीरे गुनगुना रही है। स्वर में मिठास है। साथ में कोई और भी है क्योंकि उसके तेजी से चलने की पदचाप होती है और एक क्षण बाद गुनगुनाहट भी।)

करुणा—लो वे आ गये। पिकनिक की तैयारी है। मैं चली।

प्रमिला—नहीं, नहीं तुम क्यों जाती हो।

करुणा—क्योंकि मेरी उपस्थिति उनमें विद्रोह पैदा करेगी।

प्रमिला—मैं समझी, अच्छा।

करुणा—अच्छा, दृढ़ रहना पर....

प्रमिला—मैं समझती हूँ। नमस्कार।

करुणा—नमस्कार।

(**करुणा चली जाती है। एक क्षण प्रमिला उसे जाते देखती है फिर आकर सोफे पर बैठ जाती है। तभी बच्चों के कमरे का द्वार खुलता है। एक युवक प्रवेश करता है। युवक, लम्बा, भरा हुआ शरीर और गौर वर्ण। भरा मुख, शैतानी से भरे नयन, वही मुस्कान।**)

वीरेश्वर—नमस्कार चाचीजी।

प्रमिला—(**उदासीन**) नमस्कार, बैठो। (**कहते-कहते बड़ी उपेक्षा से उसे देखती है**)

वीरेश्वर—आप आज अन्दर कैसे बैठी हैं? बाहर मौसम बड़ा सुहावना है।

प्रमिला—हाँ, इस बार मौनसून समय पर आ गया है।

वीरेश्वर—लोगों का विचार है वर्षा खूब होगी। अन्न भी बहुत होगा।

प्रमिला—हाँ बारिश बहुत न हो जाय। सीमा से न बढ़ जाय। जब तक कोई चीज सीमा में रहती है सब ठीक रहता है। बाहर होते ही सैलाब आ जाता है और उसके बाद बरबादी है।

वीरेश्वर—(**अनबूझ सा**) जी हाँ। (**क्षणिक सन्नाटा**)

प्रमिला—कुछ कहना चाहते हो?

वीरेश्वर—जी, जी हाँ। आज आप अस्वस्थ हैं।

प्रमिला—धन्यवाद। मैं बिल्कुल ठीक हूँ। अपनी बात कहिये।

वीरेश्वर—मैं भी बिल्कुल ठीक हूँ, धन्यवाद।

प्रमिला—बहुत अच्छी बात है लेकिन मौसम की बात....

वीरेश्वर—जी हाँ। हम लोग पिकनिक पर जाने का विचार कर रहे हैं।

प्रमिला—हम लोग?

वीरेश्वर—जीहाँ। कालेज के कुछ विद्यार्थी।

प्रमिला—निरूपा भी?

वीरेश्वर—जीहाँ।

प्रमिला—(**एकदम तेज**) वह नहीं जा सकती।

वीरेश्वर—(**ठगा सा**) जी!

प्रमिला—वह नहीं जायगी। (**क्षणिक सन्नाटा जिस बीच में दोनों एक दूसरे को तेजी से देखते हैं और दृष्टि घुमा लेते हैं।**)

वीरेश्वर—(**एक क्षण बाद**) बात क्या है?

प्रमिला—आपके लिये हर बात जानना आवश्यक नहीं है।

वीरेश्वर—जी, जी हाँ, मेरा यह मतलब नहीं था आप ठीक कहती हैं पर....

प्रमिला—पर क्या बोलिये।

वीरेश्वर—आज्ञा दे दें तो बहुत अच्छा हो।

प्रमिला—आज्ञा की जरूरत समझते हो ?

वीरेश्वर—जीहाँ ।

प्रमिला—तो आज्ञा नहीं है । आप जा सकते हैं ।

वीरेश्वर—मैं । समझा नहीं आप नाराज क्यों हैं । मेरा अपमान क्यों कर रही हैं ?

प्रमिला—आप अपमान अनुभव करते हैं ?

वीरेश्वर—मैं मनुष्य हूँ ।

प्रमिला—आप मनुष्य हैं ?

वीरेश्वर –(**सहसा तेज होकर**) आप, आप क्या कह रही हैं। मैं यह सब नहीं सह सकता । आपको यह अधिकार नहीं है कि....

प्रमिला—मुझे क्या अधिकार है और क्या नहीं है यह मैं तुमसे नहीं सुनूँगी । तुम अपने अधिकारों की चिन्ता करो । तुम इस बात की चिन्ता करो कि तुम क्या हो, क्या कर रहे हो !

वीरेश्वर—मैं क्या कर रहा हूँ ?

प्रमिला—हाँ तुम क्या कर रहे हो ।

वीरेश्वर—मैं....मैं तो पिकनिक पर जाने के लिये पूछने आया था ।

प्रमिला—तुम पिकनिक पर क्यों जाना चाहते हो ?

वीरेश्वर— क्योंकि मौसम सुहावना है ।

प्रमिला—तो तुम जा सकते हो, निरूपा नहीं जायगी ।

वीरेश्वर—(**धीमा पड़ कर**) आप शायद गलत समझ गईं ।

प्रमिला—(**और भी तीव्र व्यंग्य**) मैं गलत समझ गई ! क्या यह गलत है कि तुम पिकनिक पर केवल निरूपा के लिये जा रहे हो ? क्या यह गलत है कि तुम निरूपा को केवल इसलिये ले जा रहे हो कि वह....वह....(**तेज होकर**) मैं कहती हूँ चले जाओ, अभी चले जाओ !

वीरेश्वर—(**हक्का बक्का और तेज**) मैं जा रहा हूँ । मैं बदला लूँगा । मैं इस अपमान का बदला लूँगा । (**वह मुड़ता है कि तेजी से निरूपा आ जाती है । सुन्दर मोहक १६ वर्षीय युवती । बाल कटे, साड़ी पहने है ।**)

निरूपा—क्या है ममा....वीरेश क्या हुआ ?

वीरेश—कुछ नहीं हट जाओ (**झटका देकर जाता है ।**)

निरूपा—ममा, ममा । (**प्रमिला कुछ नहीं बोलती । निरूपा वीरेश्वर के पीछे जाती है ।**) वीरेश सुनो तो वीरेश....(**गमन । प्रमिला तेजी में खोई-खोई सोफे पर गिर पड़ती है । सेवक अन्दर से आता है ।**)

सेवक—मेमसाहब, चाय लगा दिया है ।

प्रमिला—चले जाओ ।

सेवक—जानत रहन सरकार।

प्रमिला—मैं कहती हूँ मेरी तबियत ठीक नहीं है।

सेवक—जानत रहन सरकार। वह तो सरकार हम हू देखे रहन। सो चाय यहीं ले आई!

प्रमिला—नहीं, नहीं, तुम जा सकते हो।

(तेजी से निरूपा का प्रवेश। क्रोध से गौर वर्ण आरक्त हो आया है।)

निरूपा—ममा! यह तुमने क्या किया? तुमने वीरेश्वर का अपमान किया!

प्रमिला—मैंने किसी का अपमान नहीं किया।

निरूपा—नहीं कैसे किया। तुमने उस पर लांछन लगाया, तुमने....

प्रमिला—मैंने जो कुछ किया ठीक किया। जो कुछ कहा। तुम पिकनिक पर नहीं जा सकतीं।

निरूपा—मैं जाऊँगी।

प्रमिला—(**चीख कर**) तुम नहीं जा सकतीं। तुम नहीं जाओगी।

निरूपा—(**मुड़ कर**) मैं सुनूँ तो क्यों नहीं जाऊँगी।

प्रमिला—वह तुम वीरेश से सुन चुकी हो। दुबारा सुनने की कोशिश मत करो। मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी।

निरूपा—और क्या आशा थी कि मैं हर वक्त घर में घुसी रहूँगी? कि मैं किसी से हँसू बोलूँगी नहीं, कि मैं हर वक्त पढ़ती रहूँगी, कि मैं....

प्रमिला—(**चीख कर**) चुप रहो, चुप रहो, तुम जानती हो तुम झूठ बोल रहा हो। तुम्हें कभी किसी ने घर में नहीं रोका। तुम्हें कभी किसी ने कोई काम करने से नहीं रोका। तुम्हारी हर इच्छा पूरी की गई। तुम्हारे हर इशारे पर वही हुआ जो तुमने चाहा पर इसका यह मतलब नहीं कि तुम हमको तो भूलो ही अपने को भी भूल जाओ। तुम अपने को बेच दो....

निरूपा—(**क्रोध**) ममा....ममा....तुम मुझ पर तोहमत लगा रही हो। तुम माँ नहीं राक्षसी हो। तुम मुझसे ईर्ष्या करती हो!

प्रमिला—(**कांप कर**) निरूपा....निरूपा, तुझे लाज नहीं आई यह कहते। मैं तेरी माँ हूँ और मैं तुझसे ईर्ष्या करूँगी!

निरूपा—(**रोती हुई भागती है**) हाँ, हाँ, तुम ईर्ष्या करती हो। तुम मा नहीं हो, मा नहीं हो, (**भागती हुई बाहर निकल जाती है। प्रमिला ठगी-सी एक क्षण उसे देखती है, फिर देखती है कि सेवक वहीं खड़ा है।**)

सेवक—अब तो चाय ले आइ न सरकार।

प्रमिला—(**चीखकर**) तुम यहीं खड़े हो? किसने कहा तुमसे यहाँ रहने को!

सेवक—जानत रहन पर मुदा जाने के लिये भी नहीं कहा, सरकार।

प्रमिला—ओह। चले जाओ।

सेवक—जानत रहन पर चाय सरकार।

हेमन्त—(**प्रवेश करते हुए**) चाय यहीं ले आओ।

सेवक—जानत रहन सरकार, बहुत अच्छा सरकार, अभी (**गमन**)

प्रमिला—हेम तुम ! तुम आ गये।

हेमन्त—हाँ क्यों, आने का वक्त तो है ही। दो चार मिनिट की देर हो गई। तुमने निरूपा से कुछ कहा है क्या ?

प्रमिला—क्यों ?

हेमन्त—अपने कमरे में पड़ी वह रो रही है।

प्रमिला—अकेली है ?

हेमन्त—इस वक्त तो अकेली ही है।

(**सेवक चाय लाता है। बीच में एक बेड साइड टेबुल लाकर उस पर रखता है।**)

सेवक—मिस साहब को बुला लाइन सरकार ?

हेमन्त—नहीं। वह नहीं आएगी। न आये तो उसके कमरे में दे आओ।

सेवक—जानत रहन सरकार। अच्छा सरकार।

हेमन्त—और सुनो।

सेवक—जानत रहन सरकार। हुकुम सरकार।

हेमन्त—चाय तीन चार आदमियों के लिये हो।

सेवक—जानत रहन सरकार (**जाता है**)

प्रमिला—तीन चार वहाँ कौन आने वाले हैं ?

हेमन्त—पिकनिक पर जाने वाले। सेवक तुरन्त समझ गया।

प्रमिला—वह समझा या आदत के कारण उसने कह दिया मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहती।

हेमन्त—पड़ने से लाभ भी नहीं। उससे बेहतर चाय पीना है।

प्रमिला—(**चाय बनाते हुए**) आज करुणा आई थी।

हेमन्त—मुझे मालूम है। मुझे यह भी मालूम है कि वीरेश्वर भी आया था और तुमने उसे डाँट दिया था। निरूपा को पिकनिक पर जाने की आज्ञा नहीं दी।

प्रमिला—मैंने कुछ गलत तो नहीं किया।

हेमन्त—(**चाय पीते हुए**) नहीं, तुमने बिल्कुल ठीक किया। एक मां यही कर सकती थी। ये आजकल के लड़के-लड़कियाँ इन्हें हो क्या गया है। पिकनिक पिकनिक। पिकनिक तो बहाना है।

प्रमिला—इसका कुछ करना होगा, हेमन्त। आज पूछा था, कल बिना पूछे

जा सकते हैं।

हेमन्त—अवश्य जायेंगे। इसका कुछ करना होगा। मैं खुद बहुत परेशान हूँ।

प्रमिला—करुणा कहती थी वह तुम्हें क्लब ले गई थी।

हेमन्त—हाँ, तब से मैं और भी चिन्तित हूँ। समझ में नहीं आता क्या करूँ।

प्रमिला—वह कहती थी कि वहाँ उसने तुम्हें....क्या यह ठीक है?

हेमन्त—(**प्याला ठक से रख कर**) ठीक ही नहीं उससे कुछ अधिक है। वह दृश्य देख कर मैं काँप उठा था। मेरी आँखें खुली की खुली रह गई थीं। तब मैं था भी, नहीं भी था। मैं नहीं ही था....

प्रमिला—तुमने निरूपा से बातें कीं....

हेमन्त—नहीं, उससे बातें करने से क्या होता। वह वहाँ थी ही नहीं।

प्रमिला—(**चकित**) वह वहाँ नहीं थी?

हेमन्त—हाँ, वहाँ जिस लड़की को मैंने देखा वह निरूपा नहीं थी।

प्रमिला—तो कौन था? करुणा ने झूठ क्यों बोला?

हेमन्त—करुणा ने झूठ नहीं बोला प्रमिला।

प्रमिला—(**ठगी-सी**) करुणा ने झूठ नहीं बोला। वह लड़की निरूपा भी नहीं थी, आखिर यह पहेली क्या है। आखिर वह लड़की कौन थी....तुम चुप क्यों हो। बोलते क्यों नहीं। वह लड़की कौन थी?

हेमन्त—तुम।

प्रमिला—क्या....क्या कहा?

हेमन्त—जिस लड़की को मैंने वहाँ देखा वह तुम थीं।

प्रमिला—(**कांप कर**) मैं....

हेमन्त—हाँ तुम। बिल्कुल निरूपा जैसा वह रूप, वही मोहकता, वही असंयम और वही भौरों का जमघट। एक दुनिया जो इतिहास बन चुकी थी मेरी आँखों में नाच उठी....

प्रमिला—हेमन्त....हेमन्त तुम क्या कह रहे हो?

हेमन्त—(**अनसुना करके**) मैं ठगा-सा हतप्रभ-हतज्ञान उसे देखता रहा, फिर जैसे तूफान आ गया। जोर का तूफान भयंकर शोर, रौद्र स्वर, सब कुछ अस्तव्यस्त, उखड़ता हुआ, ढहता हुआ, चीखों पुकारों से भरा हुआ। (**कहते-कहते मंच की सब रोशनी बुझ जाय। निपट अन्धकार और फिर पृष्ठभूमि में तूफान के स्वर, उमड़ता-घुमड़ता तूफान, शोर, और उसमें एक युवती की दर्दभरी चीख। स्वर प्रमिला का है।**)

प्रमिला—(**भय से कांपती वाणी**) आनन्द! रूप!! प्रेमेन्द्र!!! आनन्द तुम कहाँ हो आह....(**चीख**) आनन्द....

आनन्द—(**दूर से**) मुझे कुछ नहीं दिखाई दे रहा। मैं तुम्हें नहीं देख पा रहा।

प्रमिला—(**दूर से**) मैं यहाँ हूँ, आनन्द यहाँ....

आनन्द—(**दूर से जोर से**) मुझे तुम्हारी आवाज भी नहीं सुनाई देती। मैं किनारे के पास हूँ। मैं जा रहा हूँ....

प्रमिला—नहीं आनन्द, नहीं, तुम जाओ नहीं। आनन्द (**कोई उत्तर नहीं**) रूप! रूप!!

रूप—(**दूर से**) मुझे कौन पुकारता है। मैं इस तूफान में नहीं आ सकता मेरी नाव टूट गई है।

प्रमिला—रूप तुम कहाँ हो ? रूप एक बार, बस एक बार सहारा दो....रूप....

(**रूप की हंसी सुन पड़ती है। तूफान तेज होता है**)

प्रमिला—रूप हंसते हो, रूप....ओह (**चीख**) प्रेमेन्द्र....प्रेमेन्द्र....(**पूरी चीख**) प्रेमेन्द्र....प्रेमेन्द्र तुम तो बोलते ही नहीं। तुम भी गये।

रूप—(**हंसते हुए**) प्रेमेन्द्र तो सबसे पहले चला गया था। कोई भी समझदार व्यक्ति इस तूफान में नहीं फंस सकता। मेरी सलाह है तुम भी घर जाओ। (**दूर जाते शब्द समाप्त**)

प्रमिला—मैं घर जाऊँ। मैं घर जाऊँ....रूप....प्रेम....आनन्द....मुझे रास्ता नहीं सूझता मैं अब घर नहीं लौट सकती मैं तूफान में फंसी हूँ... मुझे ले चलो। मुझे सहारा दो....मैं (**जोर की चीख**) ओह....मुझे बचाओ मुझे बचाओ....(**एक बार तूफान की तेजी....कुछ नहीं सुन पड़ता। चीख। फिर एक पुरुष स्वर उठता है**)

हेमन्त—(**दूर से**) कौन पुकार रहा है...अरे कौन है....(**जोर से**) किधर हो जी तुम (**बिजली की कड़क**) ओह वह....वह कोई लड़की है तख्ते से चिपटी, लहरें उसे उछाल रही हैं (**जोर से**) मैं अभी आया....घबराओ नहीं....(**जोर से तैरने का स्वर**) घबराओ नहीं, मैं आ गया, पकड़े रहो, हाँ, मुझे पकड़े रहो, बस, अब कोई डर नहीं। किनारा पास है।

प्रमिला—तुम, तुम कौन हो ? देवदूत....

हेमन्त—देवदूत (**हँसता है**) नहीं, नहीं, मैं इन्सान हूँ। तुम्हारे जैसा इंसान।

प्रमिला—तुम्हारा नाम....

हेमन्त—हेमन्त हेमेन हेम....तुम्हारा नाम....

प्रमिला—प्रमिला....पम्मि....

हेमन्त—लो किनारा आ गया—सम्भल कर, अरे रे गिरो नहीं, हाँ....

(**सहसा तूफान खत्म हो गया।**)

प्रमिला—अरे यह क्या, किनारे पर आते ही तूफान खत्म हो गया।

हेमन्त—(**हँस कर**) तूफान के खात्मे को ही किनारा कहते हैं। यही एक जादू है। (**हँसी**)

प्रमिला—तुम कितने अच्छे हो जादूगर।

(तेज हँसी समाप्त, अन्धकार मिटता है। मंच पर हेमेन्द्र पीठ पर हाथ बाँधे घूम रहे हैं और प्रमिला ठगी सी सोफे पर बैठी हेमेन्द्र को देखती है। प्रकाश होते ही वह बोल उठती है।)

प्रमिला—तो तुमने मुझे देखा !

हेमन्त—हाँ पम्मि। न जाने कैसे और कहाँ से आकर वे चित्र मेरी आँखों के सामने आकर खड़े हो गये....

प्रमिला—मैं समझती हूँ। मैं तुम्हारा आशय समझती हूँ हेमेन लेकिन....

हेमन्त—लेकिन (**बाहर शोर**) ओह वे आ गये।

प्रमिला—वे कौन....

(सेवक का कुछ बड़े-बड़े पैकेट लिये प्रवेश)

सेवक—सरकार। कुछ बाबू लोग यह सामान लाइन। सरकार कैरम बोरड भी रहीन। आप खेलत चाही तो लगा दइन। मुदा मेमसाहब की तबियत भी ठीक नाइन।

हेमन्त—ठीक है, अभी सब सामान मिस साहब के कमरे में रखो।

सेवक—जानत रहन सरकार पर मुदा मेमसाहब....

हेमन्त—मेमसाहब वहीं आकर खेलेंगी।

सेवक—जानत रहन सरकार, जानत रहन मुदा।

(प्रमिला सहसा हँस पड़ती है। फिर गम्भीर हो जाती है)

प्रमिला—यह क्या है हेम।

हेमन्त—अभी पता लग जाता है। मौसम कितना सुहावना है। क्यों न हम सब लोग पिकनिक पर चलें।

प्रमिला—(**एकदम**) सच। तो यह बात है। विचार बुरा नहीं है। मिरूपा भी साथ रहेगी और....

हेमन्त—(**एकदम प्रफुल्लित**) आइये, आइये, आप लोग हैं, बैठिये। कहिये कैसे आना हुआ। शायद पिकनिक पर जाने का कोई प्रोग्राम है। चाय पी ?

वीरेश्वर—चाय पीने योग्य होंगे तो अवश्य पियेंगे पर अब तो आपने बुलाया था....

हेमन्त—हाँ, हाँ, मैंने बुलाया था। मैं भी कैसा भुलक्कड़ हूँ। वह नीरू ! तुम पिकनिक पर जा रही थीं....

निरूपा—जा रहे थे लेकिन ममा....

हेमन्त—ओह वह बात है। ममा को कुछ गलतफहमी हो गई। उसे खेद है कि....

वीरेश्वर—लेकिन

हेमन्त—कोई लेकिन-वेकिन नहीं। आप लोग चाय पियें, फिर पिकनिक की तैयारी करे। कुछ सामान मैंने भिजवाया है।

निरूपा—(**ठगी-सी**) वह हमारे लिये है ?

हेमन्त—यह भी पूछने की बात थी। जाओ, जाओ (**सब ठगे से खड़े हैं**) अरे तुम देख क्या रहे हो जाओ (**वीरेश्वर ठगा-सा जाता है। सहसा अजित बोल उठता है**)

अजित—कमाल है, मुझे कितना डरा दिया इन दोनों ने। धत्। आण्टा और अंकल क्या ऐसे दकियानूस हैं जो निरूपा को कुछ करने से रोकेंगे। (**जाता है**)

(**प्रमिला तेजी से खड़ी होती है, सहसा निरूपा उससे चिपट जाती है**)

निरूपा—मेरी अच्छी ममी, डार्लिंग ममा मुझे कितना दुख है। ओह तुम कितनी स्वीट हो। मैं अभी (**तेजी से जाती है**) तैयारी करती हूँ अभी ओह ममी, ओह डैडी।

प्रमिला—(**क्रुद्ध चकित**) यह सब क्या है हेम।

हेमन्त—जो होना चाहिये।

प्रमिला—निरूपा उसके साथ अकेले पिकनिक पर जायगी ?

हेमन्त—जा रही है !

प्रमिला—नहीं यह नहीं हो सकता।

हेमन्त—तुम माँ हो पम्मि। माँ प्यार करती है। प्यार की झोंक में नफरत भी कर बैठती है पर पिता न प्यार करता है न नफरत। वह तो हिसाब करता है। नीरू के पिता ने हिसाब करके देख लिया है कि नीरू को स्वतन्त्रता देने में ही कल्याण है।

प्रमिला—लेकिन वह गिर गई तो....

हेमन्त—तो उसे उठाने के लिये पिता के हाथ साथ रहेंगे। गिरे को उठाने में बड़ा सुख मिलता है। लेकिन पम्मि, नीरू के गिरने का अवसर आयेगा ही नहीं।

प्रमिला—क्यों ?

हेमन्त—क्योंकि गिरते वही हैं जिन्हें सहारा दिया जाता है।

प्रमिला—(**ठगी-सी**) हेम ! हेम !!

हेमन्त—आओ, हम अपनी पिकनिक की तैयारी करें (**पुकार कर**) राजू।

राजू—जानत रहन सरकार, तैयार होई रहन।

(**दोनों हँस पड़ते हैं। परदा**)

★

बहुत बड़ा सवाल

मोहन राकेश

★

चरित्र :

राम भरोसे और श्याम भरोसे उस कालेज के चपरासी हैं जिसका कमरा पुअर वेल्फेयर लीग की मीटिंग के लिए लिया गया है। राम भरोसे की उम्र तीस पैंतीस बरस की है और शरीर गठा हुआ और भारी है। बड़ी-बड़ी मूँछों ने ऊपर के ओंठ को पूरा घेर रखा है। श्याम भरोसे दुबला-पतला बुड्ढा आदमी है, कमर झुकी हुई है, ज़रा ज़रा नाक में बोलता है और ऐसे बात करता है जैसे ज़िन्दगी से बेज़ार आ गया हो। वह और राम भरोसे दोनों घुटनों तक की मैली धोतियाँ और वैसी ही मैली कमीजें पहने हैं, केवल खाकी पगड़ियाँ ही उनके चपरासी होने का सबूत देती हैं।

शर्मा, वेल्फेयर लीग का सेक्रेटरी, मँझोले कद और इकहरे शरीर का आदमी है, जिसके माथे पर हर समय तेवर पड़े रहते हैं। कपूर, जिसका नाम 'साहब' के बिना अधूरा प्रतीत होता है, उन आदमियों में से है, जिन्हें अपने सिवा सारी दुनिया ग़लत काम करती नज़र आती है। सिर के बाल आधे से ज़्यादा उड़ गये हैं,जो बच पाये हैं वे आधे से ज़्यादा सफेद हो चुके हैं। मनोरमा, संतोष और गुरप्रीत क्रमशः जाइंट सेक्रेटरी, डिप्टी जाइंट सेक्रेटरी और असिस्टेंट जाइंट सेक्रेटरी हैं। मनोरमा का कद छोटा है। वह बाकी दोनों से तेज़ है। संतोष कद में लम्बी है, बात कम करती है, मगर अपने को औरों की सतह से ऊपर समझती है। गुरप्रीत में इसके विपरीत थोड़ी हीनता का भाव है, हालांकि देखने में वह उन दोनों से अच्छी है, गाती भी अच्छा है और उसके बालों में लगा हुआ फूल उसकी सुरुचि का परिचय देता है।

प्रेम प्रकाश और दीन दयाल उन व्यक्तियों में से हैं जो दूसरों के कहने से किसी भी सभा के सदस्य बन जाते हैं। प्रेम प्रकाश की विशेषता है उसके आगे को खड़े हुए ओंठ और बर्फ की तरह सफेद बाल। दीन दयाल केवल कुछ गोलाइयाँ इकट्ठी करके बनाया गया इन्सान लगता है, और कपड़ों को देखते हुए वे गोलाइयाँ निरन्तर फैलती प्रतीत होती हैं।

रमेश, मोहन और सत्यपाल तीनों लीग के युवा सदस्य हैं। रमेश ठिगना है और क्षति पूर्ति के न्याय के अनुसार सबसे गर्म मिज़ाज है। मोहन को देखकर

भ्रम होता है कि हड्डियों का ढाँचा ही कोट पतलून पहनकर चला आ रहा है। वह बात भी करता है तो लगता है कि मजाक कर रहा है। सत्यपाल ने गोल चेहरे पर हिटलरी मूँछें पाल रखी हैं और शोर और व्यवस्था-भंग में उसे विशेष रस मिलता है।

सेटिंग :

कालेज का एक कमरा, जिसे ब्लैक बोर्ड वगैरह हटा कर मीटिंग के लिए दुरुस्त किया गया है। दायीं ओर तीन कतारों में कुर्सियाँ तिरछी लगी हुई हैं। पहली कतार में तीन, दूसरी में पाँच और तीसरी में सात कुर्सियाँ हैं। इनके ठीक सामने प्रधान की मेज़ और कुर्सी लगी है। उसकी बायीं तरफ, अर्थात् दर्शकों के सामने एक छोटी मेज़ और कुर्सी लगी है, जो सेक्रेटरी के लिए है। पीछे की दीवार पर संसार का बहुत बड़ा नक्शा लटक रहा है। अन्दर आने का रास्ता बायीं तरफ से, अर्थात् से सेक्रटरी की मेज़ के बगल से है। मीटिंग के दौरान में दोनों चपरासी दरवाजे के पास घुटने समेट कर बैठे रहते हैं। राम भरोसे हाथ पर सुरती मलता रहता है और श्याम भरोसे ऊँघने लगता है।

समय : जनवरी की एक शाम

(पर्दा उठने पर राम भरोसे और श्याम भरोसे कुर्सियाँ झाड़ते दिखाई देते हैं।)

श्याम भरोसे—ए राम भरोसे ! इतनी धूल क्यों उड़ाता है रे। धीरे-धीरे झाड़। रोज-रोज की धूल से ये फेफड़े पहले ही खाये हुए हैं।

राम भरोसे—अरे, जो जान दो बरस में जानी है, वह आज ही चली जाय। जाने दुनिया भर की धूल मिट्टी अपने ही भाग में लिखी है। सबेरे निकालो तो शाम को चली आती है, शाम को निकालो तो सबेरा नहीं होने देती। ससुरी मेजों कुर्सियों के अन्दर से ही पैदा हो जाती है।

श्याम भरोसे—अरे तो धीरे-धीरे नहीं झाड़ा जाता ? तू अपनी जान दो बरस

में दे, भले आज ही दे दे। पर मेरे प्रान अभी रहने दे।

राम भरोसे—ससरी रोज-रोज ये मीटिंग होंगी तो किस के प्रान रहेंगे ? आज किसी का जन्म होता है, कल किसी का मरन हो जाता है। जनमें मरें ये और धूल खायें राम भरोसे, श्याम भरोसे।

श्याम भरोसे—आज भी किसी का जन्म दिवस होगा।

राम भरोसे—राम जाने जन्म दिवस है कि कौन दिवस है ?....अपना मरन दिवस है।

(फ़ाइल बग़ल में दबाये हुए, व्यस्तता के अंदाज़ में कुछ बुदबुदाते हुए शर्मा का प्रवेश।)

शर्मा—अभी तक कोई नहीं आया ? लोग समझते हैं कि मेरा अकेले का घर का काम है। जैसे मुझे इस काम की तनख्वाह मिलती है। कोई एक भी आदमी वक्त पर नहीं आता।....और श्याम भरोसे, तुम लोगों ने अभी तक कुर्सियाँ भी नहीं झाड़ीं ? साढ़े पाँच बजे मीटिंग शुरू होनी थी और पांच पैंतीस हो गये हैं। तुम लोगों को तो वक्त पर जगह तैयार कर देनी चाहिए। हम लोग चाहे देर से आयें।

श्याम भरोसे—हम को एक घड़ी दिला दो साहब तो हम वक्त पर सब काम कर सकते हैं। ऐसे हमें क्या पता लगे कि पाँच बजे हैं कि साढ़े पाँच बजे हैं।

राम भरोसे—और साहब, जब आप हाथ पर घड़ी लगा कर देरी कर जाते हैं तो हम लोगों की तो कोई बात ही नहीं है।

श्याम भरोसे—और साहब, जल्दी करें तो डाँट पड़ती है कि जल्दी क्यों किया, फिर से सारी धूल भर गयी। और जल्दी न करें तो डाँट पड़ती है कि जल्दी क्यों नहीं किया, टाइम बरबाद कर दिया ! कोई जादू तो जानते नहीं साहब, हाथ से काम करते हैं सो कर रहे हैं।

शर्मा—ज़्यादा बातें मत करो, काम करो। अभी कितनी कुर्सियाँ बाक़ी हैं ?

राम भरोसे—बस यह हाथ की कुर्सी बाक़ी है। (**ज़ोर ज़ोर से झाड़ कर**) यह भी लो, हो गयी। अब बताओ और जो कहो सो करें।

शर्मा—अभी कुछ नहीं करना है। यहाँ दरवाज़े के पास बैठो। जो काम होगा बता देंगे। यह देखो, यहाँ कुर्सी पर धूल जमी हुई है। इस तरह सफ़ाई की जाती है ?

श्याम भरोसे—क्या पता साहब कि किस तरह सफ़ाई की जाती है। आप को पता है, आप बता दो, वैसे कर दें। हम को तो माँ बाप ने जैसे उलटा सीधा सिखाया वैसे कर देते हैं। किसी स्कूल में इस काम की पढ़ाई तो पढ़े नहीं हैं।

शर्मा—नॉनसेंस !....अब जैसा हुआ है, रहने दो। और यहीं रहना, कहीं इधर उधर नहीं चले जाना।

श्याम भरोसे—जाएँगे कहाँ साहब ? कमरे को ताला लगेगा तभी तो यहाँ से जा पाएँगे। नहीं तो कालिज का सुपरींडेंट कल हमारी जान को आएगा।

(दोनों आदमी दरवाजे के पास जा बैठते हैं। मनोरमा, संतोष और गुरप्रात आती हैं।)

मनोरमा—हलो शर्मा ! अकेले ही हो, अभी कोई नहीं आया ?

शर्मा—और कोई क्यों आएगा ? लोग समझते हैं कि यह सेक्रेटरी के घर का काम है।

संतोष—क्यों ? हम तो तीनों देखिए, वक्त पर पहुँच गयी हैं।

(कपूर मुस्कराता है।)

कपूर—आप तीनों का वक्त पर पहुँचना भी माने नहीं रखता संतोष जी, क्योंकि आप तीनों भी सेक्रेटरी हैं। मनोरमा जी जॉइंट सेक्रेटरी, आप डिप्टी जॉइंट सेक्रेटरी और गुरप्रीत जी....इनका क्या डेज़िगनेशन है शर्मा ?

शर्मा—असिस्टेंट जॉइंट सेक्रेटरी।

कपूर—तो मेरे सिवा इस वक्त यहाँ सब जॉइंट और सेक्रेटरी हैं। वक्त पर आने वाला साधारण सदस्य मैं अकेला ही हूँ।

शर्मा—आपको ग़लतफ़हमी है कि आप वक्त पर आये हैं। आप दस मिनिट लेट हैं।

कपूर—दस पाँच मिनिट लेटलेट नहीं होता। इतने लेट तो तुम भी हो। तुम्हारा प्रेसीडेंट अभी तक नहीं आया....

शर्मा—मैं पहले ही कहता था कि इस आदमी को प्रेसीडेंट नहीं बनाना चाहिए। ऐसा ग़ैर ज़िम्मेदार आदमी, न आप काम करता है और न किसी और को करने देता है। आज ज़रा ठंडा दिन है, इस लिए रज़ाई में दुबक कर सो रहा होगा।

कपूर—यार शर्मा, ठंड तो वाक़ई बहुत है। क्यों न मीटिंग शुरू होने से पहले एक-एक प्याली चाय पी ली जाय। क्यों मनोरमा जी ?

मनोरमा—आई डोंट माइंड। सर्दी न भी हो तो भी चाय की प्याली को कौन इन्कार कर सकता है ?

कपूर—राम भरोसे !

राम भरोसे—जी साहब !

कपूर—भाग कर लाला से एक सेट चाय ले आ। पाँच प्यालियाँ।

शर्मा—मैं चाय नहीं पिऊँगा।

संतोष—मेरे लिए भी रहने दीजिए।

कपूर—क्यों ? गर्म पानी ही है । एक प्याली पी लेने में क्या हर्ज है ?

संतोष—मुझे ज़्यादा चाय मुआफ़िक नहीं आती ।

कपूर—अच्छा अं....अं....तो राम भरोसे, आधा सेट ले आ, और तीन प्यालियाँ ।

मनोरमा—आप ने शर्मा जी से तो दूसरी बार पूछा ही नहीं ।

कपूर—हाँ हाँ ।....क्यों भई शर्मा....?

शर्मा—मुझे चाय वैसे ही पसंद नहीं है । और यह मीटिंग का वक्त है, चाय पीने का वक्त नहीं है ।

कपूर—राम भरोसे, आधा सेट और तीन प्यालियाँ । और साथ थोड़ी मूंगफली । एक नहीं दो आने की ले आना । शर्मा साहब मूंगफली खाएँगे ।

शर्मा—भई मैं वक्त पर मीटिंग शुरू कर दूँगा । तुम लोग चाय पीते रहना ।

मनोरमा—बग़ैर प्रधान के मीटिंग कैसे शुरू हो सकती है ? और अभी कोरम भी तो पूरा नहीं है ।

कपूर—मैं तो कहता हूँ कि मीटिंग बरखास्त ही कर दो । सब लोग कैंटीन में जा कर चाय पीते हैं ।

शर्मा—**(उत्तेजित होकर)** इससे ज़ाहिर होता है कि आप लोगों की इस कार्य के साथ कितनी हमदर्दी है । आप सरकार से आशा करते हैं कि वह ग़रीब लोगों के लिए बेल्फ़ेयर होम बनाये, यह करे, वह करे, और खुद आप एक प्रस्ताव पास करने के लिए दस मिनिट बैठ भी नहीं सकते ।

मनोरमा—हियर हियर ! पुअर वेल्फ़ेयर लीग ज़िंदाबाद । सेक्रेटरी शर्मा ज़िंदाबाद !

कपूर—सेक्रेटरी शर्मा ज़िंदाबाद ! मेरी तरफ़ से भी ज़िंदाबाद ।

शर्मा—श्याम भरोसे के पीछे जा और उससे कह कि चाय-आय लानी है तो जल्दी ले आये ।

श्याम भरोसे—अब साहब पैरों से चल कर गया है तो पैरों से चल कर ही तो आएगा । हम जाकर उसे हवाई जहाज पर थोड़े ही बैठा लाएँगे ।

शर्मा—अच्छा, चुप बैठा रह । ज़्यादा ज़बानदराज़ी न कर ।

श्याम भरोसे—और लो । हमारा बोलना भी ज़बानदराज़ी हो गयी । आप डाँट-फटकार भी लें तो कुछ नहीं ।

कपूर—ये लोग हैं शर्मा जिनका तुम हित करना चाहते हो । मेरा तो खयाल है कि ये लोग ज़रा भी हमदर्दी डिज़र्व नहीं करते । क्यों मनोरमा जी ?

मनोरमा—भई मैं तो थक गयी हूँ, ज़रा बैठ जाऊँ । दिन भर कालेज में पढ़ाते हैं और शाम को जब सुस्ताने का वक्त होता है, आप लोग मीटिंग

रख देते हैं।

(राम भरोसे चाय की ट्रे लिये हुए आता है।)

कपूर—लीजिए, चाय आ गयी है। इसमें आप की सारी थकान दूर हो जाएगी। आइए गुरप्रीत जी, आप चाय बनाइये। जब तक किसी लेडी का हाथ न लगे, चाय में मिठास नहीं आती।

(गुरप्रीत छोटी मेज़ के पास जाकर चाय बनाने लगती है। झूमती हुई चाल से प्रेम प्रकाश आता है और उसके पीछे पीछे दीन दयाल आता है, ऐसे जैसे बेबस होकर चल रहा हो।)

मनोरमा—लीजिए, ये लोग भी आ गये, ऐन मौके पर।

कपूर—आओ, आओ, बड़े वक्त के पाबंद हो यार।

प्रेम प्रकाश—चाय उड़ रही है? अरे वाह वाह! साथ-मूंगफली भी है! क्या कहने हैं!

दीन दयाल—गुरप्रीत जी, इन्हें मूंगफली खिलाइये और चाय की प्याली इधर दे दीजिए।

कपूर—आप....अ....अ....चाय पियेंगे?

दीन दयाल—क्यों नहीं पियेंगे? आप का ख्याल है कि आप पियेंगे और हम खड़े-खड़े मुँह देखेंगे? अँ-अँ-अँ इस प्याली मे मीठा जरा कम डालिए गुरप्रीत जी। मैं चाय में मीठा कम पीता हूँ।

कपूर—ठीक है। एक प्याली दीन दयाल जी ले लेंगे और....

प्रेम प्रकाश—और एक प्याली प्रेम प्रकाश जी ले लेंगे। गुरप्रीत जी, मेरे लिए मीठा दो चम्मच डालिए। फीकी चाय ज़बान पर रस ही नहीं देती।

गुरप्रीत—आप के लिए दूध कितना डालूं?

प्रेम प्रकाश—कितना भी डाल दीजिए।...या जितना बचे, उतना डाल दीजिएगा। चाय में दूध ही न हो, तो चाय का मज़ा क्या?

गुरप्रीत—यह लीजिए।....अब यह तीसरी प्याली कौन लेगा?

संतोष—कपूर साहब को दे दो, इन्हें बहुत ठंड लग रही थी।

दीन दयाल—और यह हैं भी ज़रा अंग्रेज़ तबीअत आदमी, ये चाय न पियें तो इनका हाज़मा दुरुस्त नहीं रहता।

कपूर—नहीं नहीं, यह प्याली मनोरमा जी को दे दीजिए। बेचारी बहुत थकी हुई हैं।....ले लीजिए मनोरमा जी।

मनोरमा—भई, आप ने चाय मँगवायी और आप ही नहीं पियें, यह कैसे हो सकता है? ले लीजिए आप।

कपूर—आप तकल्लुफ़ कर रही हैं, ले भी लीजिए।

मनोरमा—तकल्लुफ़ तो आप कर रहे हैं। ले लीजिए न।

कपूर—देखिए, इसी तरह चाय ठंडी हो जाएगी, आप पी लीजिए।

मनोरमा—ठंडी चाय का ज़रा फ़्लेवर नहीं रहता। जल्दी से पी जाइए।

कपूर—आप खामखाह हठ कर रही हैं।

मनोरमा—आप फ़िज़ूल ज़िद कर रहे हैं।

(मोहन बाहर से आता है)

मोहन—अरे वाह! चाय की प्याली भरी रखी है और कोई पीने वाला नहीं है।

(प्याली उठा कर चाय सुड़कने लगता है।)

मेरा खयाल है कि यह प्याली मेरा ही इंतज़ार कर रही थी। खूब गर्म चाय है। भई, मेज़बान कौन है जिसे धन्यवाद दूँ? दीन दयाल जी, आप चाय पिला रहे हैं?

दीन दयाल—नहीं भाई, मैं भी तुम्हारी तरह मेहमान हूँ।

मोहन—तो आप पिला रहे हैं प्रेम प्रकाश जी? शुक्रिया! बहुत-बहुत शुक्रिया!

प्रेम प्रकाश—शुक्रिया मेरा करते हो? मैं आप मेहमान हूँ।

मोहन—तो....?

संतोष—चाय कपूर साहब पिला रहे हैं।

मोहन—खुद नहीं पी रहे और दूसरों को पिला रहे हैं? भई खूब दरियादिली है। ऐसा दरियादिल बस एक ही आदमी और देखा है।

संतोष—कौन?

मोहन—हैं एक साहब हमारी जान पहचान के। वे अपनी बीवी को आप सैर कराने नहीं ले जाते, अपने दोस्तों को ले जाने देते हैं।

(हल्का सा ठहाका लगता है।)

शर्मा—लेडीज़ के सामने ऐसी बात करना एटिकेट के खिलाफ़ है मिस्टर मोहन। मैं चाहूँगा कि हम यहाँ के वातावरण को गम्भीर रहने दें।

मोहन—सॉरी सर! मैं इसके बाद गम्भीर रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ।....थोड़ी मूँगफली तो ले सकता हूँ न?

(कुछ दूरी पर एक क़हक़हा सुनायी पड़ता है।)

संतोष—लगता है कुछ और लोग आ रहे हैं।

मोहन—लोग क्या, रमेश और सत्यपाल हैं। ऐसी वहशियाना हँसी उन दोनों के सिवा कोई हँस ही नहीं सकता।

शर्मा—मिस्टर मोहन, प्लीज़!

मोहन—अगेन सॉरी सर।....मगर आप ही बताइये, यह हँसी इन्सानों की सी हँसी है?

(रमेश और सत्यपाल बाँह डाले आते हैं।)

रमेश—किस की हँसी इन्सानों जैसी नहीं है ? आप की मुराद मेरी हँसी से है ?

मोहन—मेरी मुराद आप ही की हँसी से थी, मगर मैं अपने रिमार्क वापस लेता हूँ। आप मूँगफली खाइये।

(लिफ़ाफ़ा उठा कर उन दोनों के आगे कर देता है)

रमेश—यह ज़रा सी मूँगफली आप किस-किस को खिलाएँगे ? लो भई सत्यपाल शर्मा साहब आप भी लीजिए। लीजिए मनोरमा जी, कुल आठ दस दाने ही बचे हैं, आप ले लीजिए। अच्छी भुनी हुई मूँगफली है।

मनोरमा—पहले कपूर साहब को दीजिए।

रमेश—नहीं जी, लेडीज़ फ़र्स्ट। आप भी लीजिए संतोष जी।... लीजिए गुरप्रीत जी, आप के लिए कुल दो ही दाने बचे हैं। अरे वाह, आप ने उन में से भी एक दाना छोड़ दिया ?....यह मैं ले सकता हूँ कपूर साहब ?

कपूर—ज़रूर-ज़रूर।

रमेश—थैंक यू। थैंक यू वेरी मच।

शर्मा—दोस्तो, मैं समझता हूँ कि जो सदस्य आने वाले थे, वे आ गये हैं और जो नहीं आये उनके आने की उम्मीद नहीं है। इस लिए अब मीटिंग की कार्यवाही आरम्भ की जाय।

प्रेम प्रकाश—लेकिन प्रेसीडेंट साहब तो अभी आये नहीं।

शर्मा—उनकी काफ़ी देर इंतज़ार हो चुकी है। मैं उन के स्थान पर आज की मीटिंग के सभापतित्व के लिए कपूर साहब के नाम का प्रस्ताव करता हूँ।

मोहन—मैं इस का समर्थन करता हूँ।

शर्मा—आइये कपूर साहब !...और सब लोग भी अपनी-अपनी जगह पर बैठ जायें जिस से कार्यवाही आरम्भ की जा सके।

(कपूर प्रधान की कुर्सी पर आ जाता है, शर्मा सेक्रेटरी की कुर्सी पर चला जाता है और और सब लोग सामने की कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। मनोरमा संतोष और गुरप्रीत सबसे अगली पंक्ति में बैठती हैं।)

शर्मा—भाइयो और बहनो....

मोहन—मैं एक संशोधन पेश करता हूँ—बहनो पहले और भाइयो बाद में होना चाहिए। यह सभ्य समाज का क़ायदा भी है और इस समय भी बहनें अगली पंक्ति में और भाई सब पिछली पंक्तियों में बैठे हैं।

शर्मा—मिस्टर मोहन, मैं आप से फिर अनुरोध करता हूँ कि आप गम्भीर होकर

बैठें। यह समय हँसी मज़ाक का नहीं है।

रमेश—मैं आप के इस कथन पर एतराज़ करता हूँ। मिस्टर मोहन बिल्कुल गम्भीर हैं और उन्होंने कोई हँसी मज़ाक नहीं किया। कोई भी वक्तव्य आरम्भ करते समय बहनों का ज़िक्र पहले होना चाहिए।

शर्मा—अच्छा, अच्छा! मैं आपका संशोधन स्वीकार करता हूँ....

रमेश—आपका मतलब है कि आप मिस्टर मोहन का संशोधन स्वीकार करते हैं।

शर्मा (चिढ़ कर) जी हाँ, मेरा मतलब है कि मैं मिस्टर मोहन का संशोधन स्वीकार करता हूँ।....बहनो और भाइयो, यह आप सबको विदित ही है कि आज हम लोग यहाँ क्यों इकट्ठे हुए हैं। पुअर वेल्फ़ेयर लीग पिछले दो बरस से उन निर्धन व्यक्तियों की भलाई के लिए काम कर रही है जो अपने लिए रहने खाने और पहनने के साधन जुटाने में असमर्थ हैं। हमने अपने पिछले प्रस्ताव द्वारा सरकार से अनुरोध किया था कि वह बेकार लोगों के लिए रोटी कपड़े की व्यवस्था करे, जैसे कि कुछ दूसरे देशों की सरकारें करती हैं। आज के प्रस्ताव द्वारा हम सरकार से यह अनुरोध करना चाहते हैं कि वह देश में जगह-जगह निर्धनगृहों की स्थापना करे....

रमेश—निर्धन गृह का मतलब?

सत्यपाल—ऐसे घर जिनमें धन न हो।

शर्मा—नहीं, निर्धन गृह का मतलब है ग़रीबों के घर....

मोहन—ग़रीबों के घर तो सारे देश में ही हैं। उन्हें स्थापित करने के लिए सरकार की सहायता की क्या आवश्यकता है?

कपूर—इनका मतलब है पुअर हाउसेज़...

मोहन—आई सी।

शर्मा—यह एक बहुत बड़ा सवाल है क्योंकि हमारे देश में बहुत से ऐसे अभागे हैं जिन्हें सोने के लिए छत नसीब नहीं होती, जिनके बच्चे फुटपाथों पर पड़े हुए कड़ी धूप और कड़ी सर्दी बर्दाश्त करते हैं, उनके शरीर बचपन में ही सूखे वृक्षों की तरह मुरझा जाते हैं, हाथ पैर टूटी टहनियों की तरह लटक जाते हैं और प्रतिभा की कोंपलें बाहर फूटने का अवसर ही नहीं पातीं....

रमेश
मोहन
सत्यपाल } हियर हियर!

मोहन—शर्मा साहब, आप तो अच्छी ख़ासी कविता कर लेते हैं।

रमेश—सिर्फ़ गला ही नहीं है, नहीं तो हज़रत मलीहाबादी को मात कर देते।

सत्यपाल—कम से-कम उनके बराबर तो अब भी हैं।

(**कपूर मेज़ पर हाथ मारता है।**)

कपूर—ऑर्डर ऑर्डर। देखिए शर्मा को अपना वक्तव्य पूरा कर लेने दीजिए।

शर्मा—तो मैं आपका अधिक समय न लेकर आपके सामने आज का प्रस्ताव पढ़ देता हूँ। आप लोग फिर इस पर अपनी-अपनी सम्मति प्रकट कर सकते हैं।

(**फ़ाइल टटोलने लगता है लेकिन प्रस्ताव का काग़ज़ नहीं मिलता।**)

शर्मा—अ....अ....मनोरमा जी, प्रस्ताव का कागज़ आप की फ़ाइल में तो नहीं है?

मनोरमा—जी नहीं. मेरे पास तो कोई फ़ाइल ही नहीं है।

सत्यपाल—देखिए शायद संतोष जी की या गुरप्रीत जी की फ़ाइल में हो।

शर्मा—नहीं-नहीं, उनके पास भी कोई फ़ाइल नहीं है।

मोहन—तो शायद उनके बटुवे में हो। देखिए गुरप्रीत जी, आप के बटुवे में तो नहीं है?

गुरप्रीत—मेरे बटुवे में कैसे हो सकता है?

मोहन—शर्मा साहब की फ़ाइल मे नहीं है तो कहीं-न-कहीं तो होना चाहिए। शर्मा साहब, देखिए, पतलून की जेब में तो नहीं है?

(**शर्मा सचमुच पतलून की जेबें टटोलने लगता है।**)

शर्मा—पतलून की जेब में होना तो नहीं चाहिए। घर से चलते समय मैंने फ़ाइल में रखा था। पतलून की जेब में सिर्फ़ रुमाल है और तीन आने पैसे हैं....

मोहन—सिर्फ़ तीन आने पैसे! वट ए पिटी!

सत्यपाल—शर्मा साहब, कोट की जेबों में भी देखिए।

मोहन—कोट की जेबें तो सिली हुई हैं। शायद ड्राई क्लीनर की दुकान से ही पहन कर चले आये हैं। शर्मा साहब, अंदर कमीज़ की जेब देख लीजिए।

रमेश—या भाग कर घर देख आइये। शायद बच्चों ने निकाल लिया हो।

कपूर—आर्डर-आर्डर!....शर्मा तुम बैठ कर दो मिनिट में नया ड्राफ़्ट बना लो।

शर्मा—मैं अभी बना लेता हूँ, एक मिनिट में....

रमेश—मैं प्रस्ताव करता हूँ कि जब तक शर्मा साहब नया ड्राफ़्ट बनाते हैं, उतनी देर में एक गीत हो जाय।

सत्यपाल—मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।

मोहन—मैं गाने के लिए गुरप्रीत जी के नाम का प्रस्ताव करता हूँ।

दीन दयाल—मैं समर्थन करता हूँ।

रमेश—मैं संतोष जी के नाम का प्रस्ताव करता हूँ।

प्रेम प्रकाश—मैं समर्थन करता हूँ।

सत्यपाल—मैं मनोरमा जी के नाम का प्रस्ताव भी करता हूँ और समर्थन भी करता हूँ।

रमेश—तुम अपने प्रस्ताव का आप समर्थन नहीं कर सकते, इस लिए तुम्हारा वाला नाम कैंसिल हुआ।

मोहन—और तुम एक साथ दो-दो प्रस्ताव पेश नहीं कर सकते, इस लिए तुम्हारा वाला नाम भी कैंसिल हुआ। अब सिर्फ़ गुरप्रीत जी का नाम रह गया। तो गुरुप्रीत जी, जल्दी से एक गीत सुना दीजिए।

गुरप्रीत—देखिए, मेरा गला ठीक नहीं है। नहीं, मैं ज़रूर गा देती।

मोहन—मैं गुरप्रीत जी की इस बात पर अविश्वास का प्रस्ताव पेश करता हूँ।

रमेश—मैं इसका समर्थन करता हूँ।

सत्यपाल—लीजिए, गुरप्रीत जी, अब आपको गाना पड़ेगा। प्रेसीडेंट साहब, आप इस मामले में अपनी रूलिंग दीजिए।

कपूर—क्यों शर्मा, कितनी देर है?

शर्मा—बस एक आध मिनिट और।

कपूर—तो गुरप्रीत जी, उतनी देर आप एक गीत सुना ही दीजिए।

गुरप्रीत—देखिए, मैं कह रही हूँ मेरा गला ठीक नहीं है।

मोहन—रूलिंग इज़ रूलिंग। आप को गीत सुनाना पड़ेगा। अब आप गीत न सुनायें यह प्रधान का अपमान है।

सत्यपाल—सारे हाउस का अपमान है। पुअर वेल्फ़ेयर लीग का अपमान है। उस कॉज़ का अपमान है जिसके लिए हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं।

गुरप्रीत—भई ये आप लोग अच्छी मुसीबत कर रहे हैं! खैर मैं एक गीत गा देती हूँ।

मोहन, रमेश, सत्यपाल, प्रेम प्रकाश और दीन दयाल—हियर हियर!

मोहन—तबलची-अबलची चाहिए तो भाग कर बुला लाऊँ?

गुरप्रीत—शुक्रिया!

(गुरप्रीत गीत गाने लगती है— दम भर जो उधर मुँह फेरे ओ चंदा.... गीत के दौरान में मोहन रमेश और सत्यपाल टिप्पणी करते रहते हैं—खूब! वाह वाह! बहुत अच्छे।....गीत समाप्त होने पर एक साथ कई आवाजें आने लगती हैं—एक और एक और—)

कपूर—आर्डर आर्डर!....शर्मा अब तुम प्रस्ताव पढ़ दो।

शर्मा—देवियो और सज्जनो, प्रस्ताव का मज़मून इस प्रकार है, हम पुअर

वेल्फेयर लीग के सब सदस्य....

दीनदयाल—मेरा एतराज़ है। जब प्रस्ताव हिन्दी में है तो संस्था का नाम भी हिन्दी में होना चाहिए।

प्रेमप्रकाश—मेरा भी एक एतराज़ है। जब सब सदस्य यहाँ उपस्थित नहीं हैं तो सब सदस्यों का उल्लेख कैसे हो सकता है?

मोहन—मैं पहले एतराज़ का समर्थन करता हूँ।

सत्यपाल—मैं दूसरे एतराज़ का समर्थन करता हूँ।

कपूर—मैं अनुरोध करता हूँ कि आप लोग पहले पूरा प्रस्ताव सुन लीजिए उस के बाद जो एतराज़ करना हो कीजिए।

दीनदयाल—मगर हिन्दी के प्रस्ताव में संस्था का नाम अंग्रेजी में हो यह हिन्दी का अपमान है। आप इनसे कहिये कि पहले ये संस्था का नाम हिन्दी में कर दें।

कपूर—आप बताइये पुअर वेल्फेयर लीग की हिन्दी क्या है?

दीनदयाल—गरीब हितकारी सभा।

प्रेमप्रकाश—ग़लत है। इसकी हिन्दी है निर्धन कल्याण समाज।

मोहन—यह भी ग़लत है।

प्रेमप्रकाश—यह कैसे गलत है?

मोहन—पहला कैसे गलत है?

प्रेमप्रकाश—वह आसान हिन्दी है इसलिए ग़लत है।

मोहन—यह मुश्किल हिन्दी है इसलिए ग़लत है।

प्रेमप्रकाश—आप हिन्दी जानते हैं?

मोहन—आप अँग्रेजी जानते हैं?

प्रेमप्रकाश—आप लड़ना चाहते हैं?

मोहन—जी नहीं....आप? (**सब हँस पड़ते हैं।**)

कपूर—साहबान पहले प्रस्ताव हो जाने दीजिए।

शर्मा—मैंने आप लोगों के दोनों एतराज़ स्वीकार कर लिये हैं। तो अब प्रस्ताव इस प्रकार है ....इस निर्धन कल्याण समाज के सब उपस्थित सदस्य....

प्रेमप्रकाश—मेरा फिर एक एतराज़ है। यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रस्ताव सर्व सम्मति से ही पास होगा? इस लिए सब उपस्थित सदस्यों का उल्लेख भी नहीं किया जा सकता।

शर्मा—(**उत्तेजित होकर**) तो आप क्या चाहते हैं कि मैं प्रस्ताव पेश न करूँ?

प्रेमप्रकाश—मैंने कब यह कहा? मैं तो केवल उस में संशोधन कर रहा हूँ।

शर्मा—(**उसी तरह उत्तेजित स्वर में**) जब तक मैं प्रस्ताव पूरा नहीं पढ़ लेता

तब तक मैं उसमें संशोधन नहीं करूँगा।

मोहन—यह आप कैसे कह सकते हैं? अभी अभी आपने दो संशोधन स्वीकार किये हैं।

प्रेमप्रकाश—और जब दो संशोधन स्वीकार किये हैं तो तीसरा भी कर सकते हैं।

कपूर—शर्मा मेरा अनुरोध है कि तुम यह संशोधन भी स्वीकार कर लो और जल्दी से पूरा प्रस्ताव पढ़ दो।

शर्मा—तो लीजिए हम निर्धन कल्याण समाज के सदस्य यह अनुभव करते हैं कि यह किसी भी राष्ट्र के लिए अपमान की बात है कि उस राष्ट्र के कुछ सदस्य इतने साधनहीन हों कि उन्हें रात काटने के लिए एक साधारण छत भी प्राप्त न हो। गलियों और बाज़ारों में तथा वृक्षों के नीचे रात बिताने वाले अनेकानेक व्यक्तियों के निवास का उचित प्रबन्ध करने का पूरा उत्तरदायित्व राष्ट्रीय सरकार पर जाता है। ऐसे लोगों के लिए हर नगर में सरकार की ओर से बड़े पैमाने पर निवास गृहों का निर्माण होना चाहिए जहाँ वे बिना कुछ व्यय किये सुविधापूर्वक रह सकें। यह समस्या बहुत गम्भीर है और इस सम्बन्ध में आवश्यक प्रयत्न अभी से किये जाने चाहिए। हम आशा करते हैं कि केवल योजनाएं बनाने में ही समय नष्ट न कर के सरकार इस दिशा में शीघ्र ठोस कदम उठाएगी।

कपूर—इस प्रस्ताव का समर्थन कौन करेगा?

मोहन—समर्थन करने का क्या है? मैं समर्थन कर देता हूँ। साहबान, मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।

रमेश—मैं प्रस्ताव का विरोध करता हूँ।

(**सब लोग आश्चर्य चकित से हो जाते हैं।**)

संतोष—आप इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं?

दीन दयाल—मेरा खयाल है कि प्रस्ताव की भाषा इनकी समझ में नहीं आयी।

प्रेम प्रकाश—पहले इनकी बात तो सुन लीजिए कि ये क्यों विरोध कर रहे हैं!

रमेश—मैंने प्रस्ताव के एक-एक शब्द पर गौर किया है और इसी लिए मैं इसका विरोध कर रहा हूँ। आप में से किसी ने भी गौर किया है कि इस प्रस्ताव में कहा क्या गया है? प्रस्ताव में कहा गया है कि सरकार उन लोगों के लिए घरों का प्रबन्ध करे जो गलियों बाजारों में या वृक्षों के नीचे रात काटते हैं। आप जानते हैं गलियों बाज़ारों और वृक्षों के नीचे रात काटने वाले ज्यादातर लोग कौन हैं? चोर, लफंगे और आवारा

आदमी....

मोहन—हियर हियर !

कपूर—आपने प्रस्ताव का समर्थन किया है और आप उसके विरोध में भी हियर हियर कर रहे हैं ?

मोहन—मैं अपना समर्थन वापस लेता हूँ ।

शर्मा—आप अपना समर्थन कैसे वापस ले सकते हैं ? समर्थन वापस कभी नहीं लिया जाता ।

मोहन—कैसे नहीं लिया जाता ? जब प्रस्ताव वापस लिये जा सकते हैं तो समर्थन भी वापस लिया जा सकता है । मुझे अब महसूस हो रहा है कि आप का प्रस्ताव गलत है । इस लिए मैं अपना समर्थन वापस लेता हूँ ।

कपूर—मिस्टर रमेश, आप बोल चुके हैं या अभी आप को और भी कुछ कहना है ?

रमेश—मुझे अभी बहुत कुछ कहना है । मैं उन लोगों के हित की मांग व्यर्थ समझता हूँ जो समाज के लिए उपयोगी न होकर घातक हैं । मैं समझता हूँ कि हमें उन लोगों के हित की मांग करनी चाहिए जो हित के अधिकारी हैं । चोर लफंगे तो बिना किराये के सरकारी घरों में आराम फ़रमायें और जो थोड़ी-थोड़ी आमदनी में बड़े-बड़े परिवारों को पालने वाले लोग हैं वे किराया दे कर गंदे सीलदार और बदबूदार घरों में रहें ? क्या यही कल्याण का कार्य है ?

मोहन और सत्यपाल—हियर हियर !

रमेश—मैं समझता हूँ कि हमें इस प्रस्ताव को नष्ट करके एक नये प्रस्ताव द्वारा यह मांग करनी चाहिए कि सरकार सब बड़े-बड़े नगरों में सरकारी बस्तियां बनाये, जहाँ सौ रुपये से कम वेतन पाने वाले लोगों को बिना किराये के रहने की जगह दी जाय ।

दीनदयाल—रमेश जी का सुझाव विचार करने योग्य है । मगर मैं समझता हूँ कि सौ रुपये से कम वेतन की शर्त ठीक नहीं है । कोई आदमी सौ रुपया लेता है और अकेला ही सौ का सौ रुपया उड़ा जाता है, जब कि दूसरा लेता तो तीन सौ रुपया है, मगर उसे बारह आदमियों का पेट पालना पड़ता है । इसलिए मेरा सुझाव है कि हर परिवार की आमदनी प्रति व्यक्ति के हिसाब से गिननी चाहिए । जिस परिवार की आमदनी पचास रुपये प्रति व्यक्ति या उससे कम पड़ती है, उस परिवार को यह सुविधा प्राप्त होनी चाहिए....

प्रेम प्रकाश—मेरा खयाल है कि पचास की बजाय साठ रुपये प्रति व्यक्ति रखा जाय क्योंकि आज कल लोगों के खर्च बहुत बढ़े हुए हैं ।

मोहन—मेरा खयाल है कि बासठ रुपये प्रति व्यक्ति होना चाहिए।

सत्यपाल—बासठ रुपये की क्या तुक है?

मोहन—वाह तुक क्यों नहीं है? मेरी तनखाह दो सौ अड़तालीस रुपये है और हम घर में चार आदमी हैं।

(सब लोग हल्का सा ठहाका लगाते हैं।)

संतोष—देखिए जी हमें देर हो रही है। जो भी प्रस्ताव पास करना हो जल्दी से कर लीजिए।

मनोरमा—और आगे से मीटिंग रखनी हो तो जरा जल्दी रखा कीजिए, हमें जाते जाते अँधेरा हो जाता है।

गुरप्रीत—और जरा देर हो जाय तो मेरी ममी बहुत फिक्र करने लगती हैं। अब जल्दी कर लीजिए।

कपूर—मैं आप चाहता हूँ कि काम जल्दी से समाप्त हो और घर चलें। मगर जहां सब लोग अपनी अपनी बुद्धिमता दिखाने लगें वहाँ काम जल्दी कैसे हो सकता है?

रमेश—मैं आप के इन शब्दों पर एतराज करता हूँ। आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

सत्यपाल—मैं भी एतराज करता हूँ। आप हम सब का अपमान कर रहे हैं।

मोहन—आप अपने शब्द वापस लीजिए। नहीं तो हम सब लोग वाक आउट कर जाएंगे।

कपूर—(**उत्तेजित हो कर**) कर जाइये आप वाक आउट! मैं कोई शब्द वापस लेने को तैयार नहीं हूँ।....मैं चाहता हूँ कि मिस्टर शर्मा के प्रस्ताव पर अब वोट दिये जायँ।

मोहन—प्रस्ताव पर वोट नहीं दिये जा सकते। पहले आप अपने शब्द वापस लीजिए।

सत्यपाल—प्रस्ताव पर वोट नहीं दिये जा सकते क्योंकि अभी प्रस्ताव का समर्थन नहीं हुआ।

शर्मा—प्रस्ताव का समर्थन हो चुका।

मोहन—नहीं हुआ। मैंने समर्थन वापस ले लिया है।

कपूर—तो मैं प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।

रमेश—आप फिर भी वोट नहीं ले सकते क्योंकि मैं प्रस्ताव का विरोध कर रहा हूँ।

शर्मा—आप विरोध नहीं कर सकते क्योंकि आप इस समय सदस्य नहीं हैं। आपका इस वर्ष का चंदा नहीं आया है। जो सदस्य न हो वह कोई राय नहीं दे सकता।

रमेश—जिस दिन आप सेक्रेटरी चुने गये थे उस दिन तक आप का भी चंदा नहीं आया था और आप सदस्य नहीं थे। जो सदस्य न हो वह सेक्रेटरी कैसे बन सकता है? मैं सेक्रेटरी के चुनाव को चैलेंज करता हूँ।

मोहन—और जिस दिन यह संस्था बनी थी और पहला चुनाव किया गया था, उस दिन किसी का भी चंदा नहीं आया था और कोई भी सदस्य नहीं था। इस लिए मैं इस संस्था के पहले चुनाव को चैलेंज करता हूँ।

सत्यपाल—और क्योंकि तब के चुने हुए पदाधिकारी इस संस्था को चलाते रहे हैं, इस लिए मैं इस संस्था को चैलेंज करता हूँ।

कपूर—देखिए मैं इस तरह का शोर बर्दाश्त नहीं कर सकता। आप को वाक आउट करना हो तो सीधे से वाक आउट कर जाइये।

रमेश—हम वाक आउट नहीं करेंगे। आप चाहें तो वाक आउट कर जायें।

कपूर—आप को बैठना है तो आराम से बैठिये। मैं यह बददिमाग़ी बर्दाश्त नहीं कर सकता।

रमेश—आप ज़रा ज़बान सँभाल कर बात कीजिये। यह बदज़बानी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता।

(अगली बातचीत के दौरान में संतोष मनोरमा और गुरप्रीत क्रमशः यह कहती हुई उठ कर चली जाती हैं : संतोष—भई मुझे तो इजाज़त दीजिए, मैं जा रही हूँ। मनोरमा —यह अच्छा तमाशा है, मैं भी चल रही हूँ! गुरप्रीत ठहरो बहन जी! मैं भी आ रही हूँ।)

कपूर—आप अपने आप को समझते क्या हैं?

रमेश—आप अपने को क्या समझते हैं?

कपूर—मैं पहले जानना चाहता हूँ कि आप अपने को क्या समझते हैं?

रमेश—मैं अपने को वही समझता हूँ जो आप अपने को समझते हैं।

कपूर—अगर अपना बहुत गुमान है तो मैं सारा गुमान निकाल कर रख दूँगा।

रमेश—ज़रा बाहर निकलिए तो पता चल जाता है कि कौन किस का गुमान निकालता है।

कपूर—मैं आप जैसे आदमी से बात नहीं करना चाहता।

रमेश—मैं आप जैसे आदमी की सूरत नहीं देखना चाहता।

कपूर—**(आवेश में)** मैं....मैं....लेडीज़ एंड जेंटलमैन....

मोहन—माफ़ कीजिए लेडीज़ चली गयी हैं, सिर्फ़ जेंटलमैन बाक़ी हैं....

कपूर—मैं... मैं यह मीटिंग बरख़ास्त करता हूँ। आप लोग अब जा सकते हैं।

(खलबली सी मच जाती है। रमेश मोहन और सत्यपाल मेज़ों पर

हाथ मारते हुए 'शेम-शेम' के नारे लगाते हैं । एक-एक कर के सब कमरे से चले जाते हैं ।

राम भरोसे ऊँघते हुए श्याम भरोसे को हिलाता है ।)

राम भरोसे—उठ भइया श्याम भरोसे, तमाशा खतम हुआ ।

श्याम भरोसे—**(चौंक कर)** अरे बाबू लोग चले गये ? मैं तो भइया, ऊँघ गया था ।

राम भरोसे—हाँ चले गये बाबू लोग ।

श्याम भरोसे—क्या-क्या पास कर गये ?

राम भरोसे—पास कर गये कि राम भरोसे राम भरोसे के घर में रहेगा और श्माम भरोसे श्याम भरोसे के घर में । और बाबू लोग अपने अपने घर में रहेंगे ।

(दोनों हँसते हैं ।)

श्याम भरोसे—और क्या पास हुआ ?

राम भरोसे—और पास हुआ कि मूँगफली के आधे छिलके राम भरोसे साफ करेगा और आधे छिलके श्याम भरोसे ।

श्याम भरोसे—और ?

राम भरोसे—और कुछ नहीं । अब उठ के सीधा हो जा । बहुत कूड़ा कर गये हैं । साफ़ करना है ।

(दोनों उठ कर कुर्सियों पर फिर झाड़न मारने लगते हैं ।)

★

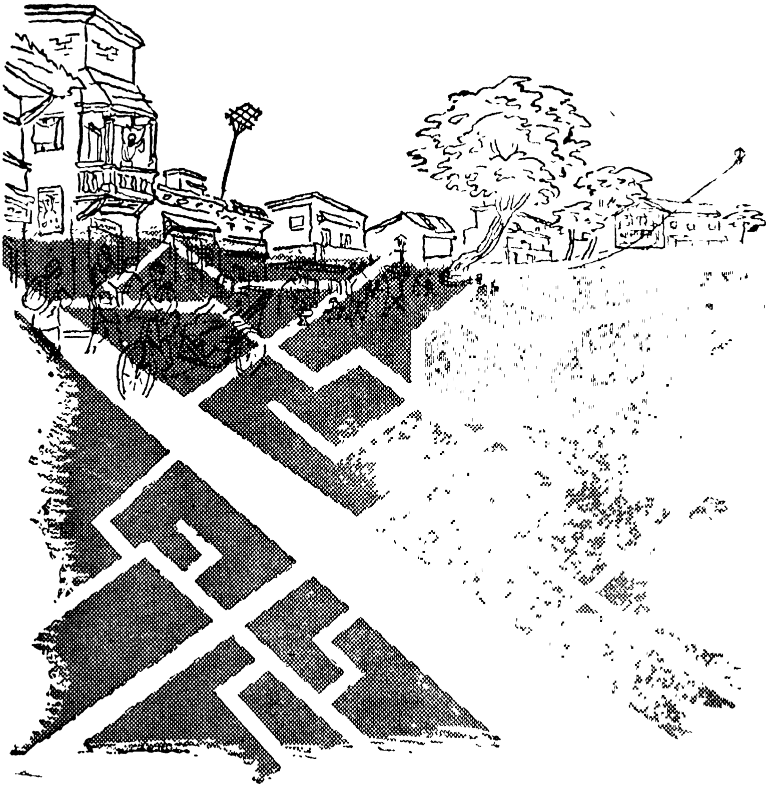

एक सड़क सत्तावन गलियाँ

कमलेश्वर

मयन देवता की बसाई हुई इस बस्ती की ज़िन्दगी की धुरी हैं—यह रिकटगंज की सराय, झम्मनलाल की मंडी और मोटरों के अड्डे ! औरतों के अपने तीज त्यौहार हैं, मनौती-पूजा के ठिकाने हैं ! शीतला देवी, गया देवी, सैयद की मज़ार, बाबा का थान और नीम के नीचे पड़ी मैन देवता की मूरत ! दो-चार मौके ऐसे ज़रूर आते हैं जब आदमी-औरतों का सम्मिलित रूप दिखायी देता है....एकरसानंद आश्रम में साधु-समागम हो या मंडी में रामलीला शुरू हो !

ज़िले की पाँच तहसीलों में सिर्फ दो को रेल जोड़ती है, बाकी तहसीलों के लिए आवागमन के ज़रिये दो ही हैं—मोटर और इक्के। बरसात में जब मौसमी नदियाँ और नाले इतराने लगते हैं तो रास्ते कट जाते हैं, कच्चे रास्ते दलदलों में परिणत हो जाते हैं, कंकड़ की सड़कों में भीषण दरारें पड़ जाती हैं। मोटर अड्डे वीरान हो जाते हैं। इक्के वाले हाथ-पे-हाथ रख के बैठ जाते हैं, और घोड़े—उनके सिर्फ दो हो काम, पूँछ से मक्खियाँ उड़ाना और हिनहिनाना !

नदियाँ घहरा उठती हैं, पर आदमी का आना-जाना नहीं रुकता ! नदियों में कड़ाह पड़ जाते हैं और इन छोटी-छोटी बस्तियों के दिलेर लोग उन कड़ाहों में बैठकर बड़ी-बड़ी भँवरें, हाथी डुबाऊ गहराइयाँ और चौड़े पाट पार कर जाते हैं। जानवरों तक को लँघा ले जाते हैं। खासतौर से असाढ़ में मंडी की नाड़ी धीमी पड़ जाती है—पूरी बस्ती पर उदासी छा जाती है सब कामों के सिल-सिले टूट जाते हैं। नाज की लदाई बंद हो जाती है। पल्लेदार और तौला बेकार हो जाते हैं। सौदागरों का आना-जाना बंद। और फिर आढ़तियों की अपनी तिकड़म ! बरसात के लिए जिन दिनों अन्न की बेहद खींच-तान पड़ती है, गोदाम भर लिए जाते हैं, थोक बिक्री में तब उनका मन नहीं रमता —ब्याने के वक्त भला कोई अपनी गाय बेचता है ! यह तो पाप का भागी होना हुआ ! कोई हिम्मतवाला सौदागर मंडी में आ ही गया तो टका-सा जवाब मिल जाता है—'अपने शहर के लिए भी कुछ रखेंगे सेठ जी, बरसात बाद आना !'

मंडी की नाड़ी धीमी पड़ते ही पूरी बस्ती उदास हो जाती है। सच पूछो

जाय तो शहर के मध्य में स्थित यह मंडी ही दिल है। इसी की धड़कनों के साथ जीवन की गति बँधी है। सड़क वीरान हो जाती है, गलियों का उछाह मूर्छित हो जाता है। तहसील-कचहरी के बाबू लोग पैजामा घुरसे, छतरी लगाये या तौलिया डाले, झमझमाते पानी में भी निकल पड़ते हैं, बाकी लोगों के गोल-के-गोल बैठते हैं।

कव्वाली, गज़ल, रसिया के शौकीन मोटर ठेके पर और आल्हा के शौकीन तमाखू वाले आढ़तियों के यहाँ। मोटर अड्डों पर खासा मजमा रहता है। दर्जी और दफ़तरी का काम करने वाले आँखों में सुरमा डाल कर पान की गिलौरी मुँह में भरे आलाप लेते हैं—ऐ....ए.... जी आहें न भरीं—और तालियों की चटक मस्ती का समाँ बाँध देती है! ढोलक की हुमक से साथ मजलिसी लोगों की कमर थाप देती है!

और उधर—सरौते का एक हत्था पैर से दबाये, दूसरा हत्था मशीन की तरह चलता रहता है, रेशम से बारीक सुपारी के दोहरे कटते जाते हैं। निगाह अपना काम करती है, घुटने के पास रखी आल्हा से 'सुनवाँ का गौना' गाया जाता है!

हर साल एक-सी मुसीबत सहते-सहते अब लोग अभ्यस्त हो गये हैं इसलिये अजीब उदासी भरी बेफिक्री के दिन होते हैं ये। बड़े उदास पर बड़े मोहक! छतनार इमली के पेड़ों से पानी झरता रहता, उसी के नीचे भट-भट....पट....पट भुट्टे भुँजते। बरसते पानी की पेंगों पर किसी अल्हैत का पौरुष भरा स्वर आता.. बाँध सिरोही दोनों भिरि गये, खटखट चलन लगी तलवार! और बादलों की सेना गड़गड़ा कर जूझ जाती। सन्नाती हवा के झोंके पानी की धार को दानों की तरह बिखेर देते। आल्हा की तलवार की तरह बिजली चमक कर कड़कती चली जाती। इमली के फूल, पिलछुहें-सफेद नन्हे-नन्हे फूल, पारिजात की तरह झर-झर बिखर जाते।

गोबर से लिपे-पुते घरों के आँगनों में वर्षा के प्रकोप को कम करने के लिए लोढ़ा से बढ़नियाँ दब जातीं और देवियों की मनौतियाँ होतीं। मंडी के फड़ निर्जीव नज़र आते। बादल का रुख देख-देख कर गल्ले का भाव घटता-बढ़ता रहता।

बरसात खतम होते-होते दिवाली-दशहरे की धूम शुरू होती। घरों को बहुरिया की तरह सजाया जाता। फूली और सूजी कच्ची दीवारों को खरोंच-खरोंच कर एकसा करके मिट्टी से लेप लेते। मुँडेरों की काली पड़ी हुई घासें साफ हो जातीं। दरवाजे गेरू से पुत जाते। द्वार और ताखों पर अनगढ़ हाथों के बेल-बूटे बनते। कोई दरवाज़े पर तिरंगा झंडा बना कर और जैहिन्द लिखकर सजावट पूरी कर लेता....फिर रौनक के दिन! रामलीला की धूम!

मंडी का धर्मादा साल भर इसीलिये इकट्ठा होता था। मंडली आती और झम्मनलाल की मंडी में स्टेज बनता।

शाम से ही रामलीला की धूम थी! भीड़ जमा हो चुकी थी। दर्शकों में शोर मच रहा था।

पर्दा उठने में देर होती देख पंडितजी करतालें लेकर मंच पर आ गये। दायीं ओर पुरुष समूह था, बायीं ओर नारियों का। बीच की पतली राह पर जगह-जगह, झगड़े-फ़साद और औरतों के साथ छेड़खानी करने वालों की हरकतें रोकने के लिए बजरंग-मंडली के स्वयंसेवक खड़े थे। औरतों वाली पटरी पर उनकी सरगर्मी ज़रा ज़्यादा दिखायी पड़ रही थी। कोलाहल था ही लेकिन नारियों वाले हिस्से से स्वर ज़रा ज़्यादा उठ रहा था, आपसी बातें और बच्चों का चीखना। मंच पर खड़े होकर पंडित जी ने एक निगाह जन-समूह पर दौड़ायी और कुछ बोले, जो जनरव में उभर नहीं पाया। करतालें बजायीं तो निकट का भक्त समुदाय शान्त हुआ, लेकिन पीछेवालों का शोर, और ऊँचा हो गया। पैर वाले हारमोनियम पर बाजा मास्टर दर्जी की तरह बैठे थे, उन्हें पंडितजी के इंगित का इन्तजार था। पंडित जी पूरी आवाज़ में चीखे—'सज्जनों और देवियों!' अपनी आवाज़ का असर न होते देख उन्होंने बाजामास्टर को इशारा किया।

बाजा मास्टर ने हारमोनियम पर रखे हुए फूलों को सामने रखी रामायण की पोथी पर बिखरा दिया और, कुंजियों पर मकड़े के पाँवों की तरह उँगलियाँ टिका दीं। पैरों में हरकत हुई और धुन फूट पड़ी—'रघुपति राघव राजाराम....' पंडित जी की करतालें ऐसे बोल पड़ीं जैसे कोई गँवई-गाँव की वधू लच्छे और झाँझों के साथ पैरों में खड़ाऊँ पहने धीर-गति से चली जा रही हो! तबलची भीतर मूर्तियों का शृंगार कर रहे थे। पुरुषों में थोड़ी शान्ति छा गयी लेकिन औरतों की मजलिस बदस्तूर बातों में मशगूल थी। लोगों ने देखा कि अभी सिर्फ़ कीर्तन का ही डौल है, लीला शुरू नहीं हो रही है तो फिर अपनी रौ में आ गये। एकाध आवाज़ें आकर मंच से टकराईं—'लीला शुरू करो....पर्दा उठाओ....'

शृंगार में देरी थी। कुछ परेशान होते हुए पंडित जी ने करतालें बजाना रोकते हुए बाजा मास्टर से कहा, 'फिल्मी बजाओ....फिल्मी' और खुद उसका असर देखने के लिए बगलों में हाथ देकर शिला की तरह खड़े हो गये जैसे यह शोर उनकी सामर्थ्य को चुनौती हो, अभी वे बर्दाश्त कर रहे हैं नहीं तो शाप देकर भस्म कर देंगे या मुक्ति का मार्ग तो नहीं ही खुलने देंगे।

बाजा मास्टर ने बाल झटके और हारमोनियम से एक बड़ी दर्द भरी सदा उठी—'जब तुम्हीं चले परदेस लगाकर ठेस....' हर प्रिया का प्रीतम

परदेस जाता है इसलिये औरतों में और हर जाता हुआ प्रीतम अपनी प्रिया की उदास पुकार से बोझिल हो उठता है इसलिये आदमियों में भी शांति छा गयी। बाजा मास्टर के हारमोनियम से उठती हुई स्वर लहरियाँ वातावरण पर छाने लगीं और जब एक चीत्कार के साथ गीत की धुन समाप्त हुई तो फुसफुसाहट उभरने लगी। कातर होकर पंडित जी ऊँची आवाज़ में बोलने लगे, 'माताओ और बहनो! आप लोगों से विशेषकर एक बात कहनी है। आप देवियाँ मरियादा पुरुसोतम भगवान रामचन्द की लीलाएँ देखने के हेतू आती हैं लेकिन अपनी घरेलू चर्चा यहाँ भी चालू रहती है—सो ऐसी माताओं और बहिनों के लिए उपदेस है कि....' पंडितजी मोटी-पतली आवाज़ में इस तरह बोले जा रहे थे जैसे कोई उनकी चाबी कम-ज़्यादा करता जा रहा हो। तभी शोर और बढ़ गया। पंडित जी लाल-पीले होकर चीखे, 'जो इन उपदेसों पर कान नहीं देंगी....मैं कहता हूँ कि जो इन उपदेसों पर कान नहीं देंगी....भगवान की लीला में इस तरह विघन डालेंगी सो अगले जन्म में छछूँदर की योनी पावेंगी।' शाप देकर पंडितजी पर्दा सरकाकर एकदम अन्तर्ध्यान हो गये कि कहीं ये पातकी क्षमादान न माँग बैठें। पर शोर बढ़ता गया और स्वयं भगवान के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे स्थिति को क़ाबू में लायें, इसलिए गोला दगा और तबले पर पड़ती थापों के साथ हारमोनियम के मंद स्वर के सहारे पर्दा धीरे-धीरे उठने लगा।

वनवासी राम-लक्ष्मण और पराक्रमी पवनसुत के दर्शन होते ही जनता ने भक्ति से घोर जयघोष किया—'बोल् रजा राम चंद की जै ऽ ऽ....बोल् लखन-लाल की जै ऽऽ....पवनसुत हनूमान की जै ऽ ऽ ऽ....'

'रामचंद कृपालु भज मन हरन भव भय दारुनम' के साथ आरती होने लगी। शांति में सदैव पवित्रता का बोध होता है—चारों ओर पावनता बरसने लगी। संगीत, स्वर और स्वाँसें तक संयम में बँध गयीं। रोते बच्चों के मुँह में माँओं ने स्तन दे दिये। रामचंद जी कहीं बीड़ी पीते न देख लें, इसलिए बीड़ियों की चिनगारियाँ धरती से रगड़ कर बुझा दी गयीं। मुँहों में भरा हुआ धुआँ रामजी की निगाह बचा कर पीछे वालों के मुँह पर उगल दिया गया—और पीछे वालों ने, जो एक क्षण पहले इसी बात पर आगे वाले को धकिया कर कटखने कुत्ते की तरह चिपट जाते, उस धुएँ को हाथ से छितरा कर दृश्य साफ़ कर लिया।

आरती समाप्त होते ही पवित्र ज्योति दो थालों में स्थानान्तरित हो गयी। नारियों के समूह में आरती का थाल ले जाने वाले कई मुरीद थे। इन क्षुद्रताओं से अपने को विलग प्रदर्शित करते हुए बनवारी एक थाल लेकर पुरुष समूह में उतर गये। औरतों में आरती ले जाने के लिए दो-तीन लड़के खड़े थे।

धोती, कुर्ता और वास्कट पहने हुए शिवराज के हाथों में थाल सधाते हुए

पण्डितजी ने पूछा, 'डिराइयर साहब आये हैं ?'

'आये होंगे....'

'तुम्हें नहीं मालूम !'

'आखिरी मोटर लेके आने वाले थे, आ गयी होगी तो आये होंगे....' कहते हुए उसने थाल लिया और नारियों वाले भाग में जा घुसा। जाते-जाते मास्टर की ओर उसने देखा था, आँखें मिलते ही किसी साजिश की परछाई उनमें भर गयी थी। बाजामास्टर ने मुस्करा कर भीड़ के किसी कोने पर दृष्टि-पात किया, अपनी ग़लती समझ कर उसकी गर्दन झुक गयी, अँगुलियाँ हारमोनिम के तारों के पिंजर वाले हिस्से में कुछ सुधारने लगीं।

आगे बैठी औरतों के गोल ने राम-लक्ष्मण-हनूमान पर अपनी जगह बैठे हुए उचक-उचक कर पुष्प वर्षा की, मंच के तख्तों से माथा छुआ दिया और खूँट में बँधे चढ़ौती के पैसे खोलने लगीं। जनसमूह के सरोवर में आरती वाले थाल लिए ऐसे झुक-झुक कर बढ़ रहे थे जैसे उथले तालाब में कहार सिंघाड़े बीन रहा हो।

ऐसे कामों में एक अजीब श्रद्धाभरी लोलुपता होती है, कुछ मन के संस्कार और कुछ कुसंस्कार ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि न तो उनकी भक्तिमयता में अविश्वास किया जा सकता है और न सद्वृत्ति पर विश्वास। अगर कोई छैल-छबीला औरतों में घुस गया तो लोगों की दृष्टि कुछ और कहती है, ज़ुबान कुछ और। शिवराज को देख कर पाकड़ के नीचे बैठे जवानो के जमघट में कानाफूसी शुरू हुई—'बड़ा हरामी है साला....'

'बड़े बुल्ले से रहता है....डिराइवरों का माल खाता है !'

'जनखा है ससुरा....सरनामसिंह के बल पे कूदता है....'

'कोई कह रहा था, सरनामसिंह का रिस्तेदार है ...'

'रिस्तेदार नहीं तो....वह ठाकुर ये ब्राहमन, अरे उसने पाल रखा है।'

'देख....देख,' एक ने जल्दी से दूसरे की बाँह पकड़ते हुए दिखाया, 'शान्ती से बात कर रहा है, निकल के इधर आये तो साले की कुटम्मस करदी जाय आज !'

'अच्छा-अच्छा खेल देखो....' एक ने कहा। उधर मंच पर न जाने कब मेघनाद-लक्ष्मण युद्ध शुरू हो चुका था। दर्शक लीन होकर देख रहे थे। वैसे भी इस कानपुर वाली मण्डली की कुछ खास लीलाओं की बड़ी प्रसिद्धि थी। यों भीड़ कभी कम नहीं होती पर धनुषयज्ञ, बनवास, भरतमिलाप और लक्ष्मण-शक्ति जैसे विशेष प्रदर्शनों के दिन उत्साह अधिक रहता है।

रात होते-होते शहर का रँग-ढँग ही बदल जाता है। दिन का कोलाहल, लड़ाई-झगड़े न जाने कहाँ दुबक जाते। शहर की सब राहें मंडी की तरफ़ मुड़

जातीं। कचहरी रोड पर लगे टूरिंग सिनेमा का जोकर घंटी बजा-बजाकर और भोंपू से आवाज़ फैला-फैलाकर चीखता—'खेल शुरू होने जा रहा है.... तूफान मेल....सनसनी और मारकाट से भरा, हैरत अंगेज़ ! नादिया के खौफ़-नाक कारनामे....भागती गाड़ी की छत पर दिलेरी भरी लड़ाई....नादिया का तूफानमेल....दिलकश मंज़र तूफानमेल !' रामलीला को जाते हुए लोग मिनट-दो-मिनट जोकर का मटकना देखते और आगे बढ़ जाते। इर्द-गिर्द के गाँवों से लीला देखने के लिए और मंडी के काम से आनेवाले किसानों की बैलगाड़ियों, ऊँटों और घोड़ों के बँधने के लिये सराय का मैदान और सड़कों की धूल भरी पटरियाँ कम पड़ जातीं। सरेशाम दुकानें अपने कपाट बंद कर लेतीं। औरतों के गोल-के-गोल घंटों पहले घरों से निकल पड़ते।

मंडी के फाटक पर खोंचेवालों की भीड़ लग जाती। शंकर के त्रिशूल ऐसी सलाख में लगे टीन के डिब्बे वाली देसी लालटेनों के पलीतों से लौ की धार और धुएँ का फेन अनवरत निकलता जाता। बंद दुकानों के पटरों पर भुजियों के लड़के मूँगफली और भाड़ को भुनी शकरकंदी और आलू की डलियाँ लेकर जम जाते। एकाध माली वेश्याओं के मुहल्ले को छोड़कर इन दिनों इधर ही आ जाता। देविकारानी और अशोककुमार जैसे पुराने कलाकारों और नये में सुरैया और दिलीपकुमार की तस्वीरों से अपनी चलती फिरती दुकानों की सजावट किये हुए पानवाले भी नुक्कड़ों पर अपनी गद्दी जमा लेते। सारी रौनक यहीं सिमट आती। शहर में गैस लैम्पों की कमी पड़ जाती।

मेघनाद-लक्ष्मण युद्ध चल रहा था। बाजामास्टर और तबलची अपने संगीत से उसके प्रभाव को गहन कर रहे थे। दर्शक उत्सुक-से साँस रोके देख रहे थे कि औरतों वाले हिस्से में कुहराम मच गया। जैसे नीचे से ज़मीन धसक गयी हो। बचत के लिए वे दिशा ज्ञान भूलकर इधर-उधर भागने लगीं। स्वयंसेवक एक दम भाग पड़े। जनता उठकर खड़ी हो गयी—मंच पर सन्नाटा छा गया, मेघनाद मंच से उतर कर घबराये से उधर भागे। कमेटी के लोग उधर पहुँच गये थे। स्थिति का पता चलते ही हँसी का फव्वारा छूट पड़ा.... और लोगों ने फौरन फाटक की तरफ़ भी देखा—रंगीले पेड़ से उतर कर अपनी धोती का फेंटा कसते हुए उधर भागा जा रहा था....

'इसी की बदमाशी है....और कोई नहीं हो सकता....'

'पकड़ो उसे....यह भी कोई बात हुई....'

'वह भला बाज़ आयेगा ! यह कोई नयी बात है रंगीले के लिए ...हाँ भला....'

'यह सब तुम्हारा सर चढ़ाया हुआ है सरनामसिंह, नहीं तो — कोई विघ्न डाल दे इस तरह....' मंडी के जगदम्बा कह रहे थे।

सरनामसिंह को हँसी आ गयी, 'दद्दा तुम भी बस लड़कों की तरह बतियाने लगते हो ! वह जब तक कोई बदमाशी नहीं कर लेगा, मानेगा नहीं ....मैं डाँट दूँ पर कोई फ़ायदा नहीं। मनमौजी है ससुरा....'

तब तक एक स्वयंसेवक अपने पौरुष का प्रदर्शन करते हुए गनगौरी साँप लटकाये सामने आ गया।

'फेंको उधर....' हरीचंद बोले, 'औरतों की भीड़ में डाल गया बदमाश, कल से निगाह रखो, घुसने मत दो साले को यहाँ....'

'अच्छा... अच्छा, सब ठीक हो जायेगा,' सरनामसिंह ने कंधे से लोगों को बैठाते हुए कहा, फिर वहीं से चौख के नाटकवालों से बोले, 'शुरू करो.... शुरू करो लीला...भूचाल नहीं आया था !' कहते-कहते उसे फिर हँसी आ गयी। नयी बात तो थी नहीं। न जाने रंगीले कौन-सा नया तमाशा खड़ा कर देता। उसके लिए कोई मुश्किल है ! होली दिवाली, मेले-तमाशों में जब तक यह सब न हो, सूना-सूना लगता रहता है।

'साँड़ की तरह घूमता है,' जाजम पर बैठते हुए जगदम्बा ने कहा, 'ऐसे लोगों को तो बंद करवा देना चाहिए। चोरी-चमारी और दुनियाभर के बुरे फेलों की जड़ हैं साले। मठिया पर पड़े-पड़े दम लगायेंगे....शरीफ़ों का रहना मुश्किल कर रखा है....' जगदम्बा बड़बड़ा रहे थे। सरनामसिंह उनका प्रतिवाद तो नहीं कर रहा था लेकिन मुख पर उभरते हुए चिन्हों से यह स्पष्ट था कि उसे यह बातें फूटे-कान सुहा नहीं रही थीं। मोटर लेकर वे ही गये थे, ताम-झाम के साथ मंडली को लाये थे।

'अब बंद करो जगदम्बा बाबू यह सब....लीला देखो,' सरनामसिंह ने कहा और खुद बोलने लगा, 'हजार मुहर का आदमी है रंगीले....जो बरतता है वही जानता है....आप तो थे नहीं, रामलीला का पूरा स्टेज उसी ने दो रात जग कर बनवाया, नहीं तो तिथि निकल जाती, लीला शुरू नहीं हो पाती। ऊपर वाली बल्लियाँ बाँधने के लिए कोई तैयार नहीं था, सब उसने बाँधी हैं....।'

'कौन सी बल्लियाँ ?' सामने देखते हुए ही हरीचंद ने पूछ लिया।

'जिन पर पर्दे सधे हैं....' सरनामसिंह बोला, 'घर-बार है नहीं, इसलिए बिलल्ला-सा घूमता है। कुछ-न-कुछ तो आदमी करेगा हा....'

'तुम्हारी मोटर पर था, अब नहीं है क्या ?' हरीचंद पूछे जा रहे थे।

'सेठ के मुकदमे में गवाही देने से इनकार कर गया, फिर कहाँ नौकरी चलती है। हमने भी जोर नहीं दिया, नहीं तो गवाही दिलवा देना कोई मुश्किल नहीं था....' तभी सरनामसिंह की बात काटकर जगदम्बा बोल पड़े, 'गुड़ खाय गुलगुला से परहेज़ ! तुम भी ठाकुर साहब बस....वह साला पेशेवर

गवाह है, कोई ईमान है उसका। पैसे का डौल नहीं होगा सेठ के यहाँ, जिसने चार पैसे से हथेली गरमा दी, उसी की तरफ़ हो गया होगा....'

ये बातें चल ही रही थीं कि लक्ष्मण जी के शक्ति लग गयी। जनसमूह अवसाद की भावना में डूब गया। चारों ओर नीरवता छा गयी। जैसे यह अप्रत्याशित घटना आज ही हुई हो, सब के लिए नयी हो।

लीला के साथ-साथ रामायण बाँचने वाले गुरूजी चुप हो गये थे। रण-संगीत थम चुका था। आसन्न भय और शोक की कालिमा चारों ओर छा गयी। मंच पर रोशनी कम हो गयी तो मैदान का अँधियारा और भी घनीभूत हो गया। इधर-उधर से उठते स्वर एकदम थम गये। मूँगफलियाँ फूटने की आवाज़ न जाने कहाँ खो गयी....तभी उस गहन उदासी और अवसाद से भरे क्षण के बीच पृष्ठभूमि से सूत्रधार की ढाढ़स बँधाती हुई आवाज़ उभरने लगी—'बन्धुओ! यह कौतुक जानहिं जन सोई, जापर कृपा राम की होई!.... जगत आधार श्री लक्ष्मणजी मूर्छित होते भये हैं, उनके शक्ती लगी है! पर येही स्थल संग्राम की शोभा है! रघुनाथजी के कौतूहल चरित्तर कौन सांसारिक जा.न सकै है, परन्तु इस चरित्तर को वो ही जानेगा जिस पर रघुनाथ जी की कृपा होगी....तो सज्जनो! संध्या होती भयी है। सेनाएँ विश्राम के हेतू लौट जाती भयी हैं। महावीर जी गोदी में लिये लक्ष्मण जी को आते हैं—यह दशा देख रघुनाथ जी ने बड़ा दुख मानाऽऽऽ....'

लक्ष्मणजी रामचंद्र जी की गोद में सिर रखे मूर्छित पड़े थे। जामवंत के बताने पर सुषेण वैद्य को जब हनूमानजी खटिया समेत उठा लाये तब कहीं दर्शकों की जान में जान आयी और सुषेण वैद्य को सुप्तावस्था में उठा लाने पर पहली हँसी फूट पड़ी। मूर्छित लक्ष्मण के अधरों पर हँसी फूटती देख, पंडितजी ने विंग से निकल कर घुड़कते हुए उन्हें चादर से ढक दिया।

हनूमानजी बूटी लाने के लिए प्रस्थान कर चुके थे। रात ढलती जा रही थी। राम-दल के बानर शोक संतप्त से चारों ओर घिरे खड़े थे और रामजी का करुण विलाप जन-जन के मन में दुख संचार करता उतरता जा रहा था। एक बार फिर सारा दृश्य कारुणिक हो आया। गैसलैम्पों का प्रकाश धुँधआया सा हो गया....समूह में एक अजीब सी हताशा व्याप गयी। सचमुच यह क्या हो गया? अजाना....अदेखा....मृत्यु की ठंडी लहर ने एकाएक न जाने कहाँ से आकर छू लिया और यह काल सी अवधि! सूर्योदय से पहले तक के यह असमंजस, भय और आशंका के क्षण! रामजी का आर्त स्वर हृदयों की गहराइयों में काँपता हुआ धँसता जा रहा था....उनके आँसू और पिछली यादों की बातें हर आँख और मूक हृदय से उमड़ रही थीं। लक्ष्मण मूर्छित

पड़े थे जो राम को कभी दुखी नहीं देख सकते थे....और इस क्षण राम का हृदय विदारक विलाप....करुणा भी करुण हो आयी थी....और जब रामचन्द्र ने रुँधे हुए गले से कहा—'सुत वित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा। अस विचार जिय जानहु ताता, मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।।' तब सुनते-सुनते न जाने कितनों की आँखों के बाँध टूट गये। सिसकियाँ फूट पड़ी। समस्त जग, चराचर व्याकुल था, शोकसंतप्त था। हिचकियाँ बँध गयीं। सरनामसिंह अपनी आँखों को बार-बार पोंछते जारहे थे पर आँसू नहीं थमते थे। पास बैठे लोगों की सिसकियों के बीच हर एक का मन डूबता जारहा था। कोई ढाढ़स बँधाने वाला नहीं था—सभी का दुख और क्षति समान थी, कौन किसे समझाए! इस शोक सागर में डूबे प्राणियों का एक ही आधार था....किसी तरह सूर्योदय से पूर्व हनूमानजी संजीवनी जड़ी लेकर आ जायें.... यह अनर्थ न हो। पर समय जैसे उड़ा जारहा था....सूर्योदय की बेला निकट आती जारही थी। केवल यही एक आस थी....रामचन्द्रजी व्याकुल-से आकाश-मार्ग की ओर निहार रहे थे....वानर समुदाय चिन्तातुर बैठा था....रात अपना आँचल समेटती जारही थी। रामजी को अब केवल यही चिंता थी, किसी तरह पवनसुत आयें....रात रहते-रहते....किसी तरह, और तब बाजा मास्टर का हारमोनियम मंद स्वर में गुनगुनाया और रामचन्द्रजी ने विलाप करते-करते ज़रा खँखार के गाया—'आ जाओ कि मूर्छित है लक्ष्मण....अब रात गुज़रने वाली है....अब रात गुज़रने वाली है....'

भीड़ में से एक हाथ उठा और उस हाथ की धरोहर विंग में खड़े पंडितजी के पास पहुँच गयी। एकदम मंच पर आकर पंडितजी ने आभार प्रदर्शन किया—'श्रीरामचंदजी के विलाप पर प्रसन्न होकर सेठ बदामीलाल ने भगवानजी के श्रीचरनों में पाँच रुपये अर्पण किये हैं....हम उनका मंडली की ओर से शुक्रिया अदा करते हैं....।' फिर तो ताँता लग गया। वाकई लक्ष्मण-शक्ति वाली लीला ऐसी निकली, जैसी पहले कभी नहीं हुई। भक्तों का समुदाय उदारता से उमड़ पड़ा। और फिर कौन पीछे रह जाय। यह तो धर्म का काम है। रामजी के चरणों में रुपये अर्पित होने लगे। सरनामसिंह ने दस का नोट निकाल कर दे डाला। एक ने गुप्त दान कर दिया, इस हिसाब से आये नहीं थे। ज़रा इज्ज़त की भी बात थी। कौन इस वक्त चूक जाय! धड़ाध डंचढ़ौती होने लगी। यहाँ तक कि जो लोग अभी तक मंच के पास नहीं पहुँच पाये थे, मंच पर चढ़ने का मौक़ा पाकर उधियाने-से भरभरा पड़े। खासा तमाशा हो गया, पर यह तो भक्ति की बात थी। कोई रोके भी क्यों और कोई रुके भी क्यों? मंच पर भक्त समुदाय की भीड़ लग गयी, लोग जा-जाकर खुद रुपये देने लगे। जगह कम पड़ी तो तबलची थोड़ा विंग में सरक गये। रामजी की

चढ़ौती देखने के लिए मूर्छित लक्ष्मणजी ने चदरा सरका कर देखने भर के लिए मुँह खोल लिया। तब तक एक भक्त ने अपने लिए जगह बनाते हुए विंग का पर्दा उलट दिया—तो हनूमानजी बग़ल में गत्ते का द्रोणागिरि रखे, बड़ी मौज से बीड़ी पीते हुए अपने प्रवेश के इन्तज़ार में बैठे नज़र आए।

मंच पर भीड़ बढ़ती देख कमेटी के लोगों ने पहुँच कर इन्तज़ाम अपने हाथ में ले लिया। लोगों की आँखें रामचन्द्रजी के पार्ट की प्रशंसा में चमक रही थीं। एकाध पिछलगुआ कुर्सियों पर बैठे सूचनाधिकारी और मजिस्ट्रेट साहब के इर्द-गिर्द लगे थे और उनके वाक्यों को इस तरह ग्रहण कर रहे थे जैसे तारीफ़ का श्रेय उन्हें ही मिल रहा हो। सरनामसिंह अपनी आदत के मुताबिक इस बात पर भुनभुनाते हुए भीतर चले गये। उनकी आँखें इस सारे शोर-शराबे के बीच शिवराज को खोज रही थीं। कहीं नज़र ही नहीं आरहा था। मंच पर आकर उन्होंने भीड़ में देखा, पर कहीं नहीं।

तभी आरती का थाल लेकर शिवराज भीतर आया। पंडित जी ने चढ़ौती की रकम गिनने का काम शिवराज को सौंपते हुए सरनामसिंह की ओर इस तरह देखा जैसे उनके लिए शिवराज सबसे महत्वपूर्ण है। सरनामसिंह ने पास जाते हुए कहा, 'शिवराज, पहले जाके खाना खाओ....यह सब होता रहेगा! पंडितजी इसे सँभालिए....' कहते हुए उसने शिवराज को बाँह पकड़कर उठा दिया।

'अभी चले जायेंगे!' कहता हुआ शिवराज बाजामास्टर की ओर चला गया। पर्दा गिर चुका था। बाजामास्टर हारमोनियम से उठ चुके थे। वे दोनों नीचे उतरने ही वाले थे कि सरनामसिंह ने ज़रा डाँटते हुए कहा, 'ये क्या लौंडपन है, सीधे जाओ और खाना खाकर घर पहुँचो....'

'वहीं जारहे हैं....मास्टर साहब भी उसी होटल में खाते हैं।' शिवराज बोला और दोनों उतर कर चले गये।

दर्शकों की भीड़ छट रही थी। फाटक पर खड़े मर्द अपने-अपने घरों की औरतों का इन्तज़ार कर रहे थे। मुहल्ले, गली या टोले की औरतें बच्चों को दुबकाये एक साथ आगे-आगे चल देतीं और उनके मर्द एक साथ होकर बतियाते हुए पीछे-पीछे चले जाते। खोंचेवालों के पलीतों से झरता हुआ प्रकाश छोटे से घेरे में सड़क को रोशन कर रहा था, उसके बाद किसी अंधी गुफा की तरह सड़क अँधियारी पड़ी थी।

शिवराज और बाजामास्टर पटरी के एक घने पेड़ के अँधियारे में आकार रुक गये। दूर से आती परछाइयों को उनकी आवाज़ से पहचानने की कोशिश करते। उनकी बातें रुक जातीं, असम्बद्ध व्यक्तियों के गुज़रते ही बातें फिर शुरू हो जातीं पर सतर्कता और भी बढ़ जाती। बाजामास्टर ने फुसफुसा कर कहा, 'आज भी फूल आये थे!'

'तुम्हारा बाजा कमाल कर देता है, किसी फिल्म कम्पनी में होते तो चमक जाते !' शिवराज ने बड़े उत्साह से कहा।

'यहाँ इन लोगों के साथ टिकूँगा !' बाजा मास्टर ने कहा। निकट आते स्वरों को सुनकर दोनों सतर्क हुए। शिवराज फुसफुसाया, 'वही है....' और इस परिचित-अपरिचित 'वही' का अनुभव होते ही दोनों ऐसे अलग-अलग-से खड़े रह गये जैसे साथ उगे हुए ताड़ के पेड़, जिनके पत्ते लहरा कर भी एक दूसरे को नहीं छू पाते।

औरतों और लड़कियों की वह टोली हँसती-खिलखिलाती आगे बढ़ गयी। राह के अँधेरे में दूर जाते हुए स्वर और भी मोहक हो गये। बाजामास्टर बोले, 'बाजे के बोल और इस बोल में कितना फरक है....मन में आता है यह गाना-बजाना सब छोड़ दूँ....काठ की आवाज़ पर तुम रीझ जाते हो....' कहते-कहते बाजामास्टर किसी भीतरी व्यथा से उदास हो आये। शिवराज ने हाथ पकड़ते हुए कहा, 'आओ तो, थोड़ी दूर तक....'

'होटल चलो, उधर नहीं जायेंगे।' चलते-चलते बाजामास्टर बोले। उन्हें लगभग खींचते हुए शिवराज सड़क पर ले आया। और उन हँसी-ठठोली की आवाज़ों के बीच किसी एक स्वर के सहारे दोनों पीछे-पीछे चलते गये।

सड़कों-गलियों के चक्कर काटकर जब दोनों वापस आये तब सराय के बाहर वाले होटल के महराज सोने का इन्तज़ाम कर रहे थे। भुनभुनाते हुए उठे और खाने का इन्तज़ाम करने लगे।

शिवराज ने बाजामास्टर की ओर टूटी हुई बात का क्रम जोड़ने के लिए देखा। बाजामास्टर ने होटल की बुझती हुई अँगीठी की ओर देखकर कहा, 'सबसे बुरा यही लगता है शिवराज कि लोग अजीब हिकारत से देखते हैं। आज बड़ी-बड़ी संगीत सभाओं में जाता होता तो क़दर और ही होती। लेकिन यह सब अपने बस का नहीं। जब तक यों ही घूमता-फिरता हूँ तब तक लगता है, यह सब बेकार है। न इज़्ज़त न पैसा, न दोस्त न हमदर्द। बाजे से उठते ही दूसरा आदमी हो जाता हूँ। लेकिन जाने कैसा नशा है, सचमुच नशा चढ़ता है बजाते वक्त। फिर कहीं भी बैठा दो। नरक में बैठ सकता हूँ ! इन छोटे-छोटे शहरों में घूमते-घूमते जी भर गया। नौटंकी वालों का साथ किया, कितनी ड्रामा कम्पनियों के साथ घूमा, संगीत की ट्यूशनें कीं, पर कहीं भी कुछ ऐसा नहीं मिला जिससे मन को सन्तोष मिलता। यार सब बेकार है....।'

शिवराज उनका मुँह ताक रहा था, जैसे उसके लिए यह सब समझ सकना दुष्कर हो।

तभी दो-तीन आदमियों की उधर आती हुई छायायें दिखायी दीं। चौराहे की गैस बुझ कर काँटे में फँसी निर्जीव मछली की तरह लटक रही थी। होटल

में जहाँ बैठकर लोग कच्चा खाना खाते थे, महराज की चारपाई बिछ गयी थी। एक लकड़ी की बैंच पर दोनों धीरे-धीरे खाना खाते जा रहे थे। बाजा-मास्टर ने फूस के टट्टर से एक तिनका लेकर दाँत कुरेदते हुए कहा, 'तुम भी पढ़-लिख के बाबू जन्टिलमैन हो जाओगे! इन सब बातों से नफरत हो जायेगी। सच पूछो तो मेरा मन ही उचट गया है। ज़िले के छोटे-छोटे शहर, बस्तियाँ....पेट भरने के लिए गाना-बजाना! आखिरी वक्त तक न कभी पेट भर पायेगा, न मन। एक नाटक कम्पनी बनाने की सोचता था, जोड़-तोड़ के पैसा करें भी लेकिन आदमी नहीं मिलते। ऐसे आदमी नहीं मिलते जो इसे ही अपनी ज़िन्दगी का सब कुछ मान लें। भूखे रह के, पेट काट के इसी में जुट जायँ।'

'खोजने से बहुत मिल जायेंगे।' शिवराज ने हाथ धोते हुए कहा।

'मिलने से क्या होता है, उन्हें मार-मार के हकीम नहीं बनाया जा सकता कलाकार अपने आप होते हैं।' बाजामास्टर इतना कह कर चुप हो गये। जैसे उन्होंने अपने को कलाकार साबित किया हो और अपनी ही निरर्थकता का बोध हो आया हो।

'अभी खाना चल रहा है!' पास आये हुए सरनामसिंह ने कहा, 'मैं तो जानता था' और उसने एक दोना शिवराज को पकड़ाते हुए कहा, 'लो इन्हें भी खत्म कर दो।'

'अब हम खा चुके।' शिवराज ने कहा तो सरनामसिंह बोला, 'मैं जानता था इसीलिए ले के आया। खा जाओ....करहल के पेड़े हैं....तुम्हारे लिए ही मँगवाये थे।'

सरनामसिंह के साथ सूबेदार और ज़ाकिर मियाँ थे। दोनों दड़े की दलाली और मोटर अड्डे की रखवाली करते हैं। उन्हें साथ देख कर शिवराज हमेशा की तरह कुढ़ गया।

सरनामसिंह वहीं एक टीन की कुर्सी पर बैठ गया, बोला, 'हाँ अब बताओ क्या बात है?'

सूबेदार बोला, 'ये साला चौराहे वाला सिपाही तिकिर-मिकिर करने लगा है। कह रहा था, नये कोतवाल आये हैं, अब अपने बस की बात नहीं रही। दद्दा, बात टेढ़ी है जरा, पुट्ठे पर हाथ नहीं धरने देता। मियाँ सुबेरे कोतवाल साहब को सलाम करने गये तो सीधे मुँह बात नहीं की....'

'नज़र उठाकर नहीं देखा,' ज़ाकिर ने अपनी बेइज्ज़ती को बेहयाई से खोलते हुए कहा, 'हम दो-चार लोग थे, बस एकदम बमका—मैं दरबार लगाने नहीं, नौकरी करने आया हूँ। बदमाशियाँ सलाम से नहीं छुपेंगी। कहता हुआ उठकर चला गया....'

'हो जायगा....ठीक हो जायगा।' सरनामसिंह ने ज़ाकिर मियाँ को समझाते हुए कहा, 'कुछ दिनों के लिए जगह बदल लो। होटल में नम्बर नहीं लगेंगे, समझे! अड्डे पर बैठो, लोग वहाँ पहुँच जायेंगे।'

'कमीशन का हिसाब साफ़ हो गया। सबको दे दिया....यह तुम्हारे....' कहते हुए सूबेदार ने सौ रुपये के नोट सरनामसिंह के हाथ में थमा दिये। उन्हें अपनी मुर्री में लगाते हुए सरनामसिंह बोला, 'डरने की बात नहीं है। खाऊ अफसर ऐसे ही रोब लेता है। अब मिलने मत जाना, समझे! और तुम सूबेदार वहीं अड्डे पर सोओगे न! उस कुम्भकरन को तड़के जगा के गाड़ी सफ़ा करवा देना।'

'पहली से जाना है?' सूबेदार ने पूछा।

'क्या कहें सेठ के बच्चे को, रोज ड्यूटी बदलती है, ड्राइवर न हुए इक्कावान हो गये, जब चाहा तब जोत दिया। पहली से जाऊँगा, शाम की से वापसी है....भूलना मत!'

'सबेरे नम्बर खुलना है....तुम्हारे बग़ैर दद्दा....' सूबेदार ने दड़े के नम्बर की ओर इशारा किया।

'अब खोलना।' झुँझलाते हुए सरनामसिंह ने कहा, 'ऐसे मुँह तकोगे तो हो लिया काम! तुम दो आदमी नहीं सँभाल सकते। गाड़ी छोड़ दूँगा?' फिर शिवराज से बोले, 'चल भई चल, बहुत रात हो गयी।'

सूबेदार और ज़ाकिर मियाँ अड्डे की ओर चले गये। बाजामास्टर कुछ दूर तक साथ आकर मंदिर की ओर मुड़ गये। सरनामसिंह और शिवराज जब अकेले रह गये तो सरनामसिंह ने कहा, 'यह तुम्हारा आधी-आधी रात तक घूमना मुझे पसन्द नहीं—रामलीला जाने से पहले खाना खाओ, खतम होने पर सीधे घर पहुँचो। दोहरी चाबी है, एक अपने जनेऊ में बाँध के रखो....' कुछ बिगड़ते-बिगड़ते शिवराज की वास्कट देखकर एकदम बात बदल गयी, 'वह नयी वाली किस दिन के लिए है! मेरी पसन्द की चीज़ तुम्हें काँटे की तरह काटती है। ठीक है, पड़ी रहने दो....' कहते-कहते सरनामसिंह तरल हो आया।

शिवराज इस तरलता से परिचित था। यह नयी भी नहीं। ऐसे क्षणों में वह हमेशा घुटता था। लेकिन वह यह घुटन अकेले में पी जाता था। भूल कर या अपनी रौ में कभी सरनामसिंह किसी अन्य के सामने स्नेह जताने लगता तो शिवराज अपनी पिटी हुई पुंसकता के बावजूद भी फुफकार उठता। अपने को ख़ुदमुख्तार और निर्बन्ध घोषित करने के रोष में यहाँ तक कह जाता, 'मैं अपना देख-समझ लूँगा। तुम अपना देखो!'

सरनामसिंह तब संकुचित हो जाता। अपनी ग़लती को बड़ी चतुराई से

दबा के कहता 'आखिर ब्राह्मन का बेटा है।' और उपस्थित आदमियों को जैसे सफ़ाई देने लगते, 'इसके तो पैर तक छूना पुन्न है।'

और शिवराज !

बड़ी-बड़ी बातें फैली थीं उसे लेकर। इस बस्ती का मुँह, शिवराज ने चार साल हुए, गुरुपूर्णिमा से एक महीना पहले देखा था। इन बाज़ारों में घूमते हुए साधू-सन्यासी, तांत्रिक-योगाभ्यासी देखे होंगे आपने। ऐसे ही एक महात्मा इधर आ गये थे। ईश्वर भक्ति से अधिक वे बस्ती की महत्ता पर बात करते और एक आश्रम बनाने का स्वप्न देखते।

कई बरस पहले उनकी फेरी शाम को होती थी – 'बद्रीधाम की यात्रा की प्रतिज्ञा है महराज जी....एक मन आटा, दस सेर घी, बीस सेर चावल और पाँच सौ रुपये का सवाल है भगवान जी ! भेजो श्री कृष्ण जी महराज !' और इसके बाद उनका घंटा गलियों में गूँजता रहता। किसी ने उन्हें दान प्राप्त करते नहीं देखा, पर सुना कौल पूरा हो गया और सर्वदानंद जी बद्रीधाम की यात्रा पर चले गये।

यात्रा पर जाने से पूर्व उन्होंने निवास के लिए सुनसान में, बस्ती से दूर एक कुटिया छवा ली थी। न जाने कहाँ से तैंतीस कोटि देवताओं में से किसी एक की प्रतिमा भी आगयी थी और पीपल का बिरवा भी उग आया था।

'भगवान की महिमा है। जिस ऊसर पर दूब तक नहीं होती वहाँ मूरती के परताप से पीपल जम आया !'

'साधू जी ने लाके लगाया होगा !' कोई कह भर दे कि—'मुंशी दीन-दयाल बगिया लगवा कर हार गये। न जाने कहाँ-कहाँ से पौध मँगवाई, सैकड़ों रुपये बह गये, कुआँ खुदा पर इस जमीन पर हरियाली न आयी। बजर-बाँझ पर आदमी का बस नहीं होता भाई, ऊपर वाले की महिमा है !'

ऊपर वाले की महिमा फैलती गयी और सर्वदानंद ज़िले भर में मशहूर हो गये। भगवान की कृपा वे दोनों हाथ उलीचने लगे कि एक चमत्कार हो गया। जयकरन मिठाई वाले को बुढ़ापे में पुत्रलाभ हो गया। चार ब्याह किये उसने, पर वंश नहीं चला, आखिर चौथी से कुल का दीपक चमका। सर्वदानंद का जगह-जगह बखान होने लगा। और तब से जयकरन की घरवाली तो उन्हें गुरू मानकर दासी हो गयी। सर्वदानंद जी ने सेवा स्वीकार कर ली, यही क्या काम था ? नहीं तो नारी ! पाप का मूल ! लेकिन उस पाप की मूल में ऐसा पानी लगा कि हर साल फूलने-फलने लगी। और सर्वदानंद जी के आश्रम की नींव पड़ गयी। जयकरन भगत हो गये। उनकी तो ऐसी लौ लगी कि दुकान नौकर के सिपुर्द कर उन्होंने सिर मुड़ा लिया और आश्रम की इमारत के लिए चन्दा करने निकल पड़े। आखिर आश्रम बनना शुरू हुआ और

दस बरस पहले गुरु-पूर्णिमा के दिन उत्सव-कीर्तन आदि के साथ विधिवत् उद्‌घाटन हो गया। तब से एक लीक बन गयी। हर बरस गुरुपूनो पर सत्संग होने लगा। दूर-दूर के साधू महात्मा पधारने लगे।

चार बरस पहले बड़ा भारी उत्सव हुआ। सर्वदानंदजी के चेले गाँव-गाँव, बस्ती-बस्ती में हो गये थे, एक महीना पहले से गुरुपूनो के लिए तैयारी प्रारम्भ हुई। आश्रम में अब तक दस-बीस बाबा और आ चुके थे और सर्वदानंदजी की मण्डली बन चुकी थी। प्रधान शिष्य थे—आत्मानंद, जात के ब्राह्मण। बाकी चार जात के हलवाई थे—गुणानंद, ज्ञानानंद, वेदानंद और शिवानंद।

जब स्वामी सर्वदानंदजी कहीं चले जाते या गृहस्थ शिष्यों का आतिथ्य स्वीकार कर आश्रम से कुछ दिनों के लिए ओझल हो जाते, तब पाँचों चेलों में महन्ती के लिए झगड़ा होता....इस झगड़े से एक काम खूब हुआ। अपनी अपनी योग्यता और भक्तिमयता दिखाने के लिए प्रधान शिष्यों ने आश्रम प्रेमी लोगों की एक जमात खड़ी कर ली। कितने जन किस स्वामीजी को पूजने आते हैं, किसके प्रभाव में अधिक भक्त हैं, यही उनके भविष्य को तय करने वाला सम्भावित मापदण्ड था। वैसे पाँचों स्वामी सर्वदानंदजी के उन क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे थे जब वे अपने श्रीमुख से किसी एक को इस आश्रम का सर्वेसर्वा घोषित कर जायेंगे।

इधर आश्रम की आमदनी खूब बढ़ी थी। छोटे-छोटे आदर्शों पर विश्वास करते इन जनों की ऊँघती हुई ज़िन्दगी की आँख पर आश्रम की चहल-पहल ठंडा छींटा था। लोगों में एकाएक यह भाव पैदा हुआ कि वे भगवान को भूल बैठे थे। सत्संग, प्रवचन, कीर्तन आदि से कितनी दूर चले आये थे! इसीलिए शाम को अधिकांश जनता श्री सर्वदानंद आश्रम की ओर चल देती। कुछ पढ़े-लिखे बाबू लोग, जो नौकरियों से रिटायर हो चुके थे, अपनी बूढ़ी पत्नियों के आत्मिक और शारीरिक संकट और कष्ट को पूछते, छड़ी हिलाते हुए उस ओर जाते दिखाई पड़ते। रोज शाम मूर्ति का शृंगार होता, भोग लगता और प्रसाद बँटता। आश्रम की बढ़ती हुई आमदनी के साथ बड़े-बड़े पहुँचे हुए बाबा लोग वहीं धूनी रमाये पड़े रहते।

गुरुपूनो का आयोजन शुरू हुआ। चार-पाँच महीने पहले आयोजन और भंडारे का इन्तज़ाम करने के लिए साधू ज़िले भर में टिड्डी की तरह फैल गये। भक्तों ने अपने आवारा लड़के आश्रम को अर्पित करते हुए उनके सिपुर्द कर दिये। पर शिवराज की बात दूसरी थी। उसके पिता उस समय जीवित थे। उन्होंने गुणानंदजी के चरणों में बालक को अर्पित करते हुए बड़े दीन भाव से कहा था—'अब आप के सिरी चरनों में ही इसका उद्धार है। हम पातकियों के घर में इसका विकास कैसे होगा महराज! इसे अपने चरनों में सरन देकर

विद्यादान दें....संस्कृत पढ़ जाय, वेद-शास्त्र....'

शिवराज तब तेरह बरस का था....गाँव का निर्बन्ध पत्ती। उसकी आँखों में बड़ा मासूम-सा विश्वास था और बड़ी भोली चितवन। उसने भी स्वामीजी की ओर ऐसे देखा जैसे सचमुच वह पातकी है। तब वह क्या समझता! समझा पिताजी उसकी तारीफ़ कर रहे हैं।

अपने पर्यटन से लौटते हुए स्वामीजी उसे साथ लेते आये थे। तीन-चार लड़के और भी थे जो सब निर्बोध हिरनों की तरह एक-दूसरे को चकित भाव से देख रहे थे....

आश्रम पहुँच कर शिवराज को अन्य अनेक साथी मिले जो और साधुओं के साथ आये थे। ब्रह्मचारी व्रत के लिए करीब तीस किशोरों की जमात जमा हुई! महीना भर पहले से अन्न त्याग हुआ और लड़कों को नियमावली दे दी गयी।

शिवराज का नया जीवन प्रारम्भ हुआ। सिर मुड़ा कर चोट रखा दी गयी, पैरों में खड़ाऊँ और शरीर पर पीत अचला। नासिका से लेकर मस्तक तक शिव तिलक और महीने भर का मौन!

रामायण की महिमा भी अपार है। गूँगे का साधन बन गयी। कोई आवश्यकता होती तो केवल रामायण की चौपाई से व्यक्त की जाती। मौन खण्डित होने का दण्ड था—गायत्री मंत्र का मन-ही-मन बीस बार जाप। सचमुच ऐसी आराम की ज़िन्दगी की कल्पना उन बालकों को न थी। अधिकांश ब्राह्मणों के बेटे थे। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर भगवद् स्मरण, सूर्य नमस्कार, मध्याह्न में भागवत-गीता पाठ और संध्या समय उच्चरित कीर्तन!

खाने-पीने की कोई कमी न थी। प्रातः फल और दूध, दोपहर को कूटू की पूड़ियाँ, तीसरे पहर खरबूजे इत्यादि और रात को मखाने की खीर। ब्रह्मचारियों की इस तपश्चर्या को देखने के लिए शहर के लोगों की आवाजाही बढ़ती गयी। वहाँ एक ख़ास तरह का मजमा लगने लगा। बस्ती के कुछ खास लोग ब्रह्मचारियों के लिए फलाहार इत्यादि पहुँचाने लगे—शाम होते ही औरतों और आदमियों का ताँता लग जाता। वह उपेक्षित ऊसर जहाँ जवासा तक नहीं उगता था, रौनक का केन्द्र बन गया। मोटर अड्डे पर बैठने वाले ड्राइवर, क्लीनर, ठेकेदार वग़ैरह सब पहुँचने लगे। और जहाँ यह सब हो वहाँ रंगीले न हो, यह कैसे हो सकता था।

कीर्तन के समय ब्रह्मचारी सबसे आगे बैठे थे, उनके पीछे भक्तों का समुदाय था। मृदंग और हारमोनियम पर कीर्तन हो रहा था। कीर्तन पूरे ज़ोर पर था। स्वामी ज्ञानानंद रस-विभोर होकर प्रतिमा के सामने नाचने लगे। और इधर रंगीले ऐसा लवलीन हुआ कि गश खाकर चित हो गया....झूमते हुए

लोगों ने देखा, कीर्तन थम गया और भीड़ एकदम झुक पड़ी....'भगवान की अनुकम्पा हुई है ! कुपढ्ढा है तो क्या, प्रेम तो सबके मन में एक जैसा है।' एक भक्त ने बेहोश रंगीले के मस्तक पर भगवान की चरणरज लगाते हुए कहा, 'ऐसे में पंछी उड़कर सुर्गलोक को जाता है....गणिका, अजामिल के वृत्तान्त सामने हैं ! कौन ऐसी मृत्यु नहीं चाहेगा !'

स्वामीजी को खबर होगयी। 'हरे राम, हरे कृष्ण' जपते हुए स्वामीजी अपनी कुटिया से निकल कर आये। रंगीले को चित्त पड़ा देखकर विह्वल हो गये। आँखों में अश्रु छलक आये। गद्गद् कण्ठ से, बाँहें पसारते हुए बुद-बुदाए—'हे प्रभू ! तेरी माया अपरम्पार है !' और रंगीले को जैसे अपने से बड़ा स्वीकार करते हुए बोले, 'यही समाधि की प्रथमावस्था है !'

जो ब्रह्मचारी छींटे देने के लिए पानी लाया था, वह शिवराज था। सरनामसिंह ने उसके हाथ से लोटा लेकर झाड़-फूँक करने वाले की तरह मुँह पर छींटे दिये। एक लोटा पानी पड़ गया पर रंगीले की दाँती नहीं खुली। कुछ और उपचार के बाद उसने आँखें खोलीं और सामने खड़े शिवराज की ओर एक क्षण देखकर उसकी टाँगें पकड़ कर पैरों पर लोटने लगा—'यही रूप है....हाय....हाय....'

'ब्रह्मचारी के रूप में भगवान का रूप देख रहा है !' सरनामसिंह ने कहा और रंगीले को सँभालने लगा। सब आश्चर्य-चकित से देख रहे थे, रंगीले शिवराज के पैर छोड़ता ही नहीं था, 'सरन दो....इन चरनों में सरन दो.... मुक्त करो....' शिवराज घबराया-सा पैर छुड़ाने की कोशिश कर रहा था। कई मिनट बाद रंगीले संसार में लौटा !

'बिलकुल यही रूप था !' आधीरात को मोटरवालों के संग लौटते हुए शिवराज की ओर इशारा करके रंगीले अपनी अवस्था का वर्णन कर रहा था, 'हाथों में धनुषबान, सर पर मुकुट ! न जाने कैसा तेज फूट रहा था। आँखें मुँद गयीं....चारों ओर वही रूप, वही छवि....सच्ची दद्दा' सरनामसिंह की बाँह पकड़ते हुए उसने समझाया, 'सन्नाटा छा गया। भीतर रोशनी जग गयी.... साक्षात भगवान खड़े थे सामने। फिर नहीं मालूम क्या हुआ....बड़ा जुल्म किया तुमने, राम कसम....बेहोशी नहीं थी....'

उस रोज से ब्रह्मचारियों में शिवराज की और भक्तों में रंगीले की प्रतिष्ठा बढ़ गयी। दोनों में भगवान का 'अंस' प्रवेश कर गया था....'काया पवित्र हो गयी भाई !' रंगीले निकलता तो लोग जबरदस्ती रोककर बैठा लेते। घंटों उससे बातें करते और उसका प्रवचन सुनते—'इसी तरह सुभाष बाबू के मन में भारतमाता पैठ गयी थीं, वैसे वे विक्टोरिया को बहुत चाहते थे पर माता तो माता ! भेष बदलना पड़ा उन्हें, वन-वन घूमे और जाके अलख जगाई। इसी

से आज़ादी मिली। उन्हीं के परताप से गाँधी बाबा और नेहरूजी ने बागडोर सँभाली।' फिर भंगेड़ियों की तरह आँखें चढ़ाकर शून्य में देखते हुए कहता—'हमें भी भेष बदलना है, वन-वन घूमकर अलख जगाना है....'

'काहे के लिए रंगीले बाबा!' पनवाड़ी पूछ लेता।

जवाब न देकर रंगीले मुस्कराता हुआ उठ जाता। सरनामसिंह के पास जाकर कुछ पैसे उगाहता और फल-फलारी लेकर आश्रम की ओर मुँह करता। ब्रह्मचारी शिवराज के लिए रंगीले रोज कुछ न-कुछ लेकर जाता। आश्रम के ब्रह्मचारी ऐसे दान को स्वीकार करते थे।

तीन-चार रोज शिवराज रंगीले का फलाहार स्वीकार करके स्वयं भंडारे में दे आता था, पर बाद में उसे कुछ खलने लगा। रंगीले उसे अपने पास बैठा लेता, तरह-तरह की बातें करता— 'तुम्हारे हाथ कित्ते मुलायम हैं! धन्न हैं तुम्हारे माँ-बाप, भइयन, कभी चला करो....शहर घुमा लाया करें।' पर मौन-व्रत के कारण शिवराज हाँ-हूँ में उत्तर देता। एक रोज किसी ब्रह्मचारी ने स्वामीजी से शिवराज की शिकायत कर दी—'ये मौनव्रत का पालन नहीं करता!' तभी से शिवराज कतराने लगा।

रोज शाम को सरनामसिंह बिलानागा आश्रम पहुँचता। नम्बर की गाड़ी शाम तक वापस आ जाती थी और वैसे भी इन रास्तों पर रात में सवारियों के माल-असबाब से भरी लारियाँ लाना कम खतरनाक न था। न जाने कब लुट जायँ! और मालिक को दण्ड भरना पड़ जाय! ड्राइवरों को खास हिदायत थी कि आती-जाती लारियाँ धूरी शाम तक अड्डों पर पहुँच जायँ। उस रोज सरनामसिंह एटा के बाज़ार से गेरुआ सिल्क की धोती खरीद लाया, रंगीले को देते हुए बोला, 'सुन, उस ब्रह्मचारी के लिए है। कैसा कोमल लड़का है, किसी अच्छे घराने का मालूम पड़ता है।'

एकाएक शिवराज की ओर सरनामसिंह को आकर्षित होते देख रंगीले ने आँखें फाड़कर देखा।

'मेढ़क की तरह दीदे क्या निकाल रहा है। देखा नहीं उसे, बिचारे से मोटा अचला सधता तक नहीं। गले में गाँठ न लगाये तो चलना मुश्किल हो जाय। तू ही दे उसे....' कहते हुए उसने वह सिल्क की धोती रंगीले की गोद में डाल दी, बोला, 'मेरे सामने देना....।'

आश्रम में इस प्रकार स्वामीजी को भेंट स्वीकार करते शिवराज ने देखा था। रंगीले का दिया हुआ सिल्क का अचला उसने ले लिया पर पहना नहीं। जब शिवराज उसे अपनी कोठरी में रखकर कीर्तन के लिए वापस आया तब सरनामसिंह की आँखें उसी ओर लगी थीं।

रंगीले की बाँह दबाते हुए उसने कहा, 'उसने पहना नहीं! तुम जाके

कहो उससे !'

गुरुपूनो पर ब्रह्मचारियों का मौनव्रत टूटने के बाद रंगीले का समय अधिकतर वहीं बीतने लगा। उसे भेष बदलने की धुन थी !

एक रोज सहसा दोपहर वाली लारी पर शिवराज को आया देख सरनामसिंह देखता रह गया। लारी छूटने में देर थी। अड्डे पर खामोशी छाई थी। इमली की घनी छाँह के नीचे ड्राइवर और अन्य कर्मचारी टाँगें फैलाये पड़े थे। सूबेदार ने शिवराज को देखकर सरनामसिंह को निशाना बनाते हुए कुछ मज़ाक कर दिया। ज़ाकिर मियाँ खिलखिलाकर हँस पड़े, बोले, 'इधर बुला ला बिरम्भचारी को....'

'ऐ मियाँ, गड़बड़ मत मचाओ, सुनने दो। हाँ सिंह जी, दूसरी तान छिड़े।'

'उधर आओ खटिया पर....' सरनामसिंह ने कहा और खुद अपना बैंजो उठाकर उधर चला गया। सारे लोग उठकर खटिया के इर्द-गिर्द जमा हो गये। टूटे हुए ब्लेड के टुकड़े से सरनामसिंह ने बैंजो के तारों पर एक इशारा किया—एक ध्वनि झनझनाती हुई बिखर गई।

इमली के नन्हें-नन्हें फूल अलसाये से झर रहे थे।

छप्पर पड़े मोटर अड्डे के दफ्तर से टिकटों का हिसाब करते हुए दो-तीन व्यक्ति निकले और आकर खड़े हो गये। लाल रँगी हुई लारी नम्बर पर लगी हुई है। चार-पाँच सवारियाँ उसकी खिड़कियों से सिर टिकाये ऊँघ रही हैं। अभी देर थी लारी छूटने में। स्टेशन से इक्के अभी नहीं आये हैं—तीन तहसीलों में जाने के लिए सवारियों को यहीं तो आना है। मील भर दूर से कंकड़ की सड़क पर लोहे की हाल चढ़े इक्के के पहियों की खड़खड़ाहट गूँजने लगती। यह आवाज़ सूबेदार को सतर्क कर देती है। जितनी सवारियाँ उतना कमीशन। पर इस वक्त सब खामोश है। सड़कों पर धुएँ की तरह धूल के बादल घहरा रहे हैं।

अड्डा शहर के छोर पर था, फर्लाङ्ग भर बाद श्मशान फैला पड़ा था और उसके बाद झुके हुए नीमों की दोहरी कतार के बीच यह लम्बी सड़क चली गयी थी। चुंगी पार करते ही बस्ती की सीमा समाप्त हो जाती। यह सड़क ही रीढ़ थी जिसमें पसलियों की तरह सत्तावन गलियाँ इधर-उधर से आकर मिलती थीं। बड़े शहरों को मिलाने वाली यह चौड़ी कंकड़ की सड़क, जिसके दोनों ओर यह छोटी-सी बस्ती बस गयी थी—मील भर की लम्बाई और उतनी ही चौड़ाई ! उत्तर पच्छिम से दक्खिन पूरब की ओर रुख था इसका। पच्छिमी सिरे पर ज़्यादातर वकील-मुख्तार और जमींदारों के मकान थे, पूरब की ओर छोटी जाति और छोटे व्यापारियों, काम-धंधे वालों का बोलबाला था !

आबादी बढ़ने के साथ-साथ अड्डा निरन्तर पूरब की ओर खिसकता जाता। ये मोटर वाले ठीक इसी तरह बर्दाश्त किये जाते थे जैसे घरों में अपने आप जड़ें फोड़ लेने वाला पीपल का पेड़।

'उखाड़े कौन....सर पर सनीचर सवार है जो घर बैठे विपत मोल ले लें! लेकिन घर में रखे भी कौन....चुड़ैलों का डेरा।'

जैसे पीपल वाले भुतहे मकान वीरान हो जाते, वैसे ही अड्डे के आस-पास का हिस्सा हमेशा वीरान रहता। मोटर वाले पैदाइशी बदमाश होते हैं साहब! चोर-डकैत, पियक्कड़-फर्रास! ज़ालिम-बेरहम लोग....

पर उस बैंजो से न जाने कैसा मीठा-उदास राग फूट पड़ता....किसी के जुल्म से कराहते हुए उसके तार कँपकँपा कर थक जाते, फिर उस पैने ब्लेड के टुकड़े का स्पर्श उन तारों को अनवरत झनझनाता जाता और वे बेरहम उँगलियाँ कोमल पगों की तरह, लय के साथ उन कीलों पर नाचने लगतीं।

कच्चे मकान की बाँसवाली खिड़कों पर पड़े हुए टाट के पर्दे से एक चेहरा झाँकता और झुँझला कर सिर भीतर कर लेता। सरनाम बैंजो की कीलों पर से निगाह हटाकर इमली के झरते हुए फूलों की ओर देखकर गुनगुनाता—

नदिया के ईरे तीरे दुय घन रुखवा एक रे महुलिया एक आम रे!
नगर अजोध्या में दुय वर सुन्दर इक लछमन इक राम रे!!

बैंजो का झनझनाता स्वर और भरी हुई साँस की आवाज़—

बेर-बेर बेटा तोकौं मैं बरजौं वृन्दाबन मति जाउ रे,
उतैं वृन्दाबन बाघ बघनियाँ जा देस में कामिनि तुम्हार रे!

बैठे लोगों के सिर झूमने लगते, और अपने में डूबा सरनाम पागलों की तरह तार झनझनाता हुआ ऊँची हुँकार में गाता—

देउ न मोरी मइया ढाल तरवरिया वाहि वृन्दाबन जाउँ रे
बघवा कौ मारौं औ लावौं अपनी कामिनियाँ बचाय रे!

और टाट के पीछे खड़ी कुढ़ती हुई बंसिरी सोचती—'मुझे सुनाता है, बड़ा जुझारू बना है। शराबी-कबाबी! डरपोक।' अपने पर दृष्टि दौड़ाती—इस तन पर पड़े हुए इतने दाग़, इतने घाटों का पानी और यह मन की जलन! कहाँ ले जायगी तुझे। यह हाय तुझे राख कर के छोड़ेगी, यह हाय न होती तो तू आज फलता। किसी कच्चे घर के आँगन में बैठकर गाता, कोई सुनता। इमली के सूखे फूल नहीं, काजल लगी आँखों से रसधार झरती! धूल के उड़ते हुए बवडंर नहीं, गोबर लिपी ठण्डी धरती होती....महावर रंगे पैर होते और लिखना से भरी ऐपन की दीवारें। हर तीज-त्यौहार होता, रासरंग होता! जीने मरने वाला कोई साथ होता। पर तू अकेला मरेगा....अनजाने आदमियों के बीच। किसे अपना कहेगा? किसी दिन मोटर में बैठा-बैठा मर

जायगा, कोई पेट्रोल छिड़क कर जला देगा या भागते-भागते किसी घहराती नदी में घड़ियाल-कछुओं के बीच फेंक आयेगा! यही होगा तेरे साथ! एक दिन मैं सुनूँगी। तेरी खबर मुझ तक आयेगी, उस दिन घी के दिए जलाकर रात भर दिवाली मनाऊँगी! तेरी उस दिन की खुशी....कौड़ियों की तरह चमकती हुई आँखें भूल नहीं पाती। कितना बड़ा एहसान किया था मुझ पर। शरम नहीं आयी थी कहते हुए—'सौदा खतम! मगन मिस्त्री नहीं ले सकता इस औरत को।' औरत को....किधर से औरत थी मैं तेरे लिए! औरत समझ कर अहसान कर रहा था। तेरी मैं कोई नहीं थी। बाज़ारू समझा था। 'जब तक ये रुपया पूरा नहीं चुका देगा तब तक तू रख इसे!' कहते हुए तेरी जीभ नहीं गिर गयी....ढाल तलवार माँगता है....कामिनी को बचायेगा....मेहरा!

बंसिरी की आँखें क्रोध से जलते-जलते न जाने क्यों रुआँसी हो आयीं.... जैसे आँच और धुएँ के बीच झिलझिलाती हुई तरल-सी चिकनी लहरियाँ! जलती हुई लकड़ी से सुनसुना कर बची हुई एकाध रस बूँद किसी रेशे से छल-छलाकर निकल आयी! तप्त रस बूँद, जिसे आग की जलन क्षण भर में सोख लेती है—सचमुच सब तेरे कारन हुआ! तू, सरनाम तू! सरनाम....सरदार.... सरताज....किसने रखा था नाम तेरा!' पर केवल एक क्षण....'तेरा ये ताज जिस दिन गिरेगा, उसी दिन को देखने के लिए ज़िन्दा हूँ! औरत कहता है न मुझे। तेरे कारन औरत हुई....नहीं तो किसी की घरवाली होकर चैन से मर जाती। तूने अपनी समझ मे घरवाली बनाया है, पर तेरे लिए औरत रहूँगी! औरत!'

दूर स्टेशन से आती सड़क पर इक्कों के पहिए गड़गड़ा उठे। सूबेदार उड़ती धूल के पार ताक कर चीखने लगा, हाथ में लिये मोटर के भोंपू को बीच-बीच में भों-भों बजा देता, उसे सुन कर छूटती हुई लारी के लिए मरियल घोड़ों की पीठ पर सड़ासड़ चाबुक चिटकने लगते और खड़र....खड़, खड़र....खड़.... करते भागते हुए इक्कों पर हिचकोले खाती सवारियाँ डर की मारी, रक्षा के लिए पीछे मुँह घुमा लेतीं। फेन से सने मुँह और लगाम चबाते हुए घोड़े जब रुकते तब पता चलता—पीछे बँधा टीन का बक्सा रास्ते में गिर गया या गौने का घड़ा दौंची में भट् से टूट गया।

अड्डे पर हंगामा मच गया। पीछे आते हुए इक्केवान चाबुक की डंडी पहिए में घुसेड़े किड़र....किड़र....करते, अपने आगमन की सूचना देते भागते आ रहे हैं—'सन्नामसिंघ डिलाइवर की लारी घड़ी देख के छूट जाती है....फौज का डिलाइवर रहा है सन्नामसिंघ। मोटर चलायेगा तोफान की तरह पर मजाल है एक पिल्ला तक दब जाय....टकराने की तो बात दूर रही....'

'काहे असगुनिया बोल बोलते हो भाई!'

पर सगुन-असगुन से दूर सरनाम का मन जब उचाट हो जाता तब उसे लगता कहीं कुछ हो न जाय। कौन जाने हाथ न सधे और किसी पेड़.... पुलिया या पुल से....लड़ाई में किन-किन जगहों पर नहीं दौड़ाई मोटर....मौत के मुँह में जा-जाकर निकल आया, पर ऐसा तो कभी नहीं लगा! जब मन उचाट होता है तब यह बैंजो और कोई बहुत ही बेहूदा-सा गीत। लेकिन यह बैंजो और भी तोड़ देता है। उसका मन तब कहीं नहीं लगता। भरती हुई सवारियों पर एक निगाह डाल कर वह सूबेदार से पूछता—'चौकस!' और उत्तर का परवाह किये बग़ैर छप्पर वाली कोठरी में घुस जाता। मोटरों की फटी हुई गद्दियों के नारियल वाले ढेर में हाथ डाला। एक बोतल हाथ में आयी। गट्-गट्....एक-दो-तीन-चार-दस-ग्यारह-बारह घूँट। और अपने दाँतों को चूसता हुआ वह अपनी सीट पर आ गया। सूबेदार घड़ी देख कर बोला, 'बीस मिन्ट हैं!'

जैसे एकाएक सरनाम को खयाल आया। उतर कर शिवराज के पास पहुँचा, पूछा—'चल रहे हो पंडित।'

'हाँ, गाँव तक जाना है....'

'आगे की सीट पर बैठ जाओ....' फिर सूबेदार से बोला, 'एक ड्योढ़े का काटना।' कहकर ख़ुद शिवराज की बाँह पकड़ कर लाया और खिड़की खोल कर अपने बराबर वाली सीट पर बैठा लिया।

'मोटर रोकना भाय!' नायब तहसीलदार का चपरासी हाँफता हुआ आया और बोला, 'साहब ने कहा है कि लारी तहसील से घुमा लें। जमाई-बाबू जायेंगे। सामान बँधा तैयार है....' 'ले लेंगे....' सरनाम ने कह दिया।

'अगली सीट चाहिए, और एक नौकर की....' चपरासी ने कहा तो सरनाम बिगड़ पड़ा, 'अगली सीट भर चुकी। जाना हो तो पाँच मिनट में खबर दो, जा पूछ आ जल्दी से....'

'ऐसे तो जमाई बाबू नहीं जायँगे, खाली करवा लो। जाना ज़रूर है....।'

'तू काहे को मरा जा रहा है बेटी का बाप! जाके बता दे....' आँखों के लाल पड़ते हुए डोरों को चमकाता हुआ सरनाम बड़बड़ाता रहा—'नायब के दमाद हैं....समझते हैं मोटर कम्पनी अपने दादा की है। ऐन वक्त हुक्म घुमा दिया....' और एक गंदी-सी गाली देकर दाँत चूसता हुआ हुड खोलकर इंजन देखने लगा....पानी का नाप लेकर एकदम चीखा—'अबे लंगूर के बच्चे! पानी कौन भरेगा इसमें!' सुन कर टिन का पीपा लिये लड़का दौड़ा आया।

पाँच-सात मिनट बाद नायब साहब के चपरासी के साथ आधुनिक वेश-भूषा से सज्जित युवक आता दिखायी दिया। सरनाम ने शिवराज से कहा, 'तुम

यहीं बैठे रहना, उठना मत, समझे।' इन तथाकथित बड़े लोगों को देखकर सरनाम का रोम-रोम जलने लगता है। उसका निजत्व बहुत बड़ा हो जाता है। उन्हें सताने या नीचा दिखा सकने के लिए उसकी आदमियत अकुलाने लगती। उसमें वहशत सी जागती।

अगली सीट भरी देखकर उस युवक ने हुज्जत नहीं की। मोटर ठीक समय पर छूट गयी। सरनाम की बाँहें शिथिल थीं आज। जब भी वह बैंजो बजाता है तब बाद में ऐसा ही अहसास होता है। पर शिवराज की उपस्थिति जैसे उसे प्रकृतिस्थ किये थी। पूछा, 'अरमसराय उतरोगे, जा क्यों रहे हो?'

'पिता जी की तबियत खराब है, अरमसराय उतर कर नौ मील दक्खिन जाना है....' शिवराज ने कहा।

'और कौन-कौन है घर पर?' सरनाम ने फिर पूछा।

'बस पिता जी हैं, दो सौतेले भाई अलग रहते हैं।'

'और माँ?'

'नहीं है।'

शिवराज को उदास देख वह चुप हो गया। उसके चेहरे पर अभी रेखें फूट रही थीं। गालों पर रेशम से रोएँ थे। आँखों में शरारत भरी चपलता की चमक और ओठों पर निर्बोध होने की परछाईं। मोटर में पहली बार इस तरह बैठा था। अरमसराय में बाज़ार का दिन था। मवेशियों का बाज़ार। शिवराज के गाँव के एकाध लोग मिल गये और वह उतर कर चला गया।

'आना तो मिलना....वापस आओगे?' सरनाम ने पूछा।

'पता नहीं....अच्छा डिराइवर साहब नमस्ते!' और वह बाज़ार की भीड़ में खो गया। सरनाम उसे जाते हुए देखता रहा।

क्लीनर ने हैंडिल मारा और लारी आगे बढ़ गयी।

अपने पिता की मृत्यु के बाद शिवराज एक टीन का बक्सा लेकर वापस आश्रम लौट आया था। आश्रम में वह बदले हुए व्यवहार का अनुभव कर रहा था, यह तो अब उसके लिए अनाथालय-सा हो गया। स्वामी जी की पुचकार और स्नेह चुक गया। अब घर से दान-दक्षिणा जो नहीं आती, पहली बार पिता जी दो बोरी गेहूँ, एक भेली गुड़ पहुँचा गये थे। एकाध कपड़े बनवा गये थे, लेकिन यह सब अब कहाँ? रात में बाहर चबूतरे पर लेटता तो आकाश का सूनापन देख-देख कर रुलाई आती। पिता-माता से सम्पन्न ब्रह्मचारियों के प्रति स्वामी जी का दूसरा ही रुख़ रहता। उनकी थोड़ी आवभगत भी होती, बेटा कहकर पुकारा जाता और उन्हें अनावश्यक कामों से दूर रखा जाता! प्रातः हवन के लिए लकड़ियाँ चीरने से लेकर स्वामीजी की सेवा-टहल तक का सारा भार उसी पर तो था। कुएँ पर कपड़े ले जाकर धोने से ही फ़ुर्सत

नहीं मिलती, उसके बाद भोजनगृह में अन्य ब्रह्मचारियों और साधुओं को खिलाने पिलाने में भी हाथ बँटाने की आज्ञा थी। गुरुपूनो से पहले वाला व्यवहार और अब का! सोचता तो मन कहीं भाग जाने को होता। अन्य सब धर्मात्माओं के बेटे हो गये थे....उनकी कोठरियों में लालटैन थीं, सुभाषितों की तख़्तियाँ दी गयी थीं और लेटने के लिए तखत भी। किसी के घर से कुछ आता, उसे स्वीकार कर स्वामी जी बड़े प्रसन्न होकर कहते, 'इसके बाप बड़े धर्मात्मा आदमी हैं....ईश्वर उन्हें उस जनम में देगा!' और सारे ब्रह्मचारियों को इस बात की चिन्ता रहती कि उनके घर से अधिक-से-अधिक दान-दक्षिणा आती रहे। वैसे आश्रम प्रवास निःशुल्क था। शिवराज कहाँ से लाये? कौन उसके लिए स्वामीजी से प्रार्थना करने आये, कौन बार-बार यह समझाए कि ये पातकी पुत्र आपके चरणों में अर्पित है....इसका उद्धार कर हम लोगों को धर्म का आश्रय दिलवाइए महराज!

गाँव का खुला-खेला किशोर....काम करते-करते थक जाता। रात में स्वामी-जी के पैर दबाने की ड्यूटी उसी की थी।

एक रोज वह बाज़ार में निकल गया। पर जाये भी कहाँ, कोई पहचानता भी नहीं। बहुत देर इधर-उधर घूमता-घामता रहा, फिर मोटर अड्डे की तरफ़ चला गया....कुछ देर बैठ कर लौट जायेगा। सरनामसिंह को देखते ही उसे कुछ बल मिल गया। शतरंज की बिछी हुई बिसात पर सरनाम झुका हुआ था। उसने पास जाते हुए कहा, 'डिराइवर साहब नमस्ते!'

सरनाम उसे देखकर अवाक् रह गया। कहाँ तीन महीने पहले का शिवराज और कहाँ यह! 'पिता जी नहीं रहे क्या?'

पीड़ा से भरे शिवराज की आँखें छलछला आयीं। सरनाम बिसात छोड़-कर उठ बैठा। शिवराज को लेकर छप्पर में चला गया। आने वाली लारी का वक्त हो गया था। इधर खड़हरे पर खड़े, ढोले हुए इक्के झुकी हुई तोपों की तरह पड़े थे और घोड़े अपने पैर पटक-पटक कर और पूँछ हिला हिलाकर मक्खियाँ उड़ाते हुए गर्दन में लटकी बाल्टी में मुँह फँसाये रातब खा रहे थे। इक्केवानों की महफिल में मारकण्ड के मेले की दौड़ का सिलसिला चल रहा था। कुछ देर बाद एक बड़े ब्रह्मचारीजी के साथ शिवराज के दो-तीन साथी उसे खोजते हुए उधर पहुँच गये। मोटरवालों के साथ शिवराज को बैठा देख कर उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं।

'अच्छा यहाँ जमे हैं!' व्यंग्य से उन्होंने कहा, जिसमें सरनाम के लिए प्रकट अपमान का स्वर था। शिवराज एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गया। सरनाम ने ब्रह्मचारीजी को गहरी निगाहों से घूरा। तब तक ब्रह्मचारी जी फिर बोल पड़े, 'यहाँ क्या हो रहा है?' क्षण भर पहले के भयातुर शिवराज में

अपना ग्रामीण स्वातंत्र्य फूट पड़ा, 'बैठे हैं !' सरनाम ने शान्ति की साँस ली और उसे साहस देने के लिए दृष्टि मिलायी !

'आश्रम चलो, स्वामीजी की आज्ञा है जहाँ मिले पकड़ लाओ....खोजते-खोजते परेशान हो गये....'

'मैं नहीं जाऊँगा आश्रम....' सुनकर सरनाम हँस पड़ा। ब्रह्मचारी जी कुण्ठित हो गये और अपने चेलों को भेड़ों की तरह हाँकते हुए बोले, 'चलो.... तुम लोग चलो। नहीं जायगा न जाय, चल के स्वामीजी से....' और न जाने क्या-क्या बड़बड़ाते हुए वे चले गये।

उस रोज शिवराज सरनाम के संग ही रहा। लारी पर उसके साथ गया और दूसरे दिन साथ ही आकर उसके घर रुक गया। छोटी-सी बस्ती में बात फैल गयी—'सरनाम सिंह ड्राइवर ने आश्रम के एक लड़के को बरगला लिया। आश्रम छुड़वा दिया....'

'सरनाम सिंह में यह गुन भी है ?'

'शराबी-कबाबियों में कौन से गुन नहीं होते ! फाँस लिया उस लौंडे को। बताओ, आश्रम का लड़का....ज़िन्दगी खराब करके छोड़ेगा !'

'वह रंगीले उसके पीछे बहुत दिनों से पड़ा था....'

'जेबें कतरवायेगा....बाद में गिरोह में शामिल कर लेगा।'

'सुना लड़का भी लफंगा था !'

'नहीं नहीं, ब्राह्मन का बेटा है....'

और तब से शिवराज वापस आश्रम नहीं गया। कुछ दिनों सरनाम के घर के बाहर वाले कमरे में रहा, फिर उसके घर और जीवन का अंग बन गया। पर धर्ममण्डली की कोप दृष्टि सरनाम पर टिक गयी। आध्यात्मिक जीवन जीने वाले धर्मपुरुषों ने बड़ा सांसारिक प्रचार किया, पर सरनाम अपने में मस्त था ! जब कभी बात आती तो स्वामियों के कच्चे चिट्ठे खोलने लगता। इस प्रश्न को लेकर फक्कड़ों और पुजारियों में खासी अनबन और दुश्मनी हो गयी।

शिवराज जब ये बातें सुनता तो कुछ समझ न पाता, पर धीरे-धीरे उसकी तरुणाई उद्दण्ड होकर जागने लगी और उसने समय के साथ-साथ न जाने कितनी कहानियाँ गढ़ीं। सरनामसिंह को लेकर चलने वाली बातों से बचाव के लिए उसकी वह आदर्शवादी कहानी—

सरनामसिंह एक बार सोमवती अमावस को दन्नाहार की नहर नहाने गये थे, हमारे पिताजी भी गये हुए थे। बड़ी ख़तरनाक नहर है, अथाह पानी और इतना तेज़ बहाव कि हाथी भी न ठहर पाये। हड़हड़ाती बहती है। बड़े-बड़े डूब गये उसमें....सरनामसिंह अपनी हेकड़ी में लँगोट बाँध कर कूद पड़े, आधी नहर पार करते-करते साँस फूल आयी। फिर लहर का ऐसा थपेड़ा पड़ा कि

हाथ-पैर ढीले हो गये। तीन-चार गोते खा गये, बहुत हाथ पैर मारे पर धार ने नहीं छोड़ा। डूबते उछरते आधे फलांग निकल गये तब कहीं शोर मचा। किनारे खड़े लोगों में चीख-पुकार, दौड़-भाग होने लगी पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ी। आखिर हमारे पिताजी की ललकार पर एक आदमी और उनके साथ कूदा ...धार में हाथ पाते ही सरनामसिंह ने इस बुरी तरह से पकड़ा कि लगा पिताजी भी गये। पर बड़ी मुश्किल से छुड़ा कर धोती के सहारे वे निकाल ही लाये। चार घंटे पिता जी लस्त पड़े रहे। सरनामसिंह को तो आठ-नौ घंटे बाद होश आया। तब से सरनामसिंह हमारे पिताजी को बहुत मानने लगे और इस का बदला चुकाने के लिए वो ख़ुद जाकर मुझे माँग लाये। पिताजी ने मना किया तो सर पटक दिया देहरी पर—कहा, 'शिवराज हमारा भाई है! अपने भाई को नहीं ले जा सकता तो फिर आपने पिता की तरह मुझे दूसरा जन्म क्यों दिया! मुझे बचाया क्यों? क्या मैं इस लायक भी नहीं....'बड़ी मुश्किल से पिताजी ने माना और मुझे आश्रम भेजते वक्त कह दिया था कि वहाँ का उत्सव समाप्त होने पर अपने पास बुला लेना....यह तो पिताजी के उपकार के कारण हुआ। वे ख़ुद सरनामसिंह को बहुत मानते थे। अपने जाये बेटों से ज़्यादा प्यार करते थे। जब मैं उनके पास था तो दिन-रात इन्हीं की बातें करते....और इन्होंने भी पिता से बढ़कर माना। ख़ून से क्या होता है? आदमी-आदमी का रिश्ता होता है!' शिवराज बाद में बड़ी नीतिपूर्ण बातें करता, उन वाक्यों को कहता जो उसने आश्रम में सीखे थे।

सुबह शिवराज की आँख खुली तो देखा सरनामसिंह उसी की चारपाई पर पड़े हैं और उनका एक हाथ उसके सीने पर है। यह कोई नयी बात नहीं थी। उसे अभ्यास हो जाना चाहिए था। चार साल गुज़र गये इसी वातावरण में रहते। पहले बेहद उलझन होती थी....सरनामसिंह कहते, 'तुम्हें देखकर मुझे अपनी जवानी याद आ जाती है....बस यही समझ लो जो तुम आज हो, वही मैं सोलह साल पहले था। यही तेज़ी, यही तेवर और यही मासूमियत! तुम्हें देख-कर अपने उन दिनों को याद कर लेता हूँ!' ठंडी साँस खींचकर कहते, 'कहाँ अब लौट के आयेंगे गुज़रे हुए दिन!' उसका हाथ अपने हाथों में लेकर बड़ी हसरत से नाखूनों को देखते, पोरों को दबाते, बाँह पर एक उँगली फेर-फेरकर रोओं को कोमलता से छूते; फिर जैसे स्वप्न टूटने की तरह एक दम चौंक जाते, 'भाग जाओ मेरे सामने से!'

कभी बदहवास की तरह बाँहों में दबोच लेते। उसके बालों में अपना मुँह गड़ाकर लम्बी साँसें खींचते। ठोड़ी उठाकर कहते, 'मेरी तरफ़ देखो!' असहाय पक्षी की तरह शिवराज ताकने लगता और उसका शरीर पकड़ से छूटने के लिए कसमसाता। अपने को ढीला करते हुए सरनामसिंह कहते, 'शिबू,

पिछले जनम में तू मेरा कौन था ? एक दफा अम्मा को ऐसे ही पकड़ लिया, साँस फूल आयी। गुस्से में एक तमाचा जड़ बैठीं। फिर प्यार करते-करते रो आयीं....'और वह इस तरह ख़यालों में डूबता जैसे उसकी माँ उसे कहीं दिखायी पड़ रही हो।

शिवराज का एक क्षण पहले ग्लानि से भरा हुआ मन तरल हो आता। इसी तरह अपने सब बिछुड़े हुए साथी-संगियों की भावभंगिमाएँ, रूप, हाव-भाव और चेष्टाएँ वह जब तब शिवराज में देखा करता। कभी उसके बैठने में उसे अपने किसी साथी का साम्य दिखायी पड़ता, जिसे वह बहुत चाहता रहा था। या उसके पहन-ओढ़ लेने पर उसकी आँखों में अपने यौवन की तस्वीर खिंच जाती, जिसे एक बार फिर महसूस करने के लिए वह शिवराज की दोनों बाँहें पकड़कर अपने सामने घुमा लेता। अपनी प्रत्येक चेष्टा का औचित्य या उससे सम्बन्धित भावानुभूति और उसकी पवित्रता का बोध वह शिवराज को अवश्य करा देता। इसके साथ ही सारी सुविधाएँ—शौक और फ़ैशन की समस्त वस्तुएँ उसके लिए उपलब्ध रहतीं। शिवराज को फलानी चीज़ की ज़रूरत है, यह मालूम भर हो जाय, दूसरे दिन वह चीज़ सामने होती।

और शिवराज इसी सोच में पड़ा रह जाता कि आखिर यह स्नेह या प्यार कैसा होता है, इसमें दुर्गन्ध क्यों आती है ? इसकी सीमा कहाँ तक है, किस बिन्दु के बाद यह सड़ने लगता है ? वह कहाँ तक स्वीकार करे ? कौन सी सीमा बना ले ! यह सब रोज बन कर टूट-फूट जाता है।

धीरे से हाथ खिसका कर वह उठा और भीतर कमरे में चला गया। अभी उजेला अच्छी तरह फैला नहीं था। तीन दिन पहले की बातें उसे कुरेदने लगीं। सुबह उठकर उसका पहला काम यही होता था—उन पत्रों को उलटना-पलटना जो हेम उसे भेजती थी। उनकी एक-एक पंक्ति को बार-बार पढ़ना और समझना। किताबों के पीछे से उसने हेम का पत्र निकाला, विशेषतः वे लाइनें—

परम पूजनीय,

नमस्कार !

परचा आपका शन्नो से मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपने मुझे बहुत ही लज्जित और दुखी किया, यह लिखकर कि 'मैं लोफर और आवारा हूँ।' प्राणधन अगर आप लोफर होते तो आपके इतने पुरुष पीछे न फिरते, अपनी लड़कियों के रिश्ते को। लोफर आप जानते नहीं कौन है, हरी, ओम, दयानाथ आदि ही लोफर हैं। प्राणधन, अब से कभी न लिखना वरना न जाने हेम को इस बात से कितना दुख पहुँचे। कल मैं और अम्मा मास्टर साहब के यहाँ गये थे। आप अपने कमरे में थे। मैंने देख लिया था पर आपने नहीं देखा था। कल रात

एक बड़ी वैसी बात हो गयी—हाथ की मोमबत्ती गुलदस्ते में लग गयी....और वह पतंगा अपना प्रचण्ड रूप धारण कर मेरी सब आशाओं पर पानी फेर गया, आपका वो गुलाबी रूमाल वहीं रखा था, वह भी जल गया। उसे बचाने के लिए मैं हाथ से आग बुझाने लगी। हाथ में लपटें लग गयीं, और धोती में आग लगने से बच गयी। पर रूमाल नहीं बचा, अचानक मेरे मुँह से निकला—

क्या मिल गया भगवान मेरे दिल को दुखा के !
अरमानों की नगरी में मेरी आग लगा के !!

सिर्फ़ तुम्हारे कारण बच गयी। तुम गरीब क्यों बनते हो प्राणधन ! जब तुम ही गरीब हो जाओगे तब गरीब लोग कहाँ जायेंगे। कितने दिन तुम्हारा रूमाल बचाये रही। इस यौवन के कारण जो एक कपड़ा पहनना पड़ता है उसके अन्दर मैंने तुम्हारा पेन और रूमाल रख रखा था—उन्हें सिवा हृदय की धड़कन के और कोई नहीं जान सकता था। तुम रूठ बहुत जल्दी जाते हो....कभी इस अभागिन को याद कर लिया करना। आपने लिखा है कि मेरा जी तुमसे दिन भर बातें करने को करता है। झूठ क्यों लिखते हो। तुम्हारे लिए मैं हर समय....पत्र की गलतियों को क्षमा करना, हँसी मत करना ओ 'हेम' के प्राण।

मत पत्रों से दिल तोड़ ओ जीवन बनाने वाले
क्यों तोड़ते हो दिल को ओ प्रेम बढ़ाने वाले
तू (आप) दिल से मिलाता दिल के तार चला चल
हेम के प्रेम के बन्धन में बना हार चला चल

तुम्हारी दासी—हेम

पैरों की आहट सुनकर शिवराज ने एकदम पर्चा मोड़कर किताबों के पीछे डाल दिया और कसरत करने की मुद्रा में खड़ा हो गया। सरनाम ने देखा तो बोले, 'यहाँ कमरे में कसरत ! अखाड़े जाते झेंप लगती है तो छत पर किया करो, खुली हवा में....'

'छत से औरों के आँगन दिखायी पड़ते हैं !' शिवराज ने एक बैठक लगाते हुए कहा।

'उसका भी इन्तज़ाम हो जायेगा, तब तक आँगन में करो।' शिवराज दबसट में फँस गया। आँगन में आना ही पड़ा। कसरत करके हाँफते हुए घूमने लगा तब तक सरनाम एक दियाली में कड़ुवा तेल लेकर आगये, 'इधर आ मालिश करदूँ....' शिवराज जानता था, इससे बचाव नहीं। मालिश करते वक्त सरनाम कभी-कभी उसके कुछ अंगों को जरा ज़ोर से दबा देता था।

बाहर गली में कुछ जाते हुए लोगों की ऊँची-ऊँची आवाज़ें आयीं। एकदम

सरनाम बाहर निकला और पता लगाया तो मालूम हुआ कि फिरोजपुर वाले दड़े में पचासी नम्बर खुला है !

'किसी को कुछ मिला भी कि सबेरे-सबेरे....' सरनाम ने पूछा।

'इस बार सालों की बधिया बैठ जायगी देते-देते ! पन्द्रह-बीस ने पचासी पर लगाया था....आठ और पाँच की गिनती नहीं....।'

'मठिया वाले बाबा का आसिरबाद ! कभी-कभी बोलते हैं पर जो बोला सो ब्रह्म वाक् ! छन गयी ठाकुर साहब इस बार !'

'कित्ता लगाया था लछमन तुमने !' सरनाम ने पूछा।

'दस लगाये सौ सीधे हो गये !' बनवारी बोला और सराय की ओर जल्दी चलने की धूम मचाने लगा, 'चलो भई, पहले आती लक्ष्मी प्राप्त की जाय तब और कुछ....'

'अरे आज पड़वा है !'

'सगुन ही सगुन है....'

दड़े में जीते हुए लोगों की बातें सुनकर सरनाम को थोड़ा सन्तोष हुआ। यह फीरोजपुर वाला दड़ा अगर बंद हो जाय तो अपना चमक जाय ! आधा व्योपार मार रखा है। दस-बीस दफा ऐसे ही झमाके से नम्बर खुल जाय, पटरा हो जाय समुरों का देते-देते। जाते हुए लोगों से बोला, 'पड़वा-अड़वा मत सुनना, नक़द गिना लेना ठनाठन्न !'

धीरे से बनवारी बोला, 'देखा लछमन ! ठाकुर पानी चढ़ा रहे हैं !'

'अरे कल इनकी भी सही। आजकल सितारा जोर पर है !' अपनी काजल लगी आँखों को मटकाकर दाढ़ी हिलाते हुए लछमन ने जवाब दिया। सरनाम तब तक भीतर चला गया था।

शिवराज बंसिरी के यहाँ जाने के लिए कपड़े पहन चुका था। सरनाम ने देखा तो कुढ़ गया, 'सुबह हुई नहीं कि तुम्हारा पैर निकला। दो-चार घंटा घर में भी बैठा करो....जानते नहीं हो किस तरह की औरत है !'

हमेशा की तरह वह चुपचाप सुनता रहा। सरनाम ने कुछ डाँटते हुए कहा, 'दूध पीकर जाना और लारी छूटने से पहले मेरा खाना भिजवा देना !'

'मैं अभी होटल की तरफ़ नहीं जाऊँगा !' शिवराज बोला और अपने बालों में लहरें बनाने लगा, जो हेम को बहुत पसन्द थीं ! बाहर से पुकारने की आवाज़ आयी, पहचान कर सरनामसिंह ने भीतर बुला लिया। दोनों एक-दूसरे को देखकर आँखों-आँखों में मुस्कराए, आने वाला मंगल था, बोला—'पुरी बँट गयीं, मंगलवार का सिद्ध, सोमवार को चाला....'

'कुर्रावाला पासी है ?'

'है, दो और, सबकुल ग्यारह !' मंगल बोला।

'कित्ते लैसन्स हैं गाँव में !'

'दो, जिनमें एक बाहर है ।'

बातें सुनकर शिवराज अटक-अटक कर काम करने लगा । जाने की जल्दी नहीं रह गयी । तीसरे-चौथे महीने इस तरह की बातों की भनक उसके कान में पड़ती थी और वह सब जानता था । उनकी भाषा समझता था । लेकिन हर बार उसके कान खड़े हो जाते, पता नहीं इस बार क्या हो जाय ? कैसी बीते ! सरनाम ने शिवराज को टरकाना चाहा, 'अड्डे पर जाकर कह आओ, अभी आ रहा हूँ....वखत का खयाल है, गाड़ी भरलें !'

शिवराज अड्डे की ओर चला गया ।

'हथियार करारे किराये पर मिले हैं ! इत्ता रुपया कहाँ था ? पेशगी की माँग थी, देना पड़ा ।' मंगल ने कहा ।

'सब हो जायेगा. इस बार चुनाव पर अपने लैसंस लिये जायँ, जो लैसंस दिलवायेगा सो वोट पायेगा ।' सरनाम ने आगे की बात कही ।

'एक बात है ठाकुर !' कानाफूसी के अन्दाज़ में मंगल ने सरनाम से कहा, 'किसी तरह बनवारी धानुक को फँसवा दो. जब से एमेले हुआ है दिमाग़ नहीं मिलता । तीन सौ पर दी है इस बार....'

'किराये के कितने हथियार हैं ?'

'तीन, दो पुराने वालों के, एक दुनाली बनवारी धानुक की....'

'चलते वक्त वहीं छोड़ दो दुनाली, अपने आप फँस जायगा ससुरा....फिर देख लिया जायगा आगे । पता लगते ही रपट करेगा कि मेरी लैसंस की बन्दूक चोरी गयी है, चक्कर में तो आ ही जायेगा !' सरनाम की इस बात पर सर हिलाते हुए मंगल ने बात दूसरी तरफ़ मोड़ दी, 'बोतलें नहीं हैं, लौटने पर कम-से-कम दस का इन्तज़ाम करना !'

'ये साला चोरी-बट्टे का काम करते गुस्सा आता है । उस दिन साली रास्ते में एक फूट गयी ! बड़ी परेशानी उठानी पड़ी ! हाँ, जरा नक्शा बताओ....' सरनाम ने जल्दी की ।

मंगल ने समझाना शुरू किया—'भेदिया उसी गाँव का सुनार है । साल पीछे मुसम्मात का पचास तोला सोना खुद उसने गलाया है, चाँदी की इन्तिहा नहीं । सामने-सामने मकान पक्का है, भीतर सब कच्चा दड़ा फर्लाङ्ग भर की दूरी पर है, सीधी सड़क पर पहुँचाता है । दक्खिन ढाक का वन है, पच्छिम बस्ती है, पूरब में खेत और उत्तर तरफ़ मठिया ! तीन तरफ़ से खुला है; घर में पाँच प्रानी हैं, तीन मर्द दो बैयरबानी....पच्छिम बस्ती में दो लैसंस हैं, एक गाँव से बाहर गया है, महीना-खाँड़ में आयेगा, एक से निपट लेंगे, सात गाँव बाद तहसील का थाना कचहरी है !'

'अच्छा ठीक है !' सरनाम ने कहा पर उसका दिल अनायास किन्हीं पुराने खयालों में डूब गया—सबसे पहले उसे वे कचहरी के दिन याद आते हैं जब मुकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ था और बंसिरी बयान देने आया करती थी ! सात आदमी गिरफ्तार हो चुके थे, एक फ़रार था और सरनाम ने खुद अपने को जाकर अदालत के सामने पेश किया था। उसे यह कभी मंजूर न था कि वारन्ट से पकड़ा जाय और जेल में अपनी हड्डियाँ तुड़वाये ! कबूल तो नहीं ही करना था। वह खुद कुछ दिनों फ़रार रहा था और मुकद्दमा शुरू होते ही उसने अपने को पेश किया था।

बंसिरी उसे देखती रह गयी थी, बाकी सब मुलज़िमों की पाँच-पाँच, चार-चार शनाख्तें थीं, मामला टेढ़ा होता जा रहा था, और फिर घर की औरतों की शनाख्तें जिससे कोई बचत नहीं ! बंसिरी की आँखों में बदले की जो परछाईं थी उससे लगता था, कि कोई बचत नहीं।

थानेदार ने अदालत में शनाख्त करवाई—'इस आदमी को पहचानती हो ?' बंसिरी से पूछा गया था ! और बंसिरी ने पैरों से सिर तक बड़ी गहरी नज़रों से उसे ताका था, उसकी आँखें उसे भीतर तक भेद गयी थीं....वह अच्छी तरह पहचानती थी, जैसे रोम-रोम से परिचित हो। सरनाम का शरीर थरथरा गया था और कमर से पसीने की धारें छूट पड़ी थीं। बंसिरी ने उसे अच्छी तरह देखकर थानेदार की तरफ़ निःसंकोच भाव से देखा था—इसे पहचानने में भूल कर जाऊँगी....इसी ने तो मेरी बाँह पकड़ी थी....भूत की तरह खूनी आँखों से मुझे देखा था और इसकी अँगुलियों की फ़ौलादी पकड़ से मेरी बाँह पर तीन नील पड़े थे....मेरी बाँह पर पड़े हुए तीनों नील आज भी इसकी निशानी हैं, पर इसकी आँखों की वह आग आज नहीं है, वे फड़कते हुए नथुने मुर्दा हैं....पर आदमी तो यही है ! इसकी आवाज़ मेरे कानों में खुबी हुई है, जब ये अपने साथियों पर शेर की तरह गुर्राया था....इसे खूब पहचानती हूँ, अच्छी तरह जानती हूँ !

'इसे पहचानती हो !' थानेदार ने सवाल दुहराया।

सरनाम ने माथे का पसीना पोंछने के बहाने मुँह ढक लिया था, कटघरे की बाड़ से टेक ले ली थी। और बंसिरी ने कहा, 'मैं इसे नहीं पहचानती !'

सुनकर उसका शरीर खोखला हो गया था। प्रतिहिंसा की शक्ति और दुश्मन को सामने देखकर आने वाले हिम्मत के उबाल पर ठंडा छींटा पड़ गया था। उसके पैर और बुरी तरह से काँपे थे और वह बैठने के लिए लाचार हो गया था। खड़ा रहता तो गिर पड़ता !

बड़ी बुरी डकैती थी, न जाने कौन-सी सायत से गये थे ! भेदिया साथ में था। खड्ढों में लारी चलाते-चलाते पसली-पसली हिल गयी थी। एक मुकाम किया

था तेली के घर में। अँधिरिया रात, कब पानी बरस पड़े, इसका कोई ठिकाना नहीं। पखवारे पहले हथियार ठिये पर पहुँच गये थे, कुछ खेत में गड़े थे। शराब पी-पीकर कारतूसों की पेटियाँ डाल ली गयी थीं और आनन-फानन उस घर के सामने उतर पड़े थे। पहला फायर सरनाम ने किया था....लगा जैसे किसी पहाड़ी घाटी में गोला दगा हो, गूँजता चला गया। देखते-देखते चार आदमी ऊपर छत पर थे। सरदार ऊँची छत पर खड़ा चारों तरफ़ से हिफ़ाजत कर रहा था, तीन आदमी ऊपर से कूदे थे और दरवाज़ों के खुलते ही बाकी भीतर दाखिल हुए थे। ऊपर सरदार और नीचे खास दरवाज़े पर सरनाम। भीतर कुहराम मचा। मुसम्मात का बड़ा बेटा एक लाठी की मार से चित हो गया था, पर वाह री औरत! अँगुलियाँ तोड़ दी गयीं, आग लगाने की धमकी दी, पर मुँह बंद! एक अच्छर नहीं। 'मुँह में बन्दूक डाल दो... नंगा कर दो हरामज़ादी को!' सरदार चीखा था पर टस से मस नहीं। ऊपर का माल हाथ आ गया था....तब तक एक ने बाँह मरोड़ दी थी पर उफ् तक नहीं, बज्जर थी....बारह बरस के लड़के को उसकी आँखों के सामने गिरधारी ने सर तक उठाकर पक्के फ़र्श पर दे मारा, पर एक आह तक नहीं! सरदार ने कड़क कर कहा था—'आग लगाकर इसकी टाँगें भून दो, जब तक चाबियाँ न दे, मरने मत दो ससुरी को!'

और आग की लपटें देखकर डरी हुई हिरनी की तरह बंसिरी निकलकर आयी थी—'मैं देती हूँ चाबी! मैं बताती हूँ....' इतना कहने के बाद जैसे वह सहम गयी थी और ज़ुबान पर ताले पड़ गये, आँखें फटी-फटी रह गयी थीं। बुरी तरह डर गयी थी। सरनाम एक फायर करके भीतर घुस आया था। आग की लपट में चमकता हुआ बंसिरी का कुन्दन-सा तन—रस से शराबोर....एक आँच लगते ही जैसे रंध्रों से सुगन्धित रस रिस आयेगा, चिकनी खाल भी पके टिमाटर की तरह फूट जायेगी। 'नम्बर तीन, तू बुढ़िया को तपा, मैं इस लौंडिया की खबर लेता हूँ!' कहता हुआ गिरधारी बंसिरी की तरफ़ लपका था और उसकी छातियों पर हाथ डाल कर एक वहशी तृप्ति का अनुभव करता हुआ अपने को कार्यरत प्रकट कर रहा था। 'इस लौंडिया को सताओ तब यह कबूलेगी....' कहते हुए उसने उस अधेड़ औरत की तरफ़ देखा, पर गिरधारी की हिंस्र पाशविकता में कहीं एक बेहद कमज़ोर इंसान उभर रहा था, जैसे किसी भौंकते हुए कुत्ते के सामने गोश्त का टुकड़ा आ गया हो। बंसिरी शिला की तरह खड़ी थी और गिरधारी उसे परेशान करने के बहाने उसके गाढ़े स्पर्श के लिए ललकता जा रहा था! बाल खींचकर उसने बंसिरी का मुँह ऊपर कर लिया था....'नायक!' सरनाम की आवाज़ गिरधारी के कानों में पड़ी, पर उस पर एक दूसरा ही खुमार था। एक भद्दी गाली देते हुए गिरधारी चीखा, 'माल

नहीं बताती तो इस लौंडिया को मोटर में डाल लो....'

सरनाम उछल कर पास पहुँचा था, बंसिरी बुरी तरह चीखी थी, उसकी बाँह को फौलादी पंजों से जकड़ कर सरनाम ने अपनी ओर खींच लिया और गिरधारी पर बरस पड़ा था, 'बेधर्मी नहीं होगी गिरधारी....जाओ सन्दूक संभालो !' गिरधारी देखता रह गया और सरनाम बंसिरी को अपने पास बाहर की चौखट तक घसीट लाया और उसे एक कोने में डालकर मुहाने पर तैनात हो गया। उसे नहीं पता, वह कब अचेत हो गयी ! क्योंकि पच्छिम बस्ती से शोर उमड़ता हुआ उधर ही आ रहा था....

एकाएक एक धड़ाके के साथ ऊपर खड़े सरदार की लाश नीचे आ गिरी थी....सीने पर पड़ी कारतूसों की पेटी के सारे कारतूस फटकर छाती में घुस गये थे ....फौज से छुट्टी आये गाँव के किसी सिपाही ने अचूक निशाना साधा था। गोली सीने पर लगी थी और सरदार का बदन छार-छार हो गया था। बस्ती की तरफ़ से दो बन्दूकें लगातार फ़ायर कर रही थीं....और उस अँधेरे में सैकड़ों आदमियों का शोर नज़दीक आती रेलगाड़ी-सा निरन्तर बढ़ता जा रहा था। आख़िर संकट सामने आया। डकैतों ने बराबर गोलियाँ दाग़ीं, पर बचाव नहीं था। सरदार की लाश ठिकाने लगानी थी। गाँव वालों ने तीन तरफ से चकिया सी डाल दी ! और चौथा रास्ता था तालाब का ! हार कर बचे हुए लोग सरदार की लाश के साथ तालाब में कूद पड़े और गिरते-पड़ते किसी तरह भाग खड़े हुए थे। भेदिया को वहीं गोली मार दी....दो बन्दूकों का नुकसान हुआ और एक आदमी मारा गया....गिरधारी कुनजर न डालता तो कुछ न होता। धरम-सील के हौसले से काम होते हैं....चोर-लफंगे नहीं हैं हम ! उस दिन से गोल ढीला पड़ गया। सरनाम ने गिरधारी के साथ शिरकत करना बंद कर दिया और सरदार मारा जा चुका था।

दूसरे दिन डकैती की रपट हुई और पुलिस ने नाम रख-रखकर वारंट जारी कर दिये। वह बचता इधर-उधर छुपता रहा, फिर उसने ख़ुद को अदालत के सुपुर्द कर दिया था। वकील की यही राय थी।

मुकद्दमा चला, बंसिरी रोज़ हाज़िर होती, इजलास शुरू होते ही क़ैदी जेल से लाये जाते, बैठकर मिसकौट होती। गिरधारी कहता, 'सब गुड़ गोबर कर दिया तूने सरनाम ! गर्दन फँसी और कौड़ी हाथ न आयी....हज़ार रुपये की तो अकेली लौंडिया है....मटर की तरह भरी हुई !' इजलास के बाहर पेड़ों और वकीलों के तख्तों के आस-पास मजमा इकट्ठा रहता। सरनाम उसे रोज देखता, पर बंसिरी की आँखों में कोई भी ऐसी बात न दिखायी पड़ती जिससे वह अपने लिए कुछ मतलब निकाले। और वह सोचता—बंसिरी, तेरी मेहरबानी मेरे किस काम आयेगी ? डकैती साबित हुई तो तेरे शनाख्त न करने पर

ी सात साल की सज़ा नहीं बचती। तेरी यह मेहर किस लिए थी मुझ पर ? रोज़ाना की एक दुश्मनी भरी मुलाक़ात, गिरधारी दाँत किटकिटा कर कहता —'शहर जाते हो तुम तो, सराय या धर्मशाले में टिकी होगी, कितनी देर लगती है....' कहते हुए वह चुटकी बजाता और उसके मुख के भाव कुछ इस तरह बदलते कि सरनाम का दिल कुढ़ने लगता, क्योंकि गिरधारी जानता है कि उस लड़की ने जानबूझ कर सरनाम की शनाख़्त नहीं की, तब उसे चुप रहना चाहिए—उसे समझना चाहिए कि वह सरनाम और बंसिरी का अपना मामला है ! न जाने क्यों बंसिरी सरनाम से आँख न मिला कर उसके माथे पर पड़े हुए घाव के निशान को ताकती थी, इसे सरनाम ने भी महसूस किया था। पर बात नहीं हुई। जो कुछ होती वह अदालत में—बस !

फैसले वाले दिन डकैतों ने जब भरी हुई इजलास में नारे लगाये—'बोल सच्चे दरबार की जै' तो लोगों ने समझ लिया कि डकैती छूट गयी। बंसिरी के साथ वाले पैरवीकारों के मुँह पर लानत बरस रही थी लेकिन बंसिरी स्वयं निरपेक्ष थी। वे लोग बैलगाड़ियों में बैठकर उसी दिन अपने गाँव लौट गये। एक नाटक ख़तम हो गया था। पर सरनाम के दिल में बंसिरी की अजीब-सी अनुभूति थी—एक सतायी हुई दयावान नारी की। एक नासमझ लड़की की। एक हारे हुए दुश्मन की, एक जीते हुए साथी की ! वह कुछ भी ठीक-ठीक न सोच पाता।

फिर एकाएक कई सालों का व्यवधान है। उसे लगता कि न जाने कितने ऐसे व्यवधान उसके जीवन में हैं, जिन्होंने उसकी ज़िन्दगी के रूप को निश्चित किया है। कहाँ से कहाँ आ लगा वह ! ज़िन्दगी के बनते हुए रूप को अस्वीकार करके वह भरी जवानी में फौज में चला गया था, हिन्दुस्तान से बाहर जाना नहीं हुआ, पर कौन सी ऐसी सड़क है जिस पर उसकी मिलिटरी ट्रक के जूँ-जूँ करते हुए टायर नहीं गुज़रे ! आसाम से रावलपिंडी, रावलपिंडी से पूना, पूना से मद्रास और फिर इम्फाल ! दो वर्ष की इस तूफ़ानी ज़िन्दगी के बाद वह यहाँ आया था, पर प्राइवेट मोटरों की ड्राइवरी में वह निःशंक तूफ़ानी रवानी कहाँ थी, वह उत्तेजना कहाँ थी....मौत से टक्कर लेने की ललकार कहाँ थी....और तब उसने अपने को इन लोगों के साथ पाया था....और इन लोगों के साथ में एकाएक बंसिरी को पाया था ! उसे देख कर उसकी पशुता अचानक मर गयी थी; अद्भुत प्रभाव था उसमें।

और जब उसका चेहरा-मोहरा सरनाम के ख़यालों से उतर रहा था कि उसे एक भयानक धक्का लगा। सोरों के मेले में ताड़ी पीकर वह एक नौटंकी में घुस गया था....उसे शक हुआ....लैला की सखियों में बंसिरी थी....सीधी-सादी लड़की कूल्हे मटकाना सीख गयी थी, आँख मारती थी....'उइ दइया'

कह कर लजाती थी और खुले हुए गंदे मज़ाक करती थी। सरनाम ने गिलट का एक रुपया स्टेज पर फेंका था, पर नगाड़ों की किड़िम धिन्न—किड़िम धिन्न में वह बेकार चला गया। उसे लगा वह बंसिरी नहीं है! देखने वालों के इशारों का जवाब वह अपना पार्ट करते-करते दे रही थी, उसकी निगाह हमेशा सरनाम पर से बिछल जाती! पर उसका जी नहीं माना।

रात दो बजे जब नौटंकी खत्म हुई तो वह नटों के डेरों के इर्द-गिर्द घूमता रहा! सचमुच अब बंसिरी उसके लायक हुई है, तब तो वह इतनी पाक लगती थी कि अपने पर शरम आती थी....पाँच नटनियाँ दो तम्बुओं में थीं, नट उन्हीं की अगल-बगल थे। एक नट ने कुछ कहा था तो बंसिरी एक दम बिफर उठी थी, 'जा जा....अपने तबेले में सो, इधर का रुख किया तो जान सलामत नहीं....'

'नयी है, ढर्रे पर आयेगी....' दूसरे ने पहले नट को तसल्ली से काम लेने की हिदायत दी थी और एक गंदा इशारा करता हुआ बड़े भद्दे ढंग से बैठ गया था।

सरनाम लौट आया था। सुबह तक के तीन-चार घंटे बड़े पशोपेश में गुज़रे। उजियारा होते ही वह उधर गया था, पर नटों के डेरों में जगहर नहीं हुई थी।

एक रोज मेले में, नौटंकी शुरू होने से पहले बंसिरी मिली थी। देखते ही बोली थी, 'डाका मारना है?'

सरनाम हँस दिया, बोला, 'अब तेरे यहाँ क्या रह गया?' और उसने बेहद गहरी नज़रों से बंसिरी को ताका था।

'तेरे लायक सब कुछ है! है दम?' बंसिरी ने कहा और खिलखिला पड़ी —पान से रंगे दाँत सरनाम को भा गये। कितनी मुँहफट हो गयी है, हया-शरम खोकर औरत बनी है अब।

'चल के देख, चलेगी!' सरनाम ने कहा, तब तक उसके साथवाली नटनी ने मनिहार से लड़ाई शुरू कर दी और बंसिरी उसमें उलझ गयी। सरनाम कुछ देर देखता रहा, शायद उधर से फ़ुर्सत पाकर वह फिर इधर मुँह मोड़े पर वह झगड़ा निपटा कर हँसती-हँसाती दूसरी दूकान की तरफ़ बढ़ गयी। सरनाम को खल गया। इतनी घमंडिन, दिखावा करती है कि भूल गयी, जैसे वह अभी किसी जानवर से बात कर रही थी, और चल दी! सरनाम बीड़ी सुलगा कर दूसरी तरफ चला गया। नौटंकी के एकाध आदमी नटनियों के साथ हो गये थे और सरनाम देख रहा था कि वह उनसे हँसी-ठिठोली करती, आँखें नचाती और भद्दे तरीके से सट-सट कर चल रही थी। दाँती पीसकर वह एक पेड़ के अँधेरे में चला गया—

रात नौटंकी में वह फिर गया और सबसे आगे जाकर नगाड़े वालों के पास उसने जगह खोज ली। बंसिरी बँदरियों की तरह नाचती-कूदती रही....और सरनाम का पौरुष उबाल खा खाकर सिराता रहा। पर वह जानता था, अब यह हाथ नहीं आने की। पर्दा गिरते-गिरते बंसिरी उससे कहती गयी, 'बाहर रुके रहना।'

भीड़ छटते ही वह आयी और उसे लेकर देवियों की मठिया की ओर इमलियों के नीचे चली गयी, यह रथों का बाज़ार था—रथ, लहडू, रब्बा....

'कहाँ है आजकल! कुछ काम धंधा?' बंसिरी ने पूछा।

'वहीं हूँ....मोटर लेके आया था, मेले की दुकानें ढो रहा हूँ। तू कैसे आगयी यहाँ....?

बंसरी ने ऐसे देखा जैसे सब तेरा दिया तो है! और उसकी आँखें डब-डबा आयीं। बोली, 'बस आ गयी....तू निठल्ला है, समझता है सब इसी तरह रह लेते हैं....कितनी डकैतियाँ मारीं....हमारी नौटंकी के छकड़े ढोयेगा!' बंसिरी इस तरह बात कर रही थी जैसे वह निपट नादान बच्चा हो। सरनाम को लगा निकटता जता रही है। उसने कंधे पर हाथ रख लिया, बंसिरी कुछ नहीं बोली।

सरनाम उसे उत्तर वाले भूड़ मैदान की ओर ले आया, जहाँ लदाई के लिए और ट्रकों के साथ उसका ट्रक खड़ा था। उन दिनों रंगीले उसके साथ क्लीनर था, वह ताड़ी पिये, ट्रक के खुरदरे फ़र्श पर नंगे बदन लेटा था। सरनाम ने सीट की गद्दी निकाली और जहाँ ट्रक की परछाईं से अँधेरा और भी घनीभूत था, बिछा कर ख़ुद बैठ गया, हाथ पकड़ कर उसे भी बैठा लिया।

'पौडर लाली लगाकर पटरो पर कूदते-कूदते हाड़ टूट जाते हैं, नगाड़े से कान के पर्दे फट जाते हैं....पर लैला बन के रहूँगी एक दिन!' बंसिरी बोली।

'लैला!' सरनाम ने हाथ दबा कर पूछा।

'हाँ रियाज की बात है, सत्तार तो कहता था इसे ही स्टेज पर लैला बना-कर उतारो, पर मास्टर नहीं माने....'

'कौन सत्तार!'

'अरे वही जो मजनू बनता है। असल में मास्टर की श्यामा से आसनाई है, जो वह कहती है वही होता है। सत्तार का मुँह नोच लिया कलमुँही ने.... पर कित्ते दिन! पौडर लगाती है तब भी लकीरें नहीं जातीं....लैला तो जवान थी!' बंसिरी ने कहा, उसकी आँखें अँधेरे में भी लौ की तरह चमक उठी थीं। गर्वीली-गहरी साँस उसने खींची थी।

सरनाम ने उसे अधलेटा कर लिया था! मेले का शोर ख़ामोश हो चुका था। टूरिंग सिनेमा का भोंपू बहुत पहले बंद हो गया था। सर्कस वालों के तम्बू पिचके हुए गुब्बारे की तरह ढीले पड़ कर ज़मीन पर लोट रहे थे। दूर, जहाँ

खास मेला था, वहाँ दुकानों के आगे पर्दे तन गये थे, जिनके पीछे से टिमटिमाती हुए लालटैनों का मटमैला प्रकाश छन रहा था। चरख चुप थे। मेला-अफसरों के तम्बुओं की गैस की रोशनी में एकाध अरदली चिलमें फूँकते नज़र आरहे थे। दो-चार आदमी इधर-उधर थके से आते-जाते पर भूड़ मैदान में टिके हुए सारे क्लीनर और ड्राइवर नशे में धुत थे। सरनाम ने एक नज़र चारों ओर डाली....उसके सामने फौजी पड़ाव घूम गये। युद्ध से लौटे हुए थके-हारे जवान और उनकी एकाकी बस्ती... किसी घाटी की कोख में, या किसी नदी के किनारे गड़े हुए खेमे और उनमें सोते हुए थके पर भूखे इन्सान !

सरनाम ने एक आवाज़ रंगीले को दी, पर वह गहरी छाने पड़ा था— 'ओए भुतनी के ! साले कोई गाड़ी स्टार्ट कर ले जाय तो खुद भी लदा चला जायगा....' रंगीले की चुप्पी ने उसका हौसला बढ़ा दिया। यही जानने के लिए उसने आवाज़ दी थी।

'गद्दी तो इतनी पतली है, तुझसे सीधी तरह बैठा भी नहीं जाता....' बंसिरी कह रही थी कि उसका कंधा गद्दी के नीचे आरहा, बोली, 'ये भी नहीं देखता इधर काँटे हैं....खाल छिल गयी....हट, परे हट....'

और बंसिरी जब गयी तब उसके सचमुच एक काँटा ऐसा चुभ गया था जो न उस अँधेरे में दीखता ही था और न टटोलकर बाहर ही खींचा जा सकता था। उसके थके हुए शरीर में कुछ ऐसी सनसनाहट भर गयी थी जो उसे उसके आपे से बाहर किये दे रही थी। इतनी टूटन, थकान और हारी हुई झनझनाहट ! सरनाम ने उसे मरोड़ दिया था....माम कसकता था....कितनी गहरी नींद आती है ऐसे में ! चैन और भुलावे की नींद, बेफ़िक्री की नींद, मजबूरी की नींद !

'राउटी तक पहुँचा आऊँ....?' सरनाम ने पूछा था।

'चली जाऊँगी, तू सो !' उसने कहा और निश्चिंत-सी उठकर चली गयी। किसी दूसरे मोटर के क्लीनर ने टोका तो गुर्राती हुई निकल गयी। सरनाम उसकी छाया को देखता रहा, एक मोटर इंजिन की बगल से मुड़ कर वह ओझल हो गयी।

मेला उठते-उठते यह तै हुआ था कि जिस दिन नौटंकी यहाँ से उखड़ेगी, बंसिरी सरनाम के साथ चलेगी। नौटंकी के मालिक से पूछने या कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। मेला उखड़ते ही सरनाम लकड़ी वालों की खेपें ढोने लगा। जिस दिन वह खाली मोटर लेकर आने वाला था, नहीं आया। रंगीले की थोड़ी सी असावधानी के कारण ठर्रे की बोतलें पकड़ गयीं और दोनों बंद हो गये थे। जमानत देर से हुई, वह सीधा सोरों के मेले में पहुँचा पर नौटंकी की बल्लियों के गहरे-गहरे गड्ढे अब भी उस ज़मीन पर मौजूद थे, दस बीस

फटे हुए बाँस पड़े थे—बस, और कुछ नहीं। धरती की छाती में बने हुए वे गहरे गड्ढे वह देखता रहा, जिनके मुहाने पर मकड़ियों ने जाला भी पूर लिया था....जब तक सूरज तपेगा, तब तक ये गड्ढे ऐसे ही बने रहेंगे, शायद तपन से दरक कर एक-आध पर्त उचट जाय....बरसात में पानी सोक-सोक कर धरती के ये घाव पुर जाते हैं....भूमि नयी-नवेली हो जाती है, जैसे यहाँ कुछ था ही नहीं। हर निशान मिट जाता है, तब तक के लिए, जब तक कि दुबारा फिर मेला नहीं जुड़ता !

बंसिरी की आहट के लिए उसके कान हमेशा खड़े रहते....ज़िले का कोई मेला उसने नहीं छोड़ा, हर नौटंकी और रासमण्डली में उसने रातें गुजारीं पर वह नहीं मिली। मास्टर की नौटंकी भी दिखायी पड़ी, मालूम हुआ वह सत्तार के साथ किसी सर्कस में चली गयी थी, कुछ दिन पहले सर्कस के काफ़ी जानवर किसी बीमारी से मर गये इसलिए सब तितिर-बितिर हो गया। अब पता नहीं कहाँ है। सरनाम माल ढोने वाली फारवर्डिंग कम्पनी से नौकरी छोड़ कर सवारी वारी लारियों की कम्पनी में आ गया था। पूँछ की तरह रंगीले साथ था। मसखरा आदमी। सरनाम के रौब-दौब.के कारण उसकी भी निभ जाती थी, अपने पेट भर को वह कमा ही लेता था।

और रंगीले !

बड़ा रंगा हुआ आदमी था। इस बस्ती में रंगीले का बचपन किसी ने नहीं देखा। चौड़ी काठी पर सिलबिल दिमाग़ ! इस आदमी की शोहरत सबसे पहले टूरिंग सिनेमा के आस-पास फ़िल्मी गाने की किताबें बेचने वाले और पोस्टर उठाकर चलने वालों के बीच फैली थी। बात ही ऐसी थी। कोई खेल ऐसा न जाता जिसे रंगीले न देखे, चाहे अछूत कन्या, कंगन या बंधन हो, चाहे हन्टरवाली या गुलबकावली ! गाना गाने का नहीं, सुनने का शौक था। देविकारानी ही नहीं लीला चिटनिस का ज़माना भी लद चुका था और बेस्ट-टूरिंग टाकीज़ के रुपहले पर्दे पर उन दिनों सुरैया चमक रही थी। शहर में सुरैया की शोहरत के साथ-साथ रंगीले का नाम भी उजागर हुआ। अभी तक रंगीले बस्ती के हर आदमी के काम आता रहा था, अपने में मस्त होकर फक्कड़-पने से जीता था, न किसी से लड़ना न झगड़ना; आवारा कहे जाने वाले लोगों के साथ उठता-बैठता ज़रूर था पर उनकी बदमाशियों से दूर। इसी-लिए उसकी सबसे दोस्ती थी, दुश्मनी और रंगीले से ! यह कोई सोच ही नहीं सकता था।

लेकिन एक रोज़ लोगों को यह जानकर ताज्जुब हुआ कि रंगीले किसी का जानी दुश्मन हो गया है और हर वक्त एक ही रट लगाये रहता है—'ज़िन्दगी में किसी से दुश्मनी नहीं की, पर ये देवानन्द जब तक जीता है और

जब तक मैं जिऊँगा तब तक यह दुश्मनी इसी ज़ोर-शोर से चालू रहेगी ! बेईमान !' यह गाली देकर वह ज़मीन पर बड़ी हिकारत से थूक देता था ।

इस दुश्मनी का राज़ एक दिन खुला, रंगीले की जेब में सुरैया की तस्वीर थी और जूते में फिल्मस्टार देवानंद की ! क्योंकि रंगीले को फिल्मी गीतों की किताब बेचने वाले ने बताया था कि देवानंद और सुरैया का प्रेम इस हद तक पहुँच गया है कि देवानंद उससे शादी करने की सोच रहा है । यह खबर रंगीले के गोली की तरह लगी ! उसके सपनों की रानी को कोई और इस निगाह से देखे ! पर्दे पर सुरैया का गीत सुनकर जब उसके अगल-बगल बैठे लोग पैसे खनकाते तो उसकी त्योरियाँ चढ़ जातीं, ज़रा भी तमीज़ नहीं इन लोगों को, शोहदे हैं शोहदे !

रंगीले की अपनी अलग महफ़िल थी । सुबह वह मोटर अड्डे पर रहता, दोपहर कचहरियों में दौड़ता और शाम को सराय के गलियारे में कलिया-पराठे वालों की दूकान पर बैठता, क्यों कि उसके साथ वाले अधिकतर वहीं खाना-खाते थे । मिशन स्कूल के पास लगा बाइस्कोप जब आवाज़ देता—'आइये, आइये....रामराज ! जिसमें परेम अजीब, सोभान समरथ जैसे नामी सितारों ने काम किया है ! खेल शुरू होने जा रहा है....भगवान का दरसन कीजिए !' तब रंगीले अपने संगी-साथियों के साथ उठकर सिनेमाघर पर पहुँचता, आधीरात वहीं बीत जाती ।

बड़ा लोकप्रिय था रंगीले ! लोगों में भी और पुलिस महकमे में भी । वह अधिक पढ़ा-लिखा तो नहीं था, फिर भी हाज़िर जवाबी में पढ़े लिखों के कान कतरता था । सबसे बड़ी वजह थी उसका रसूख ! महकमा पुलिस का वह बँधा हुआ गवाह था: वैसे भी यह उसका पेशा था । पुलिस को किसी भी मामले में गवाह की ज़रूरत पड़ती तो रंगीले को हाज़िर कर दिया जाता, क्या मजाल कि दूसरे पक्ष का वकील एक भी फ़ालतू बात उसके मुँह से निकलवा ले, या ग़लत कहलवा ले ! दीवानजी से वह पूरा मामला समझ कर यह जान लेता था कि उसकी गवाही किस पहलू के लिए है, फिर तो ऐसे बोलता जैसे सारा वाकया उसकी नज़रों के सामने हुआ हो !

किसी के घर चोरी हो जाय, किन्हीं दो में फौजदारी हो जाय और चश्मदीद गवाह की ज़रूरत पड़े तो रंगीले की माँग बढ़ जाती थी । जो पहले आ जाता वह उसे रिज़र्व कर लेता, चौथाई पैसा पेशगी, कचहरी तक का भाड़ा; आधा पैसा गवाही के वक्त और बाकी काम खत्म होने पर ! कभी-कभी इस काम के लिए वह दूसरी तहसीलों में जाता —खास जरूरत पड़ने पर ज़िला पार भी चला जाता । और रंगीले सरकार को दुआ दिया करता था—'बड़ी उमर हो इस सरकार की, हाकिम को टिकने नहीं देती !' हाकिमों के तबादलों के साथ उसके

रोज़गार में नश्री जान आती थी—दीवानी-कचहरी से लेकर लेबर आफिस तक के इजलास उसके घूमे हुए थे—कौन सी ऐसी अदालत थी जिसमें उसने गंगाजली उठाकर क़सम न खायी हो !

वह कहा करता था, 'मैं तो पैसे का ग़ुलाम हूँ। और भाई सबसे बड़ा अपनापा....आदमी-आदमी के काम आता है, मुझसे किसी का काम निकल जाये, समझो सुरग की एक सीढ़ी चढ़ी ! बद्दुआ नहीं लेता....दुआ लेता हूँ, दुआ देता हूँ !'

पुलिस वालों से जान-पहचान के कारण रंगीले निर्भय होकर घूमता था, कोई ऐसी चौकी नहीं जिसके दीवानजी की किसी मुसीबत में रंगीले ने हाथ न बँटाया हो। सरनाम यह बात जानता था, इसीलिए उसने रंगीले का साथ पकड़ा था, लेकिन उसी पर एहसान करके।

उन दिनों एक जज बहुत दिनों टिक गया, रंगीले की साख बिगड़ गयी, जब फ़ैसले में उसने लिखा कि रंगीले वल्द जोगनराम पेशेवर गवाह मालूम पड़ता है क्योंकि मेरी इजलास में पेश हुए पिछले दो मुकदमों में यह गवाह बनकर हाज़िर हुआ। और उन्होंने ज़ुबानी रंगीले से कहा था—'अगली बार तुम्हें गवाह की तरह न देखूँ ! या अपना मुकदमा लड़ने आना, या चोरी-चमारी के जुर्म में हाज़िर होना !'

जब तक वह हाकिम रहा, किसी ने भी रंगीले को न पूछा। उन दिनों वह नौकरी भी छोड़ चुका था इसलिए हाथ एकाएक तंग हो गया। पर फक्कड़ आदमी—उसके चेहरे पर शिकन दिखायी न दी। कुछ ऐसे काम करने लगा जो कोई न कर पाये, जैसे महूक तोड़ना, कुँएँ में गिरी हुई डोल-बाल्टी निकाल देना, साँप पकड़ना आदि। बेकारी के समय में चौराहे वाले शिवमन्दिर के बाबा लोगों के साथ बैठा करता, गाँजे की दम लगाता और पिनक में पड़ा रहता। उसकी खामोशी से चौराहा, सराय और अड्डे सूने-सूने लगते।

इन दिनों की तीन-चार ही नहीं सैकड़ों ऐसी बातें है, जिन्हें रंगीले ने जन्म दिया। इस पतली और अँधेरी गलियों वाले शहर की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं में उसका प्रभावशाली हाथ रहा है। यहाँ के लोग मन्त्रमुग्ध उसके ऋणी हैं....जो लोग बाहर से पढ़-लिखकर आते वे अपने आप यहाँ के जीवन-स्रोत से कट जाते....पर इन बेपढ़ ज़िन्दा दिल लोगों की पीढ़ियाँ कभी नहीं मिटीं, ऐसी पीढ़ियाँ जो हमेशा अतीत की गरिमा और वर्तमान की आवश्यकता पर जीती रहीं। इससे आगे उन्होंने कुछ नहीं देखा, देखना सीखा ही नहीं। शायद इसीलिए मानवता के इस खण्ड का आधा मुँह काला था, आधा सफ़ेद ! टुच्चे काम करके भी बड़े काम करने का हौसला रखने वाले। शाम को नृशंसों की तरह गोद-गोद कर हत्या करने वाले और सुबह किसी अपरिचित

की प्राण रक्षा में स्वयं मर जाने वाले। रात वेश्याओं की ग[illegible]यों में दंगा-मारपीट करके सुबह गहरी निष्ठा से भरे हुए देवी मन्दिर पर शीश न[illegible]वाने वाले! अद्भुत लोगों की बस्ती है यह। बड़ी-बड़ी नैतिकताओं को खण्ड[illegible]-खण्ड कर छोटी-छोटी नैतिकताओं के लिए जागृत रहने वाले! और रंगीले! व[illegible]ग[illegible] हमेशा बच्चों की तरह वर्तमान में जीता था, पश्चाताप और परिताप से दूर। [illegible]स

उन दिनों रंगीले बड़े कष्ट में था। शिवमंदिर के बाबा लोगों से उ[illegible]सका झगड़ा हो गया था। मंडी में जाकर पल्लेदारी करना उसे मंजूर न था, [illegible]उन दिनों वह कैसे पैसे का जुगाड़ करता, यह किसी को पता न हो, ऐसी बातें नहीं थी....

सरनामसिंह कुछ दिन पहले सवारियाँ ढोने वाली एक लारी पर आ गया था। कुछ दिन पहले रंगीले भी उसके साथ क्लीनर रहा था, पर जब सरनाम ने दूसरी जगह नौकरी की तो वह अपने पुराने धंधे में लगा, यानी बेकार होगया।

ये बस्ती पुराने ज़माने में एक राज के अन्तर्गत रह चुकी है, इसीलिए अंग्रेजी ज़माने का रौब-दौब तो इस पर पड़ा, रहन-सहन और व्यापार आदि नहीं बदले। अब एकाध दफ्तर हो गये हैं, कचहरी-बैंक वग़ैरह भी हैं पर अधिकांश जनसंख्या अपने पुश्तैनी पेशों पर ही जीती है। नौकरी करना यहाँ के लोगों के स्वभाव में नहीं। सारे धंधे मंडी के आसरे ही पनपते हैं—धान और मूँगफली की फसलें, तम्बाकू और आलू का कारबार....इन्हीं बड़े-बड़े सहारों से छोटे-छोटे ज़रिये निकले हैं। फ़सल और मौसम पर एक मुश्त, एक बार मेहनत करली, साल भर के लिए फारिग! धंधे में नुकसान होगया तो भूखों मर गये, मकान वग़ैरह गिरवी रखे या बेचे और दिवालिया बनके परचूनी, टीन, लोहे-लंगड़ का कारबार अपना लिया। सिक्के भी यहाँ उतने नहीं चलते जितनी ज़बान चलती है, अक्ल भी उतनी नहीं चलती, जितनी ताक़त और साख चलती है।

उन दिनों लड़ाई के बाद वाले राशनिंग का ज़माना था, कारबार बुरी तरह चौपट हो चुके थे....कड़ी-से-कड़ी रीढ़ वाला भी झुक गया था। जिसे देखो वह काम-धंधे और रोज़ी की तलाश में दूसरे शहरों की ओर भाग रहा था—काफ़ी लोग फिरोज़ाबाद के चूड़ियों के कारखाने में चले गये, कुछ कानपुर-आगरा भागे, पर रंगीले का नार वहीं गड़ा था।

सरनाम को उसकी फिक्र भी थी, आड़े वक्त काम आने की बात थी। जोड़-तोड़ लगाकर उसने अपनी लारी के क्लीनर को भगा दिया। रंगीले की तलाश में मठिया पर गया, पर वह नहीं मिला, सराय गया, वहाँ पता चला कि अभी-अभी उसका दिमाग़ चल गया था....अपनी रमक में था—अफ़सरों के

घर की कुछ औरतें वापस डाकबँगले की तरफ़ जा रही थीं, वह बैठा उनकी चाल-ढाल और सिंगार-पटार पर फबतियाँ कसता रहा....फिर सराय के कोने पर से कारी का गधा खोल लाया और उसकी पूँछ में टूटा हुआ डोल बाँधकर उसने उन लोगों के पीछे दौड़ा दिया....हंगामा मच गया, ऊँची ऐड़ी की सैंडिल पहने एक अफ़सरानी के पैर में मोच आगयी। अचानक गधे से बचने के लिए जब वे सँकरी सड़क पर घबरायी-सी चीखी चिल्लाईं तो रंगीले वहशियों की तरह ताली पीट-पीट कर हँसा....एकाध गंदे मज़ाक उसने किये, और सिनेमा की तरफ़ भाग गया।

सरनाम उसकी हालत समझ रहा था। जब वह उसके साथ था तब उसने उसे पास से देखा था—औरों की तरह वह भी बुरी तरह भूखा था। हर तरफ़ से भूखा—मन से, तन से, जेब से। इसीलिए औरतों के प्रति उसके व्यवहार में यह तिक्तता थी, अमीरों के प्रति घृणा थी और अपने पुरखों के प्रति क्रोध। बनी-ठनी औरत देखते ही उसका दिमाग़ कीली पर से उतर जाता था, कोई ऐसी हरकरत कर बैठना, जिससे उसके मन को जंगली तृप्ति मिलती, उन्हें परेशानी में पड़ा देख वह दाँत निकालकर ठट्‌टा लगाता। जानवरों के जोड़ों को परेशान करता। बिल्लियाँ और कबूतर आदि पकड़ कर उनके अंगों का निरीक्षण करता। जाते हुए साँड़ को किसी गाय पर हुलकार देता और चौराहे पर जब कभी गाँव की बेड़नियाँ आ जातीं तो वह बीच बाज़ार दिन भर हुरदंगा मचाता....यह ज़ाहिर करता कि वह पिये हुए है, उन्हें छेड़ता; मज़ाकें करता। तमाखू लाकर खिलाता, पानी पिलाता और उनके साथ ऐसा घुल-मिल जाता जैसे उसी मंडली का सदस्य हो। रात-रात भर सूनी गलियाँ उसके क़दमों की आहट और बेसुरे गानों से गूँजती रहतीं। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे बस्ती के लोग उससे डरते.... बस्ती वालों के लिए वह विषहीन साँप था।

सरनामसिंह अस्पताल के पास पहुँचा, ख़ासा मजमा लगा हुआ था.... गुरु गोरखनाथ का चेला, एक सँपेरा अपने करतब दिखा रहा था। देखने वालों की भीड़ गोलाकार खड़ी थी। नाग पिटारे में बंद थे, जादू-मंतर का कोई तमाशा था। बार-बार वह अपनी जाँघ पीट कर आसमान की तरफ़ देखता और कुछ बुदबुदाता, बड़ा ज़ोर मारता, मंत्र पढ़ता, गहरी साँस खींचकर फुस्कारता। अपना 'इलम' कमज़ोर पड़ते देख उसने सामने वाले आदमी से पूछा—'चंडी का भगत है क्या भाय? बड़ा कर्रा पड़ रहा है भाय! जात कौन है भाय!'

'बिराहमन!' अपनी दोनों बाहें सीने पर कसे रंगीले ने कहा, 'इलम दिखा गोरखनाथ के बेटे! जित्ता तूने पढ़ा उत्ता हम भूल चुके गोरख के....कर्रा-से-कर्रा मंतर मार!' तमाशबीनों ने प्रशंसा भरी नज़र से रंगीले को देखा और

असहाय सँपेरे को बार-बार कोशिश करके झूठा पड़ते देख उनके चेहरों पर ख़ुशी उभर रही थी। सरनाम बड़े ग़ौर से रंगीले को देखता रहा। एकाएक सँपेरे ने कहा—'अबकी नई बचेगा....चाहे काली माय का भगत होय, चाहे बिराहमिन का बेटा....बोल बाबा गोरखनाथ-मछिन्दरनाथ की अगड़म तगड़म....! और न जाने क्या-क्या बुदबुदाते हुए उसने रंगीले पर फुँकी हुई मिट्टी मारी। देखते-देखते क्षण भर में रंगीले का बदन ऐंठने लगा, सिर जाँघों में घुस गया, हाथ अकड़कर पीछे बँध गये, जाँघें फटने लगीं....और रंगीले आर्त चीत्कार करता हुआ चकरघिन्नी की तरह हाय-हाय करता, तड़पता हुआ चक्कर काटने लगा! उसके शरीर पर खून की ललाई दौड़ गयी, चेहरा लाल-भँभीरी हो गया और माँसपेशियाँ तड़कने लगीं। सँपेरे ने एक गाली दी, और रंगीले अपना सिर घुसेड़े-घुसेड़े चीखा—'माफ़ कर बाबा... छोड़ दे, छोड़ दे, माफ़ कर....' उसकी साँस घुटी जा रही थी। आखिर तमाशाइयों ने महरबानी की माँग की और एक काट-मंतर पढ़ते ही रंगीले उस भयंकर मंत्र की बंदिश से छूट कर हाँफता हुआ ज़मीन पर चित पड़ गया और कुत्तों की तरह बड़ी देर तक हाँफता रहा। सँपेरे के कटोरे में खनाखन सिक्के गिरने लगे। और, कुछ इस तरह कि रंगीले उससे इस ज़्यादती का बदला ज़रूर लेगा, वह उठा और भीड़ को चीरकर, गालियाँ देता हुआ बाहर निकल गया और जाकर एक छप्पर तले सुस्ताने लगा।

सरनाम ने कंधे पर हाथ रखकर पूछा—'येई सब करेगा रंगीले! दे मार साले को, यहीं पटक के चढ़ बैठ छाती पर!' रंगीले चुप रहा। इशारे से से उसने सरनाम को पास बैठा लिया और सँपेरे वाले मजमे की ओर ताकता रहा, जो अब छँट रहा था।

कुछ देर बाद सँपेरा अपनी बँहगी लटका कर बीन बजाता हुआ स्टेशन वाली सड़क पर चला गया। रंगीले पीछे-पीछे गया और पाँच मिनट में वापस आ गया। बोला, 'आधे-आधे पर तै था, पूरे साढ़े चार आने की आमदनी हुई।' और ठठाकर हँस पड़ा।

'बड़े करतबी आदमी हो....' सरनाम ने कहा। सारी बात उसकी समझ में आगयी थी। ये धन्धा तीन दिन तक चलता रहा। सँपेरे और रंगीले की जंतर-मंतर की लड़ाई रोज़ नया रँग पकड़ती रही। लोगों में चर्चा छिड़ी—दोनों सिद्ध हैं। एक गोरखनाथ का, एक बंभोलेनाथ का! एक बार रंगीले ने सँपेरे पर वह मंतर मारा कि बीन मुँह में घुसती चली गयी, आँखें बाहर निकल आयीं उसकी....हाथ जोड़ कर नाक से घिघयाने लगा, तब कहीं रंगीले ने काट किया। ऐसे में जान पर बन आती है....कहीं गुस्सा चढ़ आये तो बस, पर भाई जिसके पास सिद्धी होती है वह जान का खेल नहीं खेलता। इसी तरह छः

बार शहर भर के कोने-कोने में इस अद्‌भुत लड़ाई का प्रदर्शन हुआ, आखीर में सँपेरा हार गया और कसम खाकर बस्ती छोड़ गया कि ऐसे सिद्ध के शहर में अब वह पैर नहीं रखेगा, आयेगा भी तो रंगीले को गुरू की तरह मानकर ! रंगीले को सिद्ध और गुरु की पदवी मिली, लेकिन आमदनी का अच्छा-खासा ज़रिया बंद हो गया । पेट-तो-पेट ! इतना ज़रूर हुआ कि भूत-चुड़ैल चढ़ने पर उसकी बुलाहट होने लगी और औरतों में यह विश्वास घर कर गया कि रंगीले भगत मरघट पर जाकर रात-रात भर चावल फेंकते रहते हैं—इसी सिलसिले में एक ब्याहता औरत उसके हाथ आयी, जिसका जिन्न उतारने के लिए वह दूसरे-तीसरे महीने जाया करता था....रात-रात भर उसे कोठरी में बंद रखता । एक बार ठीक करके बाहर आता, घंटे-दो-घंटे ठीक रहती, फिर खेलने लगती। वह फिर घुस जाता, उसके घुसते ही जिन्न खामोश हो जाता....रंगीले ठुमक-ठुमक कर भीतर कसरत-सी करता और बीच-बीच में उस औरत का स्वर सुनायी पड़ता—'पैर पड़ती हूँ, अब छोड़ दो....बस.... बस....'

पसीने से लथपथ, बेहद थका हुआ रंगीले भगत बाहर आता और मुर्दों की तरह बाहर छप्पर में पड़ जाता । फिर ज़रूरत समझ कर वह खुद एकाध बार कोठरी में जाता और सुबह होने से पहले वहाँ से रवाना हो जाता ।

उस स्त्री का पति सोनू रंगीले का बड़ा एहसान मानता था—'अब ऐसे कैसे हो रंगीले भगत ! बाहर सौदा-सुलफ के लिए न जाऊँ तो रोज़गार ठप्प ! मैंने घर छोड़ा नहीं कि जिन्न बाबा की मेहर होती है, परदेस में आठ के दस दिन लगते हैं, फिर भी इसका खयाल सताता रहता है, पता नहीं क्या हुआ हो ? तुम्हारे कारन परदेस में थोड़ा इत्मीनान रहता है । अब से कुछ ऐसा करो कि जिन्न से पिंड छूट जाय....'

और रंगीले उसकी दूकान से सीधा बाँध कर, मिर्च-मसाला लेकर अपने घर चला आता है । पैसा वह मंजूर नहीं करता । शहर में राशनिंग का चक्कर चलते ही सोनू की गल्ले की दूकान चौपट हो गयी, परमिट उसे मिल नहीं पाया । इसलिए एक दिन बस्ती छोड़ कर दूसरे शहर चला गया । रंगीले फिर बिलल्ला हो गया ।

इन्हीं दिनों शहर में एक अनोखे संघर्ष ने जन्म लिया !

सन बयालीस में कुछ खास तरह के लोग यहाँ आये थे, उनकी वजह से शहर के नौजवानों में तरह-तरह की बातें फैली थीं—कई निशान चालू हुए थे.... तिरंगा पहले भी था, पर उसने इस बार जोर पकड़ा था और हँसिया हथौड़े वालों से उनकी आये दिन हाथापाई होती रहती थी। बस्ती में नारे गूँजते रहते । तरह-तरह की टोपियाँ दिखायी पड़तीं, स्कूलों के लड़के गोल बाँध कर

सड़क और गलियों का चक्कर लगाते रहते ! गाँधीबाबा की जै के नारे लगते। इन दिनों बड़ी सरगर्मी थी। सरेशाम दुकानें बंद हो जातीं—

पनवाड़ी रमेसुर ने सरगर्मी का कारण समझाया था—'विक्टोरिया महारानी के मंतरी लोग बेईमान हो गये, गाँधी बाबा ने ऐलान करवाया है कि राज अब हमको देके देखो, हम चलायेंगे।'

'नहीं, यह बात नहीं है....' जगनू ने बात काटी, 'बात असल में लड़ाई की है....एक बड़ा परतापी राजा हुआ है उधर पछाँह में, नाम है उसका हितलर—उसका कहना है कि आर (आर्य) हम भी हैं....सथिया को बाँह पर लगाता है, सो उसका कहना है कि अब हम राज करेंगे। अब अपना आदमी है वह, इसी से सब लोग चाह रहे हैं कि विकटोरिया से राज छुड़ा के उसे दे दिया जाय। और ये होके रहेगा ! उधर सुभाष बाबू ने लड़ाई छेड़ दी है पूरब में। दोनों तरफ़ से घेर कर अंगरेज पिच्ची कर दिये जायेंगे....'

'सुना हितलर बड़ा कड़ियल जवान है। काले घोड़े पर घूमता है, जहाँ भी अंगरेज मिलता है, मारके, मेम को ले जाता है....' चुंगी के हीरालाल ने कहा, उन्हें सबसे बड़ी ख़ुशी इसी बात से होती थी कि अग्रेज मेमें उठ जायँ, उन्हें कोई भगा ले जाय। बोले, 'देख के जी सिराय जाता है मेम को....सुना अंगरेज मेम हिन्दुस्तानी को बहुत पसंद करती है !'

'तुम्हें भी तो पसंद किया था !' रमेसुर ने मज़ाक किया। वह घटना याद आते ही हीरालाल का मुँह तमतमा आया। बिना कसूर मेम साहब ने उसे पिटवाया था; बोला 'अब देखेंगे !'

रंगीले, जो अब तक सब की सुन रहा था, बोला, 'सुभाष चन्दर बोस का इन्तज़ार करो... उन्हीं के साथ दिल्ली जायेंगे, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। बड़े महात्मा हैं, अंगरेज फौज लेके लड़ने गया तो अन्तर्ध्यान हो गये और मय अपनी फौज-फाटे के आसाम में उतरे ! उनके लिए कोई मुसकिल नहीं, हो सकता है कल यहाँ दिखायी पड़ें....बराबर दिल्ली की तरफ़ बढ़ रहे हैं।'

'बंगाले का जादू उनकी मुट्ठी में है। जो भी उनका सामना करने जाता है वह बकरी-बकरा होके लौटता है....' जगनू ने मार्के की बात बतायी, फिर धीरे से कहा, 'आज रात सब लोग जमा हो रहे हैं, तैयार होने का हुकुम मिलेगा, पता नहीं कब दिल्ली चलना पड़ जाय....'

और रात की मीटिंग के इकरारनामों के मातहत सबसे अधिक काम रंगीले ने किया था। दिन-दहाड़े उसने डाकघर में दस-पन्द्रह साथियों के साथ आग लगादी। डाकघर के बाबू खड़े तमाशा देखते रहे। उन दिनों रंगीले 'लेताजी' हो गये थे। एक ही नारा उसकी जबान पर था—'अपने देस में अपना राज !'

जगह-जगह जाकर उसने आग भड़कायी थी। कचहरी पर छापा मारने वालों के दल में शामिल हुआ था। स्कूलों में हड़ताल करवाने के लिए वह आगे-आगे झंडा लेकर गया था, खिड़कियों और दरवाज़ों पर पत्थर बरसाये, लड़कों को जबरदस्ती बाहर खींच लाया....यहाँ तक कि अकेले उसने एक•आन्दोलन खड़ा कर लिया, पर किसी पार्टी ने उसे अपने साथ नहीं लिया, पता नहीं कल क्या कर बैठे ? धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हो रही थीं, पर रंगीले सिंह की तरह बस्ती की गलियों में घूमता। जगह-जगह सुभाष बोस के किस्से सुनाता—'उन्होंने पाताल लोक से जात्रा की और जब धरती पर फिर परगट हुए, तब बलोची का बाना धारन किया, भारत पार किया, सात समुन्दर पार किया, अकेले एकांत में बड़ी तपस्या किया, जब बरदान पाय गये तब अब देस लौटे हैं। भारतमाता की आज़ादी का बरदान माँगा तब से बराबर आकासबानी होय रही है—नेता जी भारतमाता को आजाद करने के वास्ते पूरब से आय रहे हैं, सूरज देवता के साथ, सात घोड़ के रथ पै। वो रथ दिल्ली जाय के रुकेगा, वहीं राजतिलक होगा उनका, जैसे दशरथजी ने रामजी को बनवास दिया था वैसे ही गाँधीजी ने सुभाषजी को देसनिकाला दिया है, बड़ा-बड़ा करतब है इसमें। अवतारी पुरुख हैं नेता जी....'

इस तरह के अवतारों पर रंगीले हमेशा से विश्वास करता आया था। वह दिन बीत गये, और आज सरनाम, रंगीले, रमेसुर लछमन और बाबा सराय में कलिया पराठे वाले की दूकान पर बैठे थे—वहाँ गर्मागर्म खबर थी—'भगवान किसन ने कलंकी अवतार लिया है....दीन-दुखियों की आरत पुकार सुनकर आखीर भगवानजी को अवतार लेना पड़ा !'

'कहाँ की बात है ? कौन कहता था ?'

'भगीरथ जोतिषीजी से पूछो, वग़ैर नक्षत्र इतनी बड़ी आत्मा भला जन्म लेगी....'

'अवतारी के जनम पर नछत्तर सब बदल जाते हैं....'

'इसमें कोई धोखा है !'

'पापी तो वैसे भी उनके दर्शन नहीं कर पायेगा....भगवान सामने होंगे पर उसकी दिरिष्टी पर पर्दा पड़ जायगा। दर्सन नहीं होने पायेगा !'

'हाँ--हाँ, सो तो है ही !'

'पर खबर कौन लाया है !'

'खबर कौन लायेगा, अघौरी बाबा को सपना दिया है, छन-पल-दिवस सब बतलाया है सपने में, स्थान तक....नद्दी पार देवी मंदिर के पास वाली कोठी के अहाते में। बात फैलाने की ज़रूरत नहीं है....'

बात फैलाने का यही गुरुमंत्र है। गली-गली, बस्ती-बस्ती, गाँव-गाँव

कलंकी अवतार की खबर हवा की तरह फैल गयी। महकमा पुलिस के कान खड़े हुए—रंगीले ने सारी जान-पहचान एक तरफ़ कुनियाते हुए ऐलान किया—'अगर कोतवाल और कलक्टर की सी-आयडी ने धर्म के मामले में टाँग अड़ाई तो तोड़ दी जायगी....'

'कोतबाल और कलट्टर दोनों मुसलमान हैं इसीलिए विघन डालना चाहते हैं....' भभूत लगाये लछमन बाबा ने अपनी जटाओं पर हाथ फेरते हुए कहा।

कलंकी अवतार के लिए धर्मप्राण जनता सजग हो गयी। आखिर किसनजी की यही लीला भूमि रही है, मथुरा-वृन्दावन न सही, अब की इस तरफ़ किरपा हुई है। ज़िले की पाँचों तहसीलों के साधू-बैरागी जुटने लगे। धर्मशाला में उनका सतसंग हुआ। देवियों के पास वाली कोठी के अहाते के चारों ओर धुज और पताकाएँ फहराने लगीं। यज्ञ होने लगा। बस्ती के पंडितों ने आँखें टेढ़ी कीं। कृष्णावतार हो और बाहर के ब्राहाण उसका जस लूटें! अजीब शंका और रहस्य व्याप्त हो गया। दुलारे पंडित ने कहा, 'बकबास है....'

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण!' बैरागीजी तूँबी लिये गुज़र रहे थे, 'ब्राहमन का बेटा होकर इस तरह का भाव-विचार!' उनकी गोल होती हुई आँखें कह रही थीं—'यही घोर कलियुग है....कुंभी नरक के उनसार हैं!'

'ऐसे अवतार नहीं होते!'

'अवतार ही समझो, कृष्णजी की मूरत धरती पर जन्मी है, उनका अंस है उसमें....भगवान का लेशमात्र बहुत है इस ज़माने में....' बैरागीजी कहते हुए चले गये। सरनामसिंह ने सारी बात साफ़ की, 'अवतार नहीं, मूरत आयी है!'

'मूरत और भगवान में फरक नहीं होता, मंदिर में भी तो मूरत पुजती है....इस बार किसी जीव में परवेस किया है भगवान ने!' रंगीले कह रहा था।

शिवराज बाजामास्टर के साथ उधर आ निकला। वह समझा रहा था 'मास्टर जी, उससे मिल सकना इतना आसान नहीं। रामलीला, नुमायश पर हो भी जाता था....सनेमा में मारकाट की फिल्में आ रही हैं, कोई भक्ती की आये तो उसका निकलना हो!'

'कलंकी अवतार देखने नहीं जायेगी? वहीं मिल के बात करलो। दो-तीन दिन भीड़-भाड़ ज़रूर रहेगी....' मास्टर ने सुझाया।

कोठी के मैदान में रोज भंडारे हो रहे थे। जनता तिथि से पहले पहुँचने लगी। बाबा लोगों ने जगह घेर रखी थी। एक-एक फर्लाङ्ग तक आदमी बाहर रह जाता। आखिर वह दिन भी आया। शाम होते-होते हज़ारों की भीड़ झुक

पड़ी....लाठियाँ और चिमटे ले-ले के बाबा लोग इन्तज़ाम कर रहे थे—आज केवल माताओं के वास्ते !

रंगीले उलझ पड़ा, 'इतना इन्तज़ाम हमने किया और परथम दरसन का लाभ तक नहीं !'

'आज केवल माताओं के वास्ते....' एक ही उत्तर वहाँ था । भीड़ झुकती जा रही थी पर साधुओं के चिमटों ने पुलिस के बैनोट से ज्यादा असर दिखाया । 'तो पिता लोग कल दरसन पायेंगे !' रंगीले ने कह ही दिया । हँसी का फव्वारा फूट पड़ा और एक चिमटा उसकी पीठ पर पड़ा । गलती महसूस करने का दिखावा करते हुए उसने जीभ दाँतों से काट ली ।

नारियाँ भीतर जा रही थीं । कृष्णजी गोपियों के साथ एक पलंग पर बैठे थे, हाथ में बाँसुरी और सर पर मोर मुकुट । अद्‌भुत रूप था, औरतें देखती और निहाल हो जातीं । फूल मालाओं और भेंट से इर्द-गिर्द की जगह भर गयी । कृष्णजी की बगल में गोपियों के साथ बलराम भी थे । बाहर खड़ी जनता घोर जयनाद कर रही थी !....नारियाँ दर्शनों के लिए टूटी पड़ती थीं । सहसा कृष्णजी ने चँवर डुलाने वाली गोपी की बाँह पकड़ ली—'मातु.... मातु....माता !' भगवान बालक रूप धारण कर रहे थे, पलंग से उतर कर घुटुओं चलने लगे—'मातु... मातु....'उनके पैरों की पैजनियाँ खुनकने लगीं.... झुन-झुन-झुन-झुन....और बालकृष्ण ने एक युवती की गोद में सिर घुसा दिया—'मातु....मातु....'दोनों हाथों से स्तन पकड़ कर बछड़े की तरह मुँह रगड़ने लगे उनपर....

'दया हुई....भगवान की माँ ! जनम सफल हुआ....बालकृष्ण ने स्तनपान किया । धन्य हो माई ! धन्न....धन्न....!' आवाज़ें गूँज उठीं । युवती मदहोश होकर अधलेटी हो गयी, बालकृष्ण उसे छोड़कर घुटनों चलने लगे—'मातु.... मातु !' औरतों की श्रद्धा उमड़ पड़ी....

'बड़ी भागवान है छतरपुरवाले की बिटिया, साच्छात भगवान जनम लेंगे उसकी कोख से....' 'कौशल्या माई का दर्जा मिल गया, इसे कहते हैं ऊपर वाले की किरपा !'

कृष्णजी की बाँसुरी कूक उठी । गोपियाँ भाव-विभोर हो आयीं । उनकी पलकें उनींदी होने लगीं, सचमुच कितनी माधुरी है....कन्हैया की बंसुरी....जो गोकुल में गूँजी थी । गोपियाँ तन-बदन की सुध-बुध भूल बैठीं, चित्रलिखी-सी रह गयीं....अमरत रस बरस रहा था जैसे । बलराम ने पलंग पीछे खिसका दिया । एक पेड़ का सहारा लिये त्रिभंगी कृष्ण. . बाँसुरी की मधु भीगी स्वर लहरियाँ ! दो गोपियाँ चरणों पर लोट गयीं....एक कंधे से जा लगी.... कि सहसा कृष्णजी ने बाँसुरी से उसके गाल पर गुदगुदाया....

बीच में कृष्ण, चारों ओर गोपियाँ....नारियों ने गोल बाँध कर कृष्णधुन शुरू कर दी थी 'देवकी का लाला देखो, गोपियन के संग रास खेले !

गोपियन संग रास खेले !!'

कृष्णजी बाँह पकड़-पकड़ कर दो-तीन को पकड़ लाये, पैरों की थाप के साथ बाँसुरी की लय और चटकती तालियों की ताल ! कृष्ण उन्मत्त हो आये थे, जगह-कुजगह छेड़ देते, चिबुक पकड़ कर मुँह उठा देते, निर्लिप्त होकर बाँसुरी बजाने लगते ! जिसने एक दरस पाया, जनम सुफल हुआ। बाहर हरिकीर्तन हो रहा था। मर्दों की भीड़ छँट रही थी, पर औरतें चींटों की तरह वहीं चिपकी थीं। बड़ी रात तक रासलीला होती रही, तब कहीं बलराम ने कहा, 'गोपीनाथ शयन कीजिए....!'

छतरपुर वाले की बिटिया रम्मी अपनी लाज किसी से नहीं कह पायी। साथ वाला भी कोई नहीं। सीधी हेम के पास पहुँची, 'हेमा दिदिया....' कहते-कहते उसने हेम के दोनों हाथ अपने वक्ष पर कस कर दबा लिये ! रम्मी बौराई हुई थी, 'नसा चढ़ा था हेमा ! तन की सुध-बुध न रही ! आँखें मुँद गयीं, ऐसा तेज था। बेहोशी-सी होने लगी !'

'ऐसी भला क्या बात थी ?' हेम ने पूछा तो रम्मी ने पिछली रात कृष्ण के स्तनपान वाली घटना बतला दी। हेम का रोआँ-रोआँ भभर आया.... रोमांच-सा हो आया। दौड़ी-दौड़ी वह गयी और भगवान के सिंहासन के सामने माथा टेक दिया। ठीक होकर बोली, 'रम्मी, तुझमें तेज समा गया है। न जाने कैसा लगने लगा था अभी। सचमुच बेहोशी छायी जा रही थी !'

मन में बड़ा अरमान लेकर हेम शाम को दरस-परस के लिए गयी, माँ साथ थी, फिर भी वह आगे बढ़ गयी। लेकिन आज आदमियों की अटूट भीड़ थी। उस भीड़ में जब हेम ने शिवराज को अपने ठीक पीछे देखा तो पसीना छूट गया। पर ऐसा मौक़ा ! कहीं बार-बार मिलता है ? बाबा लोगों के डेरों के पीछे नदी के ढलान में वे उतर गये। अँधेरा गहरा था, दोनों इतनी निकटता पाकर गुम हो गये। हेम आँखें झुकाये खड़ी थी और शिवराज थर-थर काँप रहा था। बाजामास्टर की हिदायतें उसके दिमाग़ में गूँज रही थीं, पर हिम्मत नहीं पड़ती थी। कैसे छुए....किधर से ? कहाँ से....कैसे ? ऊपर सड़क पर गैस चमकी, रोशनी से बचने के लिए वह और नीचे खिसका, तब एकाएक उसका हाथ हेम की बाँह पर था....'अपने सामने करके आँखों में झाँकना !' उसने हेम की दोनों बाँहे पकड़ कर सामने कर लिया....'प्यार से कुछ पूछना !' वह धीरे से बुदबुदाया—'हेम !' और हेम की क्वारी साँसों की महक ने भाप की तरह उसके अस्तित्व को पूरी तरह से ढक लिया....फाँस कड़ी हो गयी और दोनों के बोल सूखे गले में अटक गये। हेम के पैर उखड़ गये....

शरीर तनी ताँत की तरह झन्ना रहा था....रम्मी के अनुभव से कहीं गहरा अनुभव ! अपने को सँभालते-सँभालते वह शिवराज के पैरों में बैठ गयी। उसके चरणों पर उसकी हथेलियाँ थी....तपती हथेलियों का स्पर्श ! ऊपर सड़क पर फिर गैस की रोशनी चमकी। शिवराज ने तब पहला खत उसके हाथों में थमा दिया था, जिसमें एक तस्वीर लिपटी थी। हेम उसे ब्लाउज़ में छिपाकर बाबा लोगों के डेरों के पीछे होकर उधर भीड़ की तरफ निकल गयी। शिवराज अँधेरे में, नदी के किनारे-किनारे चलकर, दो-तीन फर्लाङ्ग बाद ऊपर सड़क पर आया था, पुल के पास। कलाई में बेला का हार लपेटे बाजामास्टर उसका इन्तज़ार कर रहा था। शिवराज ने पूरा हाल बाजामास्टर को सुनाया था....

सचमुच वह कितना ऋणी था बाजामास्टर का ! हेम और शिवराज को पास ले आने का सारा श्रेय उसे ही था। बाजामास्टर ने जीत की हुँकार भर कर कहा, 'देखा, पहले मंत्र में चरनों में आ गयी ! अब आगे अपना समझो-बूझो ! दो-दिन गोता लगा जाओ, देखो तब कैसे मछली की तरह तड़पती है....!' शिवराज को यह राय पसंद नहीं आयी थी। दो दिन ! कैसे रहेगा वह, बिना हेम को देखे ! पर बाजामास्टर की बात उसे माननी पड़ी थी। वही तो सबसे बड़ा सहायक था, और फिर जिस स्कूल में वह संगीत मास्टर था, उसी के पिछवाड़े हेम का मकान पड़ता था। छिपकर आया-गया या चक्कर काटे तो ज़रूर पकड़ जायगा।

उन दिनों बाजामास्टर संगीत वाले गुरुजी कहलाते थे, आज से चार साल पहले। अच्छी तरह दिन गुज़र रहे थे, पर कन्या विद्यालय के अधिकारियों ने एक सूरदास खोज लिये, बूढ़े और ज़रूरतमंद। बाजामास्टर की नौकरी छुटी तो सबसे अधिक सदमा शिवराज को हुआ था। इस बीच बाजामास्टर ने न जाने कहाँ-कहाँ की खाक छानी; आखिर करम ने फिर यहीं ला पटका। इस बार वह रामलीला मंडली के साथ आये तो शिवराज ने उन्हें बहुत बदला हुआ पाया—और बाजामास्टर ने शिवराज को। चार साल पहले का शिवराज कितना बदल गया था ! वह आदमी हो रहा था। बाँहों के रोएँ काले पड़ रहे थे, अंग-अंग में कड़ापन आ रहा था। बाजामास्टर जैसे उतार पर था। अब एक ही धुन थी—'एक नाटक मण्डली !'

'ऐसी नाटक मण्डली शिवराज, जो अपने पैरों पर खड़ी हो सके ! सब देख चुका हूँ....फाहिशाओं के चौबारों पर भी गाया-बजाया....नरक में रहा, पर जब भी हारमोनियम की कुंजियों पर अँगुलियाँ पड़ीं, सब भूल-बिसर गया। इसकी आवाज़ न जाने कहाँ उठा ले जाती है शिवराज !' बड़ी गहराई से बाजामास्टर कहता।

'नाटक मण्डली बन सकती है।' शिवराज सहारा देता।

'बन नहीं सकती, बनाना है....बनाऊँगा ! उस नरक से एक यही वरदान या शाप लाया हूँ शिवराज ! लीला कहती थी—मैं ठीक हो जाऊँ तब हम दोनों मिलकर चला लेंगे नाटक कम्पनी ! वह जानती थी कि मेरा यह सपना है....पर तब वह लाचार हो चुकी थी ! मेरे हारमोनियम को दोनों बाँहों में समेट कर, माथा टिका देती थी....उसके बाल ढक लेते थे कुंजियों को ! लीला कहती थी—तुम इतना अच्छा बजाते हो फिर भी कोई नहीं आता ! और मैं उसकी हताश प्रशंसा का जवाब देता था—तुम इतना अच्छा गाती हो, फिर भी कोई नहीं आता ! तब वह दूर अँधेरे आकाश को ताकती हुई कहती थी—यह गाना-बजाना ढोंग है सब, सीधा व्यापार करना चाहिए.... तभी उसने सोचा था, हम नाटक कम्पनी भी तो खोल सकते हैं....रूखा-सूखा खा लूँगी पर यह व्यापार नहीं करूँगी. और कौन-सा धंधा है हमारे लिए.... लेकिन वह हार गयी—एक तरफ़ भूख और मौत खड़ी थी, दूसरी तरफ़ ज़िन्दगी और खुशहाली ! उसने तन का सौदा करके ज़िन्दगी को ही चुनना मंज़ूर किया ! क्या बुरा किया उसने शिवराज ! कितनी बड़ी सौगात होती है, ज़िन्दगी ! पर खुशहाली की जगह भयंकर रोग ने उसे डस लिया ! अपनी भरी जवानी के आखिरी-खोखले दिनों में वह मुझसे भजन सुना करती थी.... मीरा और सूरदास के भजन ! घबरा कर पूछा करती थी—मैंने ग़लती तो नहीं की, ज़िन्दा रहने के लिए किया था यह सब ! तुम तो गवाह हो ! कम्पनी बन सकती तो मैं सिर्फ़ तुम्हारी होकर रहती....बोलो, मुझ पर विश्वास करते हो....बोलो, चुप क्यों हो ? कौड़ी की तरह निकली हुई उसकी आँखें मुझे हमेशा घूरती हैं। बार-बार कहती हैं—कम्पनी बन सकती तो मैं सिर्फ़.... कहते-कहते बाजामास्टर चुप हो गया—'सिर्फ़ एक नाटक कम्पनी !' फिर एक गहरी साँस खींच कर उसने बताया—'इसीलिए इस रामलीला मण्डली में चला आया....वह सूरदास और मीरा के भजन सुनते-सुनते मरी थी। मेरी मीरा मर गयी थी शिवराज ! मेरी मीरा विष नहीं झेल पायी....हँसते-हँसते उसने विष का प्याला पिया था। मन नहीं लगता शिवराज !' मीरा....लीला....

बाजामास्टर के बारे में जब भी शिवराज सोचता है तो उसके सामने वही दृश्य सबसे पहले नाच जाता है—हेम उसके पैरों पर हथेलियाँ रखे है.... और बाजामास्टर नदी के पुल पर उसका इंतजार कर रहे हैं....

कलंकी अवतार के समय बंसिरी तीसरी बार दिखायी पड़ी। सरनाम देख कर अवाक् रह गया। कितनी निखर आयी थी बंसिरी ! गजरों से लदी, बनी ठनी बंसिरी। उसकी चाल में मद था। सरनाम ने देखा, आँखें मिलीं, लेकिन वह आँखें चुरा गयी—उसकी काजल रची आँखें सरनाम के दिल में उतरती चली गयीं। कृष्ण की गोपियों में सबसे ज्यादा जँच रही थी, चँवर डुलाते समय

उसकी गोरी बाँह मुड़ती तो जैसे रोशनी बिखरती थी। एक क्षण के लिए सरनाम का माथा झुक गया, उसे लगा वह बंसिरी नहीं....और अगर है भी तो अब बेहद दूर चली गयी....मोबी-आइल, टर्रा और पेट्रोल में बसी उसकी काया उस चन्दन की सुगन्ध को सह नहीं पायी। बंसिरी कितनी दुर्लभ....दुर्लेय और दूर हो गयी। उसकी आँखों में कोई परछाईं तक नहीं उभरी।

चँवर रखकर उसने कृष्णजी का पीताम्बर सँभाला, उनकी ओर देख कर धीरे से मुस्कराई....सरनाम भीड़ चीरकर और आगे बढ़ा। भ्रम तो नहीं, पर नहीं, उसकी आँखें धोखा नहीं खा सकतीं! कई बार उसने कोशिश की पर बंसिर ने नहीं निहारा। उसके लिए खड़ा रह सकना संभव नहीं था। जिस पुरानी मोटर पर वह रंगीले, छदामी और भगीरथ जोतिषी के साथ आया था, उसी पर अकेला लौट गया!

पलटन में धर्म गुरु शिक्षा दिया करते थे—कभी मन में नहीं समायी, पर आज सहसा उसे लगा कि वह कहाँ पहुँच गया है। डकैतियाँ, दड़ा, नाजायज़ शराब और शिवराज...पड़ा-पड़ा वह यही सोचता रहा—शिवराज से कहेगा, तू अपने घर जा अब, बस बहुत हो लिया। युद्ध के बाद जब वह लौटा था तब कैसी पाक ज़िन्दगी बिताने की तस्वीर उसके सामने थी, पर सब बदल गया, सब बिगड़ गया। आज उसे लगा कि बंसिरी औरत होकर भी कितनी ऊँची उठ गयी, और वह!

तभी गालियाँ देता हुआ रंगीले भीतर दाखिल हुआ। सरनाम चुपचाप लेटा था. 'क्यों कुछ तबियत खराब है! हम मर गये पदते-पदते, कहके चले आते....'

'सवारियाँ तो थीं!'

'पैसा तो नहीं था, हुआ क्या? वह जोतिषी जो अड्डे पर खड़े रो रहे हैं तुम्हारे नाम को....'

'सुबह देखा जायगा!'

'मतलब की बात है! उन्हें इस सब में गोल-माल नज़र आ रहा है! शक हमें भी है!'

बिजली की तरह एक विचार सरनाम के दिमाग़ में कौंध गया—बंसिरी और गोपी! यह बात दिमाग़ में आयी ही नहीं थी। वह तो देखता रह गया था।

अगर धूम की सुगंध में बसी बंसिरी! वृन्दावन की ग्वालिन बांसरी को.... कुछ सोच ही नहीं सका। चन्दन-सा रंग और पवित्र हँसी, काजल लगी कजरारी आँखें, मन में बसे कृष्ण की सचहरी....जैसे सपना हो और उसी सपने की हालत में वह घर लौट आया था। आज अपने दोष पहचाने थे।

रंगीले की बात से उसकी आँखें चमकीं—घर में ताला मारकर अड्डे पहुँचा। भगीरथ जोतिषी, छदामी, बारेलाल, लपकना, ताहिर और लड्डन मिसकौट में शामिल थे। बड़ी रात तक रहस्यमय ढंग से बातें चलती रहीं—सर्वदानन्द आश्रम वालों से वह अभी जूझा था, बोला, 'यह सब ढोंग है! हिम्मत करो तो अभी कलई खोल दी जाय सालों की....' कहते-कहते उसके सामने बंसिरी थी, वह उसे नंगा कर देगा, उन काजल लगी आँखों में मिर्च की बुकनी छिड़क देगा, कृष्ण की पीठ पर हन्टर चटकाता हुआ लायेगा और बंसिरी को....

'कल छतरपुर वाले को लड़किनी के दूध पकड़ लिये! अम्मा-अम्मा कह के....' छदामी ने बताया।

'रासलीला रचाई थी, चट-औचट हाथ डालता था औरतों पर....'

'यह सब घोर अन्याय है धर्म के नाम पर....' जोतिषी जी ने लूकी लगाई।

'आसरम वाले महन्तों का हाथ है इसमें....' सरनाम को पानी पर चढ़ाने के लिए ताहिर ने जोड़ा। पर सरनाम के सामने सिर्फ़ बंसिरी थी....उसकी बाँह मरोड़ दी है....सिल्क की अँगिया फाड़कर उसके शरीर को नाखूनों से चींथ डाला है, उसका बदन नीला पड़ गया है....निस्सहाय बंसिरी उसके सामने टूटी हुई खड़ी है! केवल विध्वंस....

और मैदान के बाहर इमली के पेड़ पर सात आदमी छुपे हैं....जनता वापस जा चुकी है। कृष्ण मण्डली सामान बटोर रही है। आज भगवान अन्तर्ध्यान हो रहे हैं। वह करेगा अन्तर्ध्यान! अंधेरी रात और इमली के झाड़ में छुपे सातों लोग। तने की ओट तेल पिलाई लाठियाँ टिकी हैं, वह देख रहा है—बलराम बंसिरी से ठठोली कर रहा है, एकदम बोला, 'कूद पड़ो....'

सबर किसे था। गद्-गद् सातों ज़मीन पर थे। इमली थर्रायी और कृष्ण मण्डली के गोपों पर लाठिया बरस पड़ीं। बाबा लोग चिमटा लेकर कूद पड़े, चार-पाँच बाबा दूर खड़े शान्ति-शान्ति पुकारते रहे—सब तितर-बितर हो गया। चढ़ौती लूट ली गयी। पुलिस के आने तक कृष्ण-मण्डली के लोग भाग खड़े हुए थे। गोपियाँ नदारद थीं—सिर्फ़ बलराम ज़मीन पर पड़े कराह रहे थे। पुलिस आने की बात सुनकर सरनाम और बाकी साथी जेल वाली सड़क से घूम कर शहर पहुँच गये। बाद में बलराम की शनाख़्त हुई—निकट के एक गाँव का कोरी था, जो बहुत दिन पहले किसी रहस मण्डली के साथ गाँव छोड़ गया था।

बंसिरी का कोई पता सरनाम को नहीं लगा। शायद उसे धोखा ही हुआ

हो ! अगर वह होती तो मिलती ज़रूर—कम से कम उससे पूछती कि सोरों वाले मेले में कहाँ रह गया था ? बात देके क्यों नहीं आया ? कितना इन्तज़ार किया मैंने....वह ज़रूर मिलती....अवश्य ही उसे धोखा हुआ है ।

इस घटना का शोर बस्ती में मच गया, लेकिन कोई गिरफ़्तारी नहीं हुई । कृष्ण-मण्डली के कुछ बाबा लोगों ने आश्रम वाले महन्तों से मिलकर मामले को आगे बढ़ाने की कोशिश की पर सफल नहीं हुए । बलराम अस्पताल से छूट कर यहीं बस गये । सरनाम के पास उठना-बैठना हो गया उनका....

....चाय वाली दुकान पर शतरंज की बिसात बिछी थी, और चायबाबू कह रहे थे—'बाबू सपेसल चाह बनाना हरेक का काम नई....' जैसे बावर्चियों की अपनी कथा-परम्परा होती है कि पुलाव बनाया, सार्जेन्ट साब ने खाया, वो हमको पकर ले गया; वहाँ एक मेमसाहब का वास्ते हम एक रोज़ खीर का डिस बनाया—बस मेमसाब बोला, ये बावर्ची हमारे साथ जायेगा, और हम उसका साथ बिलैत तक गया, लेकिन अपना देश का याद नहीं जाता सो हम वापस आया और आज इहाँ पर....' ठीक उसी तरह चायबाबू की कथावली चलती है—'उस वखत बाबू हम जवान रहे, नुमायश में घूमते-घूमते एक चाहवाली स्टाल पर पहुँचे, बढ़िया चाह माँगा—मूत की तरह का चाह....हम स्टाल वाले से कहे—देखिए चाहबाबू, हम चाह बनाये और आप भी पिये, सो बाबू हम चाह बनाये; एक प्याला हम एक चाहबाबू ! चाह पीते-पीते वह गुलाम बन गये, बोले—भाई नत्थासींघ ! जब तक इटावे का नुमायस चालू है, हम तुमको नहीं छोरेगा । बस बाबू, उस दिन से हम ये कारबार सुरू किये !'

यह चायघर मोटर अड्डे से दूर नहीं पड़ता । एक छोटी-सी बिरंच, एक टीन की कुर्सी और एक टीन की गोल मेज़ । बाहर पत्थर पर बिस्कुट-डबलरोटी की पेटी । भीतर भी बैठने की जगह है, छोटा-सा सँकरा कमरा, जिसमें ज़मीन पर दरी बिछी है और आस-पास किसी कायस्थ मुंशी के घराने की नक्काशी-दार टूटी हुई कुर्सियाँ हैं । दीवारों पर सुलताना डाकू, गौरी पूजा और तूफान-मेल के फिल्मी पोस्टर कीलों से जड़े हैं । एक छोटी अलमारी में बबासीर की ख़ास दवा की पुड़ियाँ—एकाध डाक्टरी दवाइयों की खाली शीशियाँ और नत्थासिंह की सलहज के ख़त रखे हैं....'बाबू ! बड़ी जबर औरत है, पहली मुलाकात में बोली—कुँवर साहब हमारा दिल वापस दे के जाना....बस बाबू हम कहे कि कुछ अपने उनके का भी ख़याल करो, वह बोली—तोता-मैना वाला दास्तान नहीं....ठाकुर की तरह पेश आइए । बस बाबू हम उसको वहीं पकर लिये....तब से, हरेक ख़त में एक शायरी....' चायबाबू हमेशा इसी तरह 'होश दिलरुवा', 'किस्सा साढ़े चार यार' वाली भाषा में बतियाते थे ...अड्डे के कामकाजी वहीं आकर जमते । चायबाबू सुबह-सुबह दूध की मलाई उतार

कर एक प्लेट में अपने लिये अलग रख लेते हैं, भीतर पड़ी दरी पर बैठ कर कड़ुवे तेल की मालिश करते हैं, सुबह चुंगी के भंगियों और भिश्तियों को कुल्हड़ों में चाय पिलाते हैं, जिसका हिसाब वे ज़बानी रहते हैं, जो हर महीने गाली गलौज करके निपटता है। सुबह की इस शिफ्ट के बाद उनके चायघर में एकाध अधकच्चरे बाबू लोग आकर बैठते हैं, जिन्हें वे अपनी दूकान की शोभा समझते हैं और उनसे आड़े वक्त पेशगी पैसा प्राप्त करते हैं। शाम को मोटर वाले जमते हैं—शतरंज की बिसात और बीड़ियों के बंडल !

रंगीले मठिया पर से गाँजे की दम लगाकर आया था—'बम, बम....क्या लपट उठी कि चिलम मशाल हो गयी....'

शतरंज में मशगूल खिलाड़ियों ने नहीं सुना। तब तक बगल वाली दुकान के सामने खंजड़ी खनक उठी—एक बगल से झाला लटकाये, सिर पर गजी की सफ़ेद टोपी और माथे पर तिलक—घुटनों तक धोती और बदन पर एक फतोई....इन्हें लोग अच्छी तरह नहीं पहचानते। दो-एक बार यहाँ दिखायी पड़े थे। सुना, बड़े भक्त आदमी हैं। साधु समागम में विश्वास रखते हैं और 'सतसंग माला', 'नारी प्रबोधिनी माला' के लेखक-कवि हैं। ज़िले भर में होने वाली सभी सतियों पर इनके कवित्त मशहूर हैं। सरसुती जिह्वा पर रहती हैं। खंजड़ी पर ज़ोर की थाप देकर कवि-जी ने झोले से किताबें बाहर निकालीं, उन्हें बायें हाथ में पकड़ा और दाहिने हाथ को कान पर रख कर आलाप लिया—आँ....आँ....

सतियाँ ही इस देश की, हैं अनमोल विभूति !
जिनकी शक्ति न आज तक, मिली किसी को कृति !

फिर राधेश्याम की रामायणी चौपाई की लय में उन्होंने 'अगला हवाल' प्रस्तुत किया—

हमने यह कवित्व खुद जाकर ले सच्चा हाल बनाई है !
आशा है इसमें झूठ बात रुपए में एक न पाई है !!

सज्जनो ! गौंद ज़िदा मैनपुरी की सत्ती सान्तीदेवी के सतीत्व का सच्चा चमत्कार ! यह घटना बिल्कुल सच्ची है, इसका किस्सा खुद गौंद जाकर दरियाफ्त किया गया है और शेष समाचार सरस्वती जी की कृपा से खुद आँखों देखा जैसा लिखा गया है....तो हे धर्म के मानने वालों ! बिल्कुल सरल भाषा में, अरु राधेश्यामी तर्ज में सुनिए—

फर्रुखाबाद अरु मैनपुरी, यू० पी० के हैं मशहूर ज़िले !
या यों कहिए तम्बाकू के अच्छे सच्चे मजबूत किले !
है इन्हीं ज़िलों की यह घटना जो आगे मित्र सुनाता हूँ....

चारों तरफ़ भीड़ जुटने लगी थी और कविजी कान पर हाथ रखे आलाप

ले-लेकर एक-एक छन्द गारहे थे—

'सत्ती के पद पाने हित बीए की कुछ न जरूरत है !
हो अगर पढ़ी तो हर्ज नहीं, यह और भी अच्छी सूरत है !!'

जुटी हुई भीड़ के सर कविजी की बात के अनुमोदन में हिल गये, 'सच्ची बात है, सत्ती के लिए बिरकुल ज़रूरी नाईं !'

कविजी का हौसला बढ़ आया था, पूरे गले से वे सती शान्तीदेवी की गाथा सुना रहे थे। गले की नसें फूल आयी थीं। भीड़ दत्तचित्त होकर सतीकथा सुन रही थी....

'बुधवार नौमी लगत, मास कनागत क्वार ! इस घटना का श्रीगणेश हुआ.... चौबिस घंटे के भीतर-भीतर ये सती चरित्र हुआ। बिहारी सींघ हरियाली के हेतु खेत चले, या कहो काल से मिलने को खुद ही खेत चले ! बन साँप काल ने भख लिया....दर्द समेत घर पहुँचे। सुनते ही सब आ गये बड़े-बड़े हुशियार....अजब-अजब होने लगा बहु भाँति उपचार, पर नाड़ी धोखा दे गयी जब बीती कुछ रात ! तो सज्जनो ! तब ये सुन करके सत्ती एक नारी से कहतीहैं—कि बहिना....

मेरा क्या बिगड़ा सती कहा, जिसका बिगड़ा उसका बिगड़ा !

और फिर—दूसरे ही पल सत्ती जी बोलती हैं—

चिंता मत कुछ भी आप करें, मैं तो सत्ती हो जाऊँगी !
पीछे-पीछे ही आयी थी, पीछे-पीछे ही जाऊँगी !!'

एक-दूसरे के कंधों का सहारा लिये लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे, और कविजी ने उस चमत्कार का बयान किया—'सत्तीजी के ससुर जी ने मना किया पर वे नहीं मानी, आखिर पति के साथ चिता पर बैठती हैं....ससुरजी ने चिता में आग लगाई पर भाइयो ! सत्ती जी के सतपन का चमत्कार—ससुरजी द्वारा लगाई आग उनका कुछ न बिगाड़ पायी, लपटें उठीं पर सत्ती जी अविचल बैठीं भगवान का ध्यान कर रही थीं—

चारों दिस पब्लिक खड़ी हुई, हैरत से यह सब तकती थी !
संसारी आग सती जी को किस तौर भला छू सकती थी !

और भाइयो ! सत्ती जी ने स्वयं आग उत्पन्न की और उसमें जलने लगीं, करिश्मा यह था कि सत्तीजी नीचे से जल रही थीं और सर पर धोती का पल्ला बिना आँच के था। धीरे-धीरे उनका पूरा सरीर जलकर समाप्त हो गया ! पति के चरनों में उनका सनेह था, इसी कारन उनमें ये शक्ती आयी थी....' साँस लेकर कविजी ने जय-जयकार के लिए हाँक लगायी—

'एक बार कर प्रेम से सत्ती की जयकार !
मेरी भी जैराम लो, गेंदा कहें पुकार !!'

'सत्ती जी की जै....गौंद की सत्ती की जै ऽ ऽ ऽ....'भीड़ ने गेंदा कवि की आज्ञा का पालन किया और उनका आखिरी बयान सुनने के लिए उत्सुक-से झाँकने लगे। गेंदाकवि ने छपी हुई दुअन्निया पुस्तक को जनता की आँखों के सामने करते हुए गाया—

'असली की दरकार है, अगर आपको मित्र !
तो पुस्तक पर देख लो 'गेंदाजी' का चित्र !!
कीमत दो आने ! सिरफ एक दुअन्नी ! और भाइयो !
पढ़कर लो जनम सुधार सत्ती की सत्य कहानी !
सत्ती की सत्य कहानी, सतियों की मान बढ़ानी !!
प्यारी माताओं और बहनों के वास्ते ले जाइए। उन्हें पढ़ाइए !'

बग़ैर कवित्त गेंदाकवि की बात उथली लगती थी—इसलिए बोलते कम थे, गा-गा के हर बात समझा रहे थे—

'खुद पढ़ो तथा ले जाओ, माँ बहिनों को पढ़वाओ....
होगा भारी उपकार, सत्ती की सत्य कहानी....
जो नारि इसे पढ़ लेगीं, पतियों का मान करेंगी,
उनका हो बेड़ा पार, सत्ती की........
कीमत भी अधिक नहीं है, लागत भी तलक नहीं है,
पैसे हैं बस दो-चार, सत्ती की....
फोटो हो गेंदा जी का, है चिन्ह यही असली का !
लो अगर धर्म से प्यार, सत्ती की....'

दस-बीच किताबें हाथों-हाथ बिक गयीं। तर्ज़ बहर में प्रचार गान का बड़ा असर पड़ता है। पैसे जमा करके गेंदाकवि ने जेब में डाले और एक बार फिर लोगों की ओर ताका—अब बिक्री का कोई डौल नहीं, कंधे की डोरी में झूलती खंजड़ी उनके हाथों में थी और अँगुलियाँ तर्ज बहर का राग छेड़ रही थीं। खंजड़ी में पड़ी झुनकियाँ धीरे-धीरे बजती जा रही थीं। चौराहे पर आकर गेंदाकवि खंजड़ी बजाना रोक कर किसी के इन्तजार में खड़े हो गये। रंगीले अपनी पिनक में था। बाकी लोग भी फिर शतरंज में उलझ गये थे, एक ने गेंदाकवि को देखते हुए मोहरा हाथ में पकड़ कर कहा, 'आज सराय में जशन होगा कोई ?'

'कैसे !' दूसरे ने मोहरा चलने का इशारा करते हुए पूछा।

'गेंदाकवि आये हैं, सराय में ही ठहरे हैं आकर, कोई चमूना....माल, बेटा....माल !'

तब तक अड्डे से सरनाम आया, वह शतरंज वालों के पास ठिठक गया, उधर से मगनमिस्त्री रुककर गेंदाकवि के पास अटक गया। सरनाम को कुछ

वला, मगन ने उसे देखा था, जैराम तक नहीं !रंगीले दुकान की पटिया पर अधलेटा एक मुर्गी की टाँगों के बीच आँखे खड़ाए न जाने क्या खोज रहा था। 'मर जायगा साला एक दिन !' सरनाम बोला। सुनकर एक ने जोड़ा, 'पगला जायेगा, जरा गर्मी और बढ़ने दो....' अपनी हरकत पर कसे हुए नुक्के सुनकर रंगीले बत्तीसों दाँत निकाल कर हँस पड़ा।

मगनमिस्त्री ने गेंदाकवि से केवल दो-तीन क्षण कुछ फुसफुसा कर बात की और कुछ रहस्य भरा इशारा करके इधर चला आया। सरनाम को जैराम किया और बैठ गया। बैठते ही एक ने पूछा—'कोई डौल है ?' मगनमिस्त्री मुस्करा दिया ! सरनाम ने बात भाँप ली, रंगीले की ओर देखा और मन ही मन कुछ तै किया।

'देखी है !' सरनाम ने मगनमिस्त्री से पूछा।

'हुँ....आज ही आयी है !' मगन ने कहा।

'कहाँ की है ?' इसका उत्तर मगन ने हाथ के इशारे से दिया—पता नहीं।

'जाओगे....' उत्तर में मगन ने अनिच्छा जताई। पर सरनाम जानता था, वह जायेगा ज़रूर ! मगनमिस्त्री भला चूक जाय ! मगन ने कहा, 'बड़ा घड़ियल ब्यौपारी है ! पंजाब तक ब्यौपार करता है, पचासों निकाल दीं....'

'शकल से नहीं लगता !' सरनाम ने कहा।

'एक से एक अव्वल लाता है....किस्मत जबर है, इन्दर का अवतार है कविराज ! हरवक्त दरबार भरा रहता है। कहता था—मेनका है मेनका !'

शाम को सरनाम जब सराय पहुँचा तो मगनमिस्त्री कुएँ वाली कोठरियों की ओर जाता नज़र आया। फाटकवाले गलियारे में कुछ लोग चिलम पी रहे थे, गेंदाकवि के बारे में पूछते ही एक ने कहा, 'आपको क्या ज़रूरत पड़ गयी डिलेवर साब !' दूसरे ने उसका साथ पकड़ा, गेंदाकवि की कोठरी की ओर ले जाते हुए उसने बाताया—'देखना क्या है ? अल्लर है, एकदम बतिया, मुलायम ! सात सौ पर तोड़ हो जायेगा !'

'हमीं से उस्तादी छाँट रहे हो !' सरनाम ने रोब लेते हुए कहा।

'सही बात है डिलेवर साब ! चार सौ का खर्चा है....'

'मज़ा क्या फोकट में चला गया ! कै रातें यहाँ की हैं ?'

'चार !'

सरनाम ने ज़मीन पर थूक दिया। उसका जी हुआ वापस चला जाय। लौट जाये सो ही अच्छा। मरता है मरे रंगीले, पर यह सब ठीक नहीं। साले भंगी-चमार न जाने कौन कौन....अब कोई ठिकाना है....ग्लानि से उसका जी भर आया। लगा, अभी उसे उल्टी हो जायेगी। तब तक मगनमिस्त्री ने निकलते हुए कहा—'आज दिखाई नहीं है....हज़ार पर दिमाग़ है !'

गेंदाकवि भी बाहर निकल आये थे। सरनामसिंह का व्यक्तित्व देखकर उन्होंने प्रंशसाभरी नज़रों और मीठी जुबान से राम-राम किया। सरनाम ने पूछा, 'कब ?' 'कल संझा, धूरी शाम....' कहकर वह जाते हुए सरनाम के पीछे लग गये। बात करने की सुविधा के लिए वे दोनों पजावे की ओर चले गये गेंदाकवि उसे समझा रहे थे—खतरा नहीं है सिंघजी, मन से आयी है, इसमें व्यौपार की बात नहीं, असलियत है। किसी भी तरह का झगड़ा-टंटा नहीं, मन माफिक रखिए....सुन्दरापन के लिए, क्या पूछना, अहा हा....देख भर लें सिंघजी। आपके बारे में पिछली बार सुना था। मातबर आदमी के सामने मुँह खोला जाता है न सिंघजी ! किसी तरह का धोखा नहीं, फरेब नहीं। उसके भी साथ जोर-जबरदस्ती की बात नहीं। जिसके यहाँ भी बाँध दीजिए, गऊ की तरह एक थान पर टिकेगी। मैंने तो परखा है अच्छी तरह। किस्मत की बात है जो इस तरह आ गयी ! ठाकुर-ज़मींदार के ही लायक है सिंघजी, लेकिन सबसे ऊपर पैसे का ज़ोर। मैं खुद ऐरे-गैरे के हाथ नहीं देना चाहता, आप ही अपने चरनों में डाल लें....उद्धार हो जाय बिचारी का !' कहते-कहते गेंदाकवि भावुक हो आये थे। जैसे उनके भीतर दया का समुद्र उमड़ आया हो और उनकी परोपकारी वृत्तियाँ कुछ उपयोगी कर सकने के लिए अकुला रही हों।

'देखा जायगा !' कहकर सरनाम चुप-चाप चला आया। और वह सोच रहा था—यह एक तरीका हो सकता है....रंगीले जनम भर के लिए गुलाम हो जायेगा। पुलिस वालों की तरफ़ से भी कुछ राहत मिलेगी और फिर साथ में एक आदमी बढ़ता है ! मान तो फौरन जायगा, भूखा घूमता है....सुनकर बौरा जायगा....साला सर के बल चलकर आया करेगा ! पर एक तस्वीर—एक अधूरा महल उसके सामने उभरता है ! स्वयं उसका महल जो बनते-बनते रह गया ! अच्छा ही हुआ। ये सब झंझट उसके बस के नहीं। फ़कतदम सब से अच्छा। न मौत का डर न होनी-अनहोनी का ! और फिर जहाँ पैसा डाला वहीं सब है। कमी क्या है ? बँध के रह सकना उसके स्वभाव में भी नहीं; यही सब करना होता तो माँ-बाप के जीते जी करता। उनकी आँखें भी सिरा जातीं.... छोटा-सा एक घर बनाता, वहीं गाँव में रहता और जीवन काट लेता ! पर जो नहीं होना था उसके लिए चिन्ता या अफ़सोस कैसा ? उसे किसी ने रोका तो नहीं था, आज भी वह चाहे तो सब कुछ हो सकता है। उसका अपना घर ! गोबर लिपी दीवारें और घर की शीतल छाँह ! हर वक्त किसी की दो आँखों का पहरा—कम-से-कम एक बार तो जी लेता ऐसे ! एक बार....दोषी भी कौन है, स्वयं उसके सिवा ! ये लड़की....नहीं, बिलकुल नहीं....न जाने किस-किसके

साथ....और फिर बाँहों में बल होगा तो खुद भगा लायेगा ! ऐसे नहीं....

....दूसरे दिन सराय के बड़े फाटक के नीचे सब शौक़ीन जमा हुए थे। इस सराय में न जाने कितने काम होते हैं ! दूर-पास के गाँवों से आने वाली बैल-गाड़ियाँ यहीं खुलती हैं। दक्खिन वाले कोने में ऊँट और घोड़ों के बँधने की जगह है। सराय की कोठरियाँ जबड़े की शकल में अर्ध-गोलाकार स्थिति हैं। कुछ में सस्ती वेश्याएँ हैं और कुछ में सराय में कामकाज करने वालों के परिवार और कुछ कोठरियाँ किराए के लिए खाली रहती हैं। बड़ी पुरानी इमारत है यह....शायद महाराजा चेतसिंह के ज़माने से भी पुरानी ! सराय के फाटक को एकाएक देखने पर किसी विशाल ऐतिहासिक क़िले की याद आती है।

मगनमिस्त्री धारीदार पैजामा और तंजेब का बेलबूटेदार कुरता पहने था.... आज ही बाल कटवाए थे....कलाई में बेले का हार और आँखों में दारू की मस्ती। संगमलाल तमाखू वाले, जो अपने को गुप्ता कहते थे—आँखों में सुर्मा डाले, सैन्चुरी की लक़दक़ धोती पहने, खस के इतर से महक रहे थे। दीनानाथ तारकशी वाले इन लोगों की तड़क-भड़क देखकर तारों से छिली हुई अपनी अँगुलियाँ देख रहे थे और अमजद अली किसी पैसे वाले की पैरवी करने के लिए बारी-बारी से एक-एक का मुँह ताक रहे थे—क्यों कि मुसलमान होने के कारण उनका सिप्पा नहीं बैठ सकता।

रंगीले सरनामसिंह के साथ एक ओर उकड़ूँ बैठा था। आखिर सब शौक़ीन एक दूसरे को अपनी दरियादिली दिखाते हुए पराठे वाले की बैंचों पर जम गये... गेंदाकवि खुद इधर आयेंगे, यही कहलवाया है। मगनमिस्त्री ने कच्ची शराब की एक बोतल सामने रखी और दौर चल पड़ा....

दीनानाथ ने हकलाते हुए कहा, 'मिस्त्री जी, तुम्हारे सामने अपना सवाल नहीं उठता....देखते ही वह तुम पर रीझ जायेगी, और औरत जिस पर रीझ गयी बस उसका....'

'टेंट की बात है, जो टेंट खाली करेगा सो ले जायेगा....' मगनमिस्त्री ने अपनी जेब की रक़म से फूलते हुए कहा। तभी गेंदाकवि एक पुलिस वाले के साथ आये, पराठे वाले की दूकान से एक दस का नोट तुड़ाया, पाँच और देकर बंदगी की और निश्चिंत से हाथ झाड़ते हुए भीतर दुकान में आकर खड़े हो गये।

खाने पीने के दौर के बाद सभी शौक़ीन अँधेरा होते ही सराय में दाखिल हुए। कोठरी में एक दिया जल रहा था....फ़र्श पर मिट्टी का इकहरा गद्दा और भुसके तिनके। नीची-नीची सँकरी कोठरी कुछ इस तरह काली थी जैसे यह कभी आग से झुलस गयी हो। छत के बाँसों से जाले के काले-काले चिथड़े लटक रहे थे। कोने में पड़े तखत पर दिये की मटमैली रोशनी में एक स्त्री-

काया गठरी बनी बैठी थी। सिसकियों से उसकी पीठ कुछ हिल रही थी। खुले पैरों की अँगुलियों में बिछुए थे, पैर महावर से रंगे थे, एक लड़ की पायलें पैरों में पड़ी थीं—देखते ही रंगीले ने सरनाम के कानों में फुसफुसाकर कहा—'ये झंझट का सौदा लगता है, ब्याहता है शायद....'

'अक़ल नहीं है तो चुप रहा कर !' सरनाम ने प्यार से डाँटा। गेंदाकवि ने उन दोनों की ओर देखा और बोलने लगे, 'बिटिया देख ! इन लोगों से सरम कैसी....सब अपने हैं ! मुसीबत में काम आने वाले कहाँ मिलते हैं ! ये सब हमारे दुर्दिन के साथी हैं....'कहते-कहते उन्होंने एक नज़र सभी पर कुछ इस तरह डाली जैसे वे लोग परोपकार करने आये हों और सबसे ऊपर वह खुद इसी से प्रेरित होकर इतनी मुसीबत उठा रहे हों। फिर बोले, 'एक नज़र उठा कर देख बिटिया, ये सब अपने हैं....मगनलाल मिस्त्री, दीनानाथ, ठाकुर साहब....पराया कौन है ? देख तो एक बार....'

सरनाम ने एक गहरी नज़र उस लड़की पर डाली, जिसकी सिसकियाँ अभी तक बंद नहीं हुई थीं। उसका मन उचट गया—पत्थर-सा दिल पसीज आया....मन हुआ रंगीले से कहे, 'उठ चल....' पर रंगीले की आँखें उधर ही गड़ी हुई थीं....उनमें भूख अपना मुँह फाड़े बैठी थी ! उसके चेहरे का हर अवयव सचेत होकर भी बड़ी भद्दी लालसा में डूबा हुआ था। उसकी कनपटियाँ तपक रही थीं और पूरे मुख पर चिकनाई रिस आई थी। उस दिये की लौ में उन सभी लोगों की आकृतियाँ कुछ ऐसी दिखायी पड़ रही थीं जैसी कभी न थीं ! सबके रूप बदल गये थे—फक्कड़ रंगीले थके हुए कुत्ते की तरह हाँफ रहा था। मगनमिस्त्री का भीमकाय शरीर मोम का ढाँचा लग रहा था और दीनानाथ की बुझी-बुझी आँखें बटेर की आँखों की तरह चमक रही थीं। सरनाम उठकर चला आना चाहता था, चलते-चलते उसने रंगीले को इशारा किया, पर वह नहीं उठा। वह बाहर आकर खड़ा हो गया—इसमें देखना न देखना क्या ? रंगीले को एक औरत चाहिए—बस। कैसी चाहिए, इसका सवाल ही कहाँ उठता है ! उमर....रंग-रूप....चाल-ढाल, नाक-नक्शा....कोई ब्याह तो है नहीं। बस एक साँस लेती हुई औरत !

मोटर इंजन की तरह उसका माथा जलने लगा। सब बकवास है ! यह सब क्या है ? जैसे कसाई बकरी खरीद रहे हों ! लेकिन और होगा भी क्या इसके साथ ! बिक्री न हुई तो यहीं किसी कोठरी में पेशा करेगी....या दर-दर भटकना....जब तक जवानी है, तब तक—और उसके बाद ? कल्पना मात्र से उसे रोमांच हो आया। आखिर किसी के हाथ तो पड़ेगी....शायद मगन के ही, जेब से वही कर्रा है....पिछली औरत की तरह उसका भी हाल करेगा। ताड़ी पी-पीकर पीटेगा और किसी दिन ये भी पेट में बच्चा लिये ज़हर खाकर या फाँसी

लगाकर जान दे देगी....

तब तक भीतर से सब लोग बाहर आ गये। रंगीले बाँह पकड़कर सरनाम को दूर अँधेरे में खींच ले गया और कुछ भी कहने की बजाय सिसक-सिसक कर रोने लगा। सरनाम भौंचक्का रह गया....सचमुच रंगीले रो रहा था, उसकी आँखों से लगातार बूँदें टपकती जा रही थीं। सरनाम ने हाथ पकड़कर पूछा तो केवल इतना कह पाया—'चलो दद्दा....बाहर चलो....' सरनाम के लिए कुछ भी समझ सकना मुश्किल हो रहा था, और रंगीले सिसकता जारहा था, उसके सामने थी वह लड़की....

गेंदाकवि उसकी टाँगों में हाथ डालकर घुसा हुआ मुँह जबरदस्ती ऊपर उठा रहा है....पर बार-बार वह चेहरा घुटनों में धँस जाता है। हलकी-सी एक झलक उन लोगों को दिखायी पड़ी—गोरा रंग....सिसकियाँ....'इनसे सरम कैसी!' गेंदा कवि के शब्द, पुचकारना-मनाना। 'नखरे दिखा रही है....जरा मेरे साथ अकेला छोड़ दो....दो मिनट में हरा कर दूँ....' मगन मिस्त्री की बात उसके कानों में चुभ रही है, फिर थोड़ी ज़बरदस्ती....सर से पल्ला सरक गया है....पसीने में भीगे हुए बाल और माथे पर बहकर आयी हुयी खून की तरह सिन्दूर की लकीर....इधर-उधर चिपके हुए रोंए और भौंहों की नोक से टपकती हुई पसीने की बूँदें! बंद आँखों से बेबसी में ढरके हुए आँसू....पपड़ाए ओंठ और भरा हुआ चेहरा....उसके दोनों हाथों की अँगुलियों से अपना मुख छिपा लिया है! वे अँगुलियाँ काँतर की तरह चेहरे पर चिपक गयी हैं। गेंदाकवि नहीं खिसका पाया....जैसे अँगुलियों की उन छड़ों के पार वह सुरक्षित हो.... उसका मुर्दा रूप सुरक्षित हो....और जलती हुई मोमबत्ती की तरह उन आँखों से बूँदें अब भी टपक रही हैं....अब भी....अभी भी....

और रंगीले रोए जारहा है! सरनाम खड़ा असमंजस से देख रहा था! 'बोलता क्यों नहीं, कुछ बोलेगा कि यूँ ही रोता जायेगा!' सरनाम ने झिड़कते हुए कहा। 'मुझे वह नहीं चाहिए....मैं नहीं चाहता, बस वापस चलो घर!' रंगीले बोला।

'आदमी की तरह रह, इस बखत देवताई सूझ रही है....शाम को फिर पागलों की तरह ताक-झाँक करेगा!' सरनाम ने बड़प्पन के लहजे में कहा और वापस उन लोगों के पास लौट आया। रंगीले फाटक की तरफ़ जा रहा था। उसके एक इशारे से गेंदाकवि रंगीले को मनाते हुए पकड़ लाए, सारी बातों के बीच रंगीले निरपेक्ष की तरह बैठा रहा। सौदा तै हो रहा था। मगनमिस्त्री ने चार नम्बरी लगा दिये थे। दीनानाथ उसी का सौदा पटाने में मदद दे रहा था।

'हज़ार-बारह सौ की पड़ेगी!' मगनमिस्त्री बोले जा रहा था, 'चार सौ

अभी....सौ-दो-सौ खिला-पिला कर तैयार करने में, और बाकी कानून-मुकद्दमा के लिए ! ऐसे ही सेंतमेंत नहीं हो जायेगा! खरीद की औरत और हाथी बाँधना एक समान है। और फिर औरत का कोई भरोसा नहीं, जिस दिन जरा नकेल ढीली हुई, सब पर पानी फिर गया !'

कोठरी के उढ़के हुए दरवाज़े के पीछे खड़ी छाया अपने भाग्य का फैसला सुन रही थी ! दिये की रोशनी की लकीरें जो दरवाज़े की सधों से फूट कर बाहर ज़मीन पर पड़ रही थीं, वे भी उसकी छाया ने सोक ली थीं, ठीक उसी तरह जैसे अभी तक अपने पथ का प्रकाश वह स्वयं ढकती आयी है ! इस क्षण वह अपने को न जाने कितना हताश महसूस कर रही थी। उसकी सारी चेतना उन लोगों की बातों की ओर उन्मुख थी....

'अच्छा बोलो ! पाँच सौ पर तोड़ होता है ?' सरनाम ने कहा। गेंदाकवि भी सरनाम के लिए ज़्यादा ढुरक रहे थे। मगनमिस्त्री से शरीफ़ लगता था, बाद में कुछ हो गया तो मगनमिस्त्री ज़िन्दा नहीं छोड़ेगा। जानवर है जानवर! कुछ और पैसे के लालच ने गेंदाकवि ने मगन की ओर देखा। पर दाम लगाने में सरनाम और मगन में कुछ हिर्स हो गयी थी, जिसे मगन ने भाँप लिया था—और वह जानता था कि हिर्स में वह सरनाम से नहीं जीत पायेगा। घर फूँक कर तमाशा देखने वाला आदमी है सरनाम। लेकिन अपनी अड़ रखने के लिए उसने पचीस और बढ़ा दिये। गेंदाकवि ने जुआरियों की तरह दाँव लगाने के लिए ललकारा—'अब आप ही देखिए ठाकुर साहब ! बैल बछड़ा है भला....'

सरनाम ने अपनी जेब का अन्दाज़ लगाते हुए रंगीले की तरफ़ देखा। वह निरपेक्ष था। अब इस भँवर में पड़कर वह मगन से हार जाय और चला जाय, यह उसे मंज़ूर न था। रंगीले को चुप देखकर वह थोड़ा-सा विचलित हुआ। उन लोगों के पास से अलग हटकर उसने रंगीले को समझाया—'गोबरगनेस की तरह क्या बैठा है ? कोई मैं अपने लिए कर रहा हूँ ! तू नहीं लेगा, कोई और ले जायेगा; जब इतना दया-धरम तेरे मन में जागा है तो घर लेजा और सँभाल कर रख उसे, प्यार से ! मगन के हाथ पड़ गयी तो क्या दुर्दशा होगी ! ये मगन न सही और पचासों मगन ले जायेंगे उसे।'

रंगीले ने सुनकर सिर हिलाया, जैसे बात उसकी समझ में आयी हो ! और अपने घर का एक नया नक्शा उसकी आँखों के सामने उभर रहा था—वह प्यार से रखेगा उसे, सचमुच प्यार से.... जो ठीक समझो वह करो दद्दा !' कहते हुए उसकी आँखों में बड़ी कोमल-सी आभा निखर आयी थी, 'पर दद्दा, रुपया मेरे पास नहीं, चुका दूँगा देर-सबेर !'

और सरनाम ने जाकर छै सौ कह दिये !

'सरनाम सिंह छै सौ दे सकते हैं तो मैं भी इतने देने को तैयार हूँ !' मगन ने तैश में गेंदाकवि से कहा, और उधर किवाड़ों के पीछे खड़ी छाया सरनामसिंह का नाम सुनकर सिहर गयी। आखिर मिल गया उसे, और कौन होगा उसके सिवा। उसकी आँखें एकबार फिर पानी से भर आयीं और जब किवाड़ का एक पाट खोलकर उसने सरनामसिंह को पहचानने की कोशिश की तो एक पानी की दीवार उसके बीच खड़ी थी, जिसके उस पार सरनाम की हज़ारों छवियाँ नाच रही थीं।

'सौदा खतम ! मगन मिस्त्री नहीं ले सकता इस औरत को !' सरनाम की आवाज़ उसने पहचानी थी। लेकिन औरत ! औरत क्यों कहता है यह ! मैं औरत तो नहीं, उसकी न जाने क्या हूँ ! और सब कुछ हूँ पर अनजान औरत नहीं....

पाँच सौ के नोट रंगीले के हाथ में देते हुए सरनाम ने कहा था, 'चुका रुपये रंगीले !' फिर गेंदाकवि से बोला था, 'एक सौ कम हैं, जब तक ये रुपया पूरा नहीं चुका देता तब तक तू रख इसे !' कहकर सरनाम उठ खड़ा हुआ था। गेंदाकवि ने फ़ुरसत की साँस लेते हुए कहा— 'ठीक है ठाकुर साहब ! इसमें कोई हर्ज़ नहीं !' फिर कोठरी की ओर देखकर उसने बड़े हर्ष से पुकारा था, 'बंसिरी बिटिया किस्मत खुल गयी तेरी....'

बंसिरी का नाम सुनकर सरनाम के पैर काठ हो गये। बंसिरी, कौन बंसिरी ! और दूसरे ही क्षण उसे लगा कि उसने क्या कर डाला है ? और कौन होगी उसके सिवा ! लेकिन न जाने क्यों मन खट्टा हो आया। नौटंकी की बंसिरी और सत्तार। और फिर कृष्णमण्डली के साथ बलराम से आँखें लड़ाती हुई....जो उसे पहचान कर भी नहीं पहचानना चाहती थी। और फिर गेंदाकवि के साथ रही हुई बंसिरी....न जाने कितने गेंदा, बलराम और सत्तार ! और उस दिन का वह घमण्ड ! और उसका मन प्रतिहिंसा की वहशी खुशी से भर गया ! एक अभिमान भरी तृप्ति और एक अनूठा सन्तोष ! पर मन में कहीं कसक भी थी। बंसिरी से भला हार-जीत क्या ? और फिर औरत से ! उससे आदमी कभी हारा नहीं है....

लेकिन चलते-चलते उसे लग रहा था जैसे भीतर सब खाली हो, खोखला.... एक खाली मकान जैसा....ऐसा मकान, जिसमें रहने वाला सुधि का पाहुन एकाएक चला गया हो और साँय-साँय करती गरम हवा के थपेड़ों से घर के दरवाज़े और खिड़कियों के पल्ले भटाभट दीवार से टकरा रहे हों....दीवार से टकराते हुए किवाड़ और खनकती हुई कुण्डियाँ....खाली कमरों में घिर कर साँय-साँय करती, हाँफती हुई गर्म हवा और मकान की सीमाओं में इधर-उधर चक्कर काटते भारहीन काग़ज़ के टुकड़े....जैसे उन पर पागलपन छा गया

हो। दिशा हीन गति....कभी इधर, कभी उधर और दीवारों पर बजते हुए वही किवाड़ों के पल्ले !

और रंगीले छै सौ रुपये का कर्ज़दार होकर बंसिरी को ले आया ! मोटर अड्डे के सामने वाले कच्चे मकान में उसने अपनी गृहस्थी जमाई। सरनाम हमेशा यही सोचता रहता....उसने अच्छा किया, नहीं....नहीं, उसने बुरा किया ....शायद कुछ भी नहीं किया, न अच्छा न बुरा !

पर बड़ी मुश्किल से आयी थी बंसिरी....रंगीले की बात जानकर उसने गेंदाकवि से इनकार कर दिया था, कहा था—'मैं जहर खाऊँगी....मैं भाग जाऊँगी ! रात में गला घोंट दूँगी तेरा !' पर गेंदाकवि पुराने घाघ थे; सब जानते थे कि कितनी देर का उफ़ान है....डेढ़ दिन कोठरी बंद किये यूँही पड़ी घुटती रही, उस गर्मी और अँधेरे में। सराय में सुनसुनाहट शुरू हुई थी और चूल से किवाड़ा उतार कर गेंदाकवि भीतर घुसे थे—'इन नखरों से से कुछ नहीं होगा बंसिरी....सोच-समझ कर काम कर अकल से ! नादानी की बात करती है। कोई तकलीफ़ नहीं होगी तुझे रंगीलाल के साथ....' पर बंसिरी नहीं मानी थी, तब उन्होंने फटकारा था, 'बड़ी सती सावित्तरी थी तो भागी क्यों थी ? नौटंकी वालों से मन नहीं भरा था....तब चोचले दिखा के घर वापस पहुँच गयी थी। आखिर उसी देहरी पर जाना पड़ा....फिर बूढ़े के सिवा कौन मिलता तुझे, कौन जवान, जिसकी जाँघ में बल बाकी है वह तुझ जैसी को कबूल करता....नहीं मानेगी तो मैं नहीं जानता, बात खुल गयी तो मेरा कुछ नहीं, मैं तो छूट जाऊँगा पर पुलिस तेरी ख्वारी कर देगी....कहीं की नहीं रह जायगी तब ! गली-गली मारी-मारी फिरेगी। अब भी समझा रहा हूँ—अच्छा आदमी मिल गया है ! बस्ती का बखना जवान है, थोड़ा लबाड़िया है, तेरा गुलाम होकर रहेगा, जरा हिकमत से काम लेना....'

और उसी रात पुलिस के एक दीवान जी आये थे; तब उसने जाना था कि वह क्या है, उसकी क्या हस्ती है ! इससे अच्छा है उस सरनाम की हिकारत सह लेना....उसके सामने नीची निगाह करके जीवन भर एक-सहारे जी लेना [illegible] कुछ कह तो पायेगी....और कर भी क्या सकती है ?

दीवान जी ने शहर की पूरी मिल्कियत उसे सौंपते हुए बड़ी इज्ज़त से कहा—'बेखटके रहिए शहर में, जब तक ज़ाहिद दीवान है तब तक परबंदा पर नहीं मार सकता ! मौज कीजिए....वक्त ज़रूरत याद फर्माइएगा।' पर उसके मुँह से आती हुई दारू की महक ने उसकी साँस रोक दी थी और सचमुच मुर्दा बंसिरी ने वह रात....तब एक विचार कौंधा था—अपने को बड़ा अफलातून समझता है सरनाम ! बेईमान....दगाबाज़.... इज्ज़त से खेल गया कमीन ? कैसे-कैसे सब्ज़बाग दिखाये थे मेले में, कितना

इन्तज़ार किया था उसने, दग़ा देकर भागा था....और आज पहचान कर भी.... जब सबने कोठरी में देखा था तब उसने भी देखा होगा....तब भी....दूसरे के हाथ बिकवा कर ज़लील करना चाहता था। खुद पैसे लगाये थे....और.... 'जब तक रुपया पूरा नहीं चुका देता तब तक तू रख इसे !' इज्ज़त का ठेकेदार बन गया था ! औरत पुकारता था, जैसे उसकी कभी कुछ भी नहीं रही ! ....औरत ! अभी जानता नहीं औरत कितनी खूँख्वार होती है ? अब औरत बन के ही रहेगी और एक दिन देखेगी उसे....बतायेगी उसे कि वह सिर्फ़ औरत है !

और उस रात उसने ज़ाहिद दीवान को खुशकर लिया था—कुछ इस तरह उसे घेरने की कोशिश की थी कि वह हाथ में रहे....चलते-चलते जब उसने कहा था, 'बेखटके रहिए शहर में !' तब उसकी छाती भविष्य में होने वाली जीत के गर्व से फूल आयी थी। वह सरनाम को सिखायेगी, उसे एक सबक़ देगी....

पर निडर सरनाम उसकी आँखों के सामने घूम जाता है बलिष्ठ सरनाम पत्थर की लाट की तरह खड़ा होता है....सीने पर कसी हुई कारतूसों की पेटी, बन्दूक से खिलौने की तरह खेलता हुआ—धाँय....धाँय....दस-बीस-तीस....धाँय ...धाँय....अविचलित सरनाम ! ख़तरे में भी सरदार की लाश को चादर की तरह कंधे पर डाले हुए वह ओझल हो गया और तब हाथी डुबाऊ तालाब में झम्म ! सरनाम नहीं, कोई चट्टान तालाब की छाती पर गिरी थी....गाँव भर गूँज गया, चार सौ आदमियों का घेरा, पर वह बह गया, वह गया....रोआँ तक न छू पाया कोई, दिलेर सरनाम !

अँधेरी रातों में घुरघुराते इंजन के ऊपर बैठा सरनाम ! खाई-खड्ड.... ऊबड़-खाबड़ सड़क....पर उसकी बाँहें हैं कि ट्रक उछलता चला जाता है ! उसकी बाँहों की उभरी हुई नसें, पसीने से चिपकी हुई कमीज़ और थरथराती हुई मांसपेशियाँ—पथरीला शरीर....पिस गयी थी वह....रग-रग निचुड़ गयी थी, हड्डी-हड्डी चटख गयी थी, और उस हड़फूटन का अनिर्वचनीय सुख ! कैसे लड़ेगी वह उससे ! मन क्यों डूब-डूब जाता है—उस पत्थर के शरीर को सँभालने का मन होता है, बनाये रखने को जी करता है ! उसे छुए, उस पर हाथ पटके और चट्टानी सीने के नीचे दब कर मर जाये.... कुचल कर मर जाये; पर उसे न बिखरने दे ! उस चट्टान पर एक खरोंच तक न आने दे !

और वह पागल हो जाती है। बदहवास-सी इधर-उधर ताकती है। अभी-अभी गुस्से में तोड़े हुए मिट्टी के प्याले के टुकड़े-टुकड़े बटोर लेती है....कितना बड़ा पागलपन था....वह कभी नहीं तोड़ सकती उसे, और अगर

तोड़ा भी तो फिर बटोर लेगी इसी तरह! पर यह होता क्या है? क्यों वह कुछ तै नहीं कर पाती? शायद सरनाम कभी आये....अड्डे पर वह रोज़ उसे देखती है—टाट का पर्दा हटाकर वह खड़ी देखती रह जाती है....और करे भी क्या? घर में और कौन है जिसके लिए कुछ करे। पूरा दिन यूँ ही जाता है! सौ-पचास बार सरनाम की आँखें उससे मिली हैं और पलकें झुका कर वह या तो इमली की ओट हो गया या भीतर छप्पर में घुस गया। कभी भर आँख ताका नहीं....ताकेगा किस ताकत से। अपनी ग़लती महसूस करता है, पर साथ ही उस दिन शाम को कह रहा था इनसे—'जा....जा....घरवाली की हिफाज़त कर, बुत्ता दे जायेगी....' तब उसका मन हुआ था कि जाकर मुँह नोच ले उसका! चमकती आँखों में सूजे भोंक दे! वह बुरी तरह चिढ़ जाती थी। रंगीले सरनामसिंह के बारे में कुछ भी सुनने को तैयार न होता। अकेला शिवराज ऐसा था जिससे उसकी पटती थी। आदमियों के बीच में रह कर शिवराज किसी नारी की छाँह के लिए तरस जाता....और बंसिरी में उसे सभी रूप एक साथ मिल गये थे—माँ, बहिन और मित्र! शिवराज उमर में छोटा पड़ता, फिर भी वह सब तरह की बातें कर लेता, हर बात बंसिरी से कहता और राय लेता। बंसिरी के लिए भी शिवराज बहुत बड़ा सहारा था, सरनाम के बारे में वह लगातार पूछती रहती और वह बताता रहता।

....सरनामसिंह अपनी बात ख़तम करके मंगल के साथ अड्डे पर आया। शिवराज अड्डे पर ख़बर लेकर नियमानुसार बंसिरी के पास चला गया। आते ही बोला, 'चाची, आज फिर तैयारी हो रही है....वो मंगल आया है, घर पर सब तै हुआ है, मुझे जबरदस्ती अड्डे की तरफ़ टरका दिया....'

'मेरे पास आने को टोका होगा!' बंसिरी ने सबसे पहले यही बात पूछी, क्योंकि वह जानती थी कि सरनाम शिवराज का उसके पास आना-जाना पसंद नहीं करता, इसीलिए एक बार उसने रंगीले से कहा था—'कुछ मेरा भी ख़याल करो....क्या तुमने सब की खुराफातों में साथ देने का पट्टा लिख दिया है! तुम्हारे सरनाम सिंह तो अकेले फ़क़द्दम हैं, पर तुम्हें कुछ हो गया तो मैं कहाँ की रह जाऊँगी!' और उसी रात जब कच्ची शराब की बोतलें छुपा कर रंगीले ने घर पर रखी थीं तो उसने तूफ़ान उठा लिया था! आख़िर हारकर रंगीले आधीरात में सारी बोतलें लेकर सरनाम के घर पहुँचा था और सारी बात उसे बतानी पड़ी थी, 'वह नहीं रखने देती घर में, शाम से मुसीबत किये है! कहा, वहीं लेकर जाओ....अपनी मुसीबत हमारे गले क्यों बाँधते हैं!' बोतलें रखकर सरनाम बड़ी देर तक रंगीले से बातें करता रहा था.... और उन्हीं बातों में रंगीले को यह जानकर विस्मय और दुख हुआ था कि

बंसिरी नाहक ही सरनाम से चिढ़ती है। सरनाग ने बताया था, 'एक दिन यह औरत हमें लड़ा कर रहेगी रंगीले! शिवराज जबसे उसके पास उठने-बैठने लगा है, दिमाग़ नहीं मिलता उसका....मेरी समझ में नहीं आता, मैंने तेरी घरवाली का क्या बिगाड़ा है? एक रोज दरसन घर पूछता हुआ तेरे घर जा लगा तो उससे बोली—'थाने में होगा....' मैंने कोई बुराई नहीं की उसके साथ, फिर भी कुछ समझ में नहीं आता। डाँट-फटकार कर रखा कर....!'

रंगीले बात फ़ौरन मान जाता है, इनकार करना नहीं जानता। जाते ही बंसिरी से लड़ पड़ा था —'तेरी क्या दुश्मनी है सरनाम से....तुझे शराब से चिढ़ नहीं, उससे है....'

'मैं वह दिन बहुत अच्छी तरह से देख रही हूँ जब तुम उसके कहने से हमारे साथ दगा़ करोगे....' विचार कर बंसिरी ने कहा था और उसे समझाया था—'तुम अपनी बराबरी उससे काहे को करते हो....ज़रा सोचो, इस तरह के फ़ेलों में पड़ना क्या घर गरस्तीवाले के लिए ठीक है? कल को भगवान की दया से घर में....' कहते-कहते उसने रंगीले पर एक मोह भरी दृष्टि डाली थी और रंगीले प्रभावित हो गया था। बात उसकी समझ में आ गयी थी, उसी ने सुझाया था, 'तुम्हारी पुलिस से जान-पहचान है इसीलिए वह तुमसे फ़ायदा उठाता है! ये न होता तब मैं समझती कि वह तुम्हें दोस्त मानता है....!'

इसी तरह के न जाने कितने झगड़े, टंटे रोज लगे रहते। बंसिरी सरनाम को ज़रा भी नहीं सह पाती। उसकी बात आयी नहीं कि उसकी भौंहे टेढ़ी हुईं। और रंगीले इस कशमकाश से परेशान रहता। उसकी समझ में नहीं आता कि वह आखिर क्या करे जो सब कुछ ढर्रे पर आजाय।

शिवराज ने कहा, 'उनके टोकने से क्या होता है। जहाँ मेरा मन होगा जाऊँगा....देखो चाची, उधर देखो....' खिड़की का टाट वाला पर्दा हटाते हुए शिवराज ने मंगल को पहचनवाया था, 'यही आदमी है! पिछली बार भी यही था!'

'कब जा रहे हैं ये लोग!' बंसिरी ने जानना चाहा, पर शिवराज को तारीख नहीं मालूम थी। नीचे अड्डे पर सरनामसिंह इंजन का हुड खोले कुछ देखभाल कर रहा था और रंगीले लारी की छत पर सवारियों का सामान चढ़वा रहा था। मंगल पास खड़ा बीड़ी धौंक रहा था। थोड़ी देर बाद लारी छूटने का वक्त हुआ तो रंगीले दौड़ा-दौड़ा घर आया और छुपा कर रखी हुई खाली बोतलें एक बोरी में लपेटकर फुर्ती से वापस चला गया। भुर्र....भुर्र करके लारी स्टार्ट हुई और धूल का बादल छोड़ कर सीधी सड़क पर खड़खड़ाती हुई चली गयी।

अड्डे के बायीं ओर छप्पर में एक कार खड़ी थी, जिसे मरम्मत करके दुरुस्त

किया जा रहा था। इंजन के पुर्ज़े इधर-उधर बिखरे थे और एक मिस्त्री हाथों में गूदड़ और रिंच लिये उनसे उलझ रहा था।

'ये गाड़ी क्या जैनीजी ने खरीदी है!' बंसिरी ने शिवराज से यों ही पूछा। शिवराज ने बताया, 'नहीं, सरनाम भैया बिकवाने के लिए लाये हैं। एटा के वकील साहब की है, हज़ार में लाये हैं, अब जितना ज़्यादा वसूल करलें सो इनका!'

'सुना दड़े में इस बार घाटा हुआ है!' बंसिरी ने मालूम करना चाहा।

'कल ही चार सौ कमीशन के मिले हैं, घाटे का सौदा भैया नहीं करते! पर सुना है इस बार पुलिस पीछे पड़ गयी है। आजकल चोरी-छिपे नम्बर लगते हैं और छिपा कर ही भुगतान होता है! पन्द्रह हज़ार का बिजनैस हुआ है इस पखवारे में....कह रहे थे, तुम्हारी सायकिल में फिटफिटिया वाला इंजन लगवा देंगे....' शिवराज ने कहा तो बंसिरी से न रहा गया, 'तुम आदमी हो रहे हो पर लड़कपन अभी नहीं गया—मेरी बात मानो शिवराज! जैसे भी हो अपने को अलग करलो इन लोगों की मण्डली से, पढ़-लिख लिया है, तुम्हें कुछ और करना है। जजी-कलक्टरी में नौकरी तलाश करो....अपने भाई-भौजाइयों को छोड़े पड़े हो....आखिर वे ही काम आयेंगे! कोई ठिकाना है सरनामसिंह का! ज़िले में रोज नयी वारदातें होती हैं, आज यहाँ डकैती तो कल वहाँ क़तल, इस तरह कब तक खैर मनायेंगे ये लोग अपनी....आखिर एक रोज पकड़ा जायगा है तब क्या इज्ज़त रह जायगी!'

'मेरा भी मन अब ऊबता है, लेकिन जब तक अपने पैरों न खड़ा हो जाऊँ तब तक तो बड़ी मुश्किल है! मुझे खुद लिहाज़ लगता है इस तरह रहते, लेकिन अभी कोई रास्ता नहीं....!'

'लिहाज़ की बात करते हो! तुम्हें नहीं मालूम लोग कैसी-कैसी बातें करते हैं तुम्हारे लिए! मेरा भाई होता तो ज़हर दे देती, पर इस तरह की बात न सुनती....' बंसिरी का इशारा समझ कर शिवराज लज्जित हो आया। यही उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी थी जिसे कुरेद कर बंसिरी उसे निर्वाक् कर देती थी। इसमें शक नहीं कि बंसिरी को यह सब बर्दाश्त भी नहीं होता था, कितनी बार उसने कहा है, 'ऐसी बात है तो तुम यहाँ रहो, मेरे पास....उसका घर नहीं छोड़ सकते तो रात में यहाँ लेटा करो....दुनिया उसी पर विश्वास करती है जो वह देखती है! पता नहीं तुम्हारी आदमियत कैसे मंजूर करती है यह सब.... मैं तो एक दिन न ठहरती अगर ऐसा कुछ मेरे साथ होता, अगर मैं लड़का होती....' शिवराज चुपचाप सुन लेता है। कहे भी क्या? जब-जब बंसिरी उसे इस तरह धिक्कारती है तब तब उसका किशोर पौरुष भीतर से हुँकार उठता है, और वह अपने को आदमी महसूस करने लगता लगता है! सचमुच उसे

क्या बना रखा है सरनामसिंह ने !

और सरनामसिंह उसे हमेशा सिखाया करता है—'औरत से बड़ी खाई इस दुनिया में नहीं। आम की तरह चूस लेती है। आदमी वही है जो औरत से अपने को बचा जाय ! कभी उसके फंदे में न फँसे। अपनी ज़िन्दगी जीना हो तो औरत को कोसों दूर रखे.... तन-बदन, धन-दौलत, ऐश-आराम की दुश्मन है औरत। और फिर ऐसा क्या है जो पैसे से नहीं मिलता....औरत कब धोखा दे देगी, कब प्यार करते-करते तुम्हारी जान की दुश्मन हो जायेगी, कोई ठिकाना नहीं !'

लेकिन शिवराज को बंसिरी की बात ही ज़्यादा जँचती है। जब उसके सामने हेम खड़ी हो जाती है, तब सरनाम की सारी बातें बड़ी उथली और बेमानी लगने लगती हैं ! सारहीन, बेतुकी। और बंसिरी के पास बैठ कर उसे एक अजीब-सी तृप्ति मिलती है, अद्भुत सलोनी-सी अनुभूति होती है - अपने सारे स्नेह के बावजूद बंसिरी कभी-कभी बड़ी रहस्यमयी हो जाती है, वह चाहता है कि बंसिरी के तन और मन में छुपे गुह्य भेदों को जान सके....उसके तन को वह देखता रह जाता ! तरह-तरह की कल्पनाएँ करता। और बंसिरी के तन के एक-एक रूपाकार की कल्पना से वह हेम के शरीर का अनुमान लगाता। उसकी एक-एक भंगिमा में वह हेम का प्रतिरूप देखने की चेष्टा करता। जब-जब उसका मन अकुलाता, आकर बंसिरी के पास बैठ जाता, लगता बहुत-कुछ उसे मिल गया है। जिस सामीप्य के लिए वह तरसता था, वह यहाँ अकारण ही मिल जाता था। उस नयी-नयी गंध में ऐसा आकर्षण था जिसे उसने जीवन में पहली बार महसूस किया था ! बंसिरी की बातों का इतना असर उस पर न था जितना उसकी निकटता का—जब-जब वह उसके माथे पर हाथ धर देती, वह खो जाता....एक अनूठी सिरहन और पुलक ! जैसे हेम का जीवित संस्पर्श उसे मिल जाता हो !

कई बार वह हेम के विषय में बताते-बताते रुक गया, पर एक रोज़ जब सरनाम ने उसे लड़कियों के पीछे घूमने की हरकत पर डाँटा, तो वह आया था और हिचकते-हिचकते बंसिरी को सब कुछ बता दिया था, उस दिन से बंसिरी ने उसे और भी सहारा दिया था ! और सचमुच बंसिरी इस बात से दुखी होती थी कि सरनाम अपनी बिगड़ी हुई आदतों के कारण शिवराज को बिगाड़ डाल रहा है। उसकी स्वाभाविक गति को रोके हुए है, उसे ग़लत रास्ते पर डाल रहा है। जब भी मौक़ा मिलता वह शिवराज को ताने दिया करती, उकसाती और उसे अहसास कराती कि उसकी दशा एक गई-गुज़री औरत से भी बदतर है ! और वह बड़े ग़ौर से देखती रहती कि शिवराज में स्त्रैणता के गुण आते जा रहे हैं। शौकीनी बढ़ती जा रही है....आज भी

उसने शिवराज को तर्जनी में अँगूठी पहने देखा तो कटाक्ष कर बैठी—'ये लड़कियों की तरह क्या अँगूठी पहन रखी है....' छुँगुनी के नाखून पर नेल-पालिश देखी तो चाकू लेकर छुटाने बैठ गयी.... 'तुम लड़की हो जाओ शिवराज !' और इससे पहले कि बंसिरी चाकू से उसे छुटाये, उसने खुद अपने दाँतों से उसे खरोंच डाला !

बात करते-करते बंसिरी अपने गाँव के जवानों के किस्से लेकर बैठ गयी.... 'बड़ा बाँका जवान था अद्दा ! तेल-फुलेल नहीं, मिट्टी से रचा रहता था, गाँव भर की लड़कियाँ जान देती थीं उस पर—शेर की तरह घूमता था खेत-खलिहानों में। नीमवाले सैयद बाबा की डाढ़ी नोच लाया था, तब से गाँव के सैयद-बाबा को किसी ने नहीं देखा....लोगों ने कहा, 'अब खिला-खिला के मार डालेगा !' पर अद्दा हट्टा-कट्टा घूमता रहा, बाल बाँका नहीं हुआ उसका।

बंसिरी जब ऐसी बातें सुनाती तो शिवराज अपने में सिमट जाता। उसे पछतावा होता कि क्यों हेम के बारे में वह सब कुछ बता गया। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करके वह उठता, सराय के होटल पर खाना खाता और बाजामास्टर के पास जा बैठता। या शाम को घूमता-घामता अड्डे पर आ बैठता....आजकल हेम कहीं किसी रिश्तेदार के यहाँ कुछ दिनों के लिए बाहर गयी हुई थी। अड्डे पर खासा मजमा रहता। मोटर की छतों पर ड्राइवर और क्लीनर गद्दियाँ बिछा-बिछा कर मोमबत्तियों के सहारे फ्लश या खालें खेलने में मशगूल रहते। या किसी मोटर की छत पर किसी विरही ड्राइवर, क्लीनर या कमीशन एजेन्ट का किस्सा छिड़ा होता और ऊँची आवाज़ में गाना चलता—

गोरी मोहे जमना के पार मिलना....

गाता एक पर ताल सब देते और फ्लश खेलते लोगों की गरदनें भी उसकी ताल पर झूमती रहतीं। आखिरी मोटर आने तक अड्डे पर जगहर रहती थी, उसके बाद नशे में धुत्त लोग इस तरह सोते जैसे साँप सूँघ गया हो। दूर सड़क पर आती हुई लारी की रोशनी चमक उठी थी ! अड्डे में थोड़ी जान आयी, पर ज़्यादातर लोग अपने-अपने सोने का इन्तज़ाम कर रहे थे। मंगल फ्रीस्कूल की कार्निस पर इन्तज़ार में बैठा था। मोटर रुकते ही वह सरनाम के पास पहुँचा। उसका पारा चढ़ा हुआ था। रंगीले सवारियों का सामान उतारने के लिए ऊपर छत पर चढ़ गया।

हाथ झाड़ते हुए, थकन से चूर सरनाम जाकर तख्त पर बैठ गया, जब रंगीले सामान उतार कर वहाँ आया तो मंगल ने पूछा, 'वह कहाँ है ?'

'इसी से पूछो !' सरनाम ने बिगड़ते हुए कहा, 'आइन्दा यह सब लाने का जिम्मा मेरा नहीं रहेगा। आज मरवा दिया होता यार ने। न जाने किस

तरह रखीं कि रास्ते में एक बोतल फूट गयी। मार महक, मार महक, सवारियाँ शक कर गयीं! बीच रास्ते में मोटर रोक कर बोतलें निकलवाईं, पैट्रोल छिड़कवाया पूरी छत पर, तब कहीं महक दबी, अब इससे पूछो किस खेत में दबा आया है, ये जाने और तुम जानो!'

'खैर वो आ जायेंगी, एक बोतल का नुकसान हुआ बस, और हिफाज़त से हैं, जगह मुझे याद है! कल आ जायेंगी।' कहकर रंगीले पसीना पोंछता हुआ इधर-उधर टहलने लगा। सरनाम उठकर अपनी ख़रीदी हुई कार देखने चला गया। इधर-उधर झाँक-झूँक कर वह आया तो शिवराज को आज अकस्मात अड्डे पर देख कर आश्चर्य हुआ, बोला, 'क्यों, कोई बात है?' शिवराज ने कहा कि यूँ ही चला आया तो सरनाम को थोड़ी खुशी हुई। उसे लेकर वह होटल की ओर चल दिया। रास्ते में बोला, 'आज कितने दिन बाद तुम्हें हमारे साथ खाने की फ़ुर्सत मिली है!' सुनकर शिवराज चुप रहा। होटल में पहुँचा तो डा०*लालचंद जमे हुए थे। सरनाम इन्हें पहचानता था, इसलिए कि ये खद्दर पहनते थे और सन बयालिस के बाद जब वह लड़ाई से वापस आया था तो लोग इन्हें नेताजी-नेताजी कहकर पुकारते थे! बीच में डा० लालचंद कहाँ रहे यह कोई नहीं जानता। डा० लालचंद ने सरनाम को देखते ही पुकारा, 'कहिए सरनामसिंह जी, क्या हाल हैं?'

'सब ठीक है डाक्टर साहब!' कहकर वह खाने के लिए बैठने जा ही रहा था कि डा० लालचंद ने कहा, 'आपसे मिलना था मुझे, यहीं मुलाक़ात हो गयी....' और उन्होंने अपनी योजना सरनाम के सामने पेश कर दी—'शहर में चार अड्डे हैं, कम से कम तीस ड्राइवर और इतने ही क्लीनर होंगे, और बाकी काम करने वाले मिलाकर सौ-सवा-सौ के करीब हो जायेंगे। इतनी बड़ी ताक़त के होते हुए, हमारे ज़िले में एक भी मोटर यूनियन नहीं। आप सब लोगों के सहयोग से एक कर्मचारी यूनियन बन जाय, मोटर मालिक यूनियन मालिकों ने अपने स्वार्थों के लिए बना रखी है, लेकिन असली काम करने वाले बिखरे हुए हैं। जितना काम लिया जाता है उतना पैसा नहीं मिलता, नौकरी की मुस्तकली का कोई ठिकाना नहीं। जब जिसे जी चाहता है, मालिक निकाल बाहर करता है....सच पूछिए तो मज़दूर और मालिक का झगड़ा हर जगह, हर स्थिति में है। मुश्किल यह है कि मज़दूर संगठित नहीं होते, इसीलिए उनका शोषण होता है! वे नहीं जानते कि उनकी लड़ाई क्या है? कहाँ है?'

'यही हमारे नेता लोग भी नहीं जानते!' सरनाम ने तलखी से कहा, डा०लालचंद एक बारगी उसका मुँह ताकते रह गये। सरनाम ने कहा, 'शायद आप भी नहीं जानते कि लड़ाई कहाँ है? किससे है! जो इन कम्पनियों का लाभ उठाते हैं, वे हमारे दुश्मन ही हैं, ऐसा नहीं है....इसी एक मोटर लाइन

डा ले लीजिए—चार मालिकों की चार गाड़ियाँ चलती हैं, आप समझते हैं एक गाड़ी से रुपया बरसता है ? ज़रा मालिकों की हालत देखिए जाकर ! घर पर हाथी बाँध लिया है, पर खिलाना मुश्किल हो रहा है। एक टायर फटता है तो नये के लिए मुर्री ढीली हो जाती है....' कहकर वह डा० लालचंद का मुँह देखने लगा। डा० लाल चंद कुछ अप्रतिभ-से हो गये, पर कोई बात करे, इसे वे सहमत कर सकने का पहला लक्षण मानते हैं, बोले, 'यहीं आप ग़लती करते हैं ठाकुर साहब ! मालिक मालिक की ज़ात एक होती है ! मालिक और नौकर—हमें तो यह रिश्ता ही समाप्त कर देना है। इसी व्यवस्था के खिलाफ़ हमें आवाज़ उठानी चाहिए ! क्योंकि यहीं आकर स्वार्थ टकराते हैं, द्वन्द्व की स्थित आती है !'

'यह सब मैं नहीं जानता। मैं आदमी—मज़दूर आदमी की लड़ाई हमेशा दूसरी जगह देखता हूँ—जिस लड़ाई की ओर आपका ध्यान है वह फैक्टरियों से भरे कानपुर, बम्बई या अहमदाबाद में हो सकती है, यहाँ नहीं। यहाँ सब जीने के लिए संघर्ष कर रहे हैं ! मालिक और मज़दूर, वकील और मुहर्रिर, दूकानदार और नौकर—सभी एक नाव में हैं, और उस नाव के चारों ओर एक दूसरी तरह का तूफ़ान उमड़ रहा है !'

'वह तूफ़ान तो है, पर मज़दूर और नौकर को अगर ज़्यादा सुविधाएँ मिलें तो क्या वह और आराम से नहीं रह सकता ! या वह आराम नहीं चाहता ?'

'आप आराम की बात कहते हैं ! यहाँ का आदमी सिर्फ़ आराम करता है। उसकी ज़िन्दगी में रवानी है ही नहीं, वह यह नहीं जानता कि उसकी उम्र कितनी छोटी है और इसी बीच उसे कितने बड़े काम करने हैं—ज़रा आँख पसार कर देखिए—यहाँ के आदमी को पता ही नहीं कि काम होता क्या है, उसकी क्या ज़रूरत है ? हमीं मोटर ड्राइवर हैं, बस एक लारी पहुँचा दी, एक ले आये—काम खतम। पेट भर जाता है—क्योंकि ज़िन्दगी के और रूप हमारे सामने नहीं। हम नहीं जानते कि यह सब हम क्यों कर रहे हैं, किसलिए कर रहे हैं। मोटर अड्डा इसलिए है कि वहाँ से किसी शहर के लिए मोटर छूटती है, इसलिए नहीं कि धूप और बारिश में वहाँ यात्रियों को कुछ आराम मिल सके। बस, सब चलताऊ काम है !'

सरनामसिंह कह रहा था और डा० लालचंद सिर हिलाते जा रहे थे, बोले, 'ठाकुर साहब ! असल में लड़ाई की बात....' बीच ही में सरनाम ने बात काट दी, 'इन धर्म मंडलियों से लड़िए डाक्टर साहब जो यहाँ के मेहनत-कश लोगों को सोचने-समझने का मौक़ा नहीं देतीं, इन ओझा और पाखण्डियों से लड़िए जो मज़दूर के पसीने की कमाई चाट जाते हैं—इन ऊँची जात के कहे जाने वाले लोगों से लड़िए जो आदमी को आदमी नहीं बनने देते।

इन मंडी वालों से लड़िए जो मुनाफ़े के लिए बरसात में गल्ले को गोदामों में बन्द करके बाहर भेजने के लिए रोक रखते हैं। ज़िला बोर्ड के उन अमलाओं से लड़िए जो स्कूल बनाने के नाम पर पैसा खा जाते हैं।। चुंगी के अफ़सरों से लड़िए जो हैज़ा की रोक-थाम के लिए नालियों पर सिर्फ़ चूना डलवा कर दवाइयों का पैसा हज़म कर जाते हैं—अस्पताल के डाक्टरों से लड़िए जो गरीबों के लिए मिलने वाले इंजैक्शनों को बेच लेते हैं, दवाओं में पानी मिलाकर रोग का इलाज करते हैं!' सरनामसिंह तैश में कहता जा रहा था—'उन ब्राह्मणों से लड़िए जो किसी काबिल कायस्थ के लड़के को काम करने का मौक़ा नहीं मिलने देते, उन कायस्थों से जूझिए जो ब्राह्मण का गला काट लेना चाहते हैं!'

इससे पहले कि डा० लालचंद कुछ बोलें, कुछ रुक कर सरनाम कहता ही गया—'उन सप्लाई अफसर बनिए से पूछिए जो सीमेंट की बोरियाँ बनियों को बाँट कर खत्म कर देते हैं। उन ठाकुरों से लड़िए जो अहिंसा और गाँधीजी के नाम पर ज़िला कमेटी के सभापति पद के लिए दस-बीस के सर तुड़वा देते हैं....उन नेताओं से लड़िए जो जातिवाद के नाम पर वोट बटोरते हैं....भूदान कमेटी के अधिकारियों से लड़िए जो रिश्वत ले-लेकर ज़मीनें बाँटते हैं! उन अफ़सरों के बँगलों पर धरना दीजिए जो नशाबंदी क़ानून के नोटिस पर दस्तख़त करके अंग्रेजी शराब की चुस्कियाँ लेते हैं, उन काली टोपी वाले संघियों से लड़िए जो घृणा फैलाकर मुसलमानों को चैन की नींद नहीं सोने देते! कायस्थों की उस कमेटी से लड़िए जो अपने स्कूल में ब्राह्मण मास्टर न रखने का मानसिक क़ानून बनाये हुए है! उन पाखण्डी गांधीवादी नेताओं से लड़िए जो नेतागीरी के नाम पर पचासों घरों की लड़कियों को बरबाद कर रहे हैं....गर्ल्स स्कूल की उन फैशनपरस्त अध्यापिकाओं से लड़िए जो आने वाली पीढ़ी को गुमराह किये जा रही हैं! इन ईसाइयों से लड़िए जो धर्म प्रचार के नाम पर मुल्क के खिलाफ़ साजिश कर रहे हैं....' कहते-कहते सरनाम का मुँह तमतमा आया था, 'कितनी लड़ाइयाँ हैं डाक्टर साहब! यही नहीं, स्कूल खुलवाइए जिनमें गरीबों के बच्चे पढ़ सकें....पुस्कालय बनवाइए जहाँ बेकार लोगों को जीवन की हरकत की खबरें मिल सकें! उनके खाली वक्त को भरिए, उन्हें काम दीजिए....काम करने के मौक़े जुटाइए, उनके खाली वक्त को भरिए, उन्हें जीना सिखाइए...इस बात का अहसास कराइए कि वे बेकार पड़े हैं। अपनी बेकारी में यहाँ के लोग इतने डूब चुके हैं कि वे इसे ही जीवन मान बैठे हैं....उनके सामने ज़िन्दगी का कोई नक्शा नहीं! यहाँ ब्राह्मण इसलिए जीता है कि उसकी पीढ़ियाँ यहाँ दूसरों के सहारे जीती आयी हैं और पुजती रही हैं, कायस्थ इसलिए जीता है कि उसे ब्राह्मणों से लोहा लेना है।

क्षत्रिय इसलिए जी रहे हैं कि यहाँ उनकी गद्दी रही है....वे यहाँ के राजा रहे हैं, इसलिए हर कुकर्म करना उनका जन्म सिद्ध अधिकार है ! ये आश्रम और मंदिरों के पण्डे इसलिए जी रहे हैं कि दूसरे की कमाई पर उनका धार्मिक अधिकार है ! ये नेताओं की जात इसलिए जी रही है कि वे बेखटके घूम सकें, बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनवा सकें....अपने रिश्तेदारों को लोहे और मोटरों का परमिट दिला सकें ! आँखें खोलकर देखिए डाक्टर साहब ! लड़ाई कहाँ है ? ये सेठों-अमीरों और पूँजीपतियों की बस्ती नहीं, हर गली वीरान है इसकी....हर गली में एक से किरासिन के लैम्प टिमटिमा रहे हैं, हर गली में धूल उड़ रही है, हर गली अँधेरी और सुनसान पड़ी है ! हर गली में इन लड़ाइयों के मुकाम हैं !....यहाँ किसी मालिक की छत ऊँची नहीं, किसी सेठ का मकान चमचमाता हुआ नहीं ! पर यहाँ हर ब्राह्मण की इज्ज़त ऊँची है, हर कायस्थ का माथा चमचमाता हुआ है, हर क्षत्रिय की नाक ऊँची है ! इस झूठी इज्ज़त को धूल में मिलाइए, उस चमचमाते खोखले माथे को झुकाइए, उन ऊँची नाकों को काटिए—तब बराबरी होगी डाक्टर साहब ! बराबरी....' जैसे उसके मुँह से कोई कड़वा शब्द निकल आया हो, और उसके मुँह का स्वाद बिगड़ गया हो ! कितनी पीड़ा होती है इस शब्द को सोचकर, बोलकर....

डा० लालचन्द अवाक् सुनते रह गये, मन में आया कहें, 'ठाकुर सरनाम-सिंहजी और आपकी ज़िन्दगी ?' पर सरनाम की आँखों में जो आग धधक रही थी, उसकी आँच ने उनका सारा साहस भस्म कर दिया, लेकिन कहीं मन में अपने स्वयं के खोखलेपन से वे घबरा उठे....लगा, कितने बड़े झूठ में वे जी रहे हैं....सचमुच इस बस्ती का संघर्ष उस किताबी संघर्ष से कितना अलग है ! डा० लालचन्द अपने खयालों में डूबे हुए थे, तभी सरनाम का स्वर फिर उनके कानों में पड़ा....ऐसा स्वर जो किसी पवित्र आत्मा के मुँह से फूट रहा हो—'और मुझे ही देखिए डाक्टर साहब ! क्या मैं नहीं जानता कि मैं खुद क्या हूँ ? या आप मेरी असलियत नहीं जानते होंगे ! लेकिन आप मेरे मुँह पर कह नहीं सकते ! क्यों, इसे आप भी जानते हैं और मैं भी....लेकिन मैं जो कुछ हूँ, उसके लिए सिर्फ़ मुझे अफ़सोस हो सकता है, ऐसा कुछ भी नहीं जिस पर दुनिया अफ़सोस कर सके ! एक आदमी के नाते मैं बुरा भी हूँ—पर सिर्फ़ अपने लिए....मेरी बुराइयाँ दूसरों को बुरा नहीं कर सकतीं क्यों कि मैं अकेला होकर जीता हूँ । लेकिन जो सब के लिए जीते हैं....जो यह कहते हैं कि वे दूसरों के लिए जी रहे हैं, उनकी बुराइयाँ छूत के रोग की तरह फैल कर तबाह कर देती हैं ! इस तबाही को रोकने के बाद ही एक-एक आदमी को सँभाला जा सकता है ! अपने चारों तरफ़ एक अच्छी दुनिया देखकर बुरा

आदमी खुद सँभलेगा, उसकी हिम्मत नहीं कि वह बुरा रह सके !'

'लेकिन भाई ! जब तक आदमी खुद अपनी बुराइयाँ दूर नहीं करता तब तक....' डा० लालचंद कह ही रहे थे कि सरनाम ने बात काट दी, 'ऐसा आप इसलिए सोचते हैं कि आप आदमी को आरम्भ से बुरा मानकर चलते हैं.... आदमी को अच्छा मानकर चलिए। इस ज़माने के आदमी ने बुराइयों के बीच आँखें खोलीं, उसने अच्छाई देखी ही नहीं, और जो कुछ अच्छा इस ज़माने ने प्राप्त किया उसकी रोशनी से जबरन उसे दूर रखा गया, उसे अच्छाई से दूर रखकर बुराइयों के बीच खाली वक्त दे दिया गया, तब वह क्या करता ? आदमी है कि कुछ करेगा....बग़ैर किये वह ज़िन्दा नहीं रह सकता ! इसीलिए जो राहें उसे मिलीं, उस पर वह चल पड़ा....' कहते-कहते सरनाम दार्शनिक की भाँति गम्भीर हो आया था, 'मुझे जो राह मिली, मैं भी उस पर चल पड़ा, हर वह आदमी जिसे आप ख़राब समझते हैं, उसकी यही कहानी है !....' सरनाम एकदम चुप हो गया। शिवराज लगातार उसे ताके जा रहा था। उसके मन से सारी ग्लानि जैसे धीरे-धीरे बहती जा रही थी।

डा० लालचंद हाथ धोने के लिए उठे तो सरनाम ने कहा, 'आप मिलिएगा डाक्टर साहब, वहीं अड्डे पर ज़्यादातर रहता हूँ !'

होटल से घर तक रास्ता खामोशी के बीच कट गया। शिवराज अपनी खाट बिछा कर सरनाम का बिस्तर लगाने लगा। सरनाम ने देखा, पर कुछ बोला नहीं। शिवराज ने नया काम किया था। कपड़े उतार कर सरनाम कमरे में घुस गया। बोतल खुलने की आवाज़ शिवराज ने सुनी थी....कई बार आँख खुली पर सरनाम बिस्तर पर नहीं दिखाई पड़ा। कमरे में लालटैन की हलकी रोशनी थी—सरनाम पीते-पीते लस्त होकर दीवार के कोने से सिर टिकाए धुत्त पड़ा था। बोतलें और गिलास पास लुढ़क रहे थे। शिवराज भयभीत-सा देखता रह गया। बड़ी मुश्किल से रात गुज़री....वह समझ नहीं पाया कि यह कौन-सा सरनाम था ! वह इसे प्यार करे या घृणा....

सबेरे ही शराब की बोतलों के लिए मंगल आ गया। सरनाम और मंगल जब अड्डे की तरफ़ चले तब धूप काफ़ी निखर चुकी थी। रंगीले का पता लगाया गया, पर वह लापता था। सरनाम छप्पर में खड़ी कार तक गया। कार रंग-चुँग कर तैयार हो गयी थी, ट्राइल लेने के लिए उसने स्टार्ट की, उसे लेकर वह देवियों वाली सड़क पर चला गया। नदी के पुल पर कार ने चढ़ने से इनकार कर दिया। गेयर बदले, पर कोई फ़रक नहीं....इंजन घुरघुरा कर लोड उठाने से बिदक जाता था। हार कर सरनाम ने गाड़ी बैक की और वापस लाकर छप्पर में खड़ी कर दी। रंगीले का अब तक कोई पता नहीं था। मंगल कुछ परेशान हो रहा था, 'दोपहर तक मुझे पहुँचना है, नहीं तो साँम को कैसे

चल पायेंगे ?' इधर-उधर पूछने से पता लगा कि रंगीले किसी की मिट्टी में गया है।

अगले चौराहे पर हंगामा सुनकर उधर देखा तो एक अर्थी चली आ रही थी। हाथ-डेढ़-हाथ की अर्थी, आगे रंगीले उठाये था, पीछे बिरजू। शव पर लाल अबीरी कपड़ा था और छोटी-सी अर्थी में झंडियाँ वग़ैरह लगी थीं। आगे-आगे बाजे वाले किसी फ़िल्मी गीत की धुन बजाते हुए चले आ रहे थे और लोग'राम नाम सत्त है....राम नाम सत्त है....' करते, मखाने लुटाते पीछे-पीछे आ रहे थे। सबों ने आश्चर्य से देखा। किसी की ऐसी खराब तबियत की ख़बर शाम तक नहीं थी, एकाएक कौन चल बसा ? 'कोई बूढ़ा मरा है !' मंगल ने कहा, 'बौना मालूम पड़ता है !' रंगीले को अर्थी उठाये देख अड्डे के और लोग भी आगये। बाजे बजते जा रहे थे और पीछे से मखाने और टीन के टुकड़े अर्थी पर फिंक रहे थे—मामला कुछ समझ में नहीं आया।

चन्दे के लिए अर्थी अड्डे पर रोक ली गयी।

'कैसा चन्दा ?'

'कोई बाबा मरे हैं क्या ?'

'आग कौन देगा ?'

'कफ़न और बाजे वग़ैरह का जिसने दिया है वह लकड़ी के लिए भी देगा !'

अर्थी उतार कर रंगीले ने बताया, 'बानर भगवान स्वर्गलोक सिधारे हैं.... मन भर लकड़ी काफ़ी होगी !' अर्थी के जुलूस में शामिल होने वालों के माथे पर महाबीरी बन्दन लगा था। असलियत जानकर मंगल बिगड़ा, 'बन्दरों को मुर्दघटा पहुँचाते रहोगे कि उसका इन्तज़ाम होगा।'

'आज जजी-कचहरी में गवाही के लिए हाज़िर होना है, श्मशान से नहा-धोकर उधर जाना है, शाम तक या कल तुम्हारा सामान आ जायेगा !' रंगीले ने कहते हुए बाजे वालों को इशारा किया और अर्थी मुर्दघटा की ओर चली गयी। सरनाम की जेब से उसने मन भर लकड़ियों के दाम निकाल लिये थे। इधर के शोर से कान खाली हुए कि देखा, चुंगी के फाटक पर ख़ासी [illegible] है। चाय बाबू की दूकान के इर्द-गिर्द सुबह की चाय पीने वाले भंगियों का ख़ासा मजमा लगा था और काँय-काँय मची हुई थी। चाय के कुल्हड़ खाली हो-होकर भटा-भट् फूट रहे थे और जमादार लोग हाथ पैर फट-कार-फटकार कर ख़ासी बहस कर रहे थे। मोटे-तगड़े चौबेजी जाँघ तक धोती पहने, जब मामला समझ गये तो बोले, 'मारौ सारन को....लाला की जात है, जई छिनारो करएँ....हड़ताल करबै से का, मार के सारे को मलीदा पहले बनाय देते फिर देखी जाती....'

तब तक डा० लालचन्द अपना चश्मा ठीक करते हुए, बगल में चमड़े का

बेग दबाये आ पहुँचे। उनके साथ एक और नौजवान था। आते ही वे भंगिय के पास गये और अपना बेग साथ वाले नौजवान को पकड़ा कर ऊँची आवाज़ में भाषण देने लगे—'साथियो ! अब हमारी समस्या बदल गयी है ! आप लोगों को बखूबी मालूम है कि चेयरमैन साहब बहादुर से हम पिछले पाँच दिन से बातचीत चला रहे थे ! हरीजन भाइयों की बहू-बेटियाँ और सवरण लोगों की बहू-बेटियों की इज्जत एकसी है। हमने इसी 'इसू' को लेकर के बात-चीत की थी और आप लोगों की माँग चेयरमैन साहब बहादुर के सामने रख दी थी कि मुंसी शिवचरनलाल को नौकरी से अलग किया जाय....अगर दो दिनों के भीतर उनको नौकरी से खारिज नहीं किया जाता तो हमारे हरीजन भाई मजबूर होकर हड़ताल करेंगे—इसलिए मुंसी शिवचरनलाल को निकाला जाय.... हमारी माँग है....

'शिवचरन लाल ! निकाले जायँ....निकाले जायँ !'

'शिवचरन लाल ! मुर्दाबाद....मुर्दाबाद !'

भीड़ ने नारे लगाने शुरू कर दिये। डा० लालचन्द अपने भाषण का असर देख कर मुस्करा उठे। रास्ता चलतों की भीड़ भी रुक गयी थी और खासी रौनक जुड़ गयी थी। डा० लालचन्द ने साथ वाले नौजवान को बाँह से झकझोरकर कहा—'मूवमेंट का फोटो इस वक्त....तीन-चार एक साथ लेना, एकाध ठीक आयेगा ! जल्दी करो....' और जब नौजवान की आँख कैमरे से ढक गयी तो डा० लालचन्द ने बाँह फटकार कर फिर भाषण शुरू किया—'साथियो ! अब हमारे आन्दोलन का दूसरा रूप है ! क्योंकि अधिकारियों ने हमारी हड़ताल गैरकानूनी करार देकर पास के जिलों से पिट्ठू हरीजन भाइयों को शहर की सफ़ाई के लिए बुलाया है....मैं गलत कह गया साथियो ! वे लोग जो बाहर से यहाँ के हरीजन भाइयों की जगह लेने के लिए आये हैं, कभी भी हरीजन भाई नहीं हो सकते ! वे नौकरशाही के गुलाम हैं....गद्दार हैं....

'गद्दारों काऽऽऽनाश हो !

'गद्दा ऽऽ रों ओं ओं....काऽऽऽ नाश हो !'

भीड़ ने फिर नारे लगाये ! नेताजी ने विजय दृष्टि से चारों ओर देखा। शहर की सफ़ाई के लिए बुलाये गये भंगी झाड़ू-पंजे लिए चुंगी के फाटक के पीछे खड़े थे। उनकी कमान कायस्थ सेनिटरी इन्सपेक्टर के हाथों में थी, दरोगाजी कहलाते थे—खाकी नेकर और खाकी कमीज़—बगल में दस्ती डण्डा, लोगों का कहना था—'गुती है गुती !' डा० लालचन्द से उनकी चल चुकी थी। उन्हें सामने देख कर डा० लालचन्द का जोश और भड़क उठा.... और भी ऊँची आवाज़ में उन्होंने ललकारा—'शहर का काम शहर के हरीजन भाई करेंगे ! उनकी जगह नहीं ली जा सकती ! उन्हें बर्खास्त नहीं किया जा

सकता ! हमारी माँगे पूरी हों....इनकलाब !'

'ज़िन्दाबाद !'

'हमारी माँगें !'

'पूरी हों !'

और डा० लालचन्द पटिया पर से उतर कर चुंगी के फाटक की ओर बढ़े। भीड़ एक जुलूस में सिमटने लगी। तमाशबीन जुलूस से दस-दस गज़ दूर खड़े थे। भंगियों का जुलूस है ! हरीजन भाइयों ने डा० लालचन्द को चारों तरफ़ से घेर लिया, उन्हीं पर टूटे पड़ रहे थे। अपने खादी के कुरते के पल्लों को समेट कर जाँघों पर लपेटते हुए डा० लालचन्द बिफरे, 'हैं-हैं, छुए मत लेउ....' हड़ताली भंगियों के सरगना ने देखते ही साथियों को हटाया, 'पंडितजी से दूर-दूर रहो भाई ! अन्दोलन करो, धरम भरस्ट करने की बात नहीं है !' जुलूस फाटक की तरफ़ बढ़ता गया।

खादीभण्डार पर गांधीवादी हरिजन नेता भंगियों की हड़ताल की खबर पाकर आ गये थे। शरीर से पहलवान, केशों से कवि, दाढ़ी-मूँछ से सफाचट श्री गीतानन्द जी के अगल-बगल खड़े हुए खादी भण्डार के कर्मचारी भी यह दृश्य देख रहे थे। श्री गीतानन्द जी की पत्नी कांग्रेस टिकट पर हरिजन एम० एल० ए० थीं, पर सारा कार्यभार पतिदेव पर रहता था। चरखा संघ या गांधी शिविर की 'ओपनिंग सेरमनी' का फीता वे काटतीं, भाषण गीतानन्द जी देते। सभाओं मे मालाएँ वे ग्रहण करतीं, तकरीर गीतानन्द जी करते ! सभा-मीटिंग आदि में पत्नी का नाम लेकर पुकारते हुए गीतानन्द जी को झिझक लगती थी, इसलिए उन्होंने एक ज़बरदस्त घटना के बाद उन्हें श्रीमतीजी पुकारना शुरू किया था....

वह घटना थी पन्द्रह अगस्त की मीटिंग ! गीतानन्द जी की पत्नी की अध्यक्षता में सभा शुरू हुई। मालाएँ गले में पड़ने लगीं और उतर-उतर कर बगल में बैठे गीतानन्द जी की गोद में गिरती रहीं। बाद में एक छोटी सी माला किसी स्वयं सेवक ने उनके गले में भी डाल दी ! अपने फ़र्ज़ के मुताबिक उन्होंने अपनी माला उतार कर पत्नी की गोद में डाल दी और जनता की ओर देखकर हँसने लगे, पास खड़े एक स्वयंसेवक ने ताली पीट दी तो जनता ने भी पति-पत्नी धर्म की मर्यादा देखकर तालियों से मैदान गुँजा दिया....

'वाह-वाह, इसे कहते हैं पति-पत्नी धर्म !'

'त्यागी नेता हैं गीतानन्द जी, खुद चुनाव नहीं लड़े....औरतों के विकास के बड़े पक्षपाती हैं !'

तभी मुहल्ला कमेटी के मंत्री जी मौजीलाल मंच पर आये। एक ताली

बजाकर उन्होंने गांधीवादी ढंग से भीड़ को शान्त किया और बोलने ही वाले थे कि असमंजस में पड़ गये—ज़माना हिन्दी का है, सभा के सदर को सभापति ही बुलाना चाहिए! साँस खींचकर उन्होंने श्रीमती गीतानन्द जी की ओर देखा और भाषण शुरू किया—'आदरणीया सभापत्नी जी और उपस्थित....'

'आपको तमीज़ नहीं है!' गीतानन्द जी का विकराल रूप दिखायी पड़ा, जनता में खलबली मच गयी। सम्बोधन की गलती का समाधान 'श्रीमतीजी' शब्द रखकर किया गया, क्योंकि अध्यक्षा कुछ इतना टेढ़ा शब्द था कि ज़बान पलटा नहीं खाता थी, खा भी गयी तो खाती चली जाती थी। मौजीलाल ने 'साहसी और सत्यनिष्ठ' की तरह अपनी 'त्रुटि' स्वीकार की और क्षमा याचना के बाद भाषण आरम्भ हुआ। उस दिन से गीतानन्द जी स्वयं अपनी एम० एल० ए० पत्नी को श्रीमतीजी पुकारने लगे थे और वे उन्हें केवल 'सुनते हो जी' कहकर धीरे से पुकारा करती थीं।

गीतानन्द जी ने डा० लालचन्द को जुलूस का नेतृत्व करते देख अपनी राय ज़ाहिर की—'हरिजन समाज की समस्याएँ तक नहीं जानते, अन्दोलन चलाने चले हैं....'एक्सप्लोटेड' नेता लोगों के कारन हर समस्या और भी उलझ जाती है, हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग ये ही है। हरिजनों की समस्या है, हरिजन भाई सुलझायें....इन पंडित जी से क्या मतलब?'

खादी भण्डार के लोगों ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

चुंगी के फाटक पर हड़ताली भंगियों की भीड़ बढ़ गयी थी। दूसरी तहसीलों से आये भंगी झाड़ू आदि लिए शहर की सफ़ाई के लिए सफ़ाई दरोगा की कमान में बाहर निकलने के लिए तैयार खड़े थे। फाटक खुलते ही 'गद्दारों का नाश हो', नारे के साथ मारपीट शुरू हो गयी। झाड़ुओं के डंडे बज उठे और देखते-देखते तीन-चार हड़ताली और दो-तीन गद्दार लहू-लुहान होकर गिर पड़े।

खादी भण्डार के चबूतरे पर खड़े गीतानन्द जी ने बाल झटके और पागलों की तरह चीखे—'हिंसा! हिंसा करा दी....' गीतानन्द जी के साथ खादी भण्डार के कर्मचारी शान्ति स्थापित करने के लिए भीड़ में घुस पड़े। डा० लालचन्द डंडों की मार से बचकर एक ओर खिसक रहे थे कि गीतानंद-जी शान्ति अभियान छोड़कर, कालर पकड़ कर उन्हें खुले में घसीट लाये.... नेता-नेता से बात करता है—अपने इस उसूल के मुताबिक उन्होंने डा० लालचन्द को बगलों से उठा लिया। अपने को असहाय पाकर डा० लालचन्द ने गीता-नन्द जी के बाल नोच डाले। अपनी रक्षार्थ उन्होंने डा० लालचंद की मरम्मत कर दी। तब तक मारपीट रुक गयी थी। आन्दोलन की बागडोर

सँभालते हुए गीतानन्द जी ने कहा—'भाइयो ! ये हिंसावाद करने के लिए जिन लाल टोपी वालों ने आपको भड़काया है, उनसे पुलिस की लाल टोपी निपटेगी....हमारी सरकार के पास भी लाल टोपी है....और सरकार हमारी है.... हरिजन भाइयों की है, सब की है ! आपको अपनी तकलीफ़ें अपनी परतिनिधी 'श्रीमतीजी' के पास जाकर सुनानी चाहिए ! आखिर वो किनके लिए हैं.... वो राजधानी नखलऊ में आपकी तरफ़ से लड़ेंगीं। जब नखलऊ तक हमारी पहुँच है तब यहाँ लड़ने से फायदा ? घायलों को अस्पताल पहुँचाने का इन्त-ज़ाम कीजिए और सब लोग 'श्रीमती जी' के पास मेरे साथ चलिए !'

पाँच सात हड़ताली घायलों को लेकर अस्पताल चले गये, दस बीस वापस लौट गये, बचे खुचे 'सुनते हो जी' के साथ श्रीमतीजी के दरबार में फरियाद लेकर हाज़िर हुए। बाहर तहसीलों से आये हुए भंगी इस तरह के ख़तरे के लिए तैयार न हुए। काम करने से इनकार कर वे वापस अपने-अपने गाँव और बस्तिओं को लौट गये।

लड़ाई अखबारों तक पहुँची। डा० लाल चंद के समाजवादी अख़बार ने पूरे पन्ने की खबर छापी—

हरिजनों द्वारा अधिकारियों के खिलाफ़ जबरदस्त मोर्चा !

साथी लालचंद द्वारा संघर्ष का नेतृत्व !

शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर शर्मनाक हमला !

चश्मदीद संवाददाता द्वारा यह खबर मिली है कि शहर मैनपुरी के हरिजनों ने पिछले चार दिनों से अधिकारियों की ज़्यादतियों के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने के लिए हड़ताल कर रखी थी। आज सुबह हरिजन प्रदर्शनकारी जब शांतिपूर्ण ढंग से फाटक-चुंगी के सामने प्रदर्शन कर रहे थे तो एकाएक किराये पर बुलाये गये गुण्डों द्वारा उन पर हमला किया गया। इस साजिश के पीछे चुंगी अधिकारियों का भरपूर हाथ बताया जाता है। सात प्रदर्शनकारी घायल हुए, जिनमें से दो की हालत ख़राब है। सरकारी गुलाम, बीबी की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले गीतानंद ने चुंगी के भीतर से निकल कर हरिजन भाइयों पर कायरतापूर्ण हमला किया। उनके डंडे से साथी लालचंद बुरी तरह के घायल हुए हैं। इन सब घटनाओं के बाद भी हड़तालियों का मोर्चा कमज़ोर पड़ने की बजाय और अधिक मज़बूत हुआ है ! अधिकारियों के दाँत खट्टे हो रहे हैं ! आन्दोलन को जोर-शोर से जालू रखने के लिए साथी लालचन्द ज़िले के तूफानी दौरे पर निकल पड़े हैं। ऐसी गुण्डागर्दी को रोकने के लिए क्या ज़िला अधिकारी ध्यान देंगे ?

गुण्डागर्दी मुर्दाबाद ! हड़ताली भाई ज़िन्दाबाद ! हरिजन एकता जिन्दाबाद !

ज़रूरी सूचना : न्यायपूर्ण माँगों के लिए चलने वाले हरिजनों के इस आन्दोलन के लिए मेहनतकश जनता से अपील है कि ज़्यादा से ज़्यादा चन्दा देकर इसे सफल बनायें !

अपने सीने पर यह भयंकर खबर और पीठ पर सरकारी सम्मनों का बोझ लादे एक पेजी 'तूफ़ान' अखबार धूमधाम से निकला ! बीचोबीच अखबार में साथी लालचन्द द्वारा आन्दोलन का नेतृत्व' वाला फोटो धड़ल्ले से छपा था। जिसमें नेता और जनता सीधे काजल की कोठरी से निकल कर आये हुए जान पड़ते थे।

'सुनते हो जी' के काँग्रेसी अख़बार ने ऐलान किया—

शहर के बीचोबीच हिंसा का नंग-नाच !

लाल टोपी वालों ने हरिजन भाइयों को गुमराह किया !

लाल टोपी की नयी चाल !

विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि आज चुंगी दफ्तर के सामने लाल टोपी वालों ने थोड़ से असन्तुष्ट हरिजनों को भड़का कर अपना उल्लू सीधा करने के लिए दो दलों में झगड़ा करा दिया। धीरज और साहस के प्रतीक श्री गीतानंद जी ने उस मारपीट के बीच निहत्थे कूद कर शान्ति स्थापित की। कल एक आवश्यक मीटिंग के सिलसिले में जब कि उन्हें लखनऊ जाना था, वे लाल टोपी वालों के हिंसापूर्ण आक्रमण से घायल होकर बिस्तर के बन्दी हैं। परन्तु निहत्थे गीतानंद जी ने खादी भण्डार के कुछ स्वयंसेवकों के साथ स्थित पर काबू प्राप्त कर लिया और एक भयंकर हत्याकाण्ड को रोकने में समर्थ हुए। लाल टोपी वाले हुल्लड़बाज़ कांग्रेस मुर्दाबाद ! पंडित नेहरू मुर्दाबाद ! के नारे लगाते हुए वापस चले गये। खादी भण्डार पर लगे कांग्रेस के झण्डे को गुण्डों ने फाड़ फेंका। प्रसिद्ध हरिजन नेत्री श्रीमती सुमुखी गीतानंद ने पूरा मामला अपने हाथों में ले लिया है।

कांग्रेस ज़िन्दाबाद ! पंडित नेहरू जिन्दाबाद ! सत्य अहिंसा जिन्दाबाद !

ख़बर का मैटर ज़रा कम हो गया इसलिए स्थानीय कवि सम्राट निर्मोहीजी की एक कविता भी चौखटे में फिट कर दी गयी, प्रथम पंक्ति थी—भूल मुझे मत जाना रानी। पीछे राष्ट्रीय बचत योजना का फुलपेजी विज्ञापन, और इसके बाद 'पंचायत राज' अख़बार समाप्त।

....शिवराज पिछले कई महीनों से बहुत भावुक होता जा रहा था। हेम की शादी तै हो गयी थी। उसे लगता था जैसे वह एक अत्याचारी समाज के बीच आ गया है। उम्र अभी अट्ठारह की होगी, पर न जीवन का उछाह न उदण्डता। रह-रह कर अनजान चेहरों की याद सताया करती—मन करता, किसी स्वप्नलोक में उड़ जाय, ऐसा लोक जहाँ कोई न हो—वह हो और

उसकी कल्पना। या फिर रेगिस्तान में तड़प-तड़प कर प्यासों मर जाय। वह कुछ पाना चाहता था, क्या ? इसे वह खुद नहीं जानता। अकेले वीराने में घूमने को उसकी आदत पड़ती जा रही थी....न जाने क्यों उसे यह विचार हर समय कुरेदता रहता कि हेम उससे बिछुड़ जायगी, और उस दिन की कल्पना में वह डूब जाता जब हेम की डोली सजेगी....भीड़-भाड़, बराती.... खुशियाँ और रौनक के बीच वह अकेला होगा।

हेम का विवाह हो रहा है, उसकी गली में शामियाना लगा है। सम्बन्धियों की भीड़-भाड़ और बरातियों का आदर-सत्कार। उसकी दुनिया वीरान हो रही है, चारों ओर अँधेरा है, ऊबड़-खाबड़ धरती चारों ओर फैली पड़ी है। अब कैसे जियेगा ? विदा का समय आता है, मिलने की कितनी छटपटाहट है पर वह मजबूर है—हेम भी मजबूर है। दूर कहीं बजते ग्रामोफोन से गीत का स्वर आ रहा है—'जब तुम्हीं चले परदेस लगाकर ठेस ओ प्रीतम प्यारा !' उसकी आँखे भर-भर आती हैं....वह ज़हर खाने की कोशिश करता है पर लोग उसे जबरदस्ती बचा लेते हैं। जिस राह से डोली जा रही है शिवराज उस राह पर फटी-फटी आँखें लिये खड़ा है, उसका संसार उजड़ चुका है—हेम की एक झलक, अन्तिम झलक ! अब वह कभी नहीं देख पायेगा हेम को। परायी हेम ! उसका पैजामा फट गया है, पैर धूल से भरे हैं और रूखे-रूखे बाल हवा में उड़ रहे हैं....डोली का पर्दा हटाकर हेम झाँकती है ! काश एक-बार देख लेती....वह अनजान-सा बनकर दृष्टि सीमा के बीच आजाता है.... एक नज़र मिलती है और आँसुओं के पारावार में आँखें डूब जाती हैं। हेम के हाथ में एक पर्चा फड़फड़ा रहा है, पर वह फेंक नहीं पाती....अन्तिम मिलन ....और हेम सदा-सदा के लिए परायी होकर चली जाती है। अब तुम्हारी सुधि को प्यार करूँगा रानी ! सुधि तो नहीं छीन सकता यह क्रूर समाज....और वह रात-रात भर रो-रोकर एक गीत की पंक्तियाँ जोड़ता रहता है, बार-बार वही ग्रामोफोन का गीत उसकी स्मृति में आकर उलझता है और उसके भग्न हृदय से पुकार फूटती है—'तू मेरा दुख जान न सकती !

सम्भव सुख के अश्रु समझ ले।
मगर समझ दुख गान न सकती !'

रात भर वह सो नहीं पाया और हेम के विवाह की काल्पनिक बातें उसे कचोटती रहीं, पर कविता बन गयी थी। आज वह समझ पाया था कि कविता के लिए विरह की क्या महत्ता थी ! कविता जेब में डाले वह सुबह से इधर-उधर घूमता रहा, मन में ख्याल आया निर्मोही जी को दिखायी जाय, उनके प्रति हृदय में एक अनोखा संकोच-सा था, कुछ झिझक और सम्मानपूर्ण भय। कैसे दिखायेगा, उन पर क्या प्रतिक्रिया होगी ! पर वह पहुँच ही गया।

निर्मोही जी रसिक थे, कलक्टरी कचहरी में वकालत करते थे, फौजदारी का वकील कहते थे अपने को। मझौला क़द, छिपकली की तरह मुँह जिसमें मैनपुरी की तम्बाकू भरी रहती थी। आँखों पर लायब्रेरी फ्रेम का चश्मा और गंजा चाँद। 'सुना है कि उनके कमर ही नहीं है' की तरह उनके गर्दन नहीं थी। खद्दर के कुर्ते का गले वाला बटन ठीक ठोड़ी के नीचे बंद होता था। देव और रत्नाकर के भक्त और आधुनिकतम कवियों में हरिऔध के प्रशसंक! कविता मात्राओं से जाँचते थे और वह भी लाल पेन्सिल से। कविता पर एक नज़र डाल कर बोले, 'सस्वर सुनाओ मित्र!'

आज्ञापालन करके जब शिवराज उनके मुँह की तरफ़ ताकने लगा तो उसने जो मंज़र देखा—देखता ही रह गया, निर्वाक! निर्मोही जी की आँखों से पिघले मोम की तरह आँसू ढुरक रहे थे और वे निर्वाक् शून्य की तरफ़ निहार रहे थे ...शिवराज उनकी संवेदनशीलता पर गद्गद् हो आया।

अपने को सँभालते हुए निर्मोही जी बोले, 'बड़ा दर्द है तुम्हारे गले में, आवाज़....ऐसी आवाज़ सुनी ही नहीं....'

शिवराज का हृदय फूल आया था, कुछ भी बोल नहीं पाया। निर्मोही-जी ने कहा, 'अगले हफ्ते एक कवि सम्मेलन है, उसमें मेरे साथ चलना.... पर एक उपनाम रखलो मित्र!'

'आप ही बताइए!' शिवराज ने आदर से कहा।

कुछ सोच कर बोले—'सिन्दूर रखलो, शिवराज 'सिन्दूर! बड़ा पवित्र शब्द है और समास भी बन ही जाता है। यह गीत मुझे देते जाओ, मैं ठीक कर दूँगा।'

गीत शिवराज को जबानी रट गया था, इसलिए लिखा हुआ उन्हें सौंप-कर एक अजीब-से खुमार में लौट आया और घर आते ही खाट पर पड़कर घंटों रोता रहा। और कोई चारा भी नहीं था। बड़ा भरा हुआ दिल लेकर हेम को पत्र लिखने बैठ गया—

हृदय की रानी हेम!

निठुर नियति के हाथों बार-बार प्रताड़ित होने पर भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ता....सुना तुम्हारा विवाह तै हो गया है....यह दैव-दुर्विपात ही है मेरी रानी! मेरे आँसू नहीं थमते। मेरे हृदय को तुमने कभी समझा ही नहीं, जो तृप्त होते हुए अतृप्त था, उसमें शायद अब भी पिपासा है जो आमरण शान्त न हो सकेगी....तुमने तो आशाओं पर निराशा की काली चादर डाल दी! तुम्हें भी किसी शलभ को अपने जीवन-दीप की आँच से जलाने की खूब सूझी और सफल भी हुईं, अतएव उस शलभ को बधाई स्वीकार करो। एक प्रार्थना है, भूलना मत उस शलभ को, जिसने अपने अरमानों की चिता में आग लगा दी....

महरूमे तरब है दिले दिलगीर अभी तक,
बाकी है तेरे इश्क की तासीर अभी तक !

और मेरी रानी, ये मेरी कविता लो....टूटे हुए दिल की पुकार सुन पाओ तो सुनना— तू मेरा दुख जान न सकती !

सम्भव सुख के अश्रु समझ ले,
मगर समझ दुख गान न सकती ! तू....
इस जीवन की और न आशा
लौट रहा प्यासा का प्यासा
करा मुझे विषपान जो सकती ! तू....

अभागा—शिवराज

एक बात रह गयी मेरी रानी—निर्मोही जो मेरी यह कविता सुन कर रो पड़े, अगर तुम्हारी आँख में भी एक आँसू आ गया तो मैं अपनी यह साधना सफल मानूँगा। मैंने उपनाम सिन्दूर रखा है अपना—वही सिन्दूर रानी, जो तुम्हें मुझसे विलग कर देगा....हमेशा-हमेशा के लिए ! और मैं उसकी याद में जीवन भर कविता के आँसू बहाता रहूँगा ! हाय ये कठोर नियति और क्रूर समाज !

—तुम्हारा अभागा शिवराज

पत्र को जेब में डालकर शिवराज सीधा बाजामास्टर के पास पहुँचा। बाजामास्टर कुछ लोगों के साथ बैठे अपने भावी कार्यक्रम के बारे में बातें कर रहे थे, नाटक होके रहेगा। पर चंदा कैसे जमा होगा, स्टेज कैसे बनेगा और सारा इन्तज़ाम कैसे किया जाय। बात करते समय उनका चेहरा एक बारगी चमक कर बुझ जाता....। शिवराज उदास-सा उनके पास बैठ गया। रुक-रुक कर अपनी बातें सुनाता रहा तो बाजामास्टर ने सुझाया—'चलो कार्निवाल की तरफ़ चलें, कुछ मन बहल जायगा, मेरा मन भी बहुत ऊबता है....,

शहर में कार्नीवाल को आये दो-तीन दिन हुए थे। एक तरफ़ सरकस था, एक तरफ़ जुए का अड्डा और एक तरफ़ ज़िन्दा नाच-गाना। न जाने क्यों जब से शिवराज का प्रेम टूटा था, वह अपने को आदमी समझने लग गया था—एक बेपरवाह भूला-भूला-सा बिगड़ा हुआ आदमी....बड़ी खुली आवाज़ में, निःसंकोच भाव से बाजामास्टर से बोला—'चलो एकाध दाँव आज़माया जाय, जीत गये तो नाच देखेंगे....'

'एक नाचने वाली से मेरी जान-पहचान है, मिलोगे उससे !' बाजामास्टर ने पूछा।

'किसी से भी मिलवा दो मास्टर, ग़म भूल जाऊँ....बस !' बड़े टूटे हुए दिल से शिवराज ने कहा और वे दोनों नम्बर लगाने के लिए जुए की मेज़ों

की ओर बढ़ गये....

एक नयी दुनिया का नक्शा उसके सामने खुल गया....वह भरमाया-भूला देखता रह गया....सरनाम का चला जाना जैसे उसके लिए वरदान बन गया....वह मुक्त था, निर्बंध।

बंसिरी बेहद परेशान थी इधर, शिवराज भी कई दिनों से नहीं आया। सरनाम भी अड्डे पर नहीं दिखायी दिया, न जाने कैसी बात थी—जब वह आँखों के सामने होता, उसका होना अनुभव में होता तो प्रतिहिंसा धधकती रहती और आँख ओट होते ही व्याकुलता भरी छटपटाहट कुरेदने लगती। न उसका जीना सह पाती थी न मरना। जब-जब वह इस तरह ओझल होता तो उस एकाकी व्यक्ति की एकांतिक व्यथा और दुखों की गोपनीयता दिल में कसक-कसक जाती....चंचल सम्मोहन-सा रबर की तरह खींचता और उसके आते ही जब वह रबर एकाएक छूट कर चपेट मार जाती तो मन बौखला उठता—न जाने वह कहाँ होगा—किसी बीहड़ जंगल में....काली नदी या चम्बल के भीटों में....किसी अस्पताल में या न जाने शायद....किसी बंजर-वीरान ऊसर में उसका निर्जीव शरीर....जीभ दाँतों से कट जाती है....'हे देवी! उसकी कुशल तेरे हाथ है माई! उसने किसी का क्या बिगाड़ा है, खुद बिगड़ गया है माई! दया करना....उसे क्षमा करना, सब पापों का बदला इस तन से ले ले दयावती!' मुँदी आँखों से आँसू झरने लगते हैं। किसके लिए जिए वह! परछाईं का ही सहारा है मेरे भगवान! उसकी कुशलता की ओट यह बिरवा पनपा है! रंगीले पर आया हुआ सारा गुस्सा खतम हो जाता है, मन करता, उसे ही मन से चाह ले, यह उसके पास उठते-बैठते हैं, उसकी बातें करते हैं....कितने भाग्यवान हैं ये कि उसका दुख-सुख जानने के भागीदार हैं....सचमुच किसी के दुखों का भागीदार बन सकने में कितनी तृप्ति मिलती है! जब आदमी आदमी की पीड़ाओं को एकाकार होकर सुनता और अनुभव करता है तो न जाने किन ऊँचाइयों पर पहुँच कर सुनहली भावनाओं से भर जाता है....व्यथा न जाने कितने रंगों में फूट-फूट कर सम्मोहित कर लेती है....व्यथा का सन्तोष सार्थकता दे जाता है और जीवन की उपयोगिता उजागर होकर दिग-दिगन्त में व्याप्त हो जाती है! किसी व्यथित-पीड़ित के अन्तरवासी रहस्यों को जानकर अपने अस्तित्व का गौरव जागता है! वह सन्तोष, वह सम्मोहन और उस गौरव का भोक्ता कोई बन पाये, तब न! उसने तो अपने से ऐसा काट दिया कि जुड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता, और जिससे जोड़ा—वह....

वह इमली वाले चौराहे पर चरही बनवाने में शगूल था....'ये जानवर भटकते फिरते हैं....इन्हें प्यास नहीं लगती क्या?' लदे हुए गदहों की पीठ से ईंटे उतरवाते हुए रंगीले कह रहा है—'अब से गोपाष्टमी पर कंस के मैदान

में जानवरों का मेला लगेगा....बिरजभूम की गइयाँ मैला खाती फिरती हैं, खत्ताखानों में मुँह डालती फिरती हैं....'

'चुंगी की जमीन है, पूछ-पाछ भी लिया है !' खिन्नी के पेड़ के नीचे हाल कूटते हुए लुहार ने जानना चाहा।

'ये जो कांगरेस का झण्डा बीच चौराहे पर चौतरा बनाकर गाड़ा गया है इसके लिए भी किसी ने पूछा था !' रंगीले जानता था कि चतुरीलुहार कांगरेस वालों के साथ उठता-बैठता है, चुनाव के जमाने में दो बैल वाला बिल्ला लगा कर दौड़-धूप कर रहा था।

'वो तो देस का झण्डा है, देस का काम करने वाले नेता लोगों ने गड़वाया है....'

'तो ये भी देस का काम है ! जानवर मर जायेंगे तो आदमी भी नहीं बचेंगे ! गऊमाता के सींघ पर पिरिथवी सधी है इसको तुम्हारे नेता लोग भूल गये हैं....' रंगीले ने रौब से व्यंग्य करते हुए कहा।

मठिया की मूर्ति के पास बैठे बाबाजी ने चरस की लपट उठाते हुए साथ दिया—'ज्ञान की बात है बचा ! लेउ रंगीले बच्चा, दम मार के काम करो.... अहा हा....लपट उठी है कि मशाल जगी है....'

गदहों की पीठ पर लदी ईंटों का चट्टा लगता रहा, एक दम मारकर रंगीले ने चतुरीलुहार को सुनाया—'पच्छी-जनावर के लिए मन से प्यार-सनेह उठ गया इसीलिए आफ़त टूट पड़ी ! रामजी ने जटाऊ को गले से लगाया था....शहर भर में घोड़ा-बैल को पानी नसीब नहीं होता ! यहाँ इमली की छाँह में सुस्तायेंगे और पानी पियेंगे....चुंगी क्या करेगी, हम कोई अपना घर बनवा रहे हैं या छाती पर ज़मीन धर कर ले जा रहे हैं !'

कांग्रेसियों के साथ उठने-बैठने से चतुरी पैराए से बात करना सीख गया था—'इतना दया-धरम अहिंसा की बात है, और जब आदमी अहिंसा करेगा तब उसे डरना नहीं चाहिए ! और आदमी डरेगा नहीं तो जीतेगा....और जीत तुम्हारी नहीं सत्त की होगी !' चतुरी लुहार ने कस्बे के कांग्रेसी नेताओं का लहजा कुछ ऐसा पकड़ा था कि अहिंसा, डर, जीत और सत्त उसकी हर बात में दखल जमा लेते थे और जुबान एक बात दूसरे से ऐसे जोड़ती जाती थी कि लगता था, दर्शन समझा रहा है ! पर मन ही मन वह इस ताड़ में था कि कैसे वह चुंगी वालों तक इसकी खबर पहुँचा दे, क्योंकि यही ज़मीन वह अपने साले के रोज़गार के लिए प्राप्त नहीं कर पाया था। मिस्त्री साहब के आते ही बात-चीत का सिलसिला टूट गया।

बेचू मिस्त्री पाँचों तहसीलों में मशहूर हैं—कानून से लड़ना जानते हैं—यही खास पेशा है। लड़ाई-झगड़े की इमारतें बनवाने और खसाने में इन्हें ही

याद किया जाता है। किसी की ज़मीन दबाना हो, बेचू मिस्त्री रातों-रात चहारदीवारी खड़ी कर देने का दाइया रखते हैं! सरकारी ज़मीन पर कुआँ-मन्दिर, धर्मशाला खड़ी कर देना बायें हाथ का खेल है, विश्वकर्मा के वंशज हैं!

ज़मीन नाप कर चरही बन गयी रातों-रात। सबेरे लोगों ने देखा तो कुछ ने बनवाने वाले को शाबाशी दी, कुछ ने नाक-भौं सिकोड़ी। प्लास्टर अभी गीला था इसलिए रंगीले दिन भर देखभाल के लिए तैनात रहा। और उसके बाद रंगीले के लिए एक काम और बढ़ गया—चरही को भरना ठट्ठा नहीं था! कुएँ से पानी खींचना! पचास कनस्तर पानी पड़ता था, पर कोई दिन ऐसा नहीं गया जब पानी न भरा गया हो। कुएँ की चरखी सबेरे-सबेरे खड़खड़ाती तो जगहर होती—रंगीले चरही भरने आये हैं। लस्त हो जाता वह, बाँहों की नसें फूल आतीं, पेट धौंकनी की तरह चलता पर खड़....खड़....खड़ खड़ खड़र.... खड़र....किसी पुराने भजन की एक पाँत या फिर गाँधी जी का वह प्रिय गीत—'उठ जाग मुसाफिर भोर भयी अब रैन कहाँ जो सोवत है....' बड़ा प्रिय था रंगीले को यह गीत!

चरही भर कर कराए हुए हाथ चिरचिरा उठते और जब वह मठिया पर बैठकर चिलम की दम लगाता तो साँस बैठती! पर उन क्षणों का सन्तोष—जब कचहरी तक की लम्बी दौड़ लगाकर, मुँह से फेन टपकाते घोड़े चरही में मुँह घुसेड़ देते या सड़कों पर घूमती गइयाँ पानी पीकर वहीं सुस्तातीं या मंडी के लिए गाड़ियाँ ढोने वाले बैल हाँफ कर पानी पीते....तो उसकी आँखों में बच्चों की तरह भोलापन उभर आता, मुँह ऐसा खुल जाता कि चेहरे पर सैकड़ों झुर्रियाँ पड़ कर उसकी उमर दूनी कर जातीं!

....दड़े वाले कमीशन एजेन्ट इधर कई दिनों से भग्नामसिंह की पूछ-ताछ कर रहे थे, पर रंगीले क्या उत्तर देता? कैसे बताये कि कहाँ गया है, जब पाँच रोज हो गये तो उसे चिन्ता भी हुई, आखिर हुआ क्या? मोटर मालिक से तो कह गया है—रिश्तेदारी में जा रहा हूँ—तीन दिन बाद वापस आ जाऊँगा! पर अभी तक....कहीं कुछ हो गया तो....और कौन ठिकाना—हिस्सा-बाँट में कहीं आपस में ही....पर सरनाम ऐसा-वैसा नहीं, बाल बाँका नहीं हो सकता उसका! शिवराज का रंग-ढंग भी वह परख रहा था। कार्नीवाल वाली पतुरिया के डेरे में पड़ा रहता है....कल पौडर खरीद रहा था—उसी के लिए खरीदता होगा—छैला हो रहा है! अभी क्या हुआ—जूती गठवायेगा....

बंसिरी कैसे सहन करती यह सब, उसने कहा, 'उसे पकड़ लाओ इधर, मैं समझा दूँगी।'

'मेरे बस का नहीं है वह लड़का! नाच-गाने में जी लगता है उसका!'

'तुम कह देना मैंने बुलाया है। नाच-गाने में जी लगाने का दोष तो तुम्हारे सिंह जी का है ! कौन-सा ऐसा करम है जो बाकी बचा है उनसे ! किसी दिन दड़ा पकड़ गया तो जेल में सड़ेंगे....'

'तुम्हारी तो हर बात निराली होती है, हर दोष सरनामसिंह के सर ! जो कुछ दुनिया में बुरा होता है, सब उसी की करनी है !'

'शिवराज को और किसने बिगाड़ा है ? उसके घर वालों से जुदा कर दिया, आसरम से भगा लाया और उसे मेहरा बना के....'

'तुमसे इससे क्या ? वह करता है तो करे !'

'पर एक की ज़िन्दगी बिगाड़ दे ! कैसा प्यारा लड़का है, पर ढकेल दिया उसे भी कीचड़ में। अभी क्या है, डाकू बनाकर दम लेगा !'

'बंसिरी !' रंगीले ने कुछ क्रोध में कहा।

तभी एकाएक बाहर से आवाज़ सुनायी पड़ी—'रंगी, रंगी !' सरनाम की आवाज़ थी। बंसिरी का पारा एकदम चढ़ गया। कान सतर करके एक-एक बात ग़ौर से सुनती रही और जब रंगीले त्रिपाल के एक टुकड़े में लपेटे हुए हथियार भीतर छुपाने के लिए लाया तो वह बिफर उठी—'ये यहाँ नहीं रखे जायेंगे ! चाहे भगवान उतर आयें पर मैं कहती हूँ इन्हें ले जाओ....नहीं मानोगे तो मैं निकाल कर फेंक दूँगी और सब बता दूँगी....'

रंगीले को बातें चुभ रही थीं, सरनाम बरोठे में खड़ा है, सुन रहा होगा, क्या सोचेगा—औरत भी डाँट कर नहीं रखी जाती ! और वह भी बंसिरी को ऐसा नहीं समझता था। मुसीबत के समय तो उलझेटा नहीं डालना चाहिए इसे। देखती नहीं, मिनट भर में क्या से क्या हो सकता है। रंगीले के आते ही सरनाम बिगड़ पड़ा—'बहुत सर चढ़ा लिया है तुमने इसे, वरना औरत की मजाल है कि इस तरह....'

काली माई का रूप धारण किये बंसिरी सारी शरम-लिहाज छोड़ कर सामने आगयी, सरनाम पर आँख पड़ते ही प्रतिहिंसा की ज्वाला में उसका रोम-रोम झुलस उठा—'डकैती तुम करो, खतरा हम उठायें....'

'धीरे बोल....धीरे !' सरनाम ने हिकारत से कहा, जैसे अभी हुकुमअदूली पर गला ही दाब देगा, उसकी आँखों से चिनगारियाँ फूट रही थीं—'चुप होके बैठ भीतर ! कहीं ब्याहता होती तो अब तक चबा गयी होती....' मुँह में आये हुए कड़ुवे थूक को निगल न पाने के कारण उसने वहीं थूक दिया। रंगीले भौंचक-सा हतबुद्ध की भाँति बस देखता भर रहा !

'थूक तू अपनी करनी पर ! अपने करमों पर चाण्डाल ! डाकू ! लुटेरा !....' न जाने कितनी गालियाँ बंसिरी के मुँह से निकलती चली गयीं और आग बरसाती आँखों से सरनाम ने रंगीले की तरफ़ देखा। एक ही झपाटे में रंगीले

बंसिरी को लेता हुआ भीतर चला गया। सरनाम नाज़ुक वक्त जानकर एकदम बाहर निकल कर अड्डे की तरफ़ चला गया !

गुज़रते हुए चतुरी लुहार ने ठिठक कर एक मिनट तक माजरा समझने की कोशिश की। सरनाम को अंधड़ की तरह जाते हुए देखकर सहम गया, जैराम करने की सुध भी नहीं रही। पर बंसिरी की चीखें सुनने के लिए वह कान लगाये खड़ा ही रहा....जब बातें धीमी पड़ गयीं तो वह अपने मुहल्ले की तरफ़ चला गया।

....कोतवाली में दूसरे दिन डकैती की रपट के साथ-साथ सरनामसिंह फरार हो गया। शिवराज से वह थोड़ी देर के लिए मिल पाया था, कुछ रुपये देकर चला गया था, फिर पता नहीं किधर गया।

शहर में सनसनी थी, और रंगीले का कलेजा भीतर-ही-भीतर काँप रहा था, अब क्या होगा ? सरनाम इतना ही बता पाया था, उसे—'महूरत बिगड़ गया, जिस जगह का तै था वहाँ कुछ भी नहीं हो पाया। भेदिया दग़ा दे गया....उस साले से निबटना है ! पकड़वाने के सारे इन्तज़ाम थे, वह तो कहो किस्मत थी कि ऐन बख्त फरेब सूँघ लिया, नहीं तो दो-एक की जान जाती और बाकी पुलिस की गिरफ्त में आते ! दो दिन ढाक के जंगल में भूखे-प्यासे पड़े रहे। वापसी पर चलते-चलते दूसरी जगह मौका लगा, खर्चा तो निकालना ही था। पाँच सौ पर रायफिल आयी थी और सौ-दो सौ ऊपर—शेर के शिकार में गीदड़ मारना पड़ा ! पर वह भी नहीं मरा साला, चार सौ कुल मिले, वह भी एक की बाँह तोड़कर....हथियार सँभाल कर रखना, मैं आऊँगा, मुकद्दमा चलने दो। वारंट से पकड़ गया तो बड़ी दुर्गत करेगी पुलिस। गिरफ्तारियाँ हो जायँ तो खुद जाकर कोर्ट में हाजिर हो जाऊँगा, फिकिर मत करना....'

....शिवराज इधर एकदम खुद मुख्तार हो गया। बंसिरी के पास भी नहीं आता। बाजामास्टर के साथ नाटक कम्पनी के निर्माण के लिए वहाशियों की तरह घूमता है; रात-रात भर कुप्पी के प्रकाश में उसके साथ बैठकर 'वीर अभिमन्यु' नाटक का मसौदा देखता है, संवाद लिखता है और राधेश्यामी तर्ज में गीत बनाता है! 'मास्टर यह गीत—तुम्हारा हरमुनियम और कमला का गला....इधर युद्ध वेष में जाने को तैयार अभिमन्यु और इधर उत्तरा का यह दर्द भरा गीत !' और तब उसकी आँखों के सामने चित्र उभरता है—वह अभिमन्यु ही तो है और कमला आँखों में आँसू भरे उसे बिदाई दे रही है, जाओ प्राणनाथ ! जाओ....क्षत्राणी का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह योद्धा को आँसू की ज़जीरों में बाँध ले ! और वह चला जाता है, व्यूह भेदने ! सचमुच, कितने व्यूह ! उन्हें वह भेदेगा....अभिमन्यु की तरह, वीर की तरह....उत्तरा की अश्रु पुलकित आँखों का आशीर्वाद लेकर ! बड़ी हसरत थी मन में, एक

बार यह नाटक हो पाता....शायद यही उसके जीवन का पुण्य है—यही वह राह है जिसके लिए वह भटक रहा था। बाजामास्टर की बातें उसे कभी जागृत न कर पायीं, पर कमला ने उस दिन कहा था—'तुम मेरे साथ स्टेज पर उतरो तो मास्टर की कम्पनी में चली आऊँ!'

सोलह बरस की लड़की, पर कैसी बात करती है, जैसे सब देख-समझ चुकी हो! कहती थी—'इस कार्नीवाल में क्या रखा है शिवराज! मैं तार पर नाचने वाली लड़की हूँ। यह पतला-सा तार और हर पल डगमगाते हुए क़दम.... कब-तक साध पाऊँगी अपने को! आखिर एक दिन....एक दिन यही तमाशा करते-करते नीचे आ गिरूँगी! सत्तार को गेंद उछालते देखा है, दस-दस, बीस-बीस गेंदें उछालता है एक साथ! कितना बड़ा जादू है! है न? और वे रंगीन गेंदें! उछलती रहती हैं....मैं तार पर चलती रहती हूँ....'

'ब्याह करके घर बसा लो!' शिवराज ने मज़ाक किया था!

'तुम करोगे?' जैसे एकाएक हवा का झोंका पाकर घुटती हुई साँस क्षण भर के लिए उन्मुक्त हो जाय। पर सहसा उसकी व्यर्थता का बोध करते ही कमला ने हूँ करके बात को मज़ाक का जामा पहना दिया था। पर वह क्षण भर पहले की चमक उसकी आँखों में तैरती रही थी....बाजामास्टर वह चमक देख कर एकाएक घबरा गया था—आँखों की यह दीप्ति! अचरज भरी, उत्कंठा भरी, प्यास भरी, पर कितनी उदास! हसरत की ऐसी चमक....सोलह बरस की अभागी कमला! शोख़ी से झिड़क देने के आँखों के ये दिन! जैसे तिरस्कृत जीवन की खोयी हुई कामना के दिवस माँगते हों! उफ् यह क्षण भर की चमक उसे मार जायेगी, इसे भूल जा कमला....लीला याद आती है! वह भी कामना करती थी, ऐसे ही चमकती थीं उसकी आँखें....अपना खोया हुआ कुछ माँगती थीं! तू न माँग, उस लाचारी की तस्वीर न खींच! नहीं तो कुछ नहीं कर पाऊँगा मैं? तू तार पर चल....तू उत्तरा नहीं उतरन है और तेरा अभिमन्यु....शिवराज! उस चक्रव्यूह में मारा जायगा....यह क्षणिक वरण! यह भावावेश....अभिमन्यु का यह नाटक मैं नहीं होने दूँगा! लीला मुझे क्षमा करना। यह नाटक होते तुम भी नहीं देख पातीं, यह ज्वार न जाने कब उतर जाये; इस ज्वार के बाद कमला के पैर कितने कमज़ोर हो जायेंगे! तार पर चल सकने की शक्ति भी छिन जायगी उससे, तुम तो गवाह हो लीला —कितनी बार तुमने ऐसे सपने देखे थे! तुम्हारी आँखों की चमक और इस कमला की दृष्टि ज्योति!

और शिवराज ने कैसा भयानक सपना देखा था—'मास्टर! ऐसा देखा कि क्या बताऊँ! स्टेज सजा है, भीड़ खचाखच भरी है। वही सीन चल रहा है—अभिमन्यु उत्तरा को वक्ष से चिपकाये समझा रहा है, इस जन्म में नहीं

तो अगले जन्म में प्रिय ! यह जन्म-जन्मान्तर का साथ ...तभी बिजली चटकती है, घड़घड़ाती है, बादल उमड़ते हैं और देखते-देखते तूफ़ान आता है ! भयानक तूफ़ान धरती का कलेजा कँपाता है और आसमान फट पड़ता है.... चीख-पुकार....तूफ़ान और पानी, बादल का समुद्र फट पड़ा हो....सब तहस-नहस हो गया....पर्दे चिथड़े हो गये, बल्लियाँ चरचराकर टूट गयीं और स्टेज के तख़्त उस सैलाब में बह गये !—वहाँ कोई नहीं था । पानी का सैलाब और डूबे हुए जहाज़ की तरह चमकते हुए स्टेज की बल्लियों के मस्तूल ! न तुम, न कमला ।—कण-कण बिखरा हुआ । नष्ट-भ्रष्ट । और मैं बुरी तरह चीख पड़ता हूँ मास्टर ! आँख खुलती है, मेरे रोंगटे इस वक्त भी भभर आये हैं उसे याद करके !'

बाजामास्टर माथा पकड़ कर बैठ गये, 'हम इस ड्रामे को न ही स्टेज करें तो अच्छा है !'

'नाटक कम्पनी नहीं बनाओगे ? और लिखना छोड़ दूँ ? कमला क्या कहेगी, मज़ाक करते थे !'

'मज़ाक समझ लेगी तो बुरा नहीं होगा । तुम पर नशा सवार है शिवराज ! इस नाटक के बाद फिर क्या होगा ?'

'दूसरा खेलेंगे !'

बाजामास्टर के ओंठों पर अनुभव की हँसी फैल गयी, हम तो कहीं-न-कहीं से मार-तोड़ कर खाते-पीते रहेंगे पर कमला क्या करेगी ? कौन-सा आसरा है जो उसका सहारा बनेगा !'

सहारा ! शिवराज की आँखों में कमला का चेहरा घूम जाता है, यही तो उसने पूछा था उस दिन कमला से । बोली थी, 'बेसहारा को इतना ही सहारा काफ़ी है कि कोई सहारे की बात करे और धोखा दे जाय ! हर तिनके से पतवार की उम्मीद होती है शिवराज ! इतना काफ़ी नहीं है कि नाटक कम्पनी का बहाना मिल जाय और तुम छूट जाने वाले तिनके की तरह उम्मीद का झूठा आसरा बन जाओ....' और उसकी आँखों के समुन्दर में भटकती हुई अनगिन कश्तियाँ उसने देखी थीं । अपने रूमाल से उसकी आँखें पोंछ कर वह खुद रो पड़ा था और कमला अपनी छाती में उसका मुँह दबाकर बालों को चूमती रही थी—'मैं कहीं नहीं जाऊँगा कमला ! जहाँ तुम रहोगी वहीं साथ रहूँगा, ऐसे ही जीवन भर....'

'मैं उससे शादी कर लूँगा !' शिवराज ने कहा, 'मैं भूखा मरूँगा तो वह भी मरेगी, मैं जिऊँगा तो उसे भी जिलाऊँगा ! यह मैंने सोच लिया है मास्टर !'

'सच !' बाजामास्टर ने पूरी आँखें खोल कर कहा । शिवराज की नज़रों

में निश्चय था और बाजामास्टर क्षण भर के लिए चुप रह गया था, फिर बोला था, 'अब लीला सुख से मर पायेगी शिवराज! आज उसकी आत्मा मुक्त हो गयी! अब तूफ़ान नहीं आयेगा शिवराज....'

पर तूफ़ान आया....

शिवराज बड़ी लगन से काम में जुट गया था। बाजामास्टर स्टेज की सजावट का सामान इकट्ठा कर रहे थे—बाँस-बल्लियाँ, रोग़न, धनुष, तूणीर, कवच! इसी बीच वे पर्दों और पोशाकों के लिए इटावा की एक कम्पनी के पास भी हो आये, जो धार्मिक नाटक खेलने में मशहूर थी। पहली बार माँग-जाँच के काम चला लिया जाय, फिर आमदनी से अपनी कम्पनी के पर्दे-पोशाकें बनवा ली जायँगी। नाम रखा गया 'लीला नाटक कम्पनी' जिसका कपड़े वाला साइनबोर्ड बनवाने के लिए मास्टर आगरा गये थे। नीले रंग का साइनबोर्ड—लीला को पसन्द था नीला रंग, नील समुद्र, नीलाकाश, नीलपंखी मयूर....जैसे वह कोई मंदिर बनवा रहा हो—ऐसी अगाध श्रद्धा! पर कमला कैसे आयेगी रिहर्सल में? रात भर कार्नीवाल में, दिन भर निकलने, पब्लिक से मिलने की छुट्टी भी नहीं। बड़ा खूँख्वार आदमी था मैनेजर, मेढक की तरह निकली-निकली आँखें और छिली हुई खूबानी की तरह डोरेदार पीत-लालिमा लिए नशे में डूबी पुतलियाँ! कमला तो सहम जाती है, उन्हें देखकर।

पर शिवराज जैसे तूफ़ान में बहा जा रहा हो। दिन-रात उसी के तम्बू में पड़ा रहता। अभी तक उसे किसी ने टोका नहीं था। वहीं बैठकर नाटक का मसौदा देखने में मन लगता, जैसे कमला के होने का आभास भर सारी बातों को निश्चयात्मक रूप देने में सहायक होता हो। ख़र्चा जोड़ता, हिसाब लगाता और जब कमला रात स्टेज पर मिले इनाम के रुपये उसके सामने रख देती तो उसका हृदय भर-भर आता—'तन-मन-धन। सब दे डालेगी कमला इसके लिए! इन्हें अपने पास रखा कर!' प्यार से वह कहता और कमला सोचती—कल और ज़्यादा कमायेगी....शिवराज चाहता, मना कर दे। ये ले लेगा तो वह और इनाम पाने के लिए उन मधुर चितवनों को बाँट देगी जो वह अपने लिए सँजोना चाहता है। घूँसा-सा लगता है छाती पर, परन्तु कितनी जल्दी वह इस घेरे से निकाल ले जाय इसे। पर कह कुछ भी नहीं पाता, वह किसलिए कर रही है? मलिनता तो मन में नहीं, चाहती है कुछ वह भी कर सके। बाजामास्टर को दौड़ते-धूपते देखती है तो सहा नहीं जाता उससे—'एक वक्त का खाना छोड़कर कितने पैसे बचा पायेंगे मास्टरजी!' वह उन्हें मास्टरजी ही तो कहती। 'उनसे कहो, तन का ख़याल रखें, स्टेज पर हँसी करवानी है क्या? छाती दरक जाती है जब पब्लिक तक आवाज़

पहुँचानी पड़ती है। ऐसे कमज़ोर हो जायेंगे। मैंने उन्हें रोते देखा उस दिन, क्या बात है....?'

शिवराज बात टाल जाता है! उसे एक ही बात सालती है—कमला कैसे बाहर आयेगी इस कार्नीवाल से। कमला को भी दिन में मैनेजर कई बार बुलाता है। कुछ....कुछ कहता-सुनता तो नहीं? पर वह हमेशा कोई छोटी-सी बात बताकर उसे शान्त कर देती है। अपनी मजबूरी छिपाती तो नहीं! उसका मन कड़वा हो आता है! यह कार्नीवाल....जुए का अड्डा! जब भी मौक़ा मिलता, लोगों को भड़काता—'शहर के लोगों को जुआरी बनाने का तरीक़ा है! वैसे भी ज़िले में जरायमपेशा लोगों की कमी नहीं है, इससे और क्या होगा! लोग आयेंगे, हारेंगे, फिर चोरियाँ करेंगे!....मारपीट-दंगा मचायेंगे....'

'मन भी बहलाते हैं लोगों का! कुछ आमदनी भी कर लेते हैं!' निर्मोहीजी के पास बैठे हुए सज्जन बोले थे।

'मन-बहलायेंगे या आदमियों की रुचि खराब कर जायेंगे। कितना बुरा असर पड़ता है इस सबका....' शिवराज चालाक हो गया है, अपनी बात के लिए ज़मीन बनाता है—'ऐसी चीज़ें हों जो जनता का मनोरंजन भी करें और उन्हें कुछ सिखायें भी! मान लीजिए नाटक कम्पनी ही हो, जो अच्छे-अच्छे खेल खेलें! साहित्यिक लोग लिखें और उनके नाटकों को स्टेज किया जाय!' बात निर्मोही जी को मारती है। पर लोग उसे अभी छोटा समझते हैं इसलिए उसकी बात पर ध्यान नहीं देते! वह जाकर राजनीतिक पार्टियों के दफ्तर में बैठता है, मौक़ा मिलने पर अपनी बात कहता है! भूदानियों के कमरे में बैठकर 'भाइयों' से बात करता है। पर वे सब पार्टियाँ बड़े-बड़े मसलों में फँसी हैं, कोई ध्यान नहीं देता....पर एक बवंडर उठता है। मुहल्ला हितकारी संघ बनता है, वह कार्नीवाल के खिलाफ़ आवाज़ उठाता है—'शरीफ़ों के मुहल्ले के आस-पास आधीरात तक जुआरी-बदमाश मँडराते हैं, हम लोगों के घरों की सुरक्षा खतरे में है! चुंगी को यह जमीन ऐसे कामों के लिए उठाने का कोई हक़ नहीं....' दो-चार बुज़ुर्ग कायस्थ लोग इधर-उधर न्याय के लिए दरवाज़े भड़भड़ाते हैं, चुंगी दफ्तर में शिकायत पेश हुई पर चुंगी में ब्राह्मण सदस्यों का बोलबाला था, सब कान में तेल डाले पड़े रहे—'लाला लोगों का दिमाग़ खुराफ़ाती है! अब यह पचड़ा खड़ा कर दिया। किसके घर आँड़ा फूट गया? वारदातों की तफ़सील पेश करें तब सुनवायी होगी!' घटना तो कोई नहीं, तफ़सील क्या दें? पर कल कुछ हो गया तो कौन जिम्मेदार है! आखिर कलक्टर साहब के दरबार में अरदास पहुँची। शिवराज हाथ बँटा रहा है, अर्जी टाइप कराके स्टैनो बाबू को दे आया था—'इस पर कुछ होना चाहिए बाबू-

ज ! कायस्थ-ब्राह्मणों की बहू-बेटियाँ एक सी हैं।' बड़ी दौड़-धूप की उसने, मुहल्ला संघ के कार्यकर्त्ताओं ने धरना दिया कलक्टरी-कचहरी पर ! शहर में बात फैल गयी।

रंगीले ने आकर बंसिरी को बताया, 'मैं तो समझता था शिवराज कार्नीवाल वाले जुआरियों के फेर में पड़ गया, वह तो कार्नीवाल उखड़वाने के लिए इधर-उधर दौड़ रहा है ! तुम कहती थीं सरनाम उसे बिगाड़ रहा....'

'उसका नाम मत लिया करो मेरे सामने !' बंसिरी बोली तो रंगीले चुप हो गया। पिछले कुछ दिनों से जादू कर लिया है बंसिरी ने उस पर। जब से उसे पता चला है कि ख़ुशी होने वाली है... काश ! आज अम्मा होती, वह सुनती तो न जाने कितने काम-धाम अभी तक शुरू हो जाते। कितना कहती थी—'इस तरह घूमना-घामना छोड़ दे रंगी, इसीलिए कोई लड़की वाला नहीं आता। मेरे सामने अगर तेरी शादी न हो पायी तो फिर कभी नहीं कर पायेगा तू, ये कलख मेरे साथ चली जायगी। अपने चाल-चलन ठीक करले बेटा !' आसरा बाँधे उन आँखों की पलकें यों ही झप गयी थीं। आज अम्मा जानती कि लोचनपाण्डे का वंश चल रहा है....अम्मा ! तेरे घर में एक देवी आ गयी है, रूखा-सूखा खाकर तेरी तरह सन्तुष्ट रहती है। तू ने मेरे ब्याह के लिए चाँदी का छत्तर बोला था, वह तो नहीं चढ़ा पाया पर तेरी बहू जायेगी अब देवी को जोड़ा पहनाने, तुलसी को सुहाग देगी—'हे तुलसी महरानी ! मेरे सुहाग की तू ही देने वाली है, यह वस्त्र महरानी....यह कड़ा-झाँझें, लच्छे और मुँदरी....और ये सुहाग सिन्दूर माई ! सब तुम्हारा है महरानी !'

'क्या सोच रहे हो, नाराज हो गये मेरी बात से !' बंसिरी ने उसे टोका। रंगीले मुस्करा दिया, एक और सुनी हुई ख़बर उसने बंसिरी को दी—'सुना है सरकार सब मोटर-बसों को अपने कब्जे में ले रही है। सरकारी देख-रेख में इन अड्डों से बसें चलेंगी। डराइवर-कलीनर सब सरकारी आयेंगे, पता नहीं इन डिराइवरों का क्या होगा ?'

'मैं तो कहती हूँ हो जाय, कल होता हो सो आज हो जाय ! कम से कम सिंहजी से तो तुम्हारा पिण्ड कटे। नौकरी नहीं रहेगी तो झकमार के जायेंगे कहीं... ये गुल-गपाड़ा तो बन्द होगा, यहाँ अड्डे का !....' और उसकी आँखों के सामने एक चित्र उभर आता है—

अड्डा वीरान पड़ा है....दूर तक जाती निर्जन सड़क, जिसे पेड़ों की परछाइयों ने काला रंग रखा है। शाम का धुँधलका छा गया है, ऐसे में यह दूर अन्तरिक्ष तक जाती हुई धुएँ की लकीर-सी सड़क कितनी उदास लगती है ! एक छाया उस अनन्त सड़क पर अकेली चली जा रही है। पेड़ों की काली परछाइयाँ उसे देर-देर तक अपने में छुपाये रहती हैं। फिर कहीं खुले में वह

छाया दीख जाती है—जैसे अथाह जल में डूबता-उतराता कोई लकड़ी का टुकड़ा ! आसमान चुप है, उसके जाते पैरों की आहट तक नहीं आती, जैसे निस्तब्ध गगन में उड़ता कोई अकेला पंछी....निःस्वन-निरपेक्ष ! सहसा छाया ठिठकती है और जैसे हारकर कोई वस्तु बड़ी पीड़ा से फेंककर आगे बढ़ जाती है। एक स्वर उभरता है, शायद गगन के पंछी का स्वर फूटा था, संगीतमय स्वर....पर यह क्या? यह तो बैंजो पड़ा है, जिसके तार टूटने के बाद भी थरथरा रहे हैं....यह स्वर किसका था ? उन्हीं टूटे तारों का ? संगीत की यह अन्तिम चीत्कारें बोझिल, उदास—अवसाद भरी....क्या वह सचमुच चला जायेगा ? वह छाया चली गयी ? अब कभी वापस नहीं आयेगी ! और ये घुँघराले बालों की तरह लिपटे हुए टूटे तार....

रँगीले तीसरी खबर देता है—'सरनामसिंह वाली डकैती के चार लोग गिरफ्तार हो गये हैं, बड़ी मार पड़ रही है। कबुलवाने के लिए सुना है, जोड़-जोड़ तोड़ दिया है पर सुराग नहीं देते। बज्जर हैं ससुरे ! यह डकैती चलेगी ज़रूर। बर्र के छत्ते में हाथ डाल दिया ! बड़ा मुकद्मेबाज आदमी है जिसके यहाँ मोर्चा लिया था इन लोगों ने !' फिर कुछ डरते हुए कि कहीं बंसिरी भभक न पड़े, उसने बताया था—'सरनामसिंह की पूछ-ताछ के लिए दीवान जी आये थे हमारे पास ! शिवराज को भी कोतवाली जाना पड़ा। अब हम क्या बतायें सरनाम कहाँ है ?' कहकर उसने बंसिरी का मुँह देखा।

बंसिरी चुप थी, एकदम चुप ! न जाने उसकी आँखों में कैसी व्यथा बादलों की तरह घुमड़ रही थी। रंगीले ने बात बदली, चौथी खबर सुनायी—'परसों, एक रोज के लिए बाहर जाना है, फर्रुखाबाद जजी में पेशी है। दोनों तरफ़ का किराया और पचास रुपया नज़राना !' रंगीले गवाही देने के लिए तय की गयी रक़म को नज़राना ही कहता था !

'जाना ज़रूरी है ?' बंसिरी ने पूछा, 'काहे का मुकद्मा है !'

'अब यह पता नहीं, ये तो वकील साहब बतायेंगे और गवाही रटायेंगे। वैसे शायद मिल्कियत का कोई झगड़ा है !'

'लेकिन तुम्हारी गवाही का क्या असर पड़ेगा, तुम्हारा ज़िला दूसरा है और फिर यहाँ की बात भी नहीं !' उसने यों ही पूछ लिया।

'जिस गाँव का झगड़ा है, उसमें चौदह-पन्द्रह बरस पहले मैं रहता था, वहीं के एक खान्दान का घरेलू झगड़ा वग़ैर हुआ होगा ! अब तुम नहीं समझोगी यह सब !'

बंसिरी ने हुँकारी भरी। रंगीले ने आगे सुनाया—'आज और लोग भी पकड़ के आ गये होंगे, मुकद्मा चालू होते ही वह भी खुद इजलास में पेश हो जायेगा !'

'कौन !' बंसिरी ने पूछा, रंगीले ने बताया—'सरनाम शायद कल-परसों तक वापस आ जाय। एकाध दिन लुगा लुगाया रहेगा, फिर पेश हो जायेगा !' बंसिरी का दिल अदेखी आशंका से धड़क उठा....

तीसरे दिन वह अकेली रह गयी। रंगीले गवाही देने के लिए चला गया। रोज ऐसी ही शाम उतरती थी, ऊँची-ऊँची इमलियाँ आसमानी साड़ी में सुरमई किनारी की तरह टँक जाती थीं, पर आज शिवराज आया था—सरनाम ने भेजा था उसे, रंगीले को बुला लाये, ज़रूरी काम है। बड़ी देर बैठा रहा, वह तो चौंक गयी थी शिवराज को देख कर ! महीने भर पहले देखा हुआ उसका मुख....और आज का मुख ! जैसे किसी प्रगाढ़ विश्वासमय प्रेम की उद्दीप्त छाया पड़ गयी हो उस पर, पीलाई अनोखे साँवलेपन में बदल गयी थी। भवें घनी हो गयी थीं और आँखों में निश्छल मंथरता समा गयी थी ! बहुत बातें करता रहा—'कार्नीवाल को महीने भर का नोटिस मिल गया है.... डेरा-डम्बर उखड़ जायेगा ! गरीब लोगों को चूस डाला कमबख्तों ने !'

'सुना, बड़ा दौड़-धूप की थी तुमने भी ...'

'करनी पड़ती है, मुहल्ले वालों का साथ देना ज़रूरी होता है, सरकस और नाच गाना तो नाम के लिए है। जुए का अड्डा है यह ! वैसे कोई खेले तो पकड़ लिया जाय, पर यहाँ खुले आम खेलने की इजाज़त है, बेरोक-टोक ! यह भी कोई बात हुई भला ? और ये जनता की सेवा का ढोंग करने वाले सब पूँछ दबाये बैठे रहे, बल्कि कांग्रेस के नेता मुसद्दीलाल सिफारिश करने पहुँचे थे कि नोटिस रद्द कर दिया जाय ! पर वह हुआ नहीं !' शिवराज की आँखों में लोनी चमक आ गयी, बोलता गया—'हम एक ड्रामा खेल रहे हैं....'

'फिर वही नचकइयों-गवइयों की सोहबत में पड़ गये ? मैं पड़ी थी, उसे अभी तक भुगत रही हूँ ...' बंसिरी बोली, पर सचमुच मन के भीतर कहीं बड़ा गहरा लगाव था। सोचते हुए बोली—'इस पेशे का आदमी न जाने कैसा हो जाता है, हम जिनका पार्ट खेलते हैं उनका दर्द, उनकी खुशी से हममें कोई अच्छी बात पैदा होने के बजाय बुरी आदतें घर कर जाती हैं। इसीलिए लोगों की नज़रों में गिर जाते हैं। लेकिन एक बात है शिवराज—जब तक स्टेज पर आदमी रहता है, बहुत ऊँचा उठ जाता है, जो लैला का पार्ट करती थी....मन करता था, उसके हाथों को चूम लूँ ! पैरों को माथे से लगालूँ, पर उसके बाद जब वह बाहर आती और जिस तरह उठती-बैठती, जिन फेलों में पड़ती, उन्हें देख कर मन होता—इस पर थूक दूँ....'

'यह तो अपने आप को सुधारने की बात है, इसके लिए जिम्मेदारी नाटक कम्पनियों पर नहीं है !'

'हाँ,यह ठीक है....' बंसिरी ने जैसे भूले-भूले कह दिया—'दुनिया के भीतर एक छोटी-सी दुनिया बनाने की चाह हरेक में होती है....और नाटक सचमुच ऐसी ही एक न्यारी दुनिया है। पर्दों, लट्ठों, तख्तों की [illegible], सफ़ेदी और रंग-बिरंगी पोशाकों की दुनिया। मन को बड़ी शान्ति मिलती है उसमें, सब भूल-बिसर जाता है, बाजों की आवाज में ...ढोलक, हारमोनियम नगाड़ा, तबला, सारंगी, मजीरा, घुँघरू ! अनोखी आवाज़ें हैं सबकी....मन मचलने लगता....हम स्टेज के पीछे मुँह पर लाली-सफ़ेदी लगाती ही होतीं कि स्टेज पर तबले की थाप सुनायी पड़ती .. सारंगी की दर्द भरी सदा और झूमते हुए हरमुनिया की आवाज़ और टीस की तरह तपकता हुआ मजीरा.... कौन लड़की लैला न हो जाती शिवराज ! अपना वश चलता है ऐसे में कहीं....'

सचमुच वश नहीं चलता.....जब से शिवराज गया है, वह पचासों बार पर्दा हटाकर अड्डे की तरफ़ झाँक आयी है,....पर वह नहीं दिखायी दिया। उस दिन की लड़ाई के बाद वह बिराना होगया....शायद छुपा बैठा हो ... पर अपने कल-पुर्जे, अंगड़-खंगड़ देखने ज़रूर आयेगा उस पास वाली कोठरी में। उन्हें जोड़े-तोड़े बग़ैर उसे चैन कहाँ ! खाली कहाँ बैठता है, कुछ नहीं तो लोहे के भारी-भारी पुर्जों को कूटेगा—रेतेगा और उन्हें इधर-उधर फिट करेगा.... मोटर स्टार्ट करके सर के बल इंजन में डूब जायेगा—तब यहाँ से सिर्फ़ उसकी पीठ दिखती है—चट्टान-सी पीठ ! टंकी पर मोमबत्ती चिपका कर मशीन से सर मारता है, भूख-प्यास सब बिसर जाती है। बाँहों तक कमीज़ सरकाये—मोबीआयल में बाँहें रंगे, कालीचीकाट अँगुलियों से माथे के मोती ज़मीन पर टपका देता है....उन मोतियों को पी लेती, मछली की भाँति ... पवनपुत्र के स्वेद बिन्दु !

पर सरनाम अपनी उन टूटी-फूटी मशीनों के पास भी अभी तक नहीं आया। इमली की जड़ों से अँधेरा फूट-फूट कर ऊपर आसमान की तरफ़ बढ़ता जा रहा है। देखते-देखते ये छतनार पेड़ काली पहाड़ियों में बदल जायेंगे और आसमान पर कालिख पुत जायेगी, पर वह इधर नहीं आयेगा ? अड्डा सुनसान पड़ा है, दिन भर दौड़ने वाली लारियाँ थकी हुई खड़ी हैं, भभूत रमाए। कच्ची पटरी में पहियों की गहरी-गहरी नालियाँ बन गयी हैं। ऐजन्टों वाला तख्त खाली पड़ा है। छप्पर की निकली हुई बल्ली में एक फटा टायर लटक रहा है, जैसे अजगर गोल-मटोल हो गया हो—ऊपर चढ़ पाने के लिए ! सरेशाम अड्डा वीरान हो जाता है इन दिनों....कैसा अकेलापन छा जाता है इस कार्नीवाल के मारे, आजकल वहीं जमाव लगता है।

बंसिरी भीतर चली आती है, पर यह आवाज़ कैसी ? अड्डे का बंद कोठरी में से स्वर-सा फूटता है—घुटा-घुटा, फिर रुक जाता है। क्षण दो क्षण बाद

फिर तिन्....तिन्....तिनन्....-तिनन् तिन्....जैसे पथरीली ज़मीन पर हौले-हौले पानी बह रहा हो....कि एक धुन फूटती है—सरनाम का बैंजो....गायेगा नहीं ? मन खिंचता है....कैसा अटकाव है इसमें ! मंत्रशक्ति....! आजा तुझसे माफी माग लूँ ! मुझे क्या पता था कि बारूद का खेल खेलने वाली तेरी अँगुलियों में इतना रस भरा है....अभी तो सजी-सँवरी भी नहीं, कैसे आऊँ स्टेज पर....

तभी कोठरी के किवाड़े खुले, सरनाम बाहर निकला और ताला बंद करके अपने घर की ओर चला गया। जाते हुए उसने देखा, ठीक वैसे ही चला जा रहा था जैसे तीन-चार दिन पहले एक एकाकी छाया उस अनन्त सड़क पर अपना संगीत-साथी फेंक कर चली गयी थी....वैसी ही अनुभूति, कोई रोक कर पूछे—कहाँ ? क्यों ? अभी निकट है वह छाया, क्या हुआ है उसे ? नहीं बतायेगा किसी को ! किसी को भी नहीं ? अपनी आँखों को आँचल से सुखा लेती है वह। अब कोई भी नहीं, अड्डा एकदम निर्जन है, सभी स्वर डूब चुके हैं।

पर आजकल बाजामास्टर घंटों बैठ कर रियाज़ करते हैं। हाथ उतर गया है, न जाने अँगुलियों की चपलता कहाँ खो गयी, स्वर उभरते हैं पर हाथ शिथिल हो जाते हैं....

कमला से नहीं देखा जाता। शिवराज से कहती है बार-बार—'मास्टरजी को समझाओ।' पर मास्टर पर पागलपन सवार है—लीला नाटक कम्पनी का नाटक ऐसा हो कि पहली बार में पैर जम जायँ ! हारमोनियम ऐसा बजे कि लोगों के दिल में और सुनने का मलाल रह जाय। बाजामास्टर जिस मुहल्ले में रहते हैं उस में बात सुनसुना रही थी। मिलने-जुलने वाले आते रहते हैं, पर हबीब साहब का आना कुछ माने रखता है !

सफ़ेद रेशम-सी दाढ़ी, अधपकी मूँछें और भवें, छोटे-छोटे कटे हुए दूध से सफ़ेद बाल—पतले ओठों में पान की लकीर और शरीफ़े के गूदे में चमकते बीज की तरह गंदली आँखें। लम्बा-इकहरा शरीर, जो बाँस की तरह ऊपर से कुछ झुक आया है। अलीगढ़ी पैजामा और लम्बा कुरता—बुर्राक पर शुद्ध खद्दर का। चाँदी की चेन में बँधी पुरानी गोल घड़ी और एक मोटा बेंत ! यह हैं हबीब साहब—शहर के बुजुर्ग साम्यवादी ! पर यहाँ भला क्या चलता—साम्यवादी और वह भी मुसलमान ! करेला और नीम चढ़ा ! अछूत से भी बदतर हालत कर दी फिरकापरस्त और मजहबपरस्तों ने। पर जैसे बाँस टूटता नहीं, हबीब साहब का रेशा-रेशा अभी तक लड़ रहा है, पर टूटा नहीं। गवर्नमेंट स्कूल में इतिहास के मास्टर होकर आये थे, निकाले गये तब से यहीं बस गये हैं। बस, उमर ने मरोड़ दिया है—खपाँचें-खपाँचें चटक कर अलग हो गयी हैं। इप्टा का बड़ा काम किया था

हबीब साहब ने ज़िले में, और उनकी मर्दानगी दंगों में सामने आयी थी। हबीब साहब को हिन्दू-मुसलमान कंधों पर उठाये घूमते थे, और इप्टा के सिलसिले में बाजामास्टर उनके नज़दीक आये थे, पर उस वक्त हिन्दुत्व का ज़ोर उन्हें अलग कर ले गया। अब हबीब साहब उनसे मिलते हैं तो उन्हें अपनी ग़लती का अहसास होता है—क्यों कि वह ऐसी जगहों में रह आया है जहाँ मज़हब का फ़रक ज़िन्दगी की कशमकश में सर नहीं उठा पाता, उसकी अहमियत ही नहीं रह जाती, और ज़हर का वह दाँत अपने-आप टूट जाता है। उन सस्ती वेश्याओं के चौबारों पर हर मज़हब परस्त तन को एक ही नज़रिए से देखता आता है....

हबीब साहब अपनी फटी हुई आवाज़ में उससे बातें कर रहे थे—'मास्टर साहेब ! ज़रूर खेलिए नाटक ! एक्टरों की कमी पड़ेगी, मैं इन्तज़ाम कर दूँगा। दो गैसें अपने यहाँ हैं, मँगवा लीजिएगा। एक पुराना सैट पड़ा है जंगल के सीन का, उसे बाग़ में भी तबदील किया जा सकता है। बल्लियाँ वग़ैरह इमारती काम के लिए आयी थीं, उन्हें इस्तेमाल में ले आइए !'

फिर हबीब साहब आगे कहते, 'और क्यों न हम लोग मिल-जुल कर एक मजबूत क़दम उठायें। अब मज़हबपरस्ती के छिलके उतर चुके हैं और इंसान अपनी असली लड़ाई पहचान चुका है ! हम उसे ताक़त दें, दिमाग़ी तन्दुरुस्ती दें। एक हिन्दी स्टेज क़ायम करें जिस पर अवाम की रोजमर्रा की ज़िन्दगी की जीती-जागती तस्वीरें पेश करें....हम आदमी में जज़्बात पैदा करें ! उसे दर्द से पसीजना सिखायें, मैं कहता हूँ रोना सिखायें....ताकि वह कल हँस सके, ताज़े फूल की तरह नयी पौध मुस्करा सके !' लम्बे बाँस की तरह हबीब साहब का बदन काँपता है और उनकी ऊँचाई के सामने मास्टर और शिवराज बरसाती घास की तरह लगते हैं....

शिवराज के दिल पर असर हुआ था, मास्टर से बोला था,—'सचमुच किसी ऊँचे आदर्श से अपने को जोड़े बिना हम सूख जायेंगे, घास की तरह, या ये जानवर हमें रौंद कर खा जायेंगे। हम यह भी सोचें कि हम यह सब क्यों कर रहे हैं ? किसी लक्ष्य के लिए जियें-मरें !'

'जो चाहे करो भइया !' बाजामास्टर बोले, 'हमारा लक्ष्य लीला है, लीला ! उसकी बात पूरी कर सकूँ....मेरे लिए वही अंत है। मेरी समाप्ति ! हर आदमी हर मंजिल तक नहीं पहुँचता। मेरी मंजिल यही है, आगे का रास्ता तुम्हारा है शिवराज ! मुझे यहीं छोड़ देना पर तुम आगे जाना। मेरा मन इससे आगे जाने को नहीं होगा, मैं जानता हूँ। तुम लिखो और इन बुराइयों से लड़ो ! मैं पैर तले से ज़मीन नहीं खिसकने दूँगा—स्टेज की ज़मीन !'

पर बवंडरों को किसने देखा था....

सरनाम इधर-उधर से पुलिस की कार्रवाई की सुनगुन लेता रहता। उसे अपनी चिंता अधिक नहीं थी जितनी कि मंगल की। मंगल भी अपनी गिरफ़्तारी बचाता हुआ घूम रहा था, आखिर वह भी सरनाम के पास आ लगा। पुलिस सरनाम के घर के चक्कर लगा रही थी। रंगीले से अधिक मातबर आदमी भी कौन था ? पर वह बंसिरी ! ऐसा बैर मान गयी कि हाथ नहीं रखने देती। मंगली को कहाँ ठहराये ? सबसे सुरक्षित उसी का घर है, पुलिस वालों से रंगीले का राह-रसूक भी है, कोई बात भी नहीं उठेगी। शिवराज से उसने रंगीले को बुलवाया और सारी स्थिति समझा दी। बंसिरी इधर शांत थी, और फिर सरनाम के अहसान....मंगली ऐसे खुराफाती से दुश्मनी हो जाने का डर भी....यह तो करना ही पड़ेगा उसे, सरनाम के आड़े वक्त काम न आया तो क्या सोचेगा ? जनम भर के लिए दुश्मनी हो जायेगी।

बाहर बैठक के दरवाज़े बंद करके तीनों बैठे थे, रंगीले हर क्षण सतर्क था, कहीं-कुछ हो न जाय। बंसिरी पगला न जाय , उसने पूछा तो रंगीले ने बड़ी आसानी से समझा दिया। 'मेरा एक दोस्त है । आज रात यहीं रुक के सुबह गाँव चला जायगा !'

'और दूसरा कौन है ? बंसिरी के प्रश्न को सुनकर किसी भावी आशंका से वह सिहर उठा ! आज अगर इसने सर की टोपी उतारने की कोशिश की तो निबट लेगा। साफ़-साफ़ कह दिया; 'सरनाम है !' पर बंसिरी चुप रही, रंगीले ने राहत की साँस ली।

मंगली भला कब मानता ! बोतल सामने रखली, 'पीलो सिंहजी, कहीं ज़मानत न हुई तो बूँद-बूँद के लिए तरस जायेंगे !' यह धीरे बात क्यों नहीं करता, बंसिरी ने जान-भर पाया कि आसमान फटा ! सरनाम ने कहा—'एक कानिस्टिबल घर के लगातार चक्कर काट रहा है। मन में आता है टंटा अलग करूँ....'

सुबह दीवान जी डकैती वाली तहसील के सर्किल इंस्पैक्टर के साथ आये थे। केस बनाना था। डकैतों के नाम रख दिये गये थे, पर गवाही ? गवाही अजड़ चाहिए भाई ! उसी पर सारा दारोमदार है। दीवानजी ने कहा था, 'रंगीलाल जी मदद करेंगे दरोगाजी आपकी, ये चाहें तो सब हो सकता है ! और इनकी गवाही ! अकाट होगी। मैंने कहा था कि ऐसा गवाह दिलवाऊँगा कि बिगड़ता केस बन जाय....' और सर्किल इन्सपैक्टर ने घाघ की तरह रंगीले को निहारा था। पीते-पीते रंगीले ने कह ही दिया, 'दीवानजी वारदात वाली तहसील के दरोगाजी के साथ आये थे, चाहते थे मैं गवाह बन जाऊँ....'

'किस में, हमारे मुकद्दमे में ?' सरनाम ने पूछा।

'हाँ !' रंगीले ने कहा तो सुनकर सरनाम ने एक ठहाकर लगाया, 'खूब रही भाई ! मेरा जूता मेरे ही सर !....' और गिलास चढ़ाता हुआ वह उन्मादी की तरह देर तक हँसता रहा।

रात गये सरनाम चला गया, पर मंगली लगातार पीता रहा और अनाप-शनाप बकता रहा। बंसिरी ने सब भाँप लिया था, भीतर ही भीतर वह क्रोध से भुनी जा रही थी। यह दग़ाबाजी और मुझसे !....सरनाम की खातिर इतना बड़ा झूठ ! कि मंगली ने बैठक में कै कर दी, कच्ची शराब की बदबू सारे घर में व्याप्त हो गयी। रंगीले ने नींद में हुकुम चला दिया, 'जरा इसे साफ़ कर जाना !' जल ही तो गयी। पानी की बाल्टी और झाड़ू लिये जब वह पहुँची तो पहली बात बोली, 'इसे निकालो घर से, अभी....इसी वक्त !'

'ऐसी हालत में ! तुम....' रंगीले कुछ कहना चाहता था।

'मैं कहती हूँ वह करते हो या नहीं....या मैं खुद करूँ ? निकालो इस शोहदे-बदमाश को घर से !'

'आधी रात को भला....'

बंसिरी चीख पड़ी, 'कहीं जाये, नाली में पड़ा रहे पर यहाँ नहीं रुक सकता ! एक मिनट भी नहीं....'

मंगली ने आँखें तरेर कर देखा और खुद चुपचाप बैठक के बाहर लड़खड़ाता हुआ निकल गया। पर हालत उसकी ठीक नहीं थी। रात गश्तवालों ने उसे बेहोशी की हालत में थाने पहुँचा दिया और सुबह होते-होते खबर फैल गयी कि एक डकैत और पकड़ा गया।

सरनाम का खून खौल उठा। दो कौड़ी की औरत की यह मजाल ! मुझसे लड़ेगी ! और इस तरह ? रंगीले ने सब सुना, सफ़ाई दी, पर सरनाम के सर पर खून सवार था—'वह औरत मुझसे दुश्मनी निभा रही है ! उसे सबक़ सिखाने के लिए निशाना तुम बन जाओगे....मेरी भलाइयों का यह नतीजा मिलेगा मुझे ? तुम इतने दब्बू और बेकार साबित होगे, यह मैं नहीं जानता था ! मेरी औरत होती तो देख लेता....उसकी यह हस्ती....'

सब सुनकर भी बंसिरी नीतिज्ञ की तरह चुप रही, पर यह उसने जान लिया था कि अब इस तरह चल नहीं पायेगा—जानवर हो गया है वह ! उसके साथ आदमियत का बर्ताव ! अब नहीं सहेगी, बहुत हो लिया। साँप का ज़हर नहीं मरता। इतना विष है इसके काले दिल में....। बेईमान, दगाबाज़, बेवफ़ा ! एक बार भी बीते हुए दिन याद नहीं आते ? हर जगह मेरी इज्ज़त इसके लिए खिलौना रही है—औरत ही हूँ मैं ! सराय में बिकी हुई औरत—'जब तक पूरे रुपये नहीं चुकाता यह, तब तक तुम रखो इसे !' क्या समझा था—घास-पात ! रहम किया था मेरे ऊपर ! तेरे रहम का बदला....सड़-सड़कर

मरेगा....कैसा डरावना हो गया है ! शक्ल से मनहूसियत टपकती है !

और शाम जब चरही में पानी भर कर रंगीले लौट रहा था तो मंगली के लोगों ने उसे सबक़ दे दिया—और करेगा दग़ा ! पीठ में छुरी भोंकने का नतीजा है यह ! गली से गुज़रते हुए किसी आदमी ने बेहोशी की हालत में उसे घर पहुँचाया था। बंसिरी के तो हाथ-पैर फूल गये। क्या करे—कहाँ ले जाय, हाय राम, मार डाला बदमाशों ने ! रंगीले का शरीर जगह-जगह लाठियों की मार से सूज आया था, पूरे शरीर पर नील पड़ गये थे। खून निकल जाता तो इतनी हड़फूटन न होती, वह बेकल पड़ा था। बंसिरी रुई के फाहे बनाये सेंकती रही, पर कुछ भी असर नहीं हुआ। सर की चोट से नकसीर फूट गयी थी....

सरनाम ने सुना तो अवाक् रह गया—यह क्या कर दिया ! शिवराज से हाल मँगवाता रहा। उसे चैन नहीं था, पर यह सब उसे मालूम भी नहीं था, मंगली के साथियों ने बदला लिया था। एक-एक को देख लेना, पर रंगीले भला क्या सोचेगा ? आखिर किसकी करतूत समझेगा....?

बंसिरी निश्चित मत थी—यह और कौन करेगा उसके सिवा ! बड़ा विश्वास करते थे उस पर। अब यह दुश्मनी चलेगी, यह खतरा भी वह उठायेगी। मन में आता है घायल रंगीले को लेकर शहर छोड़ जाय। पर जाय भी कहाँ....और इस तरह भागना ! अब ज़रूर वह उस मेले वाले किस्से को खोलेगा। मेरी इज्ज़त पर दाग लगाने की कोशिश करेगा ! क्या बिगाड़ा था मैंने इसका ? पर इस तरह जिये ? नामुमकिन था यह ! घृणा की लहर उसके भारी-भरकम शरीर में दौड़ रही थी ! प्रतिहिंसा की अकुलाहट में जैसे रोम-रोम धधक उठा हो, पा जाती तो बोटी-बोटी काट डालती....कोंच-कोंच कर मारती ! वह अच्छी तरह जान गयी थी कि सरनाम का कोप अब उस पर टूटेगा।

गवाही के लिए रंगीले को पुलिस वाले चाहते थे। एक दम चौकस गवाही पड़ेगी ! दुनिया जानती है कि सरनाम और रंगीले का साथ है, एक-दूसरे के काम में हिस्सा बँटाते हैं। दीवानजी ने फिर चक्कर लगाया—उनके मन में कहीं सरनाम के लिए आक्रोश छिपा बैठा था। दद्दा चोरी-छुपे चलता है, इसे पुलिस भी जानती है पर जब से अफ़सरों ने कड़ा रुख़ अपनाया है तब से नीचे वाले दीवान अमलाओं का कमीशन बंद हो गया है। यह सरनाम की ही करतूत है, लेकिन बच के कहाँ जायेगा ? जल में मगर, थल में पुलिस ! दीवान जी से बंसिरी ने खुद बात की, रंगीले खाट पर पड़ा कराह रहा था। फौजदारी की रिपोर्ट नहीं करायी गयी, साबित तो यही करना था कि डकैतों और रंगीले की मिलीभगत है, दीवानजी ने आँचा-पाँचा समझा

कर रपट लिखवाने से उसे रोक लिया। बंसिरी बड़ी देर बात करती रही। दीवानजी के चले जाने के बाद रंगीले ने कहा—'यह ठीक नहीं है ! सरनाम ने मेरे साथ बहुत बुरा किया है फिर भी मैं उसके खिलाफ़ गवाही नहीं दे सकता....गुस्से में आदमी सब कुछ कर सकता है। तुमने भी तो गुस्से में मंगली को आधीरात....?

बंसिरी ने आखिरी अस्त्र फेंका—आँखों में पानी, सिसकियों में होने वाली सन्तान की सूचना—एक क्षण बाद ही उसकी आँखें अजीब घृणा से भर आयीं। किसी अदेखे अत्याचार की सूचना उसके चेहरे पर मँडराने लगी, उसने धीरे से कहा—'मैं अब तक चुप थी, लेकिन अगर तुम सारी बात जान पाते....' मन में घृणा का तूफान आया हुआ था, उसका बस चल पाता। कैसे भी ! उसे अब यह करके रहना है, यह होगा ही, नहीं तो वह चली जायगी कहीं भी, पर इस स्थिति को बर्दाश्त नहीं करेगी ! रंगीले की आँखों में विस्मय भर आया। वह बोली—'मैं तुम्हारी औरत हूँ न !'

रंगीले ने हुँकारी भरी।

'लेकिन अगर....' जैसे उसकी जबान रुकती हो—'अगर तुम यह सोचते हो कि मुझे छोड़ दोगे....तब सब ठीक है....' आँखों का बाँध टूट गया, आँसू थमते ही नहीं—'मैं कहीं भी चली जाऊँगी, इस होने वाले बच्चे को लेकर, पर इस तरह रहना नहीं हो पायेगा....'

'किस तरह !' रंगीले पहेली में उलझा है।

'क्या उसने मेरी शादी तुमसे इसीलिए कराई है कि वह....',

'साफ़-साफ़ कहो....' रंगीले सब कुछ एक साँस में सुन लेना चाहता है।

'कितनी बार उसकी ऐसी कोशिशें रही हैं कि मैं....इसीलिए वह मुझसे दुश्मनी मानता है !'

'किसकी, सरनाम की !' रंगीले की आँखें फटी रह गयीं।

'यह मुझसे नहीं होगा....' आँसुओं और सिसकियों के सैलाब में सब खो गया। रंगीले की आँखों से चिनगारियाँ फूटती हैं—

'देख लूँगा उस हरामजादे को। उठाये आँख। एक मिनट में उसकी हस्ती राख कर दूँ !'....आँसू, सिसकियाँ—आग, प्रतिहिंसा ! उबाल, घृणा और कुछ कर डालने की बलवती—दुर्दमनीय शक्ति। अपने टूटे शरीर को लिये वह खाट पर बैठा धधक-धधक कर हाँफता रहा और बंसिरी घुटनों में सिर दिये सिसकती रही....

....बाजामस्टर शिवराज को समझा रहे हैं—'एकदम नयी तरह से ओपिन होगा ड्रामा ! नटराज की आरती....दस लड़कियाँ थाल लेंगी, पाँच एक विंग से, पाँच दूसरे विंग से आयेंगी, संगीत रचना में दक्षिणी प्रभाव रहेगा....लीला

की तस्वीर पर फूल चढ़ाकर दसों लड़कियाँ इसी तरह श्रद्धा का भाव-प्रदर्शन करतीं विंग में चली आयेंगी....कैसा रहेगा !'

लीला की तस्वीर एक फ्रेम में जड़ी अभी से तैयार है, शिवराज ने देखा है, उस पर रोज़ नयी माला पड़ती है। उसे यह कुछ-कुछ पागलपन लगता है ! हबीब साहब रोज़ आते हैं, बाँस की तरह सर झुकाये और उनकी गँदली आँखों से थोड़ी देर में रोशनी फूटने लगती है। बाजामास्टर की आँखें अनोखे नशे में झूमती रहती हैं। नाटक में पार्ट करने वाले दिलाराम, बंशीधर, रामपरशाद, शौकत, लक्ष्मी, सुशीला की आँखों में उल्लास भरा अचरज है; और कमला ! उसकी आँखों में सन्तोष की परछाईं....स्नेह डूबी तृप्त आँखें ! स्थिर, एक पथ पर टिकीं....

पर सरनाम की भवों में तनाव है। किसी आने वाले तूफ़ान की प्रतीक्षा करते आकाश-सा निस्तब्ध सूनापन ! कमला पोशाकें सिल रही है, ठीक कर रही है....अभिमन्यु की पोशाक ! उत्तरा के सुहागचिन्ह में मोती टाँक रही है। बाजामास्टर उसे अपने घर ले आये थे, कार्नीवाल उखड़ चुका था। कमला ने साफ़-साफ़ कह दिया था, 'मैं अब नौकरी नहीं करूँगी, भूखी मर जाऊँ पर नहीं....'

भीतर-भीतर पकती इस खिचड़ी की महक सरनाम को लग गयी, एक तो अपना चक्कर, दूसरा यह....क्या करे ? शिवराज से साफ़ कह दे—'यही सब करना है तो अपना रास्ता लो !' पर कह भी नहीं पाता ! और ऊपर से मोटर-बसों के राष्ट्रीयकरण की लटकती हुई तलवार। रोज़ नयी-नयी खबरें सुनायी पड़ती हैं। इस लाइन पर भी सरकारी बसें चलेंगी—नहीं-नहीं, यह झूठी ख़बर है, इस पर नहीं चलेंगी ! मोटर मालिकों की यूनियन की बैठक रोज़ सुबह से शाम तक होती है, कुछ पता नहीं चलता। सुना है दो-चार दिन में मालिकों की ओर से कुछ लोग लखनऊ जाकर परिवहन मंत्रीजी से मुलाक़ात करने वाले हैं—एक एम० एल० ए० साथ जा रहे है। वह कुछ ठीक-ठीक नहीं सोच पाता। कुछ भी साफ़ नहीं दिखायी पड़ता। शिवराज ही सामने पड़ा तो उबल उठा—'यही सब नंगई करनी है तो मुझे मार के करो। चार दिन और सबर करो, रास्ता छोड़कर खुद चला जाऊँगा। काहे को अती रख ली है, मुकदमे भर की देर है, तुम सब लोग जो चाहते हो, हुआ जा रहा है !'

शिवराज चुप रहा। सरनाम की आँखों में उजाड़ सूनापन व्याप्त है, जैसे इस वक्त कोई सहारा चाहता हो। बोला, 'मैं जानता था, मेरे साथ यही होगा, सब आँखें फेर कर बैठ जायेंगे एक दिन....तो तुमने सब कुछ तै कर लिया है ?'

शिवराज चुप है। सरनाम भभक उठा, 'मैं मर गया था क्या ? मैं कोई

भी नहीं था ? तुम्हें अपनी ज़िंदगी बिगाड़नी है तो बिगाड़ लो....एक दिन पछताओगे कि मैं क्या चाहता था और तुम क्या कर बैठे !'

'कुछ बुरा तो नहीं है इसमें !' शिवराज ने कहा !

'एक बाज़ारू औरत के पीछे इस तरह बरबादी के रास्ते पर लग जाना जवानी की रमक है। आँखें खोल कर देखो, मैं चाहता था तुम कालिज तक जाओ, बीए-एमे करो और इज्ज़त की ज़िंदगी बसर करो। पर तुम्हारे दिमाग़ पर भूत सवार है, अगर तुम आँखें खोलकर देखने से लाचार हो तो मैं अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता, समझे !'

'मेरी आँखें बन्द नहीं हैं !'

'लेकिन यह सब नहीं होगा !' सरनाम चीखा, 'किसी भी क़ीमत पर नहीं ! मेरा हक़ है तुम पर....बच्चे की तरह पाला है तुम्हें !'

'लेकिन मैं तय कर चुका हूँ....'

'उससे कुछ नहीं होता !' सरनाम चीखता जा रहा है, 'तुम्हारी वजह से आश्रम वालों से बैर मोल लिया, तुम्हारे भाइयों से झगड़ा किया। शहर भर की हिकारत उठाई और अब तुम्हारी आँख देखूँ ! वह भी उस बाज़ारू लड़की के लिए....' कहते-कहते उसकी सूनी आँखों में बादल घुमड़ आये, गला भर आया—'तुम भी यही करोगे शिवराज ! मैंने अपने लिए कोई नहीं चुना, कोई मेरे लिए सोचता, मेरे लिए जीता-मरता। कितना प्यासा हूँ मैं ! पर तुम्हारे लिए सोच कर मैं अपनी कमी भूल जाता हूँ। मेरा रास्ता ग़लत ही सही, शिवराज ! पर मैं किसी रास्ते पर किसी एक को अपनी तरह चलाना चाहता था, मेरे लिए तुम्हारे मन में भी....' उसकी आँखें डबडबा आयीं।

शिवराज को उसका प्यार चुम्बक की तरह खींचता है।

बंसिरी ने जब से शिवराज के इस निर्णय को सुना है, खुश है ! उस सरनाम से पिंड छूटेगा। अकेलेपन की मार से वह बेहाल हो जायेगा, घबरायेगा और सोचेगा। तब कभी उसे बंसिरी की याद आयेगी। दिल में हूक उठेगी। तड़पेगा, पछतायेगा। और तब वह लस्त पड़े शेर को देखेगी। कितना अनिर्वचनीय आनन्द होगा उस दृश्य में। हारा हुआ आदमी ! औरत बेबस हो सकती है तो आदमी हार सकता है ! पर वह कैसे देख पायेगी—टूटा हुआ खंडित आदमी ! दिल कड़ा करके एक बार देखेगी ज़रूर। अगर आँख भर आयी तो चुरा कर रो लेगी पर देखेगी ज़रूर। परास्त शक्ति को भी देख सकने की एक अनोखी उत्कंठा होती है। वह उत्कंठा पूर्ति माँगती है ! शिवराज को वह रोज़ समझाती है, उसे ताकत देती है, 'तुम कमला को लेकर यहाँ चले आओ, किसी की फिकर मत करो....'

और शहर में हंगामा मचा है ! हबीब साहब का मुर्दा कब्र से उठकर

आया है—मलेच्छ नास्तिक ! वीर अभिमन्यु नाटक के पीछे राजनीति की चालें खोजी जाने लगीं। 'सुनते हो जी' के कांग्रेसी अखबार की तोप पर फ्लीते चढ़ गये। रोज़ सुबह एक गोला दग़ता है—

'कम्यूनिस्टों के ज़हरीले दाँत अभी टूटे नहीं हैं !'

या, 'शहर को वेश्यालय बना देने की नयी साज़िश !'

या, 'सन् बयालीस के ग़द्दार हबीब की हैरत अंगेज़ हरकतें !'

दक्षिणपंथी समाजवादियों के लिए भी एक खतरा खड़ा हो गया—उनकी पार्टी शहर के नौजवानों के कन्धों पर चलती है। डा० लालचन्द धुआँदार बहस करते—'मैं कहता हूँ इन कम्यूनिस्टों के सर उठाने का कारण कांग्रेसियों की कमज़ोरी है, जो सरकार बनाकर जनता का खून चूसने लगे ! हमारी पार्टी क्रान्तिकारी पार्टी है—भगतसिंह, आज़ाद, खुदीराम बोस, अशफाकउल्ला और जोगेश चटर्जी की....

'सुनते हो जी' भला कब बर्दाश्त करते, उन्हें सारी खबर थी, एकदम पुरानी लड़ाई की याद करते हुए बात काट कर बोले—'कुछ पता भी रहता है आपको ! जोगेश बाबू ने हिंसा का त्याग करके अहिंसा को अपनाया है.... वे हमारी पार्टी में हैं अब ! और एक दिन सब हमारे नेहरू जी की पार्टी में आ जायेंगे। सब को आना पड़ेगा, एटम बम से जिसको बचना होगा वह झक मार के आयेगा.! जो नहीं आयेगा सो जान से हाथ धोयेगा। नेहरू जी पहले अपनी पार्टी वालों की फिकर करेंगे, फिर बाद में और किसी की। शान्ती के योधा हैं नेहरू जी....' 'सुनते हो जी' को नेहरू जी का बड़ा सहारा था, यह ऐसा ब्रह्म वाक्य था जिसके सामने सबके तर्क धरे रह जाते थे और सुनने वाले नेहरू जी की चर्चा में उलझ जाते थे—'कौन इतना त्यगा करेगा देस के लिए जितना नेहरू जी ने किया है ! कहाँ विलायत के धुले कपड़े, कहाँ जेल की काल-कोठरी ! किसकी दम में दम है जो इतना बदलेगा अपने को !'

'सुना उन्होंने नींद को जीत लिया है। दिन-रात एक समान कर लिया है।'

'योगी के लिए कुछ भी असम्भव नहीं....' किसी अन्दरूनी बीमारी से पीड़ित, दिन भर धोक लगा कर पड़े रहने वाले ब्रह्मचारी जी ने कहा।

'कम्यूनिस्टों का नाश नेहरू जी द्वारा होगा, जैसे अंग्रेज भारत छोड़कर गया वैसे ही एक दिन कम्यूनिस्ट को भी जाना पड़ेगा....' 'सुनते हो जी' ने भविष्यवाणी की।

'कहाँ जायेंगे ? वे तो यहीं की सन्तान हैं !'

'कहीं भी जायँ, जाना पड़ेगा एक दिन !' 'सुनते हो जी' ने दुहराया।

'और कोई कहीं जाय या न जाय पर इन कमुनिस्ट हबीब साहब को इस

ज़िले से जाना पड़ेगा। मैं कहता हूँ....' कुछ तैश में दयाल जी बोले, जो शहर के पुराने कांग्रेसी हैं, 'मैं कहता हूँ, इस विष के दाँत को तोड़ना पड़ेगा। नचैइयों-गवइयों की मंडली के खिलाफ़ आन्दोलन करना पड़ेगा, जनमत बनाना पड़ेगा....!' आदत के मुताबिक दयाल जी ने जनमत पर अज़हद ज़ोर दिया। राजनीति में अगर उनकी आस्था किसी शब्द पर थी तो 'जनमत' पर।

डा० लालचन्द ने राय दी—'इस तरह कुछ भी नहीं होगा, जब तक हम कोई 'पक्का कदम' नहीं उठायेंगे, और पक्का क़दम यह होगा कि हम भी एक नाटक करें ! उससे बढ़िया करें और मेहनतकश जनता का रुख़ अपनी ओर मोड़ लें।'

'यह तो ख़ुद दौड़ कर अपने मुँह में लगाम लेने वाली बात हुई ! जनमत पर इसका कोई असर नहीं पड़ेगा !' विचारवान राजनीतिज्ञ की तरह दयाल-जी ने कहा। बात का कोई तत्व न निकलते देख 'सुनते हो जी' ने योजना पेश की—'अहिंसा हमारा अस्त्र है, हम उसी के सहारे इस मोर्चे पर भी लड़ेंगे। अख़बार से जनता को बतायेंगे कि यह सब धोखाधड़ी है, इसमें हिंसावादियों की चाल है। वे कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठर अभिमन्यु वगैरह के खिलाफ़ छुपे-छुपे आवाज़ उठाने जा रहे हैं ! वे हमारे पूर्वजों को बदनाम करना चाहते हैं और इस नाटक के द्वारा घरना फैलाना चाहते हैं....'

'इससे कोई असर जनमत पर नहीं पड़ेगा ! हमें नाकेबंदी करना चाहिए, उनका एक भी टिकट न बिकने देना चाहिए ! पहले तो नाटक करने के लिए जमीन ही न मिलने दें, फिर जनता में प्रचार करें....' दयाल जी ने सुझाया —'और इस बात को फैलायें कि यह डाकुओं, बदमाशों का गिरोह है जो सब कर-धर रहा है !' फिर आवाज़ धीमी करते हुए बड़े भेद भरे तरीके से बोले, 'लोगों में यह बात फैलाइए कि यह कमुनिस्टों की शरारत है....जिस रात ड्रामा होगा, उसी रात खाली घरों के ताले टूटेंगे....इस तरह जनमत एकदम हमारे साथ होगा।'

सब लोग उनकी सूझ के सामने अवाक् रह गये। निर्मोही जी ने जोश में आकर जनता को सावधान करने के लिए एक कविता लिखने का आश्वासन दिया, पहली पंक्ति जो उनके सिर में मँडरा रही थी, वह उन्होंने सुनायी—'भाई, विपत नगर पर आयी !' और उन्होंने यह आश्वासन भी दिया कि अभिमन्यु का पार्ट करने वाला लड़का शिवराज उनका शिष्य है, उसे वे तोड़ लेंगे और इस तरह ख़ुद उनकी मण्डली को भीतर से नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे....

पर बाजामास्टर और हबीब साहब निश्चिंत थे।

लेकिन शिवराज के सामने दुर्लंघ्य दीवारें निरन्तर उठती जा रही थीं !

सरनामसिंह अभी भी अपनी गिरफ़्तारी बचाता हुआ वकीलों से मिल-जुल रहा था....पर उसके सामने था शिवराज।

'ऐसी लड़की का कोई ठिकाना है जो बाजामास्टर के घर में रहे, अकेली। मैं तुम्हारी सारी ज़रूरतें पूरी कर दूँगा, और क्या चाहिए तुम्हें ?....'

और उन गलियों में सरनाम रात झुके खुद शिवराज को ज़बरदस्ती लेकर गया। शिवराज चलता जाता, पर उसका मन ऊबता जाता। सरनाम बात छेड़े हुए था—'यही सब करना है तो करो, खुलकर करो मेरी तरह! झूठे दिखावे में मत फँसो, ये गलियाँ बदनाम हैं पर इनमें निडर होकर आओ—घूमो, देखो, रुको; पर अपने को पहचानते रहो! जानबूझकर धोखे में मत पड़ो....तुम्हें औरत चाहिए! इसके सिवा और कुछ नहीं, मैं जानता हूँ। इस गली से नफ़रत करना सीखो, ऐसी नफ़रत जो बार-बार तुम्हें खींच लाये। जब तक इन गलियों से नफ़रत करना नहीं सीख पाओगे तब तक इन्हें जानोगे कैसे! आज जिसे तुम प्यार कह रहे हो, वह कल मुलम्मे की तरह उतर जायगा, उसके साथ तुम्हारे दिल की चमक खो जायेगी!' सुनकर शिवराज चुप है।

'मुझे देखो शिवराज! उसी चमक के लिए मैं भटकता रहा, लेकिन फिर वह हाथ नहीं आयी....'

गंदी नालियों, बदबूदार दरवों, झनकते घुँघरुओं और बेगाने रूप से भरी गलियों में वह सरनाम के साथ घूमता रहा....सरनाम की बातों का कोई विशेष असर उस पर नहीं पड़ा, पर वहाँ के वातावरण ने विरक्ति दे दी। मन उचट गया, अजीब-अजीब-सी बातें उठने लगीं मन में—यह सब क्या देख रहा है ? एक बहता हुआ गंदा नाला और उसमें नहाते, ग़ोते खाते सैकड़ों लोग! ध्वस्त मानव खण्डहर और उनमें बसेरा लिये हुए अनगिन पत्ती—विकलांग, परास्त, पराधीन....

और उस रात वापस लौट कर सरनाम ने फिर बोतलें खाली कीं, और शिवराज के माथे पर अपना सिर टिकाये रोता रहा। उसके रोम-रोम पर अँगुली फेरता रहा। आँखे गड़ाये उसकी कोमल गर्दन को देखता रहा, जिसकी त्वचा में निश्चयात्मक मुद्रा की दो धारियाँ पड़ गयी थीं। उसका मन रोता था—अपने निपट अकेलेपन को सोच-सोच कर! ऐसे क्षणों में हमेशा शिवराज की ममता, घृणा का पर्त भेदकर ऊपर आती है। सब कुछ सही, पर आदमी की असन्तुष्टि, उसका घबराना वह नहीं देख पाता....

सरनाम ने कहा था—'शायद एक-दो महीने में यहाँ सरकारी बसें आ जायेंगी, मेरा भी कोई ठिकाना नहीं, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? मेरी बातों पर ध्यान मत देना, ठीक समझना सो कर लेना....'

शिवराज जैसे परास्त हो गया। रात की उदासी और भ गहरी हो गयी थी। तब उसे लगा कि सरनाम जब इतने झंझटों में से गुज़र रहा है, तब कुछ मदद देना ज़रूरी था, कम-से-कम पूछता ही रहे। डकैती का मुकद्दमा अदालत में पहुँचा और सरनाम ने अपने को इजलास के सामने हाज़िर कर दिया।

और इकबाली गवाह के रूप में सरनाम के सामने ज़बरदस्त शह की तरह रंगीले खड़ा था! मोहरा चलाने वाले हाथों को उसने देखा—चूड़ियों से भरे, मेंहदी रंगे हाथ....कैसी भी प्रतिहिंसा नहीं जागती। मन उचाट है। जो भी होना हो, हो जाये। सात साल की जेल! छुटकारा तो पायेगा इस सब से। और फिर सोरों के मेले में इन्हीं हाथों ने उसके मस्तक के बाल हटाकर कहा था—'कितना चौड़ा माथा है!' और यही हाथ उसके पथरीले शरीर पर पानी की धार-से फिसलते रहे थे! इन हाथों का मोह है बंसिरी....याद अभी बाकी है! यही हाथ रक्षा के लिए उठे होते तो हार जाता आज, चुनौती स्वीकार करूँगा पर होगा अनर्थ ही! मेरी जीत सुख नहीं दे पायेगी मुझे....

इजलास में भीड़ जमा रहती! शहर के जाने-पहचाने आदमियों पर डकैती का केस है और सरनाम का लँगोटिया यार खिलाफ़ शहादत दे रहा है! माजरा कुछ समझ में नहीं आता। बड़ा गहरा केस है, हाकिम बड़ा काबिल है। सेशन कोर्ट में लड़ने की तैयारियाँ अभी से हो रही हैं; जिसके यहाँ डकैती पड़ी वह भी बड़ा जबर है भाई! इलाहाबाद से बालिस्टर आरहे हैं, कहता है—'जड़ उखाड़ कर छोड़ूँगा....'

तीन से कम किसी की भी शनाख्तें नहीं। ज़नानी शनाख्तें, पुख्ता सबूत है! चेहरों पर चिप्पियाँ लगवा कर पहचनवाया गया। एक-एक, पहचान में आगया। और भरी इजलास में सरनाम को छै दिखवइयों ने पहचाना। तीन शनाख्त वाले को शर्तिया जेल, तब भला छै वाला क्या बचेगा? गनीमत यह हुई कि हाकिम ने ज़मानत मंजूर कर ली।

रंगीले ने अपनी हिफाज़त की अर्जी दी थी, सरकारी गवाह था वह। पुलिस को हुकुम मिला था। एक कानिस्टिबुल दिन-रात घर के बाहर तखत पर बैठा तमाखू पीता रहता।

पहले रोज जब वह इजलास से लौटा तो सीधा ज़नाने अस्पताल पहुँचा, बंसिरी को सब सुनाया। दो दिन पहले वह सरकारी वकील के साथ मौक़ा देखने गया था। सर्किल इन्सपैक्टर साथ थे। बड़ी खातिर हुई रंगीले की, और दरोगाजी ने नकद तीन सौ रुपये उसे चौधरी से दिलवाये थे—'तुम्हारी खातिर रंगीलाल ने यह ख़तरा उठाया है चौधरी साहब!'

'लेकिन ये कैसे गवाह बन पायेंगे?' चौधरी को अपना रुपया डूब जाने

की फिक्र थी।

'रंगीलाल का नाम डकैतों में शामिल किया जायगा, वारंट कटेगा, तब ये पकड़े जायँगे और कोतवाली में जुर्म का इक़बाल करेंगे, बयान देंगे—तब ये इक़बाली गवाह बनेंगे....' दरोगाजी ने समझाया !

रंगीले ने मौक़ा-जगह देख ली, नक्शा अपनी आँखों में उतार लिया, बयान समझ कर बुद्धि में रख लिया, और सबसे ऊपर वे तीन सौ रुपये, बाद मुकद्दमा बाकी तीन सौ—कुल छै सौ का सौदा था !

नाटक की तैयारियाँ जोर-शोर पर थीं। शहर में विरोध भी बढ़ता जारहा था। आधी-आधी रात तक रिहर्सल होते, दूसरे दिन ग्रान्ड रिहर्सल की तैयारी थी। युधिष्टर का पार्ट करने वाले जगमोहन तिवारी ने ऐन दिन अपनी मुश्किल हबीब साहब के सामने रखी—'आज हमारे हैडमास्टर साहब ने बुलाकर कहा कि अगर आपको नाटक ही खेलना है तो स्कूल से इस्तीफा दे दीजिए....'

'तब आपने क्या सोचा ?' हबीब साहब परेशान होना नहीं जानते।

'मेरी समझ में यह नहीं आता कि मेरे ड्रामा करने से उन लोगों का क्या हर्ज है ! मैंने जब यही सवाल हैडमास्टर साहब से पूछा तो बोले—स्कूल कमेटी नहीं चाहती, प्रेसीडेंट साहब ने मुझसे कहा है कि आपको आगाह कर दिया जाय।' जगमोहन तिवारी ने बताया।

'यह सरासर ज़्यादती है !' हबीब साहब ने अपनी छड़ी रखते हुए कहा—'आपने इसका सबब नहीं पूछा।'

'सबब ? स्कूल कमेटी वाले मौक़ा देख रहे हैं, हम तीन मास्टरों ने पूरी तनख्वाह पाने के लिए बात उठाई है ! और फिर मैं लंका में अकेला विभीषण हूँ न !' जगमोहन तिवारी ने कहा।

'क्यों, पूरी तनख़्वाह नहीं मिलती ?' हबीब साहब ने पूछा।

'यह किससे छुपा है ! कौन सा ऐसा प्राइवेट स्कूल है जिसमें पूरी तनख़्वाह मिलती है। चाहे वह मेरा स्कूल हो, चाहे अग्रवाल विद्यालय, चाहे आर्यसमाजी हाई स्कूल ! सौ देते हैं, एक सौ पचास की रसीद लेते हैं ! जरूरतमंदों को सब स्वीकार करना पड़ता है ! न करें तो बाल-बच्चे कहाँ से पालें ?' जगमोहन ने कहा तो हबीब साहब तलखी से बोले, 'यह बात है ! इसीलिए आपको निकालने का मौक़ा....'

बीच ही में बात काट कर जगमोहन तिवारी ने कहा, 'भीतरी बात और है ! हर स्कूल में अपना-अपना चल रहा है। सरकारी स्कूलों को छोड़कर कौन सा स्कूल है ज़िले में, जो किसी जाति विशेष के आधिपत्य में न हो ! ब्राह्मणों के अपने स्कूल हैं, कायस्थों के अपने, अहीरों के अलग, अग्रवालों के अलग;

हर जगह जाति का सर्प फन फैलाये बैठा है ! इस बार मैं उसका शिकार बन रहा हूँ !'

'लिखी-पढ़ी कोई चीज़ है या....' हबीब साहब की बात पर जगमोहन-तिवारी बोला, 'सब ज़बानी चलता है ! सरकार को दिखाने के लिए कागज़ी कार्रवाई पूरी रहती है ! पर भीतर ही भीतर ग़ैर जातिवाले के लिए घृणा पलती रहती है। उसे परेशान करके भगा देने के हज़ार तरीके इन स्कूल कमेटियों के पास हैं !'

हबीब साहब ने कहा, 'सोच लो भाई, नुकसान न हो आपका !'

पर तिवारी भला कब मानता। कहता है, निकाल के देखें ! बग़ैर कम्प्लेन्ट निकालें तो भला ! मैं देख लूँगा। कहते हैं, विद्यार्थियों पर आपके इस आचरण का बुरा असर पड़ेगा, स्कूल की बदनामी होती है इसमें। पचहत्तर रुपये देकर एक सौ बीस की रसीद लेते हैं और आचरण का नुस्खा पिलाते हैं !

हबीब साहब और बाजामास्टर एक-एक अभिनेता की देख भाल अंडे की तरह कर रहे हैं। एक भी टूटा तो सब चौपट !

स्टेज बनाने का काम हबीब साहब ने उठा लिया। बाजामास्टर को फ़ुर्सत कहाँ ? लाली, पाउडर, कालिख....दुर्योधन की धोती का इन्तज़ाम, और मुकुट ! जल्दी मोती टाँककर तैयार करो भाई ! अभिमन्यु का तरकस। क्या कहा ? कागज़ नहीं चढ़ा उस पर ! फौरन करो, नहीं तो कब सूखेगा और लड्डन तुम्हारे तीर-कमान तैयार हैं ? ऐसे कैसे चलेगा, ऐन वक्त पर क्या होगा ? करलो मेरे भाई....कृष्ण का पीताम्बर अभी तक नहीं आया ? पैसे कहाँ हैं ! कमला की साड़ी फाड़कर पीली रंग लो....काम चलाओ किसी तरह....

कौंधती बिजली की तरह बाजामास्टर अभी यहाँ दिखायी पड़ते हैं, अभी वहाँ—प्राम्पटर के सहारे रहोगे तो सब चौपट हो जायगा ! रटो, पार्ट रटो.... प्राम्पटर भूल सँवारने के लिए रहेगा ! गांग....इलाही बैंडवाले के यहाँ से आना है, अभी लाकर रखो !

हबीब साहब सर पर रूमाल रखे अपनी गँदली आँखों से ऊपर बँधती बल्लियों को ताक रहे हैं—पुल्ली यहीं रहेगी, गाँठ लगाओ ओ भाई, खड़े मत रहो, पर्दा चढ़ाओ। एक बार टैस्ट करके देखना है ! उधर नहीं....और थोड़ा इधर। नौ फुट, नापकर....हाँ हाँ....तखत नीचा पड़ता है तो ईंट लगाओ....

ऐक्टर अपना-अपना पार्ट याद कर रहे हैं—कमरे से अजीब-अजीब आवाजें गली में आती हैं....दुर्योधन रिरिया रहा है—'गुरुदेऽऽव !' अभिमन्यु की ओजस्वी आवाज़—मैं चक्रव्यूह भेदूँगा....माता के गर्भ में....बीच-बीच में हँसी, सहयोग भरे वाक्य !

और यह सब अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। शहर में मुनादी से ख़बर

दी गयी ! मेले-तमाशों के लिए बड़ा उत्साह होता है, काफ़ी भीड़ जमा हुई थी। टिकट दर थी सात पैसा....सब की पहुँच के भीतर। तिवारी अपने हैड-मास्टर की आज्ञा का उल्लंघन करके युधिष्ठर बन रहा था ! बाजामास्टर ने 'ओपनिंग सीन' बड़ी मेहनत से तैयार करवाया था—दस नर्तकियाँ हाथों में आरती के थाल लिये विंग में खड़ी थीं, पर्दा उठने को था। बाजामास्टर बीच स्टेज पर लीला का चित्र लगा रहे थे, आँखों में आह्लाद के आँसू....शिवराज कमला को उत्तरा के वेष में देखता ही रह गया—इतना रूप ! प्राम्पटर हाथों में कापियाँ लिए अपनी-अपनी जगह खड़े हो गये थे। दूसरे सीन वाले लोग टाट के पर्दे से घेर कर बनाये हुए मेकअप रूप में तैयार हो रहे थे !

हबीब साहब ने विंग में से पूछा, 'रेडी !' बाजामास्टर ने लीला के चित्र पर माला डाली और माथा नवाकर स्टेज से हट आये....

विंग में खड़ी नर्तकियों ने घुँघरुओं की समवेत झनकार की....वातावरण शान्त हुआ और हबीब साहब ने मुस्कराती हुई आँखों से सबको आशीष देते हुए पर्दा उठाया—दोनों विंगों से आरती के थाल लिये घुँघरुओं की झनक के साथ थिरकते हुए पैर स्टेज पर आये....श्वेत वस्त्रा नर्तकियाँ ! जैसे दो दिशाओं से सारसों की पाँत चम-चम करते सितारे लिये उत्तर पड़ी हो.... दर्शकों ने तालियों की गड़गड़ाहट से स्वागत किया। आरती के थाल लिये श्रद्धामय भाव से नृत्य चल रहा था....

कि आग....आग....की आवाज़ें नेपथ्य से आयीं....क्षण दो क्षण का असमंजस—तभी स्टेज के पीछे लपटें उठती दिखायी दीं और घबराये हुए अभिनेता इधर से उधर भागने लगे—पानी लाओ....मिट्टी डालो....पर धू-धू करती लपटें पर्दों और लकड़ियों को निगलती आरही थीं....हंगामा मच गया, दर्शकों में भगदड़ मच गयी और पचास-साठ आदमी स्टेज पर पिल पड़े....

बाजामास्टर बदहवास से इधर-उधर दौड़कर पर्दे गिरा रहे थे....हबीब साहब चीख रहे थे—'उधर के कपड़े खींच लो, इधर न बढ़ने पाये आग....' पर भीड़ ने गैस के हंडे तहस-नहस करके उन्हें अँधेरे की चादर में डुबो दिया।.... भाग दौड़, आग से लड़ाई और कुछ लोगों की मारपीट....बल्लियाँ उखाड़ ली गयीं। 'मारो....मारो सालों को ! एक भी भागने न पाये !' यह अचानक हमला कैसा ? कोई पहचाना भी नहीं जाता—आखिर यह हुआ क्या ? बाजामास्टर लीला की तस्वीर उठाने के लिए स्टेज पर भागे कि सर पर जैसे चट्टान आ गिरी हो, आँखों के नीचे अँधेरा....हबीब साहब के घुटने चलते ही नहीं, यह क्या किया किसी ने ? तिवारी और शिवराज किसी तरह लड़कियों को लेकर टीन में खड़ा कर आये, वे डर से चीख रही थीं....

और थोड़ी देर बाद तमाशाइयों की कुछ भीड़ उस बिखरे हुए सामान

को देखने के लिए खड़ी रह गयी थी—'यह बदमाशी है किसी की !'

'जानबूझ कर आग लगाई है, और हमला किया गया....'

हबीब साहब घुटने पकड़े एक तरफ़ बैठे हैं। बाजामास्टर बेहोश हैं—सर से थोड़ा खून आया है, एक प्राम्पटर का हाथ बुरी तरह जल गया है। लपटों ने बाजामास्टर को झुलसा दिया है। जले हुए पर्दों की राख पड़ी है, बल्लियों के जले हुए टुकड़े इधर-उधर लोट रहे हैं....दो-चार बल्लियाँ ज़मीन में बुझी हुई मशाल की तरह गड़ी हैं। पोशाकों का कहीं पता नहीं, टीन के सन्दूक अधजले लुढ़क रहे हैं—और लीला की तस्वीर का फ्रेम भर रह गया है।

बेहोशी से उठकर कराहते हुए बाजामास्टर ने वह फ्रेम देखा—बीच की तस्वीर मुक्त आत्मा की तरह लुप्त है। शरीर पड़ा है, ठीक वैसे ही जैसे उस दिन लीला का पिंजरा निस्पन्द होकर उसकी गोद में पड़ा था। तब आकृति थी, आज वह भी नहीं, आँखे फाड़े बाजामास्टर देखते हैं—क्षार-क्षार हुई सृष्टि को....ध्वस्त सपने उनकी पुतलियों में फड़फड़ाते हैं, पर-कटे पक्षी की तरह....

एक विकराल हँसी....जैसे श्मशान में कोई हँसा हो ! भयातुर-से लोग बाजामास्टर को देखते रह जाते हैं। लड़कियाँ `टीन से इधर आ गयीं, शिवराज उन्हें सँभाल रहा है। हबीब साहब आवाज़ लगाते हैं—'यहाँ से उठाओ मुझे ! लोगों को अस्पताल पहुँचाओ....' पर बाजामास्टर में अजीब-सी शक्ति आगयी है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। आँखें फाड़कर कहते हैं—'युद्ध ....कुरुक्षेत्र का युद्ध....चक्रव्यूह....हबीब साहब मारे गये....मारे गये !' उनकी चीख डरावनी लगती है....

और तब से बाजामास्टर की यह चीखें बस्ती की किसी न किसी गली में वक्त-बेवक्त सुनायी पड़ती हैं....कमला उन्हें घर में रोक कर रखती है, कोठरी में ताला बंद करके सताती है। हाँ, सताती ही है वह। शिवराज से हमेशा कहती है, 'इनके लिए कुछ करो, मुझसे देखा नहीं जाता, कोठरी में बंद करके सताना पड़ता है....'

'अकेले डर भी लगता होगा !'

'डर नहीं, दुख होता है, कभी-एभी बड़े घबरा कर रोते हैं मास्टर जी....'

और शिवराज देख रहा है—उसके पैरों तले से ज़मीन खिसक गयी है। लक्ष्य भ्रष्ट तो नहीं हुआ पर अवरोध तो है। कितनी जिम्मेदारियाँ एकदम ऊपर आगयीं। हबीब साहब चलने-फिरने से लाचार हैं। बाजामास्टर नीम-पागल हो गये हैं, अर्धविक्षिप्त ! तिवारी को स्कूल कमेटी से नोटिस मिल गया, अगली पहली को उसकी नौकरी खत्म हो रही है। विभीषण रावण का शिकार हो गया। सरनाम उलझा-उलझा रहता है, बंसिरी अस्पताल में है—जाये भी

कहाँ। और कमला तो जैसे बिल्कुल बदल गयी। उसकी हँसी न जाने कहाँ खो गयी! शिवराज से लिखा भी नहीं जाता, कुछ लिख पाता तो शायद यह घुटन कम होती। ज़िन्दगी की इतनी उलझनों में प्यार-स्नेह की बातें भी करने को जी नहीं चाहता, हर वक्त एक आग धधकती है....

नाटक कम्पनी के खिलाफ़ इस शानदार जीत ने डा० लालचन्द और 'सुनते हो जी' को पास ला दिया। दयाल जी धीरे से मुस्करा कर सब बातें सुनते हैं और माथे का पसीना पोंछते हुए अपनी राजनीतिक मण्डली में कहते हैं—'दुश्मन को मारने का सबसे बड़ा अस्त्र जनमत है! हबीब मियाँ अब सर नहीं उठायेंगे। सांस्कृतिक मोर्चा बना रहे थे....' जीत की खुशी हर मुख पर व्याप्त है।

निर्मोही जी उदास हो गये तब से। बड़ा असर पड़ा उनके दिल पर, बात सही नहीं जाती, आखिर गुबार निकल ही पड़ा, 'यह गुण्डागर्दी है! निहत्थों को मारना, आग लगा देना....कोई मर जाता तो? तो आप उसकी जान वापस कर देते? राजनीतिक दाँव-पेंच दूसरी जगह चलाइए! हबीब-साहब राजनीतिक की तरह इस नाटक में शामिल नहीं थे, यह उनका शौक है....'

सुनकर दयाल जी हँस पड़े—'आपने भी तो नगर पर विपत देखी थी! जनता का काम करने वाले को आँखें और दिमाग़ खुला रखना चाहिए! ऐसी ढुलमुल नीत से काम नहीं चलता कि आज इधर कल उधर....'

'अरे निर्मोही जी कवि ठहरे....' डा० लालचन्द ने व्यंग्य किया—'इस नाटक के पीछे क्या था, आप नहीं जानते! उस बाजामास्टर का घर अड्डा था जहाँ लफंगे घुसे रहते थे। लड़के और लड़कियों के चाल-चलन देखते तब कहते निर्मोही जी! इन कम्युनिस्टों की यही चाल है—लड़कियों के सहारे नौजवानों को गुमराह करते हैं, उन्हें बरगलाते हैं....अगर आज यह सब न होता तो कल क्या होता, इसे आप सोच भी नहीं सकते। कल आपको सुनायी पड़ता कि फलाने घर की फलानी लड़की गायब है!....आप अभी जानते नहीं....'

निर्मोही जी का पारा चढ़ गया, बोले—'यहाँ भी खूब देखा है! इसी आफिस में शराब की बोतलें खुलती देखी हैं, कुछ कहता नहीं इससे आप समझते हैं कि मैंने आँखों पर पट्टी बाँध रखी है! और क्या नहीं होता आपके यहाँ....आप खुद अपना दिल टटोलिए!'

दयाल जी चिढ़ उठे, नेता की तरह बोले—'आपका दिमाग़ तो नहीं....'

निर्मोही जी भड़क गये, 'दिमाग़ दुरुस्त है मेरा। इसी दफ्तर में नंगनाच होता है; कितनी लड़कियाँ यहाँ खादी की साड़ियाँ पहन-पहन कर अपनी

अस्मत नहीं खो गयीं ! कितनी ग्राम सेविकायें आप नेता लोगों की सेवा के लिए यहाँ नहीं रहीं ! कितने मासूम लड़कों को आप लोगों ने नहीं बरग़लाया, बरबाद नहीं किया....'

'चुप रहिए....ज़बान बंद कीजिए !' 'सुनतो हो जी' श्री गीतानंद ने आँखें लाल कीं ! निर्मोही जी का रोम-रोम जल रहा था—'आप कह रहे हैं यह ! क्या ज़रूरत है आपकी कि आप दिन रात इस आफ़िस में पड़े रहें.... और कामिनियों का बाज़ार जोड़े रहें....'

दयाल जी ने नीति पूर्ण रुख अपनाया, बहुत नरमी से बोले, 'निर्मोही जी, हटाइए यह सब ! किसी की व्यक्तिगत ज़िन्दगी से हमें क्या लेना-देना ! कितने काम हमारे सामने पड़े हैं, उन्हें पूरा करना है। देश का....'

'देश का नाम मत लीजिए मेरे सामने !' निर्मोही जी वश में नहीं आते—'आपके उन देश सेवकों को भी देखा है जो दिल्ली के दरबार में जीभ कटे मेमनों की तरह बैठते हैं ! आप कहते हैं किसी की व्यक्तिगत ज़िन्दगी से हमें क्या मतलब ! उसे हम नज़र अंदाज़ नहीं कर सकते। जो सेवा का व्रत लेगा, जनता के जीवन में उतरेगा, उसके हर क्षण पर जनता का अधिकार है, अगर वह सड़ेगा तो उसे हम काट फेंकेंगे !'

'आपका दिमाग़ सड़ गया है !' 'सुनते हो जी' चीख कर बोले। 'मैं नहीं आप सब सड़ गये हैं—क्या करते हैं आपके एम० पी० साहब ? उनकी बीवी ने किस ग़म में दम तोड़ा है ? और आज से आठ साल पहले पत्रकार देवदास की हत्या क्यों करायी गयी ?....उस सिंह को तुम कायरों ने पजावे के पीछे मरवा डाला ! रात के अँधेरे में ! और आज यह सब करा डाला ! ऐसे नपुंसक और चरित्र भ्रष्ट नेताओं को लेकर हम क्या करेंगे ? कौन नहीं जानता कि उनका चरित्र कैसा है....उनको योग्यता क्या है ? जाति के बल पर मज़ा लूट रहे हैं आप ! यह जातिवाद फैलाने वाले आप लोग हैं, इस गुण्डागर्दी की ज़िम्मेदारी....' कहते-कहते निर्मोही जी तैश में उठ कर खड़े हो गये और कहते हुए सीढ़ियाँ उतर गये—'मैं पर्दाफ़ाश करूँगा इन हरकतों का ! इस ज़ुल्म के खिलाफ़ आवाज़ उठाऊँगा !'

हलकी हँसी कमरे में गूँज गयी, 'दिमाग़ फिर गया कवि जी महाराज का !'

'अखबार निकालेगा शायद !'

'कलक्टर इज़ाजत देगा, तब न !' दयाल जी ने कूटनीतिक ढंग से कहा —'मज़ाक समझते हैं !'

पर वह मज़ाक हो ही गयी, सुनायी पड़ा निर्मोही जी पाक्षिक साहित्यिक पत्र निकाल रहे हैं और सम्पादकीय में राजनीतिक नोट दे रहे हैं। सुनते चलो, खबरें हैं। खबरें नहीं, सचमुच ! जवाब दे लिया जायेगा। अपना आदमी था,

नाराज़ हो गया है मना लेना ठीक है। क्या ज़रूरत है?—ज़रूरत सबकी पड़ती है....

....रंगीले पिछले दिनों मुकद्दमे की चाल से समझ रहा था कि सचमुच जीवन में ज़रूरत सबकी पड़ती है! ऐसे पलटे खा रहा था मुकद्दमा कि उसकी समझ के बाहर होता जा रहा था। घर आता, चुप पड़ा रहता—बंसिरी की हालत नाजुक थी, दिन-रात घंटा-मिनट लगा था। अस्पताल में ही प्रसव का इन्तज़ाम हो सकता था, और क्या होता? सुबह उठकर निकल जाता। चरही में हाँक-हाँफ कर पानी भरता, भजन भी नहीं गुनगुनाता। खामोशी से चरही भरता और घर लौट आता, जैसे दुनिया से कट गया हो, देखकर बंसिरी परेशान होती पर उसे एक ही संतोष था—वह सरनाम को सात साल के लिए जेल जाते हुए देख पायेगी....देख भी पायेगी या नहीं, मन कैसा होगा? पछतावा तो नहीं होगा? पछतावा कैसा....

रंगीले इधर कहीं से बिल्ली के बच्चे पकड़ लाया था, उन्हीं से उलझता रहता, बंसिरी पर कभी-कभी गुस्सा भी आता। किस झंझट में डलवा दिया! जनने का समय सर पर और यह मुसीबत पीछे लगी है, दिमाग़ को फ़ुर्सत ही नहीं मिलती।

बंसिरी ने सहारा खोजा, गेंदाकवि को चिट्ठी डाली कि वह कुछ दिनों के लिए यहाँ चला आयें। अभी तक कोई जवाब भी नहीं आया। रमते जोगी का कौन ठिकाना....

सरनाम के सर पर दोहरी तलवार लटक रही है! हाकिम के रुख़ का कुछ पता नहीं चलता, न जाने ऊँट किस करवट बैठे। और इस लाइन के मोटरों के राष्ट्रीयकरण की खबरें ज़ोर पकड़ती जा रही हैं। अपनी बसें चलाकर पिछले दिनों सरकार को बहुत फ़ायदा हुआ है, वह अपना फ़ायदा देखती है, मजदूर का पेट नहीं। आखिर क्या इन्तज़ाम होगा इन ड्राइवरों और क्लीनरों का, जो बेकार होकर बैठ जायेंगे! सरकारी ड्राइवर आयेंगे तब इन्हें कहाँ काम मिलेगा भला!

मोटर मालिक यूनियन के मालिकान लखनऊ की दौड़-धूप में लगे हैं, धड़ाधड़ प्राइवेट कैरियरों के लैसंस बनवा रहे हैं, दस-दस पाँच-पाँच हज़ार देकर, जैसा सौदा पट जाय। पर इन मजदूरों का पेट कट जायगा! मालिक भी क्या करें? भागते भूत की लँगोटी पर सन्तोष कर रहे हैं। सरनाम के मोटर मालिक—जैन बाबू लखनऊ जाते हुए थोड़ी देर के लिए रुके थे, बड़ा अफसोस था उन्हें, उन्होंने ही ख़बर दी थी—'अगली पहली से सरकार बसें चलने का आर्डर हो गया है। क्या करें भाई। बहुत कोशिश की पर कुछ हुआ नहीं....' लैसंस मिलने वाली बात दबा गये। कहते थे—'क्या बतायें,

तुम लोगों से प्रेम-मुहब्बत हो गयी थी, पर मजबूरी है। मेरा बस चलता तो अपने एक भी आदमी को बेकार न होने देता, लाचारी है अब तो !'

सरनाम पिछले दिनों से छुट्टी पर था। फैसले की तारीख बढ़ती जा रही थी। शिवराज के रंग-ढंग समझ में नहीं आते ! रंगीले से वह मिलना चाहता था पर वह मुँह चुराये था। सामने ही नहीं पड़ता। बड़ा मन करता, एक बार बात तो करले—फैसले के बाद ये सब शक्लें समय की लम्बी दीवार की ओट हो जायेंगी, लम्बे सात साल—कौन जिये कौन मरे....कौन भटक जाये ! मन की बात तो कर लेता....और....और उस बंसिरी को एक बार देख तो लेता, जिसका शाप धारण करके वह चुपचाप चला जाने को तैयार है ! मन बेहद डूबता है। हर तरफ़ खण्डहर नज़र आते हैं, हर इमारत ध्वस्त है, बरबादी.... टूटन और अकुलाहट। पर मन न जाने कैसा होगया है। बैर, घृणा, द्वेष से ऊपर उठ गया है। दुश्मन-दोस्त सब बराबर हो गये हैं। जी करता है हरेक से लिपट-लिपट कर रोये, ख़ूब रोये....आँखों से ओझल होने वाली इन गलियों, सड़कों, दूकानों, बाजारों को अच्छी तरह देखकर अपनी आँखों में अंकित कर ले ! ये छूटती हुई राहें-पगडंडियाँ ! ये गलियाँ, ये सड़क ! चेहरे....दुख-सुख....ज़िन्दगी की गति। घने इमली वृक्षों की छाँह और गुरगुरा कर भागने वाली मोटरें....पेट्रोल और मोबिलआयल की महक, कालिख से पुती श्रमशील अँगुलियाँ....चौराहे, चाय की दुकान ! और वह मशीनी की दुनिया, टूटे कल-पुर्ज़ों का संसार....और उसकी एकांतिक वेदना का साथी बैंजो !

सोचकर मन को धक्का लगता है—इस अड्डे का सब कुछ बदल जायेगा ! धूल भरी खड़खड़ातीं मोटरें ख़ामोश हो जायेंगी। शाम को जमने वाली ताश पत्तों की महफिल वीरान हो जायेगी। ये दिलेर लोग बिखर जायेंगे। एक ज़िन्दगी ही ख़त्म हो जायेगी ! कैसे देखेगा यह सब ! अच्छा होता, पहले फैसला सुनायी पड़ता और वहीं से अपनी सूनी राह पर चला जाता, यह सब न देखता, इन आँखों से। सचमुच देखा नहीं जायगा ! वह कचहरी से सीधा चला जायगा, इधर आयेगा ही नहीं। सरकारी बसें पहली तारीख से चलेंगी और फैसले की तारीख है तीन ! बोतल....बोतल....होशो-हवास गुम कर देने वाली दवा !

और उसने यही तय किया था। वह कल ही बाहर चला जायेगा ! बस तीन तारीख की सुबह स्टेशन पर उतर कर सीधा कचहरी जायेगा और वहीं से सीधा उस अनन्त, सुनसान राह पर ! उन सीकचों के पीछे, जो अपने सिवा और कुछ देखने नहीं देते।

जाने से पहले रंगीले और बंसिरी को देखने का मन करता था—रात की गाड़ी से उसे जाना था। भीतर-ही-भीतर कुछ छटपटाता है....उसके

पैर उठते जाते हैं और वह रंगीले के मकान वाली गली में हैं। वह कैसे आ गया यहाँ। दूर खड़ा होकर मकान देखता है—टाट के पर्दे से लालटैन की रोशनी छन रही है....एकटक देखता है—कोई छाया गुज़रती है उस पर्दे के पीछे—शायद बंसिरी....ज़रा पर्दा हटाकर झाँक तो लेती एकबार! नहीं, शायद रंगीले होगा—मेरे दोस्त! तेरे कंधे पर सर रख कर रो लूँ आज। मैंने कुछ भी बुरा नहीं माना—सच बंसिरी....सच रंगीले! यही तो मुझे पाना था एक दिन। तुमने क्या किया है? वह घर के सामने से कई बार गुज़रता है—प्यासी आँखों से ताकता है, हर बार....अब तो रोशनी भी नहीं, क्या करेगा मिल कर ....बिदा! मुझे माफ़ करना तुम दोनों....

चलती गाड़ी से सर निकाले हुए सरनाम अपने उस छोटे-से स्टेशन को पीछे छूटते हुए देखता रहा....गाड़ी चलती गयी....दूर बस्ती की बत्तियाँ टिमटिमाती रहीं....अँधेरी रात में यादों की लौ-से चिराग! बस्ती बिरानी हो गयी—अब यह मोहक, नशे में डूबी उदास रातें वह कहाँ देख पायेगा! डबडबायी हुई आँखों के पार सब डूब गया....

....निर्मोही जी का दिल बुरी तरह दुख गया था। वे हबीब साहब के पास समवेदना और घटित हुए काण्ड का विरोध जताने के लिए पहुँचे थे। उनके पैर में चक्कर समा गया। हरीहर प्रेस के मैनेजर के पास जमकर दिन-रात एक पाक्षिक पत्र निकालने की योजना पर विचार करते रहे और वह दिन भी आ गया जब उनके अख़बार 'जनवाणी' का पहला अंक छप कर निकला—

मुख पृष्ठ पर हबीब साहब और बाजामास्टर की तस्वीरें—साथ में उस घटना की सच्ची रिपोर्ट! एक कहानी, दो कविताएँ और आग उगलता हुआ सम्पादकीय! पहले ही अंक से सनसनी फैल गयी थी शहर में! एक झोले में डालकर दूकान-दूकान जाकर खुद बाँट आये थे! सर पर जुनून सवार था! हर अन्याय, ज़्यादती के खिलाफ़ 'जनवाणी' गूँजेगी!

उनके घर के बाहर एक बोर्ड लटक गया है—जनवाणी कार्यालय, संस्थापक एवं सम्पादक: निर्मोही! शिवराज कभी-कभी आकर घन्टे-आध घंटे बैठता। अनेकों बातों पर वादविवाद होता। पसीने से लथपथ निर्मोही जी अपनी टूटी कुर्सी पर बैठकर सब कुछ लिखते हैं और चश्मा ठीक करते हुए हरीहर प्रेस की ओर दौड़ते नज़र आते हैं....

जगमोहन तिवारी की नौकरी तो छूट गयी पर वह खामोश नहीं बैठा—निर्मोही जी का साथ बड़ा सहायक हो गया। इस अंक में तिवारी का पूरा मामला और कायस्थ सभा स्कूल कमेटी का कच्चा चिट्ठा छप रहा है! हर ज़ुल्म के खिलाफ़ आवाज़ उठाने की शपथ खायी है 'जनवाणी' ने। इस जातिवाद के खिलाफ़ निर्मोही जी की क़लम उठी है। वे इसे समाप्त करके

रहेंगे। इस अंक की कापियाँ एजूकेशन डायरेक्टर और मिनस्टर तक जायेंगी!

बाजामास्टर अपने चेहरे पर खड़िया पोत कर स्टेज पर जाने के लिए तैयार होते हैं, कपड़े बदलते हैं और अभिनेताओं की तरह हाथ फटकार-फटकार कर कहते हैं—'हबीब साहब मारे गये! हा....हा....हा....' उनकी हँसी सुनकर कमला डर जाती है। फिर वह फुसफुसाकर कहते हैं—'देखा लीला! तुझे ज़िन्दा कर दिया मैंने....' कहते-कहते नाखूनों से अपना मुँह नोच डालते हैं....खून की धारियाँ त्वचा पर उभर आता हैं, शक्ल और भी डरावनी हो जाती है। कमला उन्हें पकड़ कर कोठरी में बन्द कर देती है और खुद देहरी पर बैठकर घन्टों रोती है, आँखें सुजा लेती है।

शिवराज से नहीं देखा जाता यह सब। एक दिन उसकी सूजी आँखों को देखकर बोला—'कमला, रोओगी तो मैं सब तहस-नहस कर डालूँगा, मेरी तरफ़ देखो....'

कमला ने देखा, उसकी उदास आँखों में ममता भरी थी। बहुत बोझ से वह बोला था—'अगर तुम्हें दुख होता है तो चलो हम आज शादी कर लें, जो होगा देखा जायगा....'

कमला बोली—'मुझे ग़लत मत समझा करो!' आँखें झुकाए-झुकाए ही वह आगे बोली थी, 'मैं कब कुछ कहती हूँ। कुछ छिपा तो नहीं मुझसे।'

शिवराज का गला रुँध आया था, 'जरा पैर जमालूँ कमला; वैसे तुम्हें आज बंसिरी दीदी के पास ले चलता पर वह अस्पताल जाने वाली हैं।'

'मैं मास्टर जी को ऐसे छोड़कर जाती भी नहीं, इन्हें कौन देखेगा!' कमला ने कहा था।

बाजामास्टर की हालत का प्रसंग आते ही शिवराज घबरा-सा गया, पर बोला, 'सब ठीक होगा....ठीक होगा कमला!'

कमला उसके कन्धे पर सर रखे बड़ी देर सन्तुष्ट-सी खड़ी रही थी! अपनी लिखी हुई कविताएँ कमला को दिखा कर वह तिवारी के पास चला गया। स्कूल कमेटी के निर्णय के खिलाफ़ तिवारी की अर्जी ज़िला विद्यालय निरीक्षक के पास पहुँचाना था—उसे मौक़ा देखकर निकाला गया है। सर्विस बुक उसकी मेहनत और ईमानदारी की गवाह है, पर वह कोई देखता नहीं। उसके स्थान पर एक कायस्थ मास्टर की नियुक्ति भी हो गयी, पर अभी तक कोई सुनवायी नहीं हुई!

बाजामास्टर वैसे ठीक रहते हैं, पर कुछ दिन ठीक रहने के बाद अकस्मात न जाने क्या हो जाता है और वे कभी-कभी कमला की आँख बचाकर बाहर निकल जाते, गलियों में ठहाके लगाते—'लड़ाई....बम्—बम् बम्म! कभी दार्शनिक हो जाते। तम्बाकू वालों की दुकान पर बैठ कर लोगों को

समझाते—'सीधी सड़क है एक! पर....हर गली में आदमी घूमता है!' उनकी आँखें बाहर को निकली-निकली पड़ती हैं, मुँह से झाग आता है। ज़मीन पर थूक कर पहियों की तरह हाथ चलाते हुए छुक-छुक करते वे किसी गली में दौड़ जाते हैं, शोर मचाते हैं, गालियाँ बकते....दो-दो दिन कमला इन्तज़ार करती। फिर कभी अपनी रौ में वह कमला को पुकारते हुए लौटते हैं और घर आकर पड़ जाते हैं....सोते हैं, हँसते हैं, रोते हैं!

....बस्ती का जीवन बोझिल उदासी से भर गया था। कोई मेला-तमाशा नहीं, ऋतु के त्यौहार नहीं, शादी-ब्याह नहीं, राजनीतिक हलचल नहीं। जैसे घूमता हुआ चरख थक कर स्थिर हो गया हो। वही चिर-पहचाने काम-काज—धीरे-धीरे रेंगती ज़िन्दगी। कुछ ऐसी खामोशी छायी थी शहर पर कि चौराहों पर होने वाले लड़ाई-झगड़े भी नहीं सुनायी पड़ते थे। सड़क पर कोई गाय-बकरी को भी नहीं हुलकारता। वक्त से मोटरें आतीं, अड्डे पर खड़ी हो जातीं, भरतीं—चली जातीं। स्टेशन से इक्के कंकड़ की सड़क पर खड़-खड़ करते आते और किसी पेड़ की छाँह में रुक जाते। घोड़ों के मुँह में रातब की बाल्टियाँ लटका कर इक्के वाले बेकारी भी नींद सोते या घोड़े की मालिश करते।

और यह सब था मंडी की वजह से—जहाँ सारा कारोबार अगली फ़सल तक के लिए लगभग ठप था। मंडी के फड़ों पर तौला लोग बैठकर रामायण बाँचते और मुनीम पुराना हिसाब मिलाकर रोकड़ बही ठीक करते....एकाध पनचक्कियों की पुक-पुक की तीखी आवाज़ बस्ती की धड़कन की सूचना देती....

ज़िन्दगी ऐसे बह रही थी जैसे उतार पर आयी नदी। आसमान पर न बादल आते, न धुंध छाती। अबाबीलों के झुंड जो आसमानी ऊँचाइयों पर उड़ा करते थे, न जाने कहाँ खो गये थे! ऊँघता हुआ पिंजर-सा शहर—रीढ़ की हड्डी-सी अकेली सड़क और उसमें पसलियों की तरह जुड़ी हुई सत्तावन गलियाँ! जब सड़क पर हलचल होती तो गलियाँ भी थरथरातीं!

जब-जब ऐसी खामोशी छाती है तो शहर के नेता लोग कान खड़े करते हैं—कुछ होना चाहिए। अगले महीनों में जिला बोर्ड के इलैक्शन होने वाले थे, दिमाग़ों में कीड़ा रेंगा। उससे पहले ज़िला कांग्रेस कमेटी का चुनाव भी सम्पन्न होना था। यादवों की टोली दो भागों में बँट गयी थी—दोनों गुट के लोग अपना-अपना प्रधान चाहते हैं—भीतर-भीतर झगड़ा बढ़ गया। एक कांग्रेसी एम० एल० ए० ने जोड़-तोड़कर प्रान्तीय कमेटी के प्रधान के दौरे का आयोजन किया। उनके प्रतिनिधि को बल प्राप्त होगा! शहर में थोड़ी रौनक़ आयी। चुंगी दफ़्तर की पुताई हुई। कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में रहने वाले

परिवार को हटाया गया। ज़िला बोर्ड के फर्नीचर पर रोग़न लगना शुरू हुआ और खादी के कुरते-पैजामों और टोपियों की धुलाई शुरू हुई....

जगह-जगह इश्तहार चिपकाये गये—प्रान्तीय कमेटी के प्रधान जी का शुभागमन !

पर इस सारी तैयारी के बीच निर्मोही जी काँटे की तरह करक रहे थे। कहीं कोई बवाल न खड़ा कर दें। तहसील घिरोर में जो कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं और किसानों में मारपीट हुई थी, वह इसी की कारस्तानी थी....बेबर तहसील में कम्युनिस्टों के साथ इसी निर्मोही ने थाना मंत्री को घर के भीतर बंद करवा दिया था....ग़ैर-जिम्मेदार ढंग से लिखता है, जानता नहीं राजनीति शालीनता से चलती है, पर वह दंगा-फ़साद कराने को उतारू रहता है। तरह-तरह की अटकल बाजियाँ लगायी जा रही थीं। एक आदमी उनके पीछे भी लगाया गया था कि सारी ख़बरें पता लगा कर देता रहे।

—सुना है निर्मोही जी कांग्रेस प्रधान के आगमन पर काले झण्डों का जुलूस निकालने की सोच रहे हैं....

—जनवाणी का स्पैशल अंक छाप रहे हैं, जिसमें प्रधान जी से अपील की जा रही है। सत्तारूढ़ मंत्री और सभापति के ख़िलाफ़ भयंकर लेख जा रहे हैं !

—जनता से वह किसी स्मृति पत्र पर हस्ताक्षर करा रहे हैं, जिसे प्रधान-जी के हाथों में देने की बात है....

—कहते हैं, अगर कांग्रेसियों ने बदमाशी दी तो उनका मुक़ाबला करने के लिए हमारा गोल तैयार है !

—खून-खच्चर तक का डर नहीं....

—खून-खच्चर तक का डर नहीं ? जैसे-जैसे प्रान्तीय प्रधान के दौरे का दिन नज़दीक आता गया, दयाल जी और गीतानन्द कलक्टर और एस० पी० के पास दौड़-भाग करने लगे ! 'झगड़ा हो जाने का डर है ! निर्मोही विरोध प्रदर्शन की तैयारी कर रहे हैं, उसके गुण्डे अभी से कांग्रेस के कार्यकत्ताओं को रास्ता चलते धमकाते हैं, छेड़ते हैं, टोपी उतार लेते हैं। यह चीज़ कितना उग्र रूप धारण करेगी, इस पर विचार कीजिए ! शहर में शांति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी हरकतों को रोका जाय !'

अफ़सर सिर हिलाते हैं; पर गीतानंदजी को संतोष नहीं होता। कोतवाल साहब हाथ के आदमी हैं—धड़ाधड़ शहर की खतरनाक हालत की तीन-चार खुफ़िया रिपोर्टें ऊपर पहुँचायी गयीं ! 'जनवाणी' का मुँह बंद करना है।

और निर्मोही जी अपने विशेषांक का मैटर तैयार करते रहे। वे स्मृति-पत्र देना चाहते हैं। शहर की दुर्दशा और कार्यकर्ताओं के निकम्मेपन का

चिट्ठा खोल कर रख देंगे ! जनता की अदालत में फैसला करवायेंगे !

और रंगीले अपने मुकद्दमे का फ़ैसला सुनने के लिए बेचैन था। उदासी ने उसे बाँध रखा था—फ़ैसले का दिन ! बंसिरी के दर्द उठ रहे हैं। वह सुबह उसे अस्पताल में छोड़ता हुआ कचहरी चला गया। गेंदाकवि का आसरा देखता रहा, शायद आ जायें पर नहीं आये, अभी तक। मन में हज़ार शंकाएँ थीं—न जाने क्या हो जाय....

और स्टेशन पर सुबह की गाड़ी से सरनाम उतरा। परदेसी की तरह। शिवराज को देखने का मन था, उसे बुलवा लिया था। शहर की तरफ़ आया भी नहीं। सीधा कचहरी चला गया था।....

कचहरी के अहाते में खासी भीड़ थी। बाबू लोग भी अपना-अपना काम छोड़ कर डकैती का फ़ैसला सुनने के लिए जमा थे। गिरफ्तार मुजरिमों को जेल से लाया गया था। सरनाम ऐसे घूम रहा था जैसे किसी को पहचानता तक नहीं। उसकी आँखें रंगीले को खोजती रहीं, पर वह जज के आने पर इजलास में दिखायी पड़ा ! और घोर सन्नाटे के बीच जब डकैती के मुजरिमों की रिहाई का फ़ैसला सुनायी पड़ा तो कमरा गूँज उठा। गूँज-अनुगूँज और पचासों कण्ठों का तुमुल कोलाहल ! मुजरिमों के रिश्तेदारों और साथियों ने कमरा सिर पर उठा लिया—और उस हर्ष और मुक्ति के अह्लाद में किसी ने आगे की बात नहीं सुनी....

रंगीले का कलेजा धक् से रह गया ! सब उलट गया—झूठी गवाही देने के जुर्म में तीन साल की सख़्त कैद ! आँखों के नीचे अँधेरा छा गया....यह क्या हुआ मेरे भगवान ! अब क्या होगा ? सर पकड़ कर वह वहीं बैठा रह गया। बेहोशी-सी आरही थी....और पुलिस की हथकड़ियाँ उसके कानों के पास हज़ार-हज़ार घंटों की तरह घनघना रही थीं....

चाह कर भी सरनाम उसके पास सान्त्वना देने नहीं जा पाया। कटे पर नमक छिड़कना हो जायेगा अब तो ! पर मन चीत्कार करता रहा—अभी भी कोई उसे बंद करके रंगीले को छोड़ दे....

शिवराज मिला तो उसने आँखें पोंछते हुए कहा—'भगवान की यही मर्जी थी। परबस हो गया मैं तो। भइया, जरा उसका खयाल रखना, अस्पताल में देखभाल रखना, तुम्हारे ऊपर ही छोड़े जाता हूँ उसे, जरूरत पड़े तो उसका एकाध जेवर बेच लेना पर गड़बड़ न होने पाये....' कहते-कहते उसका स्वर डूब गया था।

शिवराज ने आश्वासन दिया, 'बिलकुल चिंता की बात नहीं है। मैं पूरी देख-भाल रखूँगा। दस-पाँच दिन नहीं, हमेशा ! कमला को उनके साथ कर दूँगा। अस्पताल से जब वह घर आयेंगी तो मैं वहीं रहने लगूँगा....'

रंगीले की आँखों में याचना भरी कृतज्ञता थी। देखा नहीं गया शिवराज से। सैकड़ों चिन्ताएँ, अभिलाषाएँ, उसके मन में घुमड़ रही थीं; बहुत कुछ कहना चाहता था पर कुछ भी नहीं कह पाया। बोला—'गेंदाकवि को ज़रूर बुला लेना....' फिर मुँह नीचे झुका कर बोला था—'और सरनाम भइया से कहना....मुझे माफ़ करें....'

इसके बाद वह कुछ भी नहीं बोल पाया। दो सिपाहियों की हिरासत में जेल वाली सड़क पर सर झुकाये चलता चला गया था....

सरनाम का मन बेहद उदास था। घूमता-घामता जब घर की तरफ़ आया तो अड्डे पर जाकर बैठने को जी हुआ....बिलकुल भूल ही गया था कि यहाँ नयी सृष्टि होगी—

देखकर बड़ी चोट पहुँची मन को—वे तखत जिन पर ड्राइवर और क्लीनर लस्त होकर पड़ रहते थे, अब नहीं थे। वहाँ सरकारी बसों का टिकट घर खड़ा था। छप्पर वाली कोठरी की जगह टीन का शेड पड़ा था और नीली-नीली बसें शान से खड़ी थीं....वर्दी धारी ड्राइवर और कन्डक्टर इधर-उधर आ-जा रहे थे। सवारियाँ एक तरफ़ क़ायदे से बैठी थीं, जैसे विदेश में यात्री पड़े हों! वह अपनापन, वह मेल-मुहब्बत, जान-पहचान, सब खो गयी थी। परिचित चेहरे न जाने कहाँ छुप गये थे! उजड्ड किसानों की नज़रों में खौफ़-सा समाया था! टूटी बाडी वाली लारियाँ; इमली के नीचे खड़ी होने वाली बीमार मोटरें—सब लापता थीं! वह हंगामा नहीं था....वह ज़िन्दगी नहीं थी... सब कुछ नया था; अच्छा था, पर सब अच्छाइयों के बीच कुछ ऐसा था जो नहीं था—रीता-रीता....उजड़ा-उजड़ा! सिर्फ़ एक पुरानी मशीन पड़ी थी, जहाँ की तहाँ, उसकी चिर-पहचानी; उसी के पास जाकर बैठा रहा, अपनापन था उसमें, उसके लिए भी मन में कहीं कोई जगह थी....

पहले दिन सरनाम ने स्वयं शिवराज को अस्पताल भेजा था—'कोई तकलीफ़ न होने पाये उसे। जिस चीज़ की ज़रूरत हो मुझसे बताना!'

दूसरे दिन वह खुद गया था, पर कैसे देखे उसे? सुख-दुख कैसे पूछे? नर्स से चुपचाप हाल पूछ कर चला आया। सुबह-शाम मन ही नहीं मानता। उसके पैर उसे अस्पताल के फाटक पर लाकर खड़ा कर देते हैं। हर बार हिचक होती है। तरह-तरह के खयालों में डूबा वह फाटक के आस-पास घूमता रह जाता। लौटने को होता है, पर अनजाने-अनचाहे ही भीतर घुसकर नर्स से हाल पूछ कर वापस चला आता है....शिवराज पूरी देख-भाल करता है, जाकर बंसिरी के पास कुछ देर बैठता है; बंसिरी और बच्चे का हाल जानने की उत्सुकता देख कर उसे सरनाम पर आश्चर्य होता है....

गेंदा कवि आगये थे इस बीच—शिथिल तन, शिथिल मन! गेरुआ

वस्त्र, गले में कंठी और हाथ में चिमटा और तूँबी। आँखों में वैराग्य और कंठ में कबीर—धीरे-धीरे चिमटे पर गुनगुनाते हैं—कबिरा गरब न कीजिए.... कबहुँ न हँसिए कोय....आपन नाव समुद्र में ना जाने का होय ! मन की शान्ति मिलती है इससे, माया-मोह का जंजाल कटता है....

....बस्ती में रौनक़ छा रही है। प्रान्तीय प्रधान का आगमन है कल ! जगह-जगह फाटक सजाने के लिए बल्लियाँ गाड़ी जा रही हैं। स्वागत का भारी इन्तज़ाम है। बड़ी सरगर्मी है।

निर्मोही जी ने अपना पर्चा बँटवा दिया, जनता में। कल पूरा अखबार निकलेगा, रात भर छपायी होगी।

दयाल जी राजनीति खेल गये। पाँच-सात पक्के स्वयंसेवकों में फ़र्जी मारपीट करवा दी, कुरते फट गये, टोपियाँ जला दी गयीं....शोर मचा—'मारपीट हो गयी, बड़े चौराहे पर बड़ी कस के मार-तोड़ हुई है।....' मार खाये हुए लोग कोतवाली में अपने चिथड़े कुरते और अधजली टोपियाँ पेश करते हैं—'सब निर्मोही की करतूत है !....'

कोतवाल साहब के पास ऊपर वाले साहबों का आडर है, शहर के तीन इज्ज़तदार नेताओं ने 'जनवाणी' सम्पादक पर [illegible] का दावा किया है। शहर की शांति बनाये रखना पुलिस का फ़र्ज है।

पुलिस ने अपने साथ लाये हुए डंडे और काले झंडे 'जनवाणी कार्यालय' से 'बरामद' किये !

गिरफ्तारी....निर्मोही जी गिरफ्तार हो गये ! कुर्सी से खींच कर पकड़ ले गयी पुलिस—'और निकालो अखबार ! नेताओं का विरोध करो !'

शहर में सन्नाटा है—जैसे घंटे बजाता हुआ हाथी निकल गया हो....

शाम हो गयी। गलियों के नुक्कड़ों पर लालटैनें टिमटिमा उठीं....जैसे लम्बी सुरंगों के मुहाने पर थोड़ा उजाला हो। ऊँचे-ऊँचे इमली और नीम के पेड़ों की कालिख के नीचे पूजा के दियों की तरह मकानों की खिड़कियों से रोशनी की लौ चमक उठी ! ठठेरों वाली गली की भट्टियाँ अभी धधक रही हैं....लोहा तप रहा है, पर दिन भर की मशक्कत से चूर, घन उठाने वाले हाथ अभी अँगुलियाँ चटका रहे हैं !

बिसातियों वाली गली में अभी गैस लैम्पें जल रही हैं—गाँव लौटता हुआ किसान चलते-चलते चुटीला, नाखून की लाली, अंग्रेजी महावर, आरसी और माथे की बिंदिया माँग बैठता है....

मिठाईवालों की गली में लड़के दही-पेड़ा खरीदने इसी वक्त आते हैं। उन्हें सुबह इम्तहान देना है....भंगियों की गली में अभी चिराग़ जल रहे हैं—कोई भगत किसी जवान औरत का भूत उतार रहा है....चौबों के मुहल्ले में

बूटी घुट रही है....'जय शिवशंकर भोलेऽऽनाथ!....'होली के बाद मेले में उन्हें सिर्फ कागज़ और बाँस की खपच्चियों का कंस मारना है....कायस्थों के मुहल्ले में चश्मा लगी पैनी आँखें शतरंज की बिसात पर जमी हैं—पैदली मात.... मंडी के फाटक पर गोरखा पहरेदार करौली लिये खड़ा है....कुम्हारों की गली में मिट्टी के कच्चे बर्तनों का ढेर लगा है। कुम्हारिनें आँवा लगाने के लिए उपले बिछा रही है....

कांग्रेस दफ़्तर में कल के स्वागत के लिए झंडियाँ बन रही हैं।

और कुछ गलियाँ इतनी अँधेरी पड़ी हैं कि उनमें कुछ दिखायी नहीं देता।....

सड़क पर आवारा जानवर घूम रहे हैं....

और हबीब साहब अपनी बैठक में दो-चार लोगों के साथ बैठे अपने चोट खाये घुटनों को सहलाते हुए फटी आवाज़ में समझा रहे हैं—'रास्ता सिर्फ़ यही है, यही वह सड़क है जिससे हम मंज़िल तक पहुँच सकते हैं....'

गेंदाकवि चौराहे वाली मठिया पर अफ़ीम की पिनक में लेटे कबीरदास के दोहे गुनगुना रहे हैं....जगमोहन तिवारी कायस्थ सभा स्कूल कमेटी के चेयरमैन के घर पर अर्जी लिये खड़ा है और कह रहा है—'अगर अर्जी का कोई लिखित जबाब नहीं मिलता तो मैं यहीं धरना दूँगा....'

और सरनाम बंसिरी के बच्चे को गोद में लिये अस्पताल से लौट रहा है। बंसिरी उसकी चट्टान-सी पीठ को निहारती चली आ रही है—क्यों झूठा इलज़ाम लगाया उसने....इसी सरनाम पर!....'

और कमला पगले बाजामास्टर को कोठरी में बन्द किये उस दिन की राह देख रही है जब शिवराज अपने पैरों खड़ा हो पायेगा....रंगीले के बिना चरही कब से सूखी पड़ी है, प्यासे जानवर भटकते फिर रहे हैं....

निर्मोही जी ने कोतवाली की हिरासत वाली अँधेरी कोठरी में अभी क़दम रखा है। सन्तरी ने उस पर ताला लगाया है....और शिवराज 'जनवाणी-कार्यालय' का दरवाज़ा खोलकर भीतर दाखिल हुआ है। कमला को समझाकर आया है—'अखबार का निकलना बेहद ज़रूरी है, घबराना मत। सबेरे तक आ जाऊँगा....' और वह शिवराज को गली से मुड़ कर सड़क पर जाते हुए तब तक देखती रही, जब तक वह नज़र आता रहा....

★

प्रेमचन्द के देहान्त को बीस वर्ष पूरे हो गये। लेकिन जैसे-जैसे समय बीत रहा है वैसे-वैसे साहित्यकार प्रेमचंद की आकृति विशाल से विशालतर होती जा रही है। आज भारत की ही सब भाषाओं में नहीं, संसार की और भी अनेक भाषाओं में प्रेमचंद की कृतियों के अनुवाद हो रहे हैं।

प्रेमचंद की यह निरंतर बढ़ती हुई लोकप्रियता आकस्मिक नहीं है। इसके मूल में भारतीय जीवन, भारतीय आत्मा से उपलब्ध वह प्राण-तत्व है जो प्रेमचंद को आज भी जीवित रक्खे है और आनेवाली शताब्दियों में भी जीवित रखेगा। धरती से जीवन्त संस्पर्श में ही कलाकार का वास्तविक अमरत्व होता है।

प्रेमचंद साहित्य

उपन्यास

अहंकार	२॥)	प्रतिज्ञा	२॥)
कर्मभूमि	६)	वरदान	२॥)
ग़बन	५)	ग़बन (संक्षिप्त)	२)
निर्मला	२॥)	सेवासदन	४॥)
प्रेमाश्रम	६)		

*

कहानियाँ

कफ़न	२)	हिन्दी की आदर्श कहानियाँ	१॥)
नवनिधि	१॥)	ग्राम साहित्य माला १० भाग प्रत्येक का	।)
पाँच फूल	१)	जंगल की कहानियाँ	१)
समरयात्रा	१॥)	सप्त सुमन	१)
मानसरोवर ८ भाग—प्रत्येक का	३)	सप्त सरोज	।।।)
प्रेम द्वादशी	२)	प्रेम पचीसी	३)
गल्प समुच्चय	३)		

*

नाटक

प्रेम की वेदी	।।।)	होरी ('गोदान' का नाट्य रूपान्तर)	१॥)

*

जीवनी और आत्मचरित

दुर्गादास	१)	रामचर्चा	२)

*

साहित्य का उद्देश्य (आलोचना) ४)

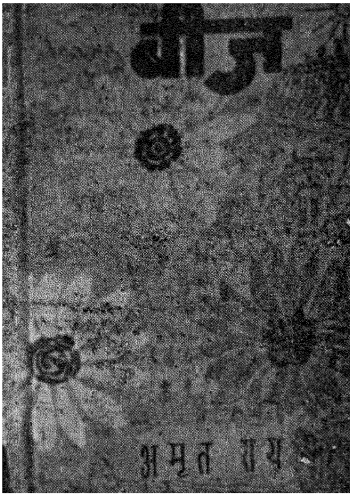

'बीज' बड़ा रोचक और गम्भीर मालूम पड़ा। मैं इसे सुन्दर कृति मानता हूँ।

—राहुल सांकृत्यायन

कामना है कि 'बीज' गोर्की की 'माँ' की तरह आदृत हो।

—आनन्द कौसल्यायन

उपन्यास उच्चकोटि का हुआ है। बड़ी अच्छी चीज़ है।

—राधाकृष्ण

जहाँ तक मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन के चित्रण का सवाल है, इधर वर्षों से इसके चित्र नहीं दिखायी पड़े।....नारी के प्रेयसी, गृहिणी, माता, समाज-सेविका आदि रूपों को उजागर करके 'बीज' ने एक बहुत बड़ी कमी पूरी की है।....हिन्दी कथा साहित्य में प्रफुल्ल बाबू जैसे चरित्र की देन 'बीज' की बहुत बड़ी उपलब्धि है। —नामवर सिंह

हिन्दी साहित्य के उपन्यास क्षेत्र में 'बीज' का प्रकाशन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। —नई रोशनी

मानस-लोक की इन विकास-कथाओं की हिन्दी साहित्य को बड़ी सख़्त ज़रूरत थी। —जनयुग

इसमें कोई शक नहीं कि 'बीज' हिन्दी उपन्यासकला का एक मापदण्ड है और हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों में एक है। —विशाल भारत

'बीज' श्री अमृतराय का सर्वप्रथम उपन्यास है जो उनको अनायास ही हिन्दी के जीवित उपन्यासकारों की पहली पाँति में लाकर खड़ा कर देता है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

'बीज' पढ़ा। पढ़कर बड़ी तृप्ति हुई। एक नयेपन, एक ताज़गी का अनुभव हुआ। —इलाचन्द्र जोशी

उपन्यास इतना आकर्षक है कि हाथ से छूटता नहीं। शैली इतनी सरल और इतनी जीवन्त कि लगता है कोई गले में हाथ डालकर घुलमिलकर बात कर रहा है। —आकाशवाणी प्रयाग

पृष्ठ संख्या ५२७ * मूल्य ७॥)

अमृत की सम्पूर्ण रचनाओं के सूचीपत्र के लिए लिखिए।

'हंस' के ग्राहकों को 'बीज' और अमृत की सभी रचनाओं पर पचीस प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय को किसी परिचय की जरूरत नहीं है। उनकी ख्याति स्वयं उनका परिचय है। वह इतिहास के असाधारण पंडित हैं और प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति उनका मुख्य विषय है। इस क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण शोध-कार्य किया है और अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिन्हें भारत के ही नहीं विदेशों के भी विद्वानों ने बहुत सराहा है। परन्तु इसके साथ ही साथ डॉ० भगवतशरण उपाध्याय में एक बड़ी विशेषता यह है कि वह केवल विद्वानों के लेखक नहीं हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास तथा वाङ्मय को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए भी बहुत काम किया है।

भारत के पास अपनी कला और संस्कृति की एक ऐसी निधि है जिसपर हमें गर्व है। अपनी चार-पाँच हज़ार साल की सभ्यता के इतिहास में भारत की महान् संस्कृति में विश्व संस्कृति को असाधारण रूप से समृद्ध बनाया है और अब सभी इस बात को स्वीकार करते हैं।

जिस देश को सदियों पददलित रखा गया उसके स्वाधीन नागरिकों को अब जानना चाहिए कि उनके पास कला और संस्कृति का कैसा खज़ाना रह चुका है जिसमें योग्य सन्तानें बराबर कुछ-न-कुछ जोड़ती रही हैं। इससे देश-गौरव की, आत्म-गौरव की भावना पुष्ट होती है जो कि एक बड़ी सुन्दर भावना है—यदि उसे संकीर्ण, संकुचित मनोवृत्तियों से बचाया जा सके, जैसा कि डॉ० भगवतशरण उपाध्याय करते हैं।

इसलिए हमें उनकी कलम से निकली हुई ये पुस्तिकाएँ अपने नवसाक्षर बन्धुओं के सामने प्रस्तुत करते हुए विशेष प्रसन्नता हो रही है।

अभी तक प्रकाशित पुस्तकें निम्नाङ्कित हैं :

यह सोने का देश	॥)	मन्दिर और भवन	॥)
सङ्गीत और नृत्य	॥)	मूरत और चित्र	॥)
हमारे संस्कृत कवि	।॥)	संसार को एशिया की देन	।॥)

हमारे नवीन व आकर्षक प्रकाशन

जंजीरें और नया आदमी—इसमें भैरव प्रसाद गुप्त ने बड़े सशक्त और कलात्मक ढंग से गुलामी की पुरानी जागीरदारी-सामन्ती प्रथा की कहानी कही है। पृष्ठ सं० ३७२, मूल्य ५)

वनलक्ष्मी—योगेन्द्र नाथ सिनहा का सिंहभूमि इलाके के आदिवासियों के जीवन पर आधारित यह उपन्यास गहरा आंचलिक रंग लिये हुए है, और आदिवासी जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का बड़ा सरस चित्र उपस्थित करता है। पृष्ठ सं० १८६, मूल्य २॥)

नारी हृदय—शिवरानी देवी प्रेमचन्द की स्त्रियोपयोगी सोलह चुनी हुई कहानियों का संग्रह, राष्ट्रीय विचारों से ओत प्रोत। महिलाओं को उपहार में देने योग्य एक सर्वांग सुन्दर पुस्तक। मूल्य १॥।=)

मुकुल—'खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी' की प्रख्यात लेखिका सुभद्राकुमारी चौहान की मार्मिक देशभक्तिपूर्ण कविताओं का संग्रह। मोनो की साफ़-सुथरी छपाई, मूल्य २॥)

बिखरे मोती—सुभद्राकुमारी चौहान का कहानी संग्रह। इसमें आपको नारी जीवन की विभीषिका अत्यन्त करुण रूप में, मानों आँख से गिरे हुए मोतियों के रूप में मिलेगी। मूल्य २॥)

गल्पिका—जिसने राधाकृष्ण की एक भी कहानी पढ़ी है वह लेखक की प्रतिभा को सिर झुकाये बिना नहीं रह सकता। उनकी लघु-कथाओं का संग्रह। मूल्य १॥)

चचा छक्कन—उर्दू के मशहूर गल्पकार इम्तयाज़ अली 'ताज' ने चचा छक्कन के रूप में भारतीय साहित्य को हास्यरस का अमर पात्र दिया है। उनके कारनामे पढ़-पढ़कर आप हँसते-हँसते लोट-पोट हो जावेंगे। मूल्य १॥)

कल्पना और छायावाद—केदारनाथ सिंह में कवि की सुकुमार अनुभूतियाँ ही नहीं, एक विचारक की गहरी सूझबूझ भी है जो उनकी इस पुस्तक से सिद्ध है। इसमें 'कल्पना' तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की चर्चा के साथ-साथ छायावादी कविताओं का उल्लेख उद्धरण के रूप में किया गया है। अपने ढंग की यह अब तक अकेली पुस्तक है जो विद्यार्थियों और साहित्य-रसिक मात्र के लिए समान रूप से उपादेय है। डिमाई १।८, १२७ पृष्ठ, मूल्य ३)

हंस प्रकाशन, ९३ जीरो रोड, इलाहाबाद